आप्तवाणी

श्रेणी-13 (पूर्वार्ध)

- दादा भगवान

Table of Contents

ज्ञाता–दृष्टा, बुद्धि से या आत्मा से

पुद्गल को देखनेवाली, प्रज्ञा

जो दिखाए, वह प्रज्ञा है

देखनेवाले को भी देखनेवाला

बीचवाला उपयोग किसका?

पूर्णता प्राप्त करने के लिए पालन करनी है पाँच आज्ञा

आत्मा अर्थात् केवलज्ञान प्रकाश

www.dadabhagwan.org

दादा भगवान प्ररूपित

आप्तवाणी श्रेणी–१३ (पूर्वार्ध)

मूल गुजराती संकलन : डॉ. नीरूबहन अमीन

हिन्दी अनुवाद : महात्मागण

समर्पण

अनंत काल से ढूँढ रहा था 'मैं' आत्मा का प्रकाश;

'मैं' की खोज न फली, रहा इसलिए उदास!

मूल दृष्टि खुली, जगमग देखा 'स्व' स्वरूप;

'द्रव्य कर्म' के चश्मे भेद के, गया 'भावकर्म' का मूल!

'नोकर्म' में पहचाना प्रकृति को, पाया प्रकृति का पार;

पुरुषार्थ में पाई प्रज्ञा, दूर हुआ अंधकार!

'एक पुद्गल' देखा खुद का, दिखी दशा 'वीर'!

'ज्ञायक' स्वभाव रमणता, 'सहज' आत्मा व शरीर!

'प्रकृति' निहार चुके तब हुआ अंत में परमात्मा!

'ज्ञाता' का ज्ञाता जो सदा, वह केवल ज्ञानस्वरूपात्मा!

अहो अहो दादा ने दिया, ग़ज़ब का अक्रम विज्ञान!

न किसी शास्त्र या ज्ञानी ने, खोला ऐसा विज्ञान!

युगों-युगों तक महकेंगे, दादा अध्यात्म क्षेत्र में!

न भूतो न भविष्यति, नहीं दिखेगा कोई इस नेत्र से!

क्या कहूँ जो दिया तूने मुझे, शब्द भी शरमा जाएँ!

मेरे अहो अहो भाव पढ़, हे अंतरयामी अरे!

आप जिसमें लगे रहे, अंतिम श्वास तक इस जीवन!

उसी के लिए आप्तवाणी तेरह, जग चरणों में समर्पण!

त्रिमंत्र

नमो अरिहंताणं

नमो सिद्धाणं

नमो आयरियाणं

नमो उवज्झायाणं

नमो लोए सव्वसाहूणं

एसो पंच नमुक्कारो,

सव्व पावप्पणासणो

मंगलाणं च सव्वेसिं,

पढमं हवइ मंगलम्॥ १ ॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २ ॥

ॐ नम: शिवाय ॥ ३ ॥

जय सच्चिदानंद

दादा भगवान कौन ?

जून १९५८ की एक संध्या का करीब छ: बजे का समय, भीड़ से भरा सूरत शहर का रेल्वे स्टेशन, प्लेटफार्म नं. x की बेंच पर बैठे श्री अंबालाल मूलजीभाई पटेल रूपी देहमंदिर में कुदरती रूप से, अक्रम रूप में, कई जन्मों से व्यक्त होने के लिए आतुर 'दादा भगवान' पूर्ण रूप से प्रकट हुए। और कुदरत ने सर्जित किया अध्यात्म का अद्भुत आश्चर्य। एक घंटे में उन्हें विश्वदर्शन हुआ। 'मैं कौन? भगवान कौन? जगत् कौन चलाता है? कर्म क्या? मुक्ति क्या?' इत्यादि जगत् के सारे आध्यात्मिक प्रश्नों के संपूर्ण रहस्य प्रकट हुए। इस तरह कुदरत ने विश्व के सम्मुख एक अद्वितीय पूर्ण दर्शन प्रस्तुत किया और उसके माध्यम बने श्री अंबालाल मूलजीभाई पटेल, गुजरात के चरोतर क्षेत्र के भादरण गाँव के पाटीदार, कान्ट्रेक्ट का व्यवसाय करनेवाले, फिर भी पूर्णतया वीतराग पुरुष!

उन्हें प्राप्ति हुई, उसी प्रकार केवल दो ही घंटों में अन्य मुमुक्षु जनों को भी वे आत्मज्ञान की प्राप्ति करवाते थे, उनके अद्भुत सिद्ध हुए ज्ञानप्रयोग से। उसे अक्रम मार्ग

कहा। अक्रम, अर्थात् बिना क्रम के, और क्रम अर्थात् सीढ़ी दर सीढ़ी, क्रमानुसार ऊपर चढ़ना। अक्रम अर्थात् लिफ्ट मार्ग, शॉर्ट कट!

वे स्वयं प्रत्येक को 'दादा भगवान कौन?' का रहस्य बताते हुए कहते थे कि ''यह जो आपको दिखते है वे दादा भगवान नहीं है, वे तो 'ए.एम.पटेल' है। हम ज्ञानीपुरुष हैं और भीतर प्रकट हुए हैं, वे 'दादा भगवान' हैं। दादा भगवान तो चौदह लोक के नाथ हैं। वे आप में भी हैं, सभी में हैं। आप में अव्यक्त रूप में रहे हुए हैं और 'यहाँ' हमारे भीतर संपूर्ण रूप से व्यक्त हुए हैं। दादा भगवान को मैं भी नमस्कार करता हूँ।''

'व्यापार में धर्म होना चाहिए, धर्म में व्यापार नहीं', इस सिद्धांत से उन्होंने पूरा जीवन बिताया। जीवन में कभी भी उन्होंने किसी के पास से पैसा नहीं लिया बल्कि अपनी कमाई से भक्तों को यात्रा करवाते थे।

आत्मज्ञान प्राप्ति की प्रत्यक्ष लिंक

'मैं तो कुछ लोगों को अपने हाथों सिद्धि प्रदान करनेवाला हूँ। पीछे अनुगामी चाहिए कि नहीं चाहिए? पीछे लोगों को मार्ग तो चाहिए न?''

– दादाश्री

परम पूज्य दादाश्री गाँव–गाँव, देश–विदेश परिभ्रमण करके मुमुक्षु जनों को सत्संग और आत्मज्ञान की प्राप्ति करवाते थे। आपश्री ने अपने जीवनकाल में ही पूज्य डॉ. नीरूबहन अमीन (नीरूमाँ) को आत्मज्ञान प्राप्त करवाने की ज्ञानसिद्धि प्रदान की थीं। दादाश्री के देहविलय पश्चात् नीरूमाँ वैसे ही मुमुक्षुजनों को सत्संग और आत्मज्ञान की प्राप्ति, निमित्त भाव से करवा रही थी। पूज्य दीपकभाई देसाई को दादाश्री ने सत्संग करने की सिद्धि प्रदान की थी। नीरूमाँ की उपस्थिति में ही उनके आशीर्वाद से पूज्य दीपकभाई देश–विदेशो में कई जगहों पर जाकर मुमुक्षुओं को आत्मज्ञान करवा रहे थे, जो नीरूमाँ के देहविलय पश्चात् आज भी जारी है। इस आत्मज्ञानप्राप्ति के बाद हज़ारों मुमुक्षु संसार में रहते हुए, ज़िम्मेदारियाँ निभाते हुए भी मुक्त रहकर आत्मरमणता का अनुभव करते हैं।

ग्रंथ में मुद्रित वाणी मोक्षार्थी को मार्गदर्शन में अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगी, लेकिन मोक्षप्राप्ति हेतु आत्मज्ञान प्राप्त करना ज़रूरी है। अक्रम मार्ग के द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति का मार्ग आज भी खुला है। जैसे प्रज्वलित दीपक ही दूसरा दीपक प्रज्वलित कर सकता है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष आत्मज्ञानी से आत्मज्ञान प्राप्त कर के ही स्वयं का आत्मा जागृत हो सकता है।

निवेदन

आत्मविज्ञानी श्री अंबालाल मूलजीभाई पटेल, जिन्हें लोग 'दादा भगवान' के नाम से भी जानते हैं, उनके श्रीमुख से अध्यात्म तथा व्यवहार ज्ञान संबंधी जो वाणी निकली, उसको रिकॉर्ड करके , संकलन तथा संपादन करके पुस्तकों के रूप में प्रकाशित किया जाता हैं।

ज्ञानीपुरुष संपूज्य दादा भगवान के श्रीमुख से अध्यात्म तथा व्यवहारज्ञान संबंधी विभिन्न विषयों पर निकली सरस्वती का अद्भुत संकलन इस आप्तवाणी में हुआ है, जो नये पाठकों के लिए वरदानरूप साबित होगी।

प्रस्तुत अनुवाद में यह विशेष ध्यान रखा गया है कि वाचक को दादाजी की ही वाणी सुनी जा रही है, ऐसा अनुभव हो। उनकी हिंदी के बारे में उनके ही शब्द में कहें तो ''हमारी हिंदी यानी गुजराती, हिंदी और अंग्रेजी का मिक्स्चर है, लेकिन जब 'टी' (चाय) बनेगी, तब अच्छी बनेगी।''

ज्ञानी की वाणी को हिंदी भाषा में यथार्थ रूप से अनुवादित करने का प्रयत्न किया गया है किन्तु दादाश्री के आत्मज्ञान का सही आशय, ज्यों का त्यों तो, आपको गुजराती भाषा में ही अवगत होगा। जिन्हें ज्ञान की गहराई में जाना हो, ज्ञान का सही मर्म समझना हो, वह इस हेतु गुजराती भाषा सीखें, ऐसा हमारा अनुरोध है।

प्रस्तुत पुस्तक में कई जगहों पर कोष्ठक में दर्शाये गए शब्द या वाक्य परम पूज्य दादाश्री द्वारा बोले गए वाक्यों को अधिक स्पष्टतापूर्वक समझाने के लिए लिखे गए हैं। जबकि कुछ जगहों पर अंग्रेजी शब्दों के हिंदी अर्थ के रूप में रखे गए हैं। दादाश्री के श्रीमुख से निकले कुछ गुजराती शब्द ज्यों के त्यों रखे गए हैं, क्योंकि उन शब्दों के लिए हिंदी में ऐसा कोई शब्द नहीं है, जो उसका पूर्ण अर्थ दे सके। हालांकि उन शब्दों के समानार्थी शब्द अर्थ के रूप में दिये गए हैं।

अनुवाद संबंधी कमियों के लिए आपसे क्षमाप्रार्थी हैं।

इस आप्तवाणी में ब्रैकिट में शब्दों के जो अर्थ दिए गए हैं, वे हमारी आज की समझ के अनुसार हैं।

संपादकीय

आत्मार्थियों ने आत्मा से संबंधित अनेक बातें अनेक बार सुनी होंगी, पढ़ी भी होंगी लेकिन उसकी अनुभूति, वह तो एक गुह्यत्तम चीज़ है! आत्मानुभूति के साथ-साथ

पूर्णाहुति की प्राप्ति के लिए अनेक चीज़ों को जानना ज़रूरी है, जैसे कि प्रकृति का साइन्स, *पुद्गल* (जो पूरण और गलन होता है) को देखना–जानना, कर्मों का विज्ञान, प्रज्ञा का कार्य, राग–द्वेष, कषाय, आत्मा की निरालंब दशा, केवलज्ञान की दशा और आत्मा व इस स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर के तमाम रहस्यों का खुलासा, जो मूल दशा तक पहुँचने के लिए माइल स्टोन के रूप में काम आते हैं। जब तक ये संपूर्ण रूप से, सर्वांग रूप से दृष्टि में, अनुभव में नहीं आ जाते, तब तक आत्मविज्ञान की पूर्णाहुति की प्राप्ति नहीं हो सकती। और इन तमाम रहस्यों का खुलासा संपूर्ण अनुभवी आत्म विज्ञानी के अलावा और कौन कर सकता है?

पूर्वकाल के ज्ञानी जो कह गए हैं, वह शब्दों में रहा है, शास्त्रों में रहा है और उन्होंने उनके देशकाल के अधीन कहा था, जो आज के देशकाल के अधीन काफी कुछ समझ में और अनुभव में फिट नहीं हो पाता। इसलिए कुदरत के अद्भुत नज़राने के रूप में इस काल में आत्म विज्ञानी अक्रम ज्ञानी परम पूज्य दादाश्री में पूर्णरूप से प्रकट हुए 'दादा भगवान' को स्पर्श करके पूर्ण अनुभव सिद्ध वाणी का फायदा हम सभी को मिला है।

परम पूज्य दादाश्री ने कभी भी हाथ में कलम नहीं उठाई थी। मात्र उनके मुखारविंद से, उनके अनुसार टैपरिकॉर्डर में से मालिकी रहित स्यादवाद वाणी निमित्त मिलते ही देशना के रूप में निकलने लगती! उसे ऑडियो केसैट में रिकॉर्ड करके, संकलन करके सुज्ञ साधकों तक पहुँचाने का प्रयास हुआ है। उसमें से आप्तवाणियों का अनमोल ग्रंथ संग्रह प्रकाशित हुआ है। आप्तवाणी के बारह ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं और अब तेरहवाँ ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है, जिसे पूर्वाध और उत्तरार्ध में विभाजित किया गया है।

पूज्य दादाश्री की वाणी सहज रूप से निमित्ताधीन निकलती थी। प्रत्यक्ष में हर किसी को यथार्थ रूप से समझ में आ जाती है लेकिन बाद में उसे ग्रंथ में संकलित करना कठिन हो जाता है और उससे भी अधिक कठिन हो जाता है सुज्ञ पाठकों को यथार्थ रूप से समझ में आना! कितनी ही बार अर्थांतर हो जाने की वजह से दिशा चूकी जा सकती है या फिर दिशामूढ़ हो सकते हैं। उदाहरण के तौर पर शास्त्र में पढ़ा हो कि 'जा, तेरी मम्मी को बुला ला ।' अब यहाँ पर कौन किसकी मम्मी के लिए कह रहा है, वह रेफरन्स

(संदर्भ) पाठक को अपने आप समझना है। उसमें खुद की पत्नी को बुलाने का भी हो सकता है या दूसरे की पत्नी को भी! यदि गलतफहमी हो जाए तो?

यों तो आत्म तत्व या विश्व के सनातन तत्व अवर्णनीय और अवक्तव्य हैं। ज्ञानीपुरुष दादाश्री बहुत-बहुत ऊचाईंयों से नीचे उतरकर, उन्हें शब्दों में लाकर हमें समझाते हैं। जो 'दृष्टि' की बात है, वह 'दृष्टि' से ही प्राप्त हो सकती है, न कि शब्दों से। 'मूल दृष्टि' से जिस आत्म सम्मुखता को प्राप्त करने की बात है, वह शब्दों में किस तरह समा सकती है? वह तो जिन-जिन महा-महा पुण्यात्माओं ने परम पूज्य दादाश्री का अक्रम ज्ञान प्राप्त किया है, प्रज्ञा जागृत होने के कारण उन्हें वह पढ़ते ही समझ में आ जाता है। इसके बावजूद भी कितनी ही गुह्य बातें ऐसी हैं जो समकिती महात्माओं को भी समझ में न आएँ या फिर कहीं पर विरोधाभास भासित होता है। वास्तव में ज्ञानी का एक भी शब्द कभी भी विरोधाभासी नहीं होता। इसलिए उन शब्दों का अनादर मत करना। उसेसमझने के लिए उनके द्वारा ऑथोराइज़्ड पर्सन से स्पष्टीकरण प्राप्त कर लेना चाहिए या फिर पेन्डिंग रखना। जब खुद उस श्रेणी तक पहुँचेगा, तब अपने आप समझ में आ जाएगा!

उदाहरण के तौर पर रेल्वे स्टेशन या रेल्वे प्लेटफॉर्म दो शब्दों का अलग-अलग जगह पर उपयोग किया होता है। जो नहीं जानता है, उसे द्विधा हो जाती है और जो जानता है वह समझ जाता है कि एक ही चीज़ है! कई बार संपूज्य दादाश्री प्लेटफॉर्म की बात कर रहे होते हैं तो शुरुआत का वर्णन अलग होता है, बीच का अलग होता है और ठेठ दूसरे सिरे का अलग होता है इसलिए भासित विरोधाभास उत्पन्न हो जाता है। वास्तव में एक ही चीज़ का वर्णन है, अलग-अलग स्टेजों का!

यहाँ पर दादाश्री की वाणी जो कि अलग-अलग निमित्ताधीन, अलग-अलग क्षेत्र और काल में हर एक की अलग-अलग भावना के अधीन निकली है, उसका संकलन हुआ है। प्रकृति की एक से सौ तक की सभी बातें निकली हैं लेकिन निमित्त बदलने की वजह से पाठक को समझने में थोड़ी मुश्किल होती है। कभी ऐसा लगता है कि प्रश्न पुन:-पुन: पूछे गए हैं लेकिन पूछनेवाले अलग-अलग व्यक्ति हैं, जबकि समझानेवाले मात्र परम ज्ञानी दादाश्री ही हैं। और आप्तवाणी पढऩेवाला पाठक तो प्रत्येक समय एक ही व्यक्ति है, जिसे समग्र बोध ग्रहण करना है। ऐसी सूक्ष्मता से संकलन का प्रयास हुआ है जैसे परम

पूज्य दादाश्री का एक ही व्यक्ति के साथ वार्तालाप हो रहा हो। हाँ, प्रश्नोत्तरी रूपी वाणी में हर एक चीज़ के स्पष्टीकरण अलग-अलग तरह के लगते हैं, लेकिन वह अधिक से अधिक गहराई के सोपान तक ले जानेवाले होते हैं! जो गहराई से स्टडी करनेवाले को समझ में आएगा।

इस प्रकार सब करने के बावजूद भी मूल आशय से आशय का पकड़ में आना, वह तो दुर्लभ, दुर्लभ, दुर्लभ ही लगता है!

परम पूज्य दादाश्री की वाणी की धारा में एक ही चीज़ के लिए अलग-अलग शब्द निकले होते हैं, जैसे कि प्रकृति, *पुद्गल*, अहंकार वगैरह वगैरह। तो कहीं किसी जगह पर अलग-अलग चीज़ों के लिए एक ही शब्द का उपयोग हुआ है। उदाहरण के तौर पर 'मैं' का उपयोग अहंकार के लिए भी हुआ है तो 'मैं' का उपयोग आत्मा के लिए भी हुआ है (मैं, बावो और मंगलदास में)। महात्माओं को उसे योग्य रूप से समझकर लेना है। सैद्धांतिक समझ के विशेष स्पष्टीकरण देने के लिए मेटर में कहीं-कहीं पर ज़रूरत के मुताबिक ब्रेकेट में संपादकीय नोट रखा गया है, जो पाठक के लिए समझने में सहायक होगा।

प्रस्तुत ग्रंथ के पूर्वार्ध में द्रव्यकर्म के आठो प्रकारों को विस्तारपूर्वक समझाया गया है। शास्त्रों में तो अनेक गुना विस्तार से लिखा गया है, जो कि साधक को उलझन में डाल देता है। परम पूज्य दादाश्री ने, जितना आत्मार्थी के मोक्ष मार्ग में आवश्यक है, उतने को ही विशेष महत्व देकर खूब ही सरल भाषा में समझाकर क्रियाकारी बना दिया है।

पूज्य दादाश्री ने कितनी ही जगह पर आत्मा को ज्ञाता–दृष्टा कहा है तो कितनी ही जगह पर प्रज्ञा को। यथार्थरूप से तो जब तक केवलज्ञान नहीं हुआ है, तब तक आत्मा के रिप्रेज़ेन्टेटिव के रूप में प्रज्ञा ही ज्ञाता–दृष्टा रहती है और अंत में केवलज्ञान हो जाने के बाद तो आत्मा स्वंय पूरे ब्रह्मांड के प्रत्येक ज्ञेय का प्रकाशक बन जाता है!

कितनी ही बातें, उदाहरण के तौर पर प्रज्ञा की बात बार–बार आती है, तब वह पुनरुक्ति जैसा भासित होता है, लेकिन ऐसा नहीं है। हर बार अधिक सूक्ष्मतावाला विवरण होता है। जैसे कि शरीर शास्त्र (एनाटॉमि) छठी कक्षा में आता है, दसवीं में आता है,बारहवीं में आता है या फिर मेडिकल में भी आता है। विषय और उसकी बेसिक बातें सभी में होती हैं लेकिन उसकी सूक्ष्मता हर बार अलग–अलग होती है।

जब मूल सिद्धांत अनुभव गोचर हो जाता है तब वाणी या शब्दों की भिन्नता उसमें कहीं भी बाधक नहीं रहती। सर्कल के सेन्टर में आए हुए को किसी के साथ कोई मतभेद नहीं पड़ता और उसे तो सारा जैसा है वैसा दिखाई देता है, इसलिए वहाँ पर जुदाई रहती ही नहीं।

कई बार संपूज्य दादाश्री की अति–अति गहन बातें पढ़कर महात्मा या मुमुक्षु ज़रा डिप्रेस हो जाते हैं कि इसे तो कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता! लेकिन वैसा नहीं होगा। दादाश्री तो हमेशा कहते थे कि, 'मैं जो कुछ भी कह रहा हूँ उसे आपको मात्र समझ लेना है, उसे आचरण में लाने का प्रयत्न करने के पीछे नहीं लगना है। उसके लिए तो वापस नया अहंकार खड़ा करना पड़ेगा। मात्र बात को समझते ही रहो, आचरण में अपने आप आएगा। लेकिन यदि नहीं समझे हो तो आगे किस तरह बढ़ पाओगे? मात्र समझते ही रहो और दादा भगवान से शक्तियाँ माँगो और निश्चय करो कि अक्रम विज्ञान यथार्थ रूप से संपूर्ण सर्वांग रूप से समझना ही है! बस इतनी जागृति ही पूर्णता प्राप्त करवाएगी। अभी तो महात्माओं को पाँच आज्ञा और 'मैं शुद्धात्मा हूँ,' उसी अविरत *लक्ष* (जागृति) में रहने के पुरुषार्थ में ही रहना है।

अनादि काल से साधक एक ही चीज़ को लेकर पीछे पड़े हैं कि 'मुझे शुद्धिकरण करना है। अशुद्धि दूर करनी है। चित्त को शुद्ध करना है!' किसे? मुझे, मुझे, मुझे! तब

दादाश्री की अनुभव वाणी निकलती है, 'जो मैला करता है, वह*पुद्गल* है और जो साफ करता है, वह भी*पुद्गल* है!' तू तो मात्र इन सभी को 'देखनेवाला' ही है! इस प्रकार प्रत्येक बात अविरोधाभास सैद्धांतिक प्राप्ति करवाती है।

मूल आत्मा तो केवलज्ञान स्वरूप है, था और रहेगा। यह फँसाव तो पूरा संयोगों के दबाव से, रोंग बिलीफ से खड़ा हुआ है और एक रोंग बिलीफ खड़ी हो गई कि 'मैं नीरूबहन हूँ।' उसमें से अनंत-अनंत रोंग बिलिफें खड़ी हो गई हैं! अक्रम विज्ञान से उसे, दादाश्री ने मात्र दो ही घंटों में मूल रोंग बिलीफ उड़ा दी और 'मैं शुद्धात्मा हूँ,' की निरंतर *लक्ष* और प्रतीति बिठा दी। लेकिन उस रोंग बिलीफ में से खड़ी हो चुकी अन्य रोंग बिलीफों को खत्म करते-करते, वापस लौटते-लौटते मूल दरअसल केवलज्ञानस्वरूप तक आना है और अंत में 'खुद' खुद होकर खड़ा रहता है! परम पूज्य दादाश्री की वाणी द्वारा जगह-जगह पर इस रोंग बिलीफ को खत्म करने की कला का पता चलता जाता है, जो एक अवतारी पद को प्राप्त करने के दृढ़ निश्चय को अति-अति सरल और सहज मार्ग बना देती है।

इस प्रकार आप्तवाणी तेरहU में परम पूज्य दादाश्री ने प्रकृति की साइन्स बताकर हद ही कर दी है और साथ-साथ ही, मैं बावा और मंगलदास का अंतिम से अंतिम विज्ञान देकर तमाम विवरण दे दिए हैं। जिसे समझने से ज्ञानी की दशा में अखंड रूप से रहा जा सके, ऐसा है।

परम पूज्य दादाश्री ने नीरूबहन और दीपकभाई देसाई को आप्तवाणी १ से १४ श्रेणियाँ प्रकाशित करने की आज्ञा दी थी। उन्होंने कहा था कि १४ आप्तवाणियाँ अर्थात् आत्मार्थियों के लिए वे १ से १४ गुणस्थानकों तक चढने की श्रेणियाँ बन जाएँगी। अत: मूल ज्ञान तो 'मैं शुद्धात्मा हूँ' और 'पाँच आज्ञा' इनमें सभी कुछ आ जाता है लेकिन आप्तवाणियाँ इस मूल ज्ञान का डिटेल में विवरण देती जाती हैं। जैसे कि दिल्ली से किसी ने पूछा, 'नीरूबहन आप कहाँ रहती हैं?' तो हम कहेंगे कि सीमंधर सिटी, अडालज। लेकिन अगर उसे नीरूबहन तक पहुँचना हो तो उसे डिटेल में एड्रेस की ज़रूरत पड़ेगी। अडालज कहाँ पर है? सीमंधर सिटी कहाँ है? अहमदाबाद-कलोल हाइवे पर, सरखेज से गांधीनगर जाते हुए अडालज चौराहें के पास, पेट्रोल पंप के पीछे, त्रिमंदिर संकुल। इस

तरह विवरण दिया जाएगा तभी वह मूल जगह पर पहुँच सकेगा। उसी प्रकार 'आत्मा' के मूल स्वरूप तक पहुँचने के लिए आप्तवाणियाँ दादाश्री की वाणी के महान शास्त्र रूपी ग्रंथ के रूप में पूर्ण विवरण देती हैं और मूल आत्मा, केवलज्ञान स्वरूपी आत्मा तक पहुँचाती हैं!

उपोद्घात

– डॉ. नीरूबहन अमीन

[1.1] प्रकृति किस तरह बनती है?

प्रकृति क्या है? अज्ञान दशा में 'मैं चंदू, मैं चंदू' करके आरोपण करके, प्रतिष्ठा कर–करके जो पुतला खड़ा किया है, वह है! इस जन्म में प्रतिष्ठा करके प्रतिष्ठित आत्मा खड़ा हो जाता है, जो अगले जन्म में फल देता है। वह प्रकृति– है और इसमें कर्ता कोई भी नहीं है। जड़ और चेतन, इन दो तत्वों के मिलने पर विशेष परिणाम खड़ा हो गया है। उस विशेष परिणाम में क्रोध–मान–माया–लोभ, ये व्यतिरेक गुण खड़े हो गए हैं। क्रोध और मान में से 'मैं' खड़ा हो गया और माया और लोभ में से 'मेरा' खड़ा हो गया है। उसी से पूरी प्रकृति खड़ी हो गई है। यह मात्र रोंग बिलीफ से ही हुआ है और रोंग बिलीफ मात्र संयोगों के दबाव से, जड़ तत्वों के दबाव से खड़ी हो गई है। जैसे कि अगर हम ट्यूब लाइट को कोन्स्टन्ट देखते रहें तो दो दिखने लगती हैं या फिर ज़रा सा आँख पर एक खास एंगल से ऊँगली का दबाव आ जाए तो एक के बजाय दो लाइटें दिखने लगती हैं! इसमें किसने क्या किया? इट जस्ट हैपन्ड। मात्र रोंग बिलीफ बैठ गई है कि ये जो दो लाइटें दिख रही हैं, वही हकीकत है! मूलत: एक ही लाइट है, यह बात समझ में नहीं आती और फिर तो शुरू हो जाती हैं....भ्रांति की परंपराएँ...

यह सबकुछ हुआ है अपने आप ही, फिर भी वापस दूसरी रोंग बिलीफ बैठ जाती है कि 'यह मैंने किया। मेरे अलावा और किसका अस्तित्व है इसे करने में?' यह जो विशेष परिणाम खड़ा हो गया है, वही यह प्रकृति है और खुद आत्मा–पुरुष, स्वयं भगवान है! अब इस सारे झंझट में मूल पुरुष को कुछ भी नहीं होता है।

लोहा समुद्र किनारे पड़ा हुआ हो तो ज़ंग लग जाता है न? इसमें यह किया किसने? समुद्र ने? लोहे ने? समुद्र यदि ज़ंग लगा रहा होता तो वह सोने को क्यों नहीं लगाता? ये तो हैं साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्सेज़। इन दोनों को अलग कर दें, तभी ज़ंग लगना रुकेगा। उसी प्रकार जब दो तत्व अलग हो जाएँगे, तभी प्रकृति नहीं बनेगी। अज्ञान से जो एक हो गया है, वह ज्ञान से अलग हो जाता है!

मात्र जड़ और चेतन के सामीप्य भाव से ही भ्रांति खड़ी हो जाती है, ज्ञान बदलता है, पर को स्व मानता है और परकृति को स्वकृति मानता है।

दो तत्वों के मिलने से विशेष परिणाम उत्पन्न होता है। उसमें दोनों तत्वों के स्वभाविक गुण इनटेक्ट (अक्षुण) रहते हैं लेकिन विशेष गुण उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे किताब को दर्पण के सामने रखने से किताब स्वभाव नहीं बदलती, और दर्पण भी स्वभाव नहीं बदलता है, खुद के मूल स्वभाव में ही रहता है लेकिन विशेषभाव उत्पन्न हो जाता है जिसके कारण से किताब एक्ज़ेक्ट दर्पण में प्रतिबिंबित होती है।

जो व्यतिरेक गुण उत्पन्न हुए हैं, उनसे जो भाव उत्पन्न होता है, उसके आधार पर परमाणु चार्ज होते हैं और उसी अनुसार डिस्चार्ज होते हैं। डिस्चार्ज के समय सूक्ष्म में से स्थूल बनते हैं और रूपक में आते हैं। पुरुष, वह परमात्मा है और देह प्रकृति है। परमात्मा अकर्ता है और प्रकृति में जो परमाणु हैं, वे सक्रिय हैं। *पुद्गल* (जो पूरण और गलन होता है) परमाणुओं में क्रियावर्ती शक्ति है, जो कि स्वाभाविक रूप से क्रियाएँ करती रहती है। क्रिया सिर्फ *पुद्गल* की है। विषय का एक ही भाव हुआ कि उसके आधार पर अंदर परमाणु चार्ज होकर खिंचकर आत्मा पर चिपट जाते हैं। वे जब डिस्चार्ज होते हैं, रूपक में आते हैं तब स्त्री, पुत्र, अरे! पूरा संसार खड़ा कर देता है! 'खुद' जैसा भाव करता है, विशेषभाव, तो *पुद्गल* का ऐसा गुण है कि वह वैसा ही बन जाता है!

पूरे समसरण मार्ग में प्रकृति और चेतन दोनों अलग ही रहे हैं। प्रकृति का एक भी गुण आत्मा में नहीं है और आत्मा का एक भी गुण प्रकृति में नहीं है। दोनों सर्वथा भिन्न ही हैं, रहे हैं और रहेंगे। इसमें मात्र दृष्टि की ही भूल हो गई है, जिसे ज्ञानीपुरुष बदल देते हैं और राइट कर देते हैं।

यह सब वैज्ञानिक है, धर्म नहीं है। वीतराग विज्ञान ही सर्व दु:खों से मुक्ति दिलवाता है।

प्रकृति पावर चेतन है। जड़ में चेतन का पावर भरा हुआ है इसीलिए जब तक बेटरी में पावर रहता है, तब तक वह सारा कार्य ऑटोमेटिक होता हैं। जैसे ही पावर खत्म हुआ कि सबकुछ बंद! खेल खत्म!

बर्फवाले प्याले में बाहर पानी कहाँ से आया? हवा की नमी से पानी बना और वह चिपक गया प्याले पर। उसी तरह अपने अंदर भी हो गया है। किसी ने किया नहीं है। साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स से हुआ है। अंदर पूरा विज्ञान ही है!

जिस तरह H२ + O के इकट्ठे होने से वैज्ञानिक तरीके से अपने आप ही पानी बन जाता है, उसी तरह यह प्रकृति भी वैज्ञानिक तरीके से अपने आप ही बन गई है। इसमें कहीं भी किसी का कर्तापन नहीं है। कितने ही लोग ''भगवान ने 'लीला' की'' भगवान ने माया रची, ऐसा तरह तरह का कहते हैं लेकिन भगवान ने कोई लीला-वीला नहीं की है, न ही माया-छाया को जन्म दिया है! भगवान तो भगवान ही हैं! संपूर्ण अकर्ता, अक्रिय हैं और हर एक जीवमात्र में विद्यमान हैं!

सही विज्ञान समझ में आ जाए तो दोनों अलग ही हैं। संयोगों से प्रकृति खड़ी हो गई है और ज्ञानीपुरुष का संयोग मिल जाए तो वे दोनों को अलग कर देते हैं। उसके बाद प्रकृति अपने आप ही बिखर जाती है!

आत्मा के अलावा सभी कुछ प्रकृति में आ जाता है। अज्ञानता से प्रकृति उत्पन्न होती है। क्रोध-मान-माया-लोभ, राग-द्वेष, चिंता-टेन्शन, ईर्ष्या, मेरा-तेरा ये सभी प्रकृति के गुण हैं। पाँच इन्द्रियों के गुण, वे सभी प्रकृति के गुण हैं।

प्रकृति और कुदरत में क्या फर्क है? परिणामित हो चुकी कुदरत, वही प्रकृति है। जब तक H2और O दोनों अलग हैं, तब तक वह कुदरत कहलाती है और एक होकर UH2O यानी कि पानी में परिणामित हो जाए तो वह प्रकृति कहलाती है! अपना शरीर जिन पंच धातुओं से बना है वह कुदरत है और उनके मिलने से जो शरीर बना, वह प्रकृति

है! प्रकृति में करनेवाले (अहंकार) की ज़रूरत है। कुदरत में करनेवाला नहीं होता। कुदरत खुद ही कुदरती रचना है। प्रकृति में पुरुष का वोट (सहमति) है, कुदरत में नहीं है। उसमें मात्र साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स ही हैं।

[1.2] प्रकृति, वह परिणाम स्वरूप से

कहावत है कि प्रकृति और प्राण साथ में जाते हैं। क्या यह सही है? आत्मज्ञान मिलने के बाद यदि गाढ़ आवरणवाली प्रकृति हो तो उसमें कोई फर्क नज़र नहीं आता। बाकी साधारण आवरणवाली प्रकृति तो खत्म हो जाती है, इसीलिए इस अक्रम में तो कई बार ऐसा लगता है कि यह कहावत गलत हो गई!

खाना-पीना, सोना, काम करना, मान-अपमान, यह सब प्रकृति करवाती है, आत्मा नहीं। कर्म ही प्रकृति है। प्रकृति प्रारब्ध है, इफेक्ट है। जो प्रकृति का यह गुह्य साइन्स समझ ले, वह पार उतर जाए!

प्रकृति ज़बरन नचाती है और खुद मानता है कि 'मैं नाचा!' यह सब प्रकृति करवा रही है, ऐसा जो जानता है, वह प्रकृति से अलग ही है! वह अलग रहकर पूरी प्रकृति का नाटक होने देता है। खुद उसे 'देखता' रहता है!

प्रकृति परवश है, स्ववश नहीं है, फिर वह भले ही कोई भी हो! केवलज्ञान के बाद कषाय संपूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं लेकिन मोक्ष में जाने तक प्राकृत अवस्थाएँ रहती हैं।

स्वसत्ता और परसत्ता के लाइन ऑफ डिमार्केशन समझ जाने के बाद परसत्ता में *डखोडखल* (दखलंदाज़ी) न करे तो एकाध जन्म में वह छूट जाता है। परसत्ता की बाउन्ड्री क्या है? दादाश्री ने चरोतरी पटेलवाली भाषा में स्पष्ट कह दिया है कि 'इस वर्ल्ड में ऐसा कोई भी नहीं जन्मा है कि जिसे संडास जाने की भी स्वतंत्र शक्ति हो!' अब अगर इतनी भी शक्ति नहीं है तो और कौन सी शक्ति हो सकती है?

खुद परमात्मा है लेकिन प्रकृति ने ऐसा तो कैसा प्रेशर डाला कि परमात्मा पद आवृत हो गया और सामनेवाला चोर, गुंडा, आतंकवादी दिखने लगा! प्रकृति का दबाव क्या

ऐसा–वैसा है?

निकलते समय प्रकृति स्वतंत्र है लेकिन बनते समय नहीं है। व्यवहार आत्मा ने जो कुछ भाव किया, दूसरे शब्दों में जिस तरह की दखलंदाज़ी की, वैसी ही प्रकृति सर्जित हो गई। फिर वह खुलती भी अपने स्वभाव से ही है। उसमें फिर और कुछ चलेगा ही नहीं। पसंद आए या न आए फिर भी। उदाहरण के तौर पर मूल में व्यवहार आत्मा अगर गुस्से की दखलंदाज़ी करे तो वैसी ही प्रकृति बन जाती है। फिर जब वह छूटे, तब वह वैसा ही गुस्सा करती है। तब अंदर व्यवहार आत्मा को अच्छा नहीं लगता लेकिन फिर उसमें प्रकृति क्या करे? यानी आत्मज्ञान के बाद अंदर की *डखोडखल*बंद हो जाती है इसलिए आत्मा, आत्मा के स्वभाव में रहता है और प्रकृति, प्रकृति के स्वभाव में। बीच में दखलंदाज़ी के रूप में भ्रांति से जो ऐसा हो रहा था कि 'मैं कर रहा हूँ,' वह बंद हो जाता है, स्वरूप ज्ञान की प्राप्ति के बाद।

'दादा' निरंतर खुद की प्रकृति की प्रत्येक क्रिया को 'देखते' ही रहते थे, 'देखते' ही रहते थे...

कारण प्रकृति और कार्य प्रकृति– कार्य प्रकृति में कोई भी बदलाव नहीं किया जा सकता लेकिन कारण प्रकृति में थोड़ा बहुत किया जा सकता है। उदाहरण के तौर पर चोरी की आदत हो तो दृढ़ निश्चय कर–करके उसमें से बाहर निकल सकता है, उतना परिवर्तन करने का अधिकार है। अर्थात् कारण प्रकृति सूक्ष्मरूपी है। उसे समझकर वहाँ पर परिवर्तन करने के बजाय लोग कार्य प्रकृति में परिवर्तन करने जाते हैं। जो अंत में तो व्यर्थ साबित होता है!

खुद के पास जितना ज्ञान है, उतना पुरुषार्थ हो पाता है। सतज्ञान, वे पूर्ण भगवान हैं। जितने अंश तक भगवान उसके पास है उतना ही पावरफुल उसका पुरुषार्थ है! सर्जन ज्ञान के अनुसार होता है और विसर्जन प्रकृति के अधीन होता है यानी कि साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स।

पिछले जन्म में जो कारण प्रकृति बनी, वह इस जन्म में कार्य प्रकृति में परिणामित होती है। अहंकार की वजह से नई कारण प्रकृति बनती ही रहती है। मनुष्य आंतरिक

प्रकृति लेकर आया है, उसी के आधार पर अभी उसे बाह्य प्रकृति में सबकुछ मिलता है। वर्ना तो कुछ मिलता ही नहीं!

आत्मा राग-द्वेष रहित है। स्थूल प्रकृति राग-द्वेष रहित ही है, *पूरण-गलन* (चार्ज होना, भरना-डिस्चार्ज होना, खाली होना) स्वभावी है। राग-द्वेष कौन करता है? अहंकार! प्रकृति को सर्दी-गर्मी लगना, वह स्वभाविक है, लेकिन तब जो राग-द्वेष होते हैं, वे विभाविक हैं। अहंकार वह सब करता है।

प्रकृति किसके ताबे में है? अज्ञानी की प्रकृति अहंकार के ताबे में है और आत्मज्ञान प्राप्त लोगों की प्रकृति, 'व्यवस्थित के ताबे में!'

'व्यवस्थित' और प्रकृति में क्या फर्क है? 'व्यवस्थित' कार्य करता है और प्रकृति का विलय होता जाता है। प्रकृति को उत्पन्न करने में व्यवस्थित नहीं है, वहाँ पर अहंकार है, कर्तापन से होता है। प्रकृति का डिस्चार्ज होना, वह 'व्यवस्थित' है। साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स है। अक्रम ज्ञान मिलने के बाद अहंकार फ्रेक्चर हो जाता है। इसलिए नई प्रकृति बनना बिल्कुल बंद हो जाता है। फिर जो प्रकृति इफेक्ट के रूप में है, उसी को 'व्यवस्थित' कहा जाता है। जो प्रकृति कॉज़ सहित हो, उसे व्यवस्थित नहीं कहा जा सकता।

संक्षेप में, प्रकृति अर्थात् गत जन्म का भरा हुआ माल!

[1.3] प्रकृति जैसे बनी है, उसी अनुसार खुलती है

आत्मा का ज्ञान होने के बाद आसक्ति का क्या है? प्रकृति को आसक्ति होती है और पुरुष उसका ज्ञाता-दृष्टा रहता है। दोनों अलग हो गए हैं और अपने-अपने स्वभाव में आ गए हैं।

प्रकृति को खपाना अर्थात् क्या? अपनी प्रकृति सामनेवाले को अनुकूल आए, ऐसा करके समभाव से *निकाल* (निपटारा) करना।

आदत और प्रकृति में क्या फर्क है? बार–बार चाय माँगने से उसकी आदत पड़ जाती है। पहले आदत डालता है और फिर डल जाती है। जब डाल रहे होते हों, तब आदत छूट सकती है लेकिन पड़ी हुई आदत नहीं छूटती।

जैसा प्रकृति का स्वभाव है, वह हमेशा वैसी ही निकलती है! चलने का जैसा अंदाज़ होता है, वह अस्सी साल की उम्र में भी नहीं बदलता। डिस्चार्ज कैसे बदल सकता है?

जिनकी प्रकृति नियमित हो, वह आत्मा को कोई हेल्प नहीं करती लेकिन वह व्यवहार में हेल्प करती है। खाने–पीने में, बोलने–चलने में, कुदरती हाजत वगैरह सभी कुछ उसे जैसे नियम में सेट करना हो, वैसे सेट कर पाता है।

व्यवहार में*पुद्गल* को ब्रेक मत मारो और आत्मा को हेन्डल मारो। 'काम करते जाओ' कहने से ऑब्स्ट्रक्शन नहीं आएँगे। 'व्यवस्थित है', 'होगा', ऐसा कहोगे तो काम में ऑब्स्ट्रक्शन आएँगे।

अक्रम मार्ग में डिसीप्लिन में नहीं आना है। जैसा माल भरा हुआ है, वह निकलता ही रहेगा। अक्रम मार्ग में तो मात्र पाँच आज्ञा का पालन करने की ही शर्त है और कुछ भी नहीं। पाँच आज्ञा का पालन करने में कौन से ब्रेक लगते हैं? अनंत जन्मों से जीवन आज्ञा के विरुद्ध ही था। अत: आज्ञा के लिए जो ब्रेक दबाए हुए हैं, उन्हें उठाया ही नहीं है। 'व्यवहार में ऐसा होना ही चाहिए, ऐसा होना ही नहीं चाहिए' वह सब *वांधा – वचका* (आपत्ति उठाते हैं और बुरा लग जाता है) है। उसी से आज्ञा पर ब्रेक लग जाता है! ब्रेक मन से नहीं है, वाणी से लग जाते हैं।

[1.4] प्रकृति को देखो निर्दोष

प्रकृति संजोगाधीन बन जाती है, जबकि आत्मा भ्रांति से मालिक बन जाता है और जब वह छूटती है तब आत्मा मालिक नहीं रहता। इसमें वापस भ्रंाति से आत्मा को दोषित माना जाता है! बावड़ी में बोलो कि 'तू चोर है' तो बावड़ी वापस वही बोलेगी! प्रतिस्पंदन है यह प्रकृति। यह किसकी कृति है? कौन है दोषित?

बरसों पुराने प्राकृतिक स्वभाव को किस तरह बदला जा सकता है? खुद की प्रकृति की भूलों को खुद 'जाने' तो बहुत हो गया! वही बड़ा पुरुषार्थ है और 'देखने' से ही दोष चले जाते हैं। अन्य कोई उपाय नहीं है।

हर कोई अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य करता रहता है, उसमें किसकी गलतियाँ निकालनी? सामनेवाले को कर्ता देखा, उसकी गलती निकाली तभी से नया संसार खड़ा हो गया!

किसी की प्रकृति तेज़ होती है, तो किसी की शांत। शांत हो उसमें उसकी कोई बहादुरी नहीं है। उसकी प्रकृति ही ऐसी है!

बिफरी हुई प्रकृति शांत हो जाए तो उसकी शक्ति खूब बढ़ जाती है। प्रकृति भी वीतराग है और आत्मा भी वीतराग है। दोनों में फर्क नहीं है। यह तो बीच में व्यवहार आत्मा की दखल है इसलिए उससे प्रकृति में रिएक्शन आते हैं।

यदि सामनेवाला का दोष दिखाई देता है, तो उसमें अपना ही दोष है।

दादाश्री अस्सी साल की उम्र में भी रोज़ एक घंटा पद्मासन लगाकर बैठते थे। उससे इन्द्रियों की शक्तियाँ खूब बनी रहती हैं। दादाश्री कहते हैं 'मैंने ज़िंदगी में कभी भी प्रकृति को भला-बुरा नहीं कहा है, अपमानित नहीं किया है।' प्रकृति मिश्रचेतन है, इस वजह से ऐसा करने से उसके प्रतिस्पंदनों का असर खुद पर ही पड़ता है!

खुद की प्रकृति और सामनेवाली प्रकृति के साथ एडजस्ट करने के लिए सामनेवाले को शुद्धात्मा के रूप में ही देखना है। अरे, बाघ और सिंह को भी जितने समय तक हम शुद्धात्मा के रूप में देखेंगे तो वे अपना पाशवी धर्म भूल जाएँगे!

परम पूज्य दादाश्री कहते हैं, 'जगत् असरवाला है। जब हम आपके लिए विधियाँ करते हैं तब ज़बरदस्त असर रख देते हैं, विटामिन रख देते हैं। जिससे अंदर उतनी ही शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं।'

क्रमिक मार्ग में तो कपट वगैरह कुछ भी नहीं चलता जबकि अक्रम में तो कपट को भी आत्मभाव में रहकर जुदा 'देखने' को कहा गया है!

खुद संपूर्णत: निर्दोष हो जाए तो सामनेवाला निर्दोष दिखाई देगा, वर्ना नहीं। दादाश्री को पूरा जगत् निर्दोष दिखाई देता है और 'अंबालाल' की प्रतीति में ऐसा है ज़रूर कि जगत् निर्दोष है, लेकिन व्यवहार में कभी-कभी महात्माओं की गलतियाँ निकाल भी देते हैं! लेकिन तुरंत उसका प्रतिक्रमण करके धो देते हैं। ज्ञानी स्व और पर की प्रकृति का निरीक्षण करते हैं, दोष नहीं निकालते।

महात्मा खुद के बच्चों को आत्मा के रूप में निर्दोष देखते ज़रूर हैं लेकिन देह से दोषित है ऐसा करके उन्हें डाँटते हैं, अंदर ऐसा भाव रहता है कि 'बच्चे को सुधारूँ'। जबकि दादाश्री कहते हैं, 'हम दूसरों की प्रकृति को देखते ही रहते हैं, उसे सुधारते नहीं हैं।' लेकिन जो बिल्कुल नज़दीक रह रहे हों, नीरूबहन जैसे, उन्हें सुधारने का ज़रा भाव रहता है, इसलिए कभी उनकी गलतियाँ निकाल देते हैं लेकिन पूर्ण वीतराग को तो ऐसी ज़रूरत ही नहीं रहती।

संसार में तो बाप 'खुद के' सौ रुपये खोकर भी बच्चे को सुधारने जाता है। सामनेवाला दोषित दिखाई देता है तो इतना तय है कि द्वेष है। उस दोष को निकालना तो पड़ेगा ही न!

बुद्धि सामनेवाले के दोष बताती है इसलिए उसे पीहर भेज देना है! सामनेवाले को दोषित नहीं देखना है, जानना नहीं है और मानना भी नहीं है। मात्र निर्दोष ही देखना और जानना है!

अपनी फाइल नं-१ सामनेवाले को दोषित देख रही हो तो सूक्ष्म दृष्टि से तो फाइल नं-१ भी निर्दोष ही है। उसे यों ही *टोक देना*। बाकी सामनेवाला भी निर्दोष और फाइल नं-१ भी निर्दोष है। फाइल नं-१ को डाँटना, समझाना, प्रतिक्रमण करवाना और निबेड़ा लाना लेकिन अंदर ऐसा जानना कि वह भी निर्दोष ही है!

[1.5] कैसे-कैसे प्रकृति स्वभाव

भगवान को देखना है? जीव में से प्रकृति स्वभाव को घटा (माइनस कर) दे तो खुद भगवान ही है! प्रकृति स्वभाव माइनस किस तरह किया जा सकता है? कोई गाली दे तो क्या वह गाली भगवान दे रहे होंगे? वह तो प्रकृति है। प्रकृति की प्रत्येक क्रिया को माइनस करते-करते अक्रिय भगवान मिल सकते हैं, ऐसा है!

नीम हमेशा कड़वा ही होता है। आम हमेशा मीठा या खट्टा ही होता है, तीखा नहीं होता। हर कोई अपने-अपने स्वभाव में ही है। सिर्फ ये मनुष्य ही न जाने कब कैसा स्वभाव बदल लें, वह कहा नहीं जा सकता।

सामनेवाले की प्रकृति को पहचानकर समभाव से *निकाल* करना चाहिए। सामनेवाला ज़िद पर चढ़े तो क्या हम भी ज़िद पर चढ़ जाएँ? प्रकृति, वह तो पूरी तरह से अंहकार का ही स्वरूप है। आत्मा को आत्मारूप से नहीं देखते, प्रकृतिरूप ही देखते हैं, इसीलिए वह ठेठ आत्मा तक पहुँचता है।

प्रकृति की उत्पत्ति किस तरह हुई? साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स के आधार पर अहंकार खड़ा हो गया। फिर वह 'स्पेस' में आता है। इंसान का चेहरा, डिज़ाइन वगैरह सब 'स्पेस' के आधार पर ही बनता है। दो चीज़ों का 'स्पेस' कभी भी एक नहीं हो सकता। वह इसलिए अलग-अलग ही होता है, एक एविडेन्स के बदलने से सबकुछ बदल जाता है। स्पेस अलग है इसीलिए संसार की सभी चीज़ों में स्वाद, रूप, गंध वगैरह सबकुछ मिलता है।

महात्मा गहराई में उतरकर खुद की प्रकृति को देखें तो उसका पता चलता है और हल्की हो जाती है। अहंकार भी हल्का हो जाता है, सभी का गाढ़ापन चला जाता है! इसके लिए खुद को सिर्फ निश्चय करना होगा।

जिन्हें देह का मालिकीपन छूट गया है, ऐसे ज्ञानी की शारीरिक तकलीफें आसानी से रिपेयर हो जाती है। मालिकी रहित ज्ञानी को ऑपरेशन नहीं करवाना पड़ता।

दादाश्री को १९७९ में पैर में फ्रेक्चर हो गया था। तब उन्होंने कहा था कि 'हम इसमें से हट गए हैं इसलिए कुदरत ने स्पीडिली रिपेयर कर दिया ये सब।' फ्रेक्चर हुआ

लेकिन सभी डॉक्टर अचंभे में पड़ गए कि 'इनके मुख पर गज़ब का मुक्त हास्य है! निरावृत आत्मा दिख रहा है! वेदना की कोई रेखा नहीं है मुख पर!' दादाश्री ने सभी डॉक्टरों से कह दिया था कि इस 'पेटी' को खोलने जैसा नहीं है। अपने आप ही रिपेयर हो जाएगी। इस 'पेटी' को ऑपरेशन की ज़रूरत नहीं है। कुदरती नियम से बिगड़ा हुआ रिपेयर हो ही जाता है, जिसमें मालिकीपन नहीं हो, उसमें!

ये डॉक्टर देह का जितना उपचार करते हैं, उससे ज़्यादा अच्छी तरह तो प्रकृति देह का उपचार करती है! अज्ञानी ऐसा कहता है कि 'मुझे बीमारी हो गई' तो हो जाती है दखल। बल्कि रोग बढ़ जाता है! वर्ना स्वाभाविक रूप से वह ठीक हो ही जाता!

प्रकृति का स्वभाव निरुपद्रवी है! वह तो बल्कि उपद्रव को बंद कर देती है! उपद्रव कर्मोदय के कारण होते हैं या फिर अहंकार वह करता है, तब। चोट लगते ही तुरंत ही अंदर की सारी मशीनरी फटाफट काम करने लगती है, उसे ठीक करने के लिए! कुदरत घाव भरती है, डॉक्टर तो सिर्फ साफ-सूफ करके पट्टी बाँधकर कुदरत को हेल्प करते हैं, बस इतना ही!

[1.6] प्रकृति पर प्रभुत्व पाया जा सकता है

प्रकृति को काबू में लाना, वह गुनाह है। प्रकृति परिणाम है। परिणाम पर किसी का काबू नहीं हो सकता। गुलाब चाहिए तो काँटों से सँभालकर काम लेना पड़ेगा। बाकी, भले ही कुछ भी कर लो लेकिन क्या काँटे किसी को छोड़ते हैं?

स्वरूप ज्ञान होने पर भी प्रकृति काम कर ही लेती है। प्रकृति अर्थात् अनटाइमली बम।

प्रकृति कुछ हद तक बदलती है। कॉज़ेज़ बदलने से प्रकृति हल्की पड़ जाती है। इसलिए प्रकृति अपना काम करती तो है लेकिन हल्की पड़ जाती है। इसलिए ऐसा लगता है कि प्रकृति बदल गई। बाकी प्रकृति जो खुद ही इफेक्ट के रूप में है, वह कैसे बदलेगी?

दादाश्री को कोई मान दे या अपमान करे, दोनों ही समय में अंदर से अलग ही रहते हैं। महात्मा कई बार अलग नहीं रह सकते लेकिन उसे भी अलग ही देखना है!

अक्रम मार्ग के महात्माओं को अलौकिक भाव होते हैं, उसका परिणाम अभी मिलेगा या अगले जन्म में? दोनों ही बार। जो प्रकृति आज बन रही है उसका फल अगले जन्म में मिलेगा और अभीवाले अलौकिक भावों के परिणामत: रोशनी मिलती है हमें। ज्ञान मिलने के बाद प्रकृति शांत हो जाती है न?!

प्रकृति का कुछ भाग चेन्जेबल है और कुछ नहीं। वास्तव में तो किसी की भी प्रकृति चेन्ज होती ही नहीं है लेकिन प्रकृति की लिंक में यह चेन्ज तो आ ही रहा था पहले से, वह अभी दिखाई देता है। अंदर चेन्जवाली है ही।

कृष्ण भगवान ने गीता में कहा है कि 'प्रकृति का निग्रह किम करिष्यति?' प्रकृति का निग्रह नहीं करना है। प्रकृति को निहारना है!

प्रकृति नहीं बदलती। लोभी मरने से पहले लकड़ी के खर्च के बारे में सोच रहा होता है! अब लोभी प्रकृतिवाले को क्या भावना करनी चाहिए कि मेरा सर्वस्व जगत् कल्याण में खर्च हो जाए। तन-मन-धन से! उसके फल स्वरूप अगले जन्म में विशाल मन मिलेगा! अत: नई भावना करके सुधारो।

हम से कोई भी जीव न मरे, उसके लिए क्या करना चाहिए? दृढ़ निश्चय करना चाहिए कि मेरे द्वारा कोई भी जीव मारा या कुचला न जाए। निरंतर दृढ़ भावना हाज़िर रहे न तो परिणाम स्वरूप वह अहिंसक बना देगी! जगत् अपनी ही भावना का ही फल है। इसलिए उच्च भावना करनी चाहिए। पशु-पक्षियों को कुचलने की इच्छा है ही नहीं, फिर भी अगर गाड़ी चलाते हुए कुचले गए तो उसका क्या कारण है? तो जाँच करने पर पता चलेगा कि चलानेवाला तो ऐसा कह रहा होता है कि 'गाड़ी स्पीड में हो तब अगर कोई जानवर बीच में आ जाए तो वह कुचल भी जाए, उसमें हम क्या करें?!' इस तरह कुचलने का दरवाज़ा खुला रखा! 'गाड़ी टूटनी हो तो टूटे लेकिन किसी भी परिस्थिति में कोई मरना तो चाहिए ही नहीं।' ऐसे दृढ़ निश्चय से किसी के कुचले जाने का कोई संयोग प्राप्त ही नहीं होगा! जैसी चाहे वैसी ही प्रकृति बनाई जा सकती है।

प्रकृति में स्वभाव, अहंकार वगैरह सबकुछ आ गया। 'प्रकृति को बदलने के लिए मैं पुरुषार्थ कर रहा हूँ,' वह भी अहंकार है। इंसान की प्रकृति तो मरने तक भी नहीं बदलती लेकिन ज्ञान के आधार पर प्रकृति बदल सकती है, अगले जन्म के लिए। कोई भी प्रकृति से बाहर नहीं निकल सकता!

प्रकृति नहीं बदल सकती, ज्ञान बदल सकता है। घर बदल सकता है लेकिन प्रकृति नहीं बदल सकती। पहले प्रकृति के घर में रहते थे, ज्ञान के बाद अब निज घर में बैठ जाते हैं। फिर प्रकृति अपना काम करके अपने आप खत्म हो जाती है। नई प्रकृति नहीं बनती।

प्रकृति अगर बिना कंट्रोलवाली हो तो उससे खुद को ही बहुत मार पड़ती है। यों वह मार खाकर सीधा होता जाता है। ज्ञान से प्रकृति कंट्रोल में रहती है। अंत में तो प्रकृति के सहज रहने से ही काम पूरा होता है।

प्रकृति नहीं बदल सकती इसलिए यह ज्ञान मिलने के बाद उसका तू 'समभाव से *निकाल*'कर। हाँ, ज्ञान से प्रकृति एकदम ढीली हो जाती है क्योंकि उसे अब अंहकार का आधार नहीं रहा न! अहंकार निकल जाने से प्रकृति मृतप्राय हो जाती है। भाव निकल जाते हैं, मात्र हाव रहते हैं। भाव व्यवहार आत्मा का और हाव प्रकृति का! सामनेवाले को भी हमारी प्रकृति के बारे में ऐसा पता चल जाता है कि इनमें भाव नहीं है। इसलिए अपने से सामनेवाले को बहुत दु:ख नहीं होता।

पंखे का स्वभाव सिर्फ घूमने का है, उसमें कर्तापन नहीं है। जबकि मनुष्य में प्रकृति का स्वभाव और कर्तापन दोनों होते हैं। ज्ञान मिलने के बाद कर्तापन चला जाता है इसलिए सिर्फ स्वभाव ही रह जाता है। इससे उसका स्वभाव एकदम बदला हुआ लगता है! जैसे कि बॉल डालने के बाद अगर फिर से उसे नहीं छूएँ तो उसकी गति कम होते-होते वह रुक जाती है, वैसा ही प्रकृति का होता है!

जैसे कि बाप अगर बेटे पर क्रोध करे और बाहर दुश्मन पर क्रोध करे, तो क्या उसमें फर्क नहीं है? बेटे पर वह उसके हित के लिए कर रहा है और दुश्मन के साथ खुद के हित के लिए कर रहा है! कितना फर्क है?! इसीलिए तो, जब बेटे पर क्रोध करता है तब

उससे बाप कैसे पुण्य बाँधता है! कर्तापन चले जाने के बाद क्रोध निर्जीव लगता है। बिच्छू के डंक के बजाय वह चींटी और मच्छर जैसा लगता है!

प्रकृति का रक्षण नहीं करना चाहिए और रक्षण हो जाए तो उसे भी 'जानना' चाहिए क्योंकि जो रक्षण करती है वह भी प्रकृति है! हमें प्रकृति दिखाई दे तो हम उस पर सवार और अगर नहीं दिखाई दे तो वह अपने पर!

प्रकृति में अच्छा-बुरा कुछ भी नहीं है। सिर्फ 'देखते' ही रहना है उसे। वह है अंतिम स्टेज!

प्रकृति अगर ऐसी हो जाए कि मोड़ी जा सके तो ऐसा कहा जाएगा कि उसकी लगाम हाथ में आ गई।

यात्रा में प्रकृति पूरी तरह से बाहर आती है। रोज़ सात बज़े उठनेवाला पाँच बज़े उठकर कैसे भाग-दौड़ करता है? पहले टोइलेट में घुस जाऊँ नहीं तो नंबर नहीं आएगा! स्वार्थ आ गया। उसमें भी हर्ज नहीं है लेकिन वह उसे दिखाई देना चाहिए कि प्रकृति में ऐसा स्वार्थ है! ऐसी जागृति रहनी चाहिए कि 'ऐसा नहीं होना चाहिए।' सेवाभाव से स्वार्थी प्रकृति खपती जाती है!

दादाश्री ने पूरे जगत् को एक महान वाक्य दिया है कि 'प्रकृति का एक भी गुण शुद्ध चेतन में नहीं है और शुद्ध चेतन का एक भी गुण प्रकृति में नहीं है।'

'अक्रम की सामायिक' में प्रकृति ज्ञेय और खुद उसका ज्ञाता है, इस तरह एक घंटे तक देखते रहने से प्रकृति विलय होती है। जो हर रोज़ ऐसा करे, उसका निबेड़ा जल्दी आ जाता है!

[1.7] प्रकृति को ऐसे करो साफ

ज्ञान मिलने के बाद प्रज्ञा प्रकृति के दोष दिखाती है और उसका प्रतिक्रमण करवाती है तो फिर साफ। 'प्रकृति लिखती है और पुरुष मिटाता जाता है।'

प्रकृति टेढ़ा करे और उसके सामने हमारा आज का अभिप्राय मूल रूप से बदल जाए कि 'यह गलत है, ऐसा होना ही नहीं चाहिए,' वैसे-वैसे प्रकृति हल्की होती जाएगी।

प्रकृति विरोधी हो जाए और खुद उसके सामने जागृत रहे तो वे ज्ञानी कहलाते हैं।

प्रकृति पर दबाव नहीं डालना चाहिए और उसी प्रकार वह नाचे तो उसे नाचने भी नहीं देना चाहिए। प्रकृति नुकसानदेह है ऐसी समझ दृढ़ हो जाए तो उसकी वृत्तियाँ बंद हो जाएँगी।

प्रकृति जो करवाए उसमें रुचि ले, मिठास का आनंद ले तो वह भटका देगी। अत: प्रकृति को उदासीन भाव से देखते ही रहो। हाँ, किसी को नुकसान नहीं हो, वह भी देखना है!

शुरुआत में महात्मा दोषों से मुक्त होने के लिए दादाश्री से सभी बातें बताते हैं और फिर जब प्रकृति की मिठास महसूस होती है, तब धीरे-धीरे सारा छुपाने लगते हैं।

प्रकृति का रक्षण नहीं करना चाहिए, लेकिन उसे माफ कर सकते हैं। माफ करने में जुदापन है जबकि रक्षण करने के लिए उसी के पक्ष में बैठ जाते हैं। जो प्रतिक्रमण करती है वह प्रकृति है और जो माफ करते हैं, वे भगवान हैं!

प्रकृति को किस तरह से माफ किया जा सकता है? उस पर चिढ़ें भी नहीं और राग भी नहीं, वीतरागता। ज्ञानी की प्रकृति में से भी कई बार जब कुछ खराब निकलता है तब वे वीतराग हो जाते हैं! नहीं बोलने जैसा बुलवा देती है प्रकृति! फिर पछतावा होता है लेकिन वहाँ पर कुछ नहीं चलता क्योंकि गुथा हुआ है न प्रकृति में! उसे 'देखते' रहना है। इतना समझ जाए तो काम हो जाएगा!

जैसे-जैसे खुद के दोष अधिक दिखाई दें, वैसे-वैसे खुश होना चाहिए। पार्टी देनी चाहिए!

दादाश्री महात्माओं की प्रकृति को सीधा कर देते थे। कोई बहुत मानी हो और उससे अगर रोज़ बात करते हों तो कभी बिल्कुल भी बात नहीं करते! ऊपर चढ़ाते और फिर

पटक देते थे। ऐसे करते–करते भरा हुआ माल खाली हो जाता था और आत्मा तो वैसे का वैसा ही रहता! हर रोज़ रात को महात्माओं को प्रतिक्रमण करने चाहिए। उससे भूलें चली जाएँगी।

स्वभाव जब *पुद्गल*मय हो जाए तब स्वभाव और प्रकृति एक ही कहलाते हैं। वास्तव में खुद अगर खुद के रियल स्वभाव में रहे, आ जाए तो वह भगवान है! हर एक को भगवान बनने का लाइसेन्स मिलता है!

प्रकृति जब भगवान स्वरूप हो जाएगी तब मुक्त हुआ जा सकेगा। सभी के लिए यही नियम है। दादाश्री की पाँच आज्ञा ऐसी हैं कि जो प्रकृति को वीतराग बना दें।

पहले आत्मा सहज होता है या पहले प्रकृति सहज? ज्ञान मिलने के बाद दृष्टि बदल जाती है इसलिए प्रकृति धीरे–धीरे सहज होती जाती है! मूल आत्मा तो सहज है ही! यह तो, व्यवहार आत्मा असहज हो गया है!

ज्ञानी की देह भी सहज स्वरूप से और आत्मा भी सहज स्वरूप से रहते हैं! दखलंदाज़ी नहीं करते। दखलंदाज़ी करने से असहजता आ जाती है।

[1.8] प्रकृति के ज्ञाता–दृष्टा

प्रकृति चार्ज की हुई चीज़ है, पावर चेतन है। वह खुद ही डिस्चार्ज होती रहती है। हमें तो मात्र उसे 'देखते' ही रहना है। प्राकृत गुणों को 'देखते' ही रहना है। टेपरिकॉर्डर में जो कुछ रिकॉर्ड करके लाए हैं, वह पूरे दिन बजता ही रहता है, उसे भी 'देखते' रहना है। शुद्धात्मा होकर देखने से प्रकृति शुद्धत्व प्राप्त करती है। खुद की प्रकृति को 'देखना', वही यथार्थ ज्ञाता–दृष्टापना है। बाहर का देखना, वह नहीं। अंदर मन–बुद्धि–चित्त–अहंकार सभी क्या कर रहे हैं, उसे 'देखते' ही रहना है फिल्म की तरह।

प्रकृति के ज्ञेयों के प्रकार हैं, स्थूल ज्ञेय, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर। पहले स्थूल ज्ञेय। फिर बीच के हिस्से में सूक्ष्म ज्ञेय। क्रोध–मान–माया–लोभ सूक्ष्म ज्ञेय कहलाते हैं। उससे भी आगे सूक्ष्मतर प्रकृति में तो जो सिर्फ दादाश्री को ही दिखाई दे सकें, वे हैं। खुद की

प्रकृति तो दिखती ही है लेकिन सामनेवाले की प्रकृति भी अब इसके बाद क्या करेगी, अब उसके बाद क्या करेगी....वह भी आगे से आगे लेकिन एक्ज़ेक्ट दिखाई देता है। सभी कुछ, टाइम टु टाइम जो कुछ करता है वह दिखाई देता है।

प्रकृति में जो कषाय होते हैं, वे खुद को पसंद नहीं हैं, खुद का अभिप्राय उससे अलग हो जाए तो वह संयमी कहलाता है। असंयमी तो प्रकृति में तन्मयाकार रहकर काम करता है। सब से अंतिम स्टेज है, ज्ञाता–दृष्टा रहना। लेकिन अगर वैसा नहीं रह पाए फिर भी प्रकृति जो करे उस पर खुद का अभिप्राय उससे अलग रखे, तो उसे ज्ञाता–दृष्टा जैसा फल ही माना जाएगा।

शुद्धात्मा हो जाने के बाद अहंकार तथा मालिकीभाव खत्म हो जाता है। तब फिर जो बाकी बचे, वे दिव्यकर्म माने जाते हैं।

प्रकृति का फोर्स ज़्यादा हो तब वह उसे देखना भुलवा देती है। वहाँ पर जैसे–जैसे आज्ञा पालन करते जाएँगे वैसे–वैसे आत्मशक्ति प्रकट होती जाएगी।

हम शुद्धात्मा हो गए है। अब प्रकृति क्या कहती है कि 'आप तो शुद्ध हो गए, अब आपको हमें शुद्ध करना है क्योंकि आपने ही हमें बिगाड़ा है!' तभी दोनों मुक्त हो सकेंगे!

अब *पुद्गल* को शुद्ध किस तरह से किया जा सकता है? प्रतिक्रमण से!

प्रकृति के स्वभाव को निहारना, वह ज्ञायकता है। प्रकृति का सिर दु:खे तो उसे 'देखना' हैं। 'मुझे दु:खा' कहेंगे तो वहाँ पर अजागृति घेर लेगी। सभी कुछ उसे चिपक जाता है। जैसा चिंतवन करे, वह तुरंत वैसा ही हो जाता है!

रात को चार मच्छर मंडराएँ तब ऐसे मारता है उन्हें। यह प्रकृति दोष निकला। तब आप परेशान हो जाते हो। दादाश्री कहते हैं कि मेरी मच्छरदानी में दो मच्छर घुस जाएँ तो ये बहन निकाल देती हैं। क्योंकि अगर पिछले जन्म में मच्छरों के लिए चिढ़ घुस गई हो तो उसे निकालने में देर लगती है, वह प्रकृति में गुथी हुई ही होती है।

जैन शास्त्र बाईस परिषह को सहन करने को कहते हैं। लेकिन इस काल में एक भी परिषह किसी से सहन नहीं हो सकता। लेकिन इस अक्रम विज्ञान द्वारा सभी से छूटा जा सके, ऐसा है!

पूरे दिन खुद की प्रकृति के ज्ञाता-दृष्टा कैसे रहा जा सकता है? फाइल नं-१ यानी खुद की प्रकृति क्या कर रही है, उसे देखते रहना है। वह टेढ़ा-मेढ़ा करे तो हमें उसे देखते रहना है, 'क्या बात है!' उसके साथ बातें करनी चाहिए तो दोनों अलग के अलग।

दादाश्री खुद के अनुभव बताते हुए कहते हैं, नवनिर्माण आंदोलन के समय विद्यार्थी जब बसें जलाते थे, तब वह सब देखकर दादाश्री की प्रकृति में हुआ कि 'अरे, अरे! इन लड़कों ने क्या लगा रखा है?! इन्हें पता नहीं, खुद कैसे ज़ोखिम मोल ले रहे हैं?!' एक तरफ वे खुद ये देखते रहते थे और दूसरी तरफ यह भी दिखाई देता था कि प्रकृति ऐसा बोल रही है। 'बस जला रहे हैं, ऐसा कर रहे हैं। उसमें अपने बाप का क्या चला गया?!' प्रकृति अक़्लमंदी दिखाए बगैर रहती ही नहीं न!

प्रकृति को देखना और उससे बातें करनी हैं। 'कैसे हो, कैसे नहीं, चाय पीओगे? डेढ़ कप? भले ही पीओ।' वही ज्ञाता-दृष्टापन! प्रकृति के साथ एडजस्ट होना आना चाहिए। प्रकृति तो सुंदर स्वभाव की है।

दादाश्री कहते हैं, 'हमारी प्रकृति को मठिया भाता है,' अमरीका में सभी लोग यह जान गए तो सभी जगह मठिया परोसते थे लेकिन उनमें से सिर्फ दो ही लोगों के यहाँ खाए। बाकी जगह चखकर छोड़ दिए, इससे किसी को विश्वास ही नहीं होता था कि दादाजी को मठिया पसंद है। मठिया नहीं लेकिन मठिया में रहा हुआ जो स्वाद है, वह दादा की प्रकृति में है!

प्रकृति का फिर कैसा है कि आज जो भाता है, दो दिन बाद वह बिल्कुल भी नहीं भाता! अत: प्रकृति की स्टडी करने जैसा है।

[1.9] पुरुष में से पुरुषोतम

पुरुषार्थ दो प्रकार के हैं। एक तो, अगर पुरुष बनकर प्रकृति को अलग देखना, वह रियल पुरुषार्थ है और दूसरा है भ्रांत पुरुषार्थ, वह है अच्छे-बुरे का फल मिलना।

पुरुष और प्रकृति की शक्ति में क्या फर्क हैं? पुरुष शक्ति पुरुषार्थ सहित होती है, स्व पराक्रम सहित होती है। वह शुद्धात्मा हो जाने के बाद ही प्रकटहोती है।

बाकी तो सारी प्राकृत शक्ति है। प्रकृति में तन्मयाकार रहते हैं इसलिए। ज्ञानी भी प्रकृति में रहते हैं लेकिन उसमें तन्मयाकार नहीं रहते। ज्ञानी सत के साथ बैठे होते हैं और अगर हम उनके पास बैठें तो हम भी सत के बहुत ही नज़दीक आ जाते हैं।

पुरुष और प्रकृति को किस तरह से अलग किया जा सकता है? पुरुष अकर्ता है और प्रकृति कर्ता है। जहाँ-जहाँ क्रिया है, वहाँ प्रकृति है।

भेद विज्ञान की प्राप्ति के बाद पुरुष और प्रकृति अलग हो जाते हैं। उसके बाद ज्ञानी की आज्ञा का पालन करने से पुरुषोत्तम बनकर रहेगा। जिनमें *पोतापणुं*नहीं है न,वे पुराण पुरुष पुरुषोत्तम भगवान कहलाते हैं! ('मैं कह रहा हूँ तो वे मेरी क्यों नहीं सुनते?' वह है*पोतापणु*) पुरुष आत्म स्वभाव का भोक्ता है और विशेषभाव का (सुख-दु:ख का) भोक्ता अहंकार है। जीवात्मा से अंतरात्मा और अंत में परमात्मा। पुरुष अंतरात्मा है और जो पुरुषोतम है, वह है परमात्मा। पुरुष होने के बाद अपने आप ही पुरुषोत्तम बनता जाएगा।

[1.10] प्रकृति को जो देख रहा है, वह है परमात्मा

प्रकृति को जो निर्दोष देखता है, वह परमात्मा। उस समय आनंद, मुक्तानंद मिलता है!

दो प्रकार के पारिणामिक ज्ञान हैं। एक आत्मा का और दूसरा प्रकृति का। प्रकृति के पारिणामिक ज्ञान को निर्दोष देखा तो छूट जाते हैं। नहीं तो उलझन में पड़ जाते हैं!

कौन सा भाग निर्दोष दिखाता है? केवलज्ञान के अंश।

कोई गालियाँ दे तो ज्ञानी को कैसा रहता है? यह मेरे उदय का स्वरूप है और उसका भी उदय स्वरूप है। उसे वे निहारते हैं। ज्ञानी जीवमात्र को शुद्ध स्वरूप से देखते हैं और प्रकृति को उदय स्वरूप से निहारते हैं! अर्थात् आत्मा से आत्मा को देखते हैं और देह दृष्टि से उदय स्वरूप को देखते हैं!

प्रकृति को निरंतर देखने में रुकावट किससे? आवरण से। ये आवरण टूटेंगे कैसे? ज्ञानी के चरणों में प्रत्यक्ष विधियाँ करने से आवरण टूटते जाएँगे।

ज्ञानी को विधि करते समय होनेवाली सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम भूलें दिखाई देती हैं। जो किसी के लिए भी परेशानीवाली नहीं होतीं। उन्हें वे तुरंत ही धो देते हैं।

प्रकृति को जाना, वहीं से भगवान बनने की शुरुआत हुई और जानने के बाद जो प्रकृति को पूर्ण रूप से खपा दे, समभाव से *निकाल*करके तो वह भगवान बन जाएगा! प्रकृति को खपाना, इसका क्या अर्थ है? उसे समभाव से खपाना है। मन को विचलित नहीं होने देना है। कषायों को मंद करके खपाना है। भगवान महावीर एक ही*पुद्गल* को देखते थे। अर्थात् प्रकृति को मात्र निहारो, निहारो, निहारो! वही सही स्वरूप-भक्ति है।

जो विधियाँ बोले, वह फाइल नं-१ और शुद्धात्मा उसे जानता है कि क्या बोला गया! कहाँ-कहाँ कच्चा रहा? दोनों के कार्य अलग ही हैं। प्रकृति को निहारना, वह स्व-रमणता है। दादा का निदिध्यासन और स्मरण, वह आत्मरमणता ही कहलाती है क्योंकि

ज्ञानीपुरुष ही खुद का आत्मा है! जब तक मूल आत्मा पकड़ में नहीं आ जाता, तब तक 'प्रत्यक्ष ज्ञानी ही मेरा आत्मा है' ऐसा करके चल!

जो प्रकृति को निहारे, वह पुरुष और जो प्रकृति को निहार चुका है, वह परमात्मा!

मन-बुद्धि-चित्त और अहंकार क्या कर रहे हैं, उसे देखते हैं। वही निहारना है पूरे दिन।

पुरुष और परमात्मा में क्या फर्क है? पुरुष परमात्मा बन रहा है। अभी तक फाइलें हैं न! परमात्मा को कुछ करने को बचा ही नहीं, केवल ज्ञाता-दृष्टा और परमानंदी। उनकी कोई फाइल रही ही नहीं!

पुरुष प्रेक्टिस करता है जुदापन की। गालियाँ देता है तब ज्ञान हाज़िर रखता है कि ' मैं कौन हूँ और गाली देनेवाला कौन है?' दोनों अकर्ता।

प्रकृति को भूलवाली कहना भयंकर गुनाह है।

प्रकृति गुणों से *पोतापणुं* (मैं हूँ और मेरा है ऐसा आरोपण, मेरापन) खड़ा हुआ है। *पोतापणे* को निहारे तो वह धीरे-धीरे कम होता जाता है। *पोतापणा*में पूरी प्रकृति को निहारना है।

अक्रम विज्ञानी दादाश्री ने तो प्रकृति का पूरा विज्ञान खोलकर रख दिया है, जो कि अन्य किसी भी जगह पर नहीं मिलता और अंत में 'मैं, बावा और मंगलदास' की स्पष्टता ने तो खुलासे की हद कर दी!

[2.1] द्रव्यकर्म

द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म से जगत् के तमाम जीव बंधे हुए हैं। ये तीन गाँठें टूट जाएँ तो जीव में से परमात्मा बन जाए!

सामान्य रूप से लोग क्या समझते हैं? खाने–पीने के जो भाव होते हैं, वे भावकर्म है और खाना खा लिया, वह द्रव्यकर्म। वास्तव में ऐसा नहीं है।

द्रव्यकर्म और भावकर्म सूक्ष्म होते हैं। द्रव्यकर्म मुफ्त में मिले हैं। वे आवरण के रूप में हैं। पूरी ज़िंदगी के कर्मों का सार आठ प्रकार के कर्मों में बँट जाता है,जिन्हें द्रव्यकर्म कहते हैं। उसके फल स्वरूप इस जन्म में उल्टे चश्मे (आवरण) और देह इस प्रकार से दो चीज़ें मिलती हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय, ये उल्टे चश्मे हैं, चार पट्टियाँ और नाम, गोत्र, वेदनीय और आयुष्य, ये चार देह के रूप में मिलते हैं। ये आठों कर्म जन्म से होते ही हैं।

देह और आत्मा जुदा हैं फिर भी एक भासित होते हैं, वह किस वजह से? द्रव्यकर्म के उल्टे चश्मों की वजह से। संसार खड़ा होने का मूल कारण द्रव्यकर्म ही हैं। उल्टे चश्मों की वजह से यों उल्टे भाव होने लगे। भावकर्म के बाद तरह–तरह की इच्छाएँ खड़ी हुई। द्रव्यकर्म के जैसे चश्मे होते हैं वैसा ही दिखाई देता है। किसी को हरा, किसी को पीला, तो किसी को लाल। हर एक के चश्मे अलग–अलग होने की वजह से अलग–अलग दिखाई देता है और उसी वजह से मतभेद होते हैं। चश्मे की वजह से, 'यह मेरी बहू है और यह मेरे ससुर,' ऐसा दिखाई देता है! यह है उल्टा ज्ञान और उल्टा दर्शन। द्रव्यकर्म बंधन की वजह से जो 'दृष्टि' उल्टी हो गई, उसी से ऐसा सब उल्टा दिखाई देता हैं! उल्टे–सीधे भाव भी उसी वजह से होते हैं! नहीं तो खुद 'परमात्मा' है, फिर भी भीख माँगने का भाव कहाँ से होता है? क्योंकि ये उल्टे चश्मे हैं। बहरा, अंधा, गूँगा क्यों? भावकर्म बिगाड़े थे, उसके फल स्वरूप यह देह रूपी द्रव्यकर्म बिगड़ा हुआ मिला!

आठ कर्म क्या हैं?

ज्ञानावरण :– अनंत ज्ञान है लेकिन आवरण की वजह से ज्ञान आवृत्त हो गया। जानने में फर्क आ गया।

दर्शनावरण:– अनंत दर्शन है लेकिन आवरण की वजह से दर्शन आवृत्त हो गया, सूझ नहीं पड़ती।

मोहनीय:– दर्शनावरण और ज्ञानावरण की वजह से मोहनीय उत्पन्न हो गया।

अंतराय:– मोहनीय की वजह से अंतराय आ गए। ब्रह्मांड का स्वामी होने के बावजूद भी देखो कैसी भिखारी जैसी दशा हो गई है? अंतराय कर्मों की वजह से!

वेदनीय :– सर्दी, गर्मी और भूख लगती है तो वह सब वेदनीय कर्म की वजह से।

नामरूप :– नाम रखा चंदू, फिर यह कि मैं गोरा हूँ, लंबा हूँ।

गोत्र:– अच्छा पूज्य व्यक्ति, खराब निंद्य व्यक्ति। वह गोत्र।

आयुष्य :– जिसका जन्म हुआ है वह फिर मरेगा ही।

द्रव्यकर्म, वह संचितकर्म कहलाता है और जब फल देने के लिए सम्मुख हो जाए तब वह प्रारब्धकर्म बनता है।

जो कुछ आए उसका समता भाव से *निकाल*कर दिया जाए तो द्रव्यकर्म से छूटा जा सकता है। ज्ञान–दर्शन के पट्टे साफ हो जाएँ तो सबकुछ सीधा हो जाएगा। अक्रम ज्ञान से पट्टे साफ हो जाते हैं। दर्शनावरण और मोहनीय संपूर्ण रूप से खत्म हो जाते हैं।

[2.2] ज्ञानावरण कर्म

द्रव्यकर्मों को दादाश्री ने मोमबत्ती का उदाहरण देकर सुंदर तरीके से समझाया है। मोमबत्ती में क्या–क्या होता है? मोम होता है, बत्ती होती है और दियासलाई से जलाने पर जब वह प्रकाश देती है, तब वह पूरी मोमबत्ती कहलाती है। जो मोमबत्ती है, वह

द्रव्यकर्म है। वह निरंतर पिघलती ही रहती है और नया द्रव्यकर्म उत्पन्न होता रहता है। जैसे–जैसे वह जलती है वैसे–वैसे। इसमें ज्ञानावरण है।

ज्ञानावरण कर्म की वजह से ज्ञान में आगे नहीं बढ़ सकते। वह प्रकाश नहीं होने देता। ज्ञान संपूर्ण है, फिर भी परदे के कारण ज्ञान प्रकट नहीं हो पाता।

दो–चार लौकियाँ पड़ी हों, उनमें से कौन सी कड़वी है और कौन सी मीठी, ऐसा कैसे जाना जा सकता है? साधारणतया चखकर। चखकर यानी कि वह इन्द्रिय ज्ञान कहलाता है। बुद्धि से डायरेक्ट पता नहीं चल पाता अर्थात् ज्ञानावरण है। वह हट जाए तो बिना चखे ही सब पता चल जाए! अरे, पूरे ब्रह्मांड के एक–एक परमाणु कैसे ज्ञान में झलकेंगे!

जहाँ पर ज्ञान दिया जा रहा हो वहाँ पर अगर प्रमाद का सेवन हो, तो उससे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म बंधते हैं। उपदेश और व्याख्यानों को सुनते हैं लेकिन कोई परिवर्तन नहीं होता, बल्कि बिगड़ते हैं, उससे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म बंधते हैं!

किसी को ऐसा कहना कि 'आप इसमें नहीं समझोगे,' वह सब से बड़ा ज्ञानावरण कर्म कहलाता है। तो फिर क्या कहना चाहिए? 'भाई, सोचो, आप ज़रा सोचो तो सही!' इतना ही कहना चाहिए।

ज्ञानी से मिलकर ज्ञानावरण टूटते हैं लेकिन खुद टेढ़ा हो तो वहाँ पर भी टेढ़ा ही चलता है!

मूलभूत ज्ञानावरण किसे कहते हैं? 'मैं चंदू, इसका पति, मैं वकील' ये ज्ञानावरण हैं। आत्मा का ज्ञान मिलने से वे ज्ञानावरण टूट जाते हैं। फिर जितना ज्ञानी की आज्ञा का पालन करें, उतनी ही प्रगति होती है। समाधि बरतती है! स्वरूप ज्ञान मिल जाने पर अज्ञान पूर्णरूप से चला जाता है। लेकिन ज्ञानावरण पूरी तरह से नहीं जाता। बीज का आवरण टूट जाने के बाद अगर आज्ञा में रहें तो उससे पूनम तक, संपूर्ण निरावरण पद तक पहुँचा जा सकता है!

[2.3] दर्शनावरण कर्म

दर्शनावरण अर्थात् दर्शन पर आवरण। जिस तरह आँखों में मोतिया बिंद का आवरण आने पर उसे दिखाई नहीं देता, उसी तरह आत्मा पर आवरण आने पर जैसा है वैसा दिखाई नहीं देता।

बचपन में सभी उसे कहते हैं कि 'तू चंदू,' तब पहले धीरे-धीरे उसे श्रद्धा में आता है, वह है दर्शनावरण। फिर उसे ज्ञान में फिट हो जाता है, अनुभव हो जाता है, वह है ज्ञानावरण। ज्ञानावरण और दर्शनावरण, दोनों इकट्ठे होने से मोहनीय उत्पन्न होती है। फिर संसार का पूरा ही व्यापार शुरू हो जाता है। फिर अंतराय डलते हैं।

दर्शनावरण से सूझ नहीं पड़ती। तप करता है, ध्यान करता है, उससे थोड़ा आवरण हटता है, तब फिर कुछ सूझ पड़ती है। सूझ पड़ना-नहीं पड़ना वह दर्शनावरण कर्म कहलाता है। सूझ वह द्रव्यकर्म है। कई बहनें डेढ़ घंटे में पूरा भोजन बना देती हैं और कई तीन घंटों तक उलझती रहती हैं। वह दर्शनावरण की वजह से है।

मनपसंद मेहमान आएँ और हम खुश हो जाएँ तो सूझ ज़्यादा पड़ती है और नापसंद आ जाएँ तब कहें कि 'अरे, ये अभी कहाँ से!' तो उससे सूझ कम हो जाती है! इस तरह हम खुद ही अपने आप पट्टी बाँधते हैं।

समझ और सूझ में क्या फर्क है? समझ को सूझ कहते हैं। समझ अर्थात् दर्शन। वह बढ़ते-बढ़ते ठेठ केवलदर्शन तक पहुँचता है!

दर्शन ऊँची चीज़ है। जैसे-जैसे समसरण मार्ग में आगे बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे उसका डेवेलपमेन्ट बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे दर्शन बढ़ता जाता है। ऐसे करते-करते भीतर प्रकाश होता है कि 'मैं शुद्धात्मा हूँ, चंदूभाई नहीं,' तब दर्शन निरावरण हो जाता है! जैसे-जैसे आवरण हटता है वैसे-वैसे सूझ बढ़ती है।

आत्मा का एक भाग जो कि आवृत है, उस आवरण में से उदित हुआ भाग सूझ है और वही दर्शनावरण कहलाता है। और उसी में से सूझ बढ़ते-बढ़ते आखिर में सर्वदर्शी

बन जाता है!

व्यवहार में ज्ञानावरण व दर्शनावरण को कैसे पहचाना जा सकता है?

एक व्यक्ति को व्यापार में सूझ नहीं पड़ती, इसलिए व्यापार बिगड़ गया। वह है दर्शनावरण। व्यापार की जानकारी नहीं है कि व्यापार कैसे करें, तो वह है ज्ञानावरण।

'मैं शुद्धात्मा हूँ' ऐसा समझ में आया, सूझ पड़ी वह इसलिए कि दर्शनावरण टूट गया। अब, 'मैं क्या हूँ' उसकी पूरी जानकारी नहीं है, वह ज्ञानावरणीय कर्म है। दादाश्री जब ज्ञान देते हैं तब दर्शनावरण पूर्ण रूप से टूट जाता है। ज्ञानावरण धीरे-धीरे टूटता है! रोंग बिलीफ, वह दर्शनावरण है और रोंग ज्ञान, वह ज्ञानावरण है।

[2.4] मोहनीय कर्म

मोहनीय अर्थात् जो खुद नहीं है वहाँ *पोतापणुं* मानना और जो रिश्तेदारी है उसे खुद की मानना! ये पति और बच्चे खुद के नहीं है फिर भी खुद के समझना, वह मोहनीय कर्म है।

नगीनदास सेठ कभी दारू ज़्यादा पी लें तो फिर वे क्या कहते हैं? 'मैं हिंदुस्तान का प्रेसिडेन्ट हूँ!' क्या हम नहीं समझ जाएँगे कि यह दारू का असर बोल रहा है?! उसी तरह 'मैं चंदू, इसका बेटा, इसका पति' ऐसा बोलना, वह सब मोह के असर से बोल रहा है!

'मैं चंदूभाई हूँ' ऐसा मानना, वह मूल मोह है। वहाँ से फिर मोह की परंपरा सर्जित हो गई।

मोह, महामोह और व्यामोह का अर्थ क्या है? व्यामोह अर्थात् विशेष मोह। अर्थात् मूर्छित हो गया। बेभान हो गया जबकि मोह में भान रहता है। महामोह में भी भान रहता है। मालूम है कि मोह करने जैसा नहीं है, फिर भी चश्मे के कारण आकर्षण हो जाता है। दिखाई देना बंद हो जाता है, अनुभव होना बंद हो जाता है, उससे मोह उत्पन्न हो जाता है। दूसरे शब्दों में, दर्शनावरण और ज्ञानावरण की वजह से।

सिर पर बेहद कर्ज़ा हो, फिर भी बाज़ार में पटाखे देखता है और मूर्छित होकर ले लेता है, वह मोह है।

अनंत मोह हैं। उनके सामने 'मैं अनंत सुख का धाम हूँ' ऐसा बोलने से मोह में से निकल सकते हैं।

आठों कर्मों में सब से भारी कर्म मोहनीय है। उसे कर्मों का राजा कहा है! वह ज्ञानी की कृपा के बिना नहीं जा सकता।

दर्शन मोहनीय को मिथ्यात्व कहा जाता है। चार घाती कर्मों की प्रबलता, वह मिथ्यात्व है।

मिथ्यात्व से आगे बढने पर उसके तीन भाग हो जाते हैं १) मिथ्यात्व मोह २) मिश्र मोह ३) सम्यकत्व मोह

जब मिथ्यात्व मोह मंद हो जाता है, तब मिश्रमोहनीय में आता है।U मिश्रमोह अर्थात् संसार भी सही और मोक्ष भी सही, दोनों सही। मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय जाने पर समकित होता है। जब क्रोध–मान–माया–लोभ, चारों चले जाएँ तब समकित होता है। पहले उपशम समकित, उसमें अर्ध*पुद्गल* परावर्तन काल (ब्रह्मांड के सारे *पुद्गलों*को स्पर्श करके, भोगकर खत्म करने में जो समय (काल) व्यतीत होता है, उससे आधा काल) तक भटकता रहता है। फिर क्षयोपक्षम समकित होता है। बहुत काल तक भटकने के बाद क्षायक समकित होता है। जब सम्यकत्वमोहUनीय भी चला जाए, तब क्षायक समकित होता है। उसके बाद नि:शंक आत्मा प्राप्त होता है। अक्रम विज्ञान से सीधे ही नि:शंक आत्मा प्राप्त हो जाता है।

अक्रम में दर्शन मोहनीय और दर्शनावरण दोनों ही एक साथ टूट जाते हैं। यह अक्रम विज्ञान इस काल का आश्चर्य है! धन्य है इस काल को भी!

द्रव्यकर्म बंधन का मुख्य कारण मोहनीय है। जो अक्रम ज्ञान से पूर्ण रूप से चला जाता है।! अब जो बचा हुआ मोह दिखाई देता है वह चारित्रमोह है, डिस्चार्ज मोह ही बचा है महात्माओं में!

[2.5] अंतराय कर्म

चीज़ें होने के बावजूद भी उनका उपयोग नहीं किया जा सके, वह अंतराय कहलाता है। खुद में अनंत ज्ञान है, अनंत दर्शन है, अनंत शक्ति है, अनंत सुख है, अनंत वीर्य है इसके बावजूद भी क्यों इच्छित चीज़ें नहीं मिलतीं? अंतराय कर्म हैं इसलिए।

अज्ञान दशा में मन–वचन–काया के योग में खुद निरंतर तन्मयाकार रहकर अंतराय डाल देता है। उदाहरण के तौर पर कोई मंदिर में दान दे रहा हो तो उसे रोकते हुए क्या कहता है कि मंदिर में दे रहे हो इसके बजाय गरीबों को खिलाओ न! स्कूल और अस्पताल बनवाओ न! अब वहाँ पर मंदिर के लिए अंतराय डालता है और दूसरी जगहों पर देने का पुण्य बाँधता है। यह सारी बुद्धि की अक़्लमंदी है।

लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय, दानांतराय, वीर्यांतराय, इस प्रकार से मुख्य पाँच प्रकार के अंतराय हैं। ये अंतराय खुद ने ही डाले हुए हैं। पिछले जन्म में जो डाले हैं, उनका इस जन्म में फल मिलता है। जिसे–जिसे *तरछोड़* (तिरस्कार सहित दुतकारना) लगाई हो, वह सबकुछ इस जन्म में नहीं मिलेगा।

जिन्हें खाने–पीने के अंतराय हों उनके घर पर बत्तीस प्रकार का भोजन है लेकिन फिर भी डॉक्टर ने परहेज रखने को कहा होता है, 'रोटी और छाछ ही खाओ!'

कई बार तो फर्ज़ निभाने के लिए हमें सामनेवाले को रोकना पड़ता है, तब उसका तुरंत ही प्रतिक्रमण कर लेना चाहिए।

पत्नी अगर भारी शरीर की हो और अगर उसे चावल ज़रा ज़्यादा खाने हों तो पति किच–किच करता है! खाने नहीं देता। अरे, यह तूने डाल दिया अंतराय!

कई लोगों को प्रश्न होता है कि क्या डाइबिटीज़वाले को मिठाईयाँ खाने देनी चाहिए? यदि वह नहीं माने तो फिर क्या हो सकता है? हमने देख लिया उसी वजह से परेशानी है न! छुप–छुपकर तो वह खा ही लेता है न! ऐसा रखना जैसे आपने देखा ही न हो। हाँ, आपको ऐसा नहीं कहना चाहिए कि 'मत खाना'। आप उसे सबकुछ विस्तार से समझाना कि इससे क्या नुकसान होता है, लेकिन पुलिस एक्शन नहीं लेना चाहिए, समझाना चाहिए।

हम किसी को बहुत ही आग्रह करके भोजन करवाएँ तो उससे क्या पॉज़िटिव अंतराय पड़ते हैं? नहीं! उससे तो बल्कि अंतराय टूटते हैं।

अगर पशु अपने खेत को रौंद रहे हों तो उन्हें हाँककर निकाल देने से क्या अंतराय पड़ते हैं? नहीं पड़ते। वास्तव में अंतराय का मतलब क्या है? कोई दान दे रहा हो और उसे रोके कि 'यहाँ पर मत देना, ठगा जाएगा,' तो वह खुद की अक्ल लड़ाता है कि 'देखो मैंने इसे कैसे समझा दिया। मैं अक्लमंद हूँ और यह कम अक़्ल।' इससे अंतराय पड़ते हैं।

अंतरायवाले को तो उसके खुद के उधार दिये हुए पैसे भी वापस नहीं मिलते, बरसों तक चक्कर लगाते रहने पड़ते हैं।

दादाश्री निरंतराय पद में थे। सोचने से पहले ही चीज़ें हाज़िर!

इलाज करवाने से क्या बीमारी पर अंतराय आता है? दवाई लेने से अंतराय नहीं आते, लेकिन अगर दवाई के बारे में सोचें तो वह अंतराय है। डॉक्टर खराब है, वैद्य अच्छा है, उससे अंतराय है। ऐसा सोचा, वे सभी अंतराय हैं। इसे 'देखते' रहना, वही पुरूषार्थ है!

प्रकृति के आगे अंतराय नहीं डालने चाहिए। 'ऐसा करना है या नहीं करना,' ऐसा कहा कि अंतराय पड़े। उसे अहंकार कहते हैं। प्रकृति क्या कर रही है उसे 'देखते' रहना है। सिर्फ एक ही *पुद्गल* को देखते रहना है।

दादाश्री को कान से कम सुनाई देता था। उसका रहस्य बताते हुए वे कहते थे, 'पिछले जन्म में हमें सही आदमी सही बात कहने आए तो हम उसकी सुनते नहीं थे और हट–हट कर देते थे। अहंकार किया। गलत व्यक्ति की गलत बात भी शांति से सुननी चाहिए। उसके बजाय हट हट किया, उससे सुनने के अंतराय पड़ गए और फल स्वरूप आया बहरापन।' यदि हियरिंग एड (सुनने की मशीन) लगवा दें तो अंतराय पूरी तरह से खत्म नहीं होंगे। इसलिए उन्होंने वह नहीं लगवाई।

कोई चीज़ अगर एक ही बार भोगी जा सके तो उसे भोग कहा जाता है और बार–बार भोगी जाए तो उसे उपभोग कहा जाता है। खाने की चीज़ें भोग कहलाती हैं और कपड़े उपभोग कहलाते हैं।

मूल अंतराय ज्ञानांतराय है, उसी की वजह से सभी अंतराय पड़ते हैं। किसी को किसी भी प्रकार का लाभ हो रहा हो और उसे हम रोकें तो उससे लाभांतराय पड़ते हैं।

तीर्थंकरों में अनंतवीर्य होता है। ज़रा सा हाथ लगा दें तो कहाँ से कहाँ परिवर्तन हो जाता है।

अंतराय कर्म किस तरह टूट सकते हैं? जिस वजह से अंतराय पड़े हैं, उसके विरूद्ध स्वभाव से ही अंतराय टूटते हैं।

'अंतराय कर्मों के लिए विधि करने से ज्ञानांतराय पड़ जाते हैं,' दादाश्री ऐसा कहते हैं। ज्ञान की विधि करवाने के बजाय ये अज्ञान की विधि करवाते हैं, उससे ज्ञानांतराय पड़ जाते हैं।

आयुष्य कम हो तो वह आयुष्य कर्म के अधीन है। धर्म में मत-मतांतरता की वजह से कई अंतराय पड़ जाते हैं।

सही रास्ते को सही नहीं कहा जाए तो ज्ञान के अंतराय पड़ते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञानी मिल जाएँ तो उनके माध्यम से, सभी अंतराय टूट जाते हैं। लेकिन जिसे अंतराय होते हैं उसे तो ऐसा लगता है कि 'अभी क्या जल्दी है?' 'दादा भगवान का' नाम लेने से भी अंतराय टूटते हैं!

दादाश्री दो घंटों में नकद मोक्ष देते थे फिर भी लोगों को शंका होती थी, 'ऐसा तो कहीं होता होगा?' यों डाल दिए अंतराय मोक्ष के! किसी को प्राप्ति हो रही हो तो उसमें अंतराय डाल देते हैं। किसी को दादा के सत्संग में नहीं जाने दे तो उससे बहुत बड़ा अंतराय पड़ जाता है!

कुछ लोगों को प्रत्यक्ष प्रकट आत्मज्ञानी मिल जाएँ फिर भी मन में ऐसा लगता है कि 'हम तो अपने धर्म का पालन कर रहे हैं या फिर गुरु का कहा कर रहे हैं। यही ठीक हैं। अब और कुछ कैसे किया जा सकता है?' यही उसके अंतराय हैं। खुद ने ही रूकावट डाली, जो खुद के लिए ही बाधक है। ज्ञानी से मिलने में आनेवाले अंतराय तोड़ने के लिए

क्या करना चाहिए? खुद अपने आप तय करना है कि 'मुझे मोक्ष का अंतराय तोड़ना है,' उसके बाद ज्ञानी से कहना है कि 'कृपा करके अंतराय तोड़ दीजिए,' तो ज्ञानी तोड़ देंगे।

जो अंतराय रहित होता है, उसे तो ज्ञानी को देखते ही ठंडक हो जाती है, प्राप्ति हो जाती है!

कितने लोग तो वर्षों से भावना कर रहे होते हैं कि 'दादा के दर्शन करने हैं,' लेकिन अंतराय की वजह से नहीं आ पाते। इंसान के सभी अंतराय टूट सकते हैं, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय लेकिन ज्ञानांतराय जल्दी नहीं टूटते। ज्ञानी के अंतरायवाला तो दादा के घर की सीढ़ियाँ चढ़कर भी वापस उतरकर चला जाता है। ऐसे ज्ञानी दस लाख वर्षों में जन्म लेते हैं! वहाँ पर भी कैसे अंतराय लेकर आया है जीव!

प्रत्यक्ष के अंतराय कई लोगों को पड़ जाते हैं। परोक्ष के टूट चुके होते हैं। प्रत्यक्ष के अंतराय जानकार को होते हैं, अनजान को नहीं होते।

अंतराय कर्म तोड़ने के लिए क्या करना चाहिए? रोज़ प्रतिक्रमण करना चाहिए कि 'हे भगवान मेरे अंतराय कर्म दूर कीजिए। पिछली भूलें माफ कर दीजिए।' रोज़ ऐसी प्रार्थना करनी चाहिए।

ज्ञान-दर्शन के अंतराय किस चीज़ से पड़ते हैं? टेढ़ा इंसान हर एक बात में टेढ़ा बोलता है। ज्ञानी के बारे में टेढ़ा बोलता है, संतों और भक्तों के बारे में टेढ़ा बोलता है। उससे ऐसे अंतराय पड़ जाते हैं।

आत्मा और मोक्ष के बीच बहुत दूरी नहीं हैं, बीच में मात्र अंतराय ही बाधक हैं। ज्ञान देकर, अज्ञान निकालकर ज्ञानी ज्ञानांतराय तोड़ देते हैं। जहाँ पर ज्ञानी का व तीर्थंकरों का विनय धर्म खंडित हो रहा हो, वहाँ पर ज्ञानी भी अंतराय नहीं तोड़ सकते। मोक्ष मार्ग में विनय धर्म मुख्य है। उस में भी ज्ञानी के लिए तो एक टेढ़ा विचार तक नहीं आना चाहिए।

दर्शन में हो लेकिन वर्तन में न हो तो वह इसलिए कि वर्तन के अंतराय हैं।

कुछ लोग धर्म की पुस्तकें जला देते हैं, मूर्तियाँ तोड़ देते हैं, फोटो जला देते हैं, फाड़ देते हैं। उससे बहुत ज्ञानांतराय पड़ जाते हैं। किसी के धर्म के प्रमाण को ठेस पहुँचाकर हम कभी–भी सुखी नहीं रह सकते। उसका फल आए बगैर नहीं रहता। अलग–अलग धर्मवाले धर्म के नाम पर आमने–सामने मार–काट करते हैं, हर एक व्यक्ति को उसका फल अवश्य मिलेगा ही। वह छोड़ेगा नहीं।

सत्संग में आने का दृढ़ निश्चय करने से तो सत्संग के अंतराय टूट जाते हैं। निश्चय में इतना बल होता है कि चाहे कैसे भी अंतराय हों, वे उससे टूट जाते हैं। 'रोज़–रोज़ सत्संग में क्या जाना?' उससे पड़ते हैं सत्संग के अंतराय। अनिश्चय से अंतराय पड़ते हैं।

अक्रम ज्ञान से खुद का परमात्म पद प्राप्त होता है, लेकिन उसमें सतत तन्मयाकार नहीं रह पाते हैं न!

इच्छा करने से अंतराय पड़ते हैं! जैसे–जैसे इच्छाएँ कम होती जाती हैं वैसे–वेसे अंतराय टूटते जाते हैं।

ज्ञानी को कोई इच्छा ही नहीं होती, इसलिए उन्हें किसी भी चीज़ के अंतराय नहीं रहते। ठेठ मोक्ष तक का निरंतराय पद होता है उनका! जो कुछ भी इच्छाएँ दिखाई देती हैं, वे डिस्चार्ज इच्छाएँ होती हैं। उनमें चार्ज इच्छाएँ तो बिल्कुल बंद हो चुकी होती हैं।

'किसी की ताकत नहीं है कि मुझे मोक्ष में जाने से रोक सके।' ऐसा नहीं बोलना चाहिए। ऐसे भाव रख सकते हैं कि 'मुझे मोक्ष में ही जाना है। अगर कोई इसके बीच आएगा तो भी मैं रुकूँगा नहीं,' लेकिन बोलने का मतलब है खुल्ला अहंकार।

इच्छा और निश्चय में क्या फर्क है? इच्छा अर्थात् वह जो खुद की मनचाही चीज़ के लिए होती है और निश्चय अर्थात् निर्धार। पसंदीदा और नापसंद से कोई लेना–देना नहीं है। कोई कार्य करना हो तो उसका निश्चय करना पड़ता है और मनचाही चीज़ लेने जाते हैं, तो वह इच्छा है।

निर्णय के बजाय निश्चय में अधिक ज़ोर होता है। निश्चय में जिस अहंकार की ज़रूरत है, वह डिस्चार्ज़ अहंकार होता है।

कभी भोजन करने में अंतराय पड़ा?

जैसे–जैसे आत्मवीर्य कम होता जाता है, वैसे–वैसे कषाय बढ़ते जाते हैं।

आत्मवीर्य टूटता किस वजह से है? अहंकार की वजह से। आत्मवीर्य कम होता हुआ लगे तब ज़ोर–ज़ोर से पच्चीस–पचास बार बोलना, 'मैं अनंत शक्तिवाला हूँ।'

मोक्ष जाने में अनंत अंतराय हैं तो उनके सामने शक्तियाँ भी अनंत हैं! उल्टी के सामने सुल्टी शक्तियाँ भी हैं। दादाश्री का ज्ञान सूत्र है कि 'मोक्ष जाने में विघ्न अनेक प्रकार के होने से उनके सामने मैं अनंत शक्तिावाला हूँ।'

रोंग बिलीफ से आत्मा पर अंतराय पड़ गए!

आत्मा की चैतन्य शक्ति आवृत हो जाती है, इन अनेक इच्छाओं से!

आत्मा की तमाम शक्तियाँ व अनंत ऐश्वर्य प्रकट होता है, ज्ञानी के सानिध्य से, उनकी कृपा से!

[2.6] वेदनीयकर्म

शरीर में तकलीफ आए तो वह वेदनीयकर्म का परिणाम है। वेदनीय कर्म दो प्रकार के हैं १.*शाता* (सुख–परिणाम) वेदनीय और २.*अशाता* (दु:ख–परिणाम) वेदनीय। सर्दी, गर्मी, और भूख, प्यास लगे तो वह*अशाता* वेदनीय है। अस्पताल में जो बीमारियाँ हैं वे भी*अशाता* वेदनीय हैं। ये द्रव्यकर्म हैं।

*शाता*यानी कि सुख, उसे भी वेदनीय कहा है भगवान ने। ज्ञानी शाता को सुख नहीं मानते और*अशाता* को दु:ख नहीं मानते। जिसका ज्ञान मज़बूत हो, वह कुछ भी नहीं भोगता। वह भोक्ता बनता ही नहीं हैं। ज्ञानी मात्र ऐसा जानते हैं कि यह वेदना देह की है,

उसे भोगते नहीं है। इसमें वेदनेवाला कौन है? अहंकार। आत्मा वेदता ही नहीं है। ज्ञानी निरअहंकारी होते हैं। वेदनेवाला उनमें बचा ही नहीं न! केवल 'जाननेवाला' ही बचा है। 'मुझे बहुत दु:ख रहा है, सहन नहीं हो रहा' ऐसे करके अज्ञानी बहुत वेदता है।

भगवान महावीर को भी *शाता-अशाता*वेदनीय थे। कान में बरू डाले तब भयंकर*अशाता* वेदनीय आई थी लेकिन उसमें उनका ज़बरदस्त तप रहा। उन्हें देह की वेदना थी लेकिन मानसिक या वाणी की वेदना नहीं थी।

अक्रम के महात्माओं के मानसिक दु:ख मिट गए हैं! दैहिक दु:ख महसूस होते हैं।

परम पूज्य दादाश्री को जब पैर में फ्रेक्चर हुआ तब वे बिल्कुल भी*अशाता* वेदनीय के भोक्ता नहीं थे। निरंतर मुक्त हास्य ही था।

दादाश्री को क्रॉनिक ब्रोन्किाइटिस था, हमेशा खाँसी रहती थी। दादाश्री उसे महान उपकार मानते थे। क्योंकि खाँसी नींद से उठा देती है न!

निरालंब दशावाले को *शाता-अशाता*स्पर्श ही नहीं करते, उन्हें तो मात्र '*शाता-अशाता*को संयोग जानूँ ... '

[2.7] नामकर्म

मैं चंदूँ हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं मोटा हूँ, मैं इन्जीनियर हूँ, ये सभी द्रव्य कर्म हैं। नाम और रूपकर्म में नाम, रूप और डिज़ाइन सभी कुछ आ जाता है।

लोग ऐसा कहते हैं कि चित्रगुप्त ने अपना हिसाब लिखा है लेकिन वास्तव में ऐसा कोई लिखनेवाला व्यक्ति है ही नहीं। यह चित्रगुप्त के हिसाब की किताब नहीं है लेकिन यह गुप्त चित्र तो नामकर्म है। यह चित्रण ही नामरूप कर्म का है कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि ब्रह्मा ने गढ़ा है, वह भी कल्पना है। कोई बाप भी नहीं है ऐसा! भाव में से अपने आप ही चित्रण हो गया है।

यह नामकर्म पूर्व संचित कर्म है। इन्हीं के आधार पर हर एक के चेहरे, रूप–रंग अलग ही होते हैं, वर्ना सभी के चेहरे एक ही साँचे में ढले हुए हों, वैसे नहीं होते?

कोई आत्महत्या करता है तो वह भी नामकर्म की वजह से।

नामकर्म के कई प्रकार हैं। गोरा–काला, लंबा–नाटा, वह सब नामकर्म में आता है और अंग–उपांग वगैरह भी नामकर्म में आता है। जिसके कान की लोलकी अलग हो तो वह मोक्ष का अधिकारी है, वह हृदयमार्गी होता है। जिनके कान बड़े होते हैं, वे महत्वकांक्षी होते हैं, धर्म में या संसार में।

तीर्थंकरों का नामकर्म कैसा होता है? तीर्थंकर बहुत लावण्यवाले होते हैं, देखते ही दिल को ठंडक हो जाए। उन्हें बस देखते रहने का ही मन होता है। उनमें पूरी दुनिया का नूर होता है।

आदेय नामकर्म अर्थात् जहाँ जाए वहाँ पर मान–तान, स्वागत होता है। और अनादेय नामकर्मवाले का कहीं भी स्वागत नहीं होता। कुल, जाति वगैरह सभी द्रव्यकर्म में आ जाते हैं।

यश और अपयश नाम कर्म हैं। कुछ भी नहीं किया हो फिर भी यश मिलता है और अपयश नाम कर्मवाला कर–करके अधमरा हो जाए तो भी कोई यश नहीं देता। ऊपर से अपयश देते हैं।

संत और भक्त चमत्कार करते हैं लेकिन वास्तव में जगत् में किसी इंसान से कोई चमत्कार हो ही नहीं सकता। यह तो उनका ज़बरदस्त यशनाम कर्म है जो उन्हें यश दिलवाता है।

परम पूज्य दादाश्री के पास तो रोज़ के दो सौ लोग आते थे, यश देते हुए। 'चमत्कार है', ऐसा कहकर ही तो! लेकिन दादा यश नहीं लेते थे, वे तो यह कहकर उड़ा देते थे कि 'यह तो हमारा यशनाम कर्म है'।

दादाश्री के पास रिलेटिव प्रोब्लम के लिए विधियाँ करवाकर जाते हैं, वह क्या है? दादाश्री कहते हैं, 'यह तो देव–देवी ही कर सकते हैं। इसीलिए मैं उन्हें फोन कर देता हूँ और सिफारिश कर देता हूँ क्योंकि हमारी सभी देवी–देवताओं से पहचान है न!'

यशनाम कर्म किसे मिलता है? जिन्हें खुद के लिए कुछ भी करने की इच्छा नहीं है, जो रात–दिन यही सोचा करते हैं कि 'इन सब का भला किस तरह से हो' जो औरों के लिए ही जीते हैं, उन्हें ज़बरदस्त यशनाम कर्म मिलता है। वह पुण्य से नहीं मिलता। सामनेवाले का किंचित मात्र भी अहित ना हो, दु:ख न हो, हमेशा वही ध्यान में रखते हैं। वे यशनाम कर्म बाँधते हैं। दादाश्री को कभी भी ऐसा नहीं होता था कि 'मुझे क्या।' बुरा करने की भावना से अपयश नामकर्म बंधता है।

'जगत् का कल्याण करना है दुश्मन का भी कल्याण करना है', ऐसा जिनके रोम–रोम में बसा हो, वे उच्चत्तम यशनाम कर्म बाँधते हैं।

[2.8] गोत्रकर्म

गोत्रकर्म दो प्रकार के हैं। उच्च गोत्र और नीच गोत्र। उच्च गोत्रवाला जहाँ जाए वहाँ सभी उसके पैर छूते हैं और नीच गोत्रवाले की सब निंदा करते हैं।

जो शराब पीए, मांसाहार करे, गलत रास्ते पर जाए, वे सभी लोकनिंद्य बनते हैं। उच्च गोत्र का अहंकार करना, सुपीरियरिटी कॉम्पलेक्स में आता है। नीच गोत्र से इन्फीरियरिटी कॉम्पलेक्स में आता है, उससे नए भावकर्म बंधते हैं।

इस काल में तो जो लोकनिंद्य नहीं है, उन्हें लोकपूज्य मानना चाहिए। सचमुच के लोकपूज्य तो मिलने ही मुश्किल हैं!

दान करना, सत्कार्य करना, वह सब नामकर्म में आता है और लोक कल्याण का भाव करना गोत्रकर्म में आता है।

श्रेणिक राजा ने महावीर भगवान के दर्शन से ही तीर्थंकर गोत्र बाँध लिया था! कैसे भाव से किए होंगे वे दर्शन! पूर्वजन्म में गुरु महाराज ने श्रेणिक राजा को जो दृष्टि दी थी,

वह और ये दर्शन, दोनों के मिलने से तीर्थंकर गोत्र बंध गया!

[2.9] आयुष्य कर्म

मोमबत्ती को जलाने के बाद वह खत्म होगी या नहीं? उसी प्रकार जन्म लेते ही आयुष्य कम होने लगता है। इसे द्रव्यकर्म कहते हैं। यह कर्म जीव को देह में बाँधकर रखता है। केवलज्ञान होने के बाद भी आयुष्य कर्म रहता है। देह मर जाती है लेकिन खुद नहीं। अगर आयुष्य कर्म लंबा है तो वह पुण्य की वजह से।

आयुष्य कर्म श्वासोश्वास पर आधारित है, वर्षों पर नहीं। *अणहक्क*के विषय में, कुचारित्र में सब से अधिक श्वास खर्च हो जाते हैं। उसके बाद हक्क के विषयों में, फिर क्रोध में खूब खर्च हो जाते हैं। लोभ से आयुष्य बढ़ता है। लोभी कम विषयी होता है।

हर क्षण आठों कर्म बंधते ही रहते हैं। जब दूसरे कर्म बंधते हैं तब उनके साथ आयुष्य कर्म भी बंध जाता है। कर्म के आयुष्य को आयुष्य कहते हैं।

आयुष्य बंधन का नियम–जब २/३ आयुष्य बीत जाता है तब पहला बंध पड़ता है। साठ वर्ष का आयुष्य हो तो चालीसवें वर्ष में पहला बंध पड़ता है उसके बाद जो बीस वर्ष बचे हैं उसके २/३, १/३ डिवाइड करते–करते बंध पड़ता जाता है और पहले का पड़ा हुआ बंध मिटता जाता है।

मातृ भाववाले का आयुष्य लंबा होता है। किसी को दु:ख हो जाए तो वह उसे अच्छा नहीं लगता। ओब्लाइजिंग होता है सदा।

दूसरों के आयुष्य को हम जितना नुकसान पहुँचाते हैं, उतना ही अपना आयुष्य कम होता जाता है।

[2.10] घाती और अघाती कर्म

मोमबत्ती में चार द्रव्य कर्म होते हैं, अघाती कर्म होते हैं। एक है

धागा, जो जल जाता है। दूसरा है धागे को जलानेवाला मोम, तीसरा जो खुद जलकर खत्म हो जाता है, वह आयुष्य कर्म है और चौथा है प्रकाश। इस प्रकार चार हुए। मोमबत्ती में घातीकर्म नहीं होते और अपने में चार घातीकर्म भी होते हैं। इस प्रकार मनुष्य में आठ कर्म होते हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय। ये आत्मा का घात करनेवाले कर्म हैं, इसलिए इन्हें घातीकर्म कहा है।

द्रव्य कर्म निरंतर एक्ज़ोस्ट होते ही रहते हैं और एक दिन खत्म हो जाते हैं।

ये चार घातीकर्म चश्मे हैं और जो अघाती कर्म हैं, वह देह का भोगवटा है। अक्रम विज्ञान से घातीकर्म का मुख्य मोहनीय और दर्शनावरण संपूर्ण खत्म हो जाता है। कुछ अंशों तक ज्ञानावरण और अंतराय भी खत्म हो जाते हैं, मात्र दो ही घंटों में। अब अघाती कर्म जो कि देह के हैं, उन्हें भोगना बाकी रहता है। उसमें से जो उत्पन्न होता है वह नोकर्म है, जिन्हें भुगतना ही पड़ता है। घातीकर्म खत्म हो जाने के बाद सिर्फ अघाती कर्मों का निकाल ही करना बाकी रहता है!

तीर्थंकरों को जब केवलज्ञान होता है, तब घातीकर्म संपूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं। उनके अघाती कर्म बहुत उच्च प्रकार के होते हैं।

शुक्लध्यान से घातीकर्म नष्ट हो जाते हैं। दादाश्री जब ज्ञान देते हैं, तब शुक्लध्यान उत्पन्न होता है।

आठों कर्मों में मुख्य मोहनीय कर्म है। उससे दर्शनावरण कर्म का बंधन होता है। दर्शनावरण अर्थात् रोंग बिलीफ और फिर ज्ञानावरण उत्पन्न होता है।

मोहनीय अर्थात् आत्मा को आत्मा के रूप में न देखकर अन्य प्रकार से देखना। इसलिए सब उल्टा ही दिखाई देता है। कषाय मोहनीय के बच्चे हैं। 'मैं कौन हूँ' जब यह समझ में आ जाए तो कषाय फिर दूर होने लगते हैं।

जब मोहनीय, दर्शनावरण और ज्ञानावरण हट जाएँ, तब ज्ञानलब्धि होती है। अक्रम में ज्ञानलब्धि होती है, उसके बाद अघाती कर्म एकाध जन्म में खत्म हो जाते हैं। जब

अघाती कर्म खत्म हो जाते हैं तब आत्यंतिक मोक्ष होता है।

इस प्रकार दादाश्री ने आठ प्रकार के द्रव्य कर्मों का सर्वोत्तम प्रकार का तात्विक विवरण दिया है, जो कि और कहीं भी नहीं मिलता।

[2.11] भावकर्म

भावकर्म का अर्थ क्या है? संक्षेप में, 'मैं चंदूभाई हूँ' वही भावकर्म है। द्रव्य कर्म के चश्मों की वजह से उसे यह भाव होता है कि यह अच्छा है और यह खराब है। भाव की वजह से चश्मे नहीं हैं, चश्मों की वजह से भाव होते हैं!

भाव और अभाव से कर्म बंधन होता है। क्रोध-मान अर्थात् अभाव और माया-लोभ अर्थात् भाव।

अगर अहंकार हो तो भाव-अभाव हैं और अगर अहंकार नहीं हो तो लाइक-डिसलाइक। 'मैं' और 'मेरा', वे क्रमश: क्रोध-मान और माया-लोभ हुए। क्रोध-मान-माया-लोभ भावकर्म हैं। मान-अपमान भी भावकर्म हैं। कपट, मोह, लोभ वगैरह सभी भावकर्म हैं। लोभ अर्थात् अगले जन्म में जो मिलनेवाला था, उसे आज ही भुना लिया।

क्रोध-मान-माया-लोभ ही भावकर्म हैं। वे यदि हिंसक हों तो भावकर्म है और न हो तो भावकर्म नहीं कहलाता।

चार कषायों में से एक ही हो, ऐसा नहीं होता। एकाध उनमें से सरदार बन बैठता है और उसके साथ दूसरे भी होते हैं।

आर्तध्यान, रौद्रध्यान और धर्मध्यान, ये सभी भावकर्म हैं।

भाव और भावकर्म में क्या फर्क है? 'मुझे यह भाता है, मुझे यह भाता है,' ऐसा जो सब होता है, वह सब इफेक्ट है और भावकर्म कॉज़ है और भावना भावकर्म का फल है।

अंदर भाव होता है कि मुझे कमाना है, शादी करनी है, घर बनवाना है। अंदर ऐसे जो सूक्ष्म भाव बंध जाते हैं, वे भावकर्म हैं। भावकर्म सूक्ष्म है, वे व्यवहार में आते ही नहीं।

भावकर्म किस तरह बंधते हैं? किसी ने मेयर के दबाव से पचास हज़ार रुपये दान में दिए और अंदर उसे भाव में ऐसा रहता है कि 'अगर यह दबाव नहीं आया होता तो एक भी पैसा नहीं देता' तो ऐसे उसने भावकर्म बिगाड़ दिया, तो अगले जन्म में वह फल देगा और जो पचास हज़ार दिए, वह तो इफेक्ट है और उसका इफेक्ट इस जन्म में ही मिल जाता है। लोग 'वाह-वाह' करते हैं।

'मैं चंदूभाई हूँ' तब तक भावकर्म है और जब ऐसा हो गया कि 'मैं शुद्धात्मा हूँ' तो भावकर्म खत्म हो जाता है। जगत् भावकर्म से ही कायम है। भावकर्म खत्म हुआ तो संसार अस्त हो जाएगा।

कर्ताभाव से भावकर्म बंधते हैं। भोक्ताभाव से भोगना, वह भी भावकर्म कहलाता है। अगर ऐसा ज्ञान रहे कि 'वास्तव में तो सबकुछ व्यवस्थित ही कर रहा है,' तो भावकर्म खत्म हो जाएगा।

[2.12] द्रव्यकर्म + भावकर्म

आठ प्रकार के द्रव्य कर्म हैं। जब वे डिस्चार्ज होते हैं तो वापस उसमें से भावकर्म बनते हैं। जो चार कषाय हैं, वे भावकर्म हैं। अब अगर द्रव्य कर्म के मालिक न बनें, उसमें कषाय न हों तो भावकर्म खत्म हो जाते हैं। अत: चार्ज कर्म बंद हो जाता है। मात्र देह की वजह से डिस्चार्ज कर्म भोगने बाकी रहते हैं।

भावकर्म के प्रकार या डिग्री नहीं बदलते। वे मूल जगह से टपकते रहते हैं। एक ही तरह का होता है। फिर उनसे नए द्रव्य कर्म बनते-बनते तो बहुत समय लग जाता है।

आत्मा ने अपनी शुद्धता कभी भी नहीं छोड़ी। ये तो जड़ और चेतन, इन दो तत्वों के इकट्ठे होने से व्यतिरेक गुण उत्पन्न हो गए हैं। मूलत: द्रव्य कर्म में से ये व्यतिरेक गुण (क्रोध-मान-माया-लोभ), ये भावकर्म उत्पन्न हुए है। रोंग बिलीफ से पावर भर गया है।

चेतन का पावर जड़ में बिलीफ के रूप में आ गया है। उस पावर की वजह से ही दु:ख हैं। वह पावर खर्च हो जाएगा तो दु:ख चले जाएँगे। व्यतिरेक गुण से पावर खड़ा हो गया है। इसी को व्यवहार आत्मा कहा है।

मूल तत्व खुद के गुण या स्वभाव को छोड़ते ही नहीं। उल्टा दिखे कि 'मैं चंदू हूँ' तो वह भावकर्म और सीधा दिखे कि 'मैं शुद्धात्मा हँू' तो स्वभाव भाव कहलाता है। 'मैं कर रहा हूँ', वह भी भावकर्म है।

मूल ओरिजिनल द्रव्य कर्म किस प्रकार से बना? समसरण मार्ग में छ: द्रव्यों के मिलने पर पट्टियाँ बंध जाती हैं। आठ प्रकार के द्रव्य कर्म बनते हैं। उनमें से चार पट्टियाँ आँखों पर (आवरणों का चश्मा) हैं और बाकी के चार देह से भोगने होते हैं।

परम पूज्य दादाश्री ने बस इतने में ही सब से गुह्यतम ज्ञान, मूल ज्ञान अनावृत कर दिया है। कर्म का मूल कहाँ से है, वह यहीं पर स्पष्ट समझ में आ सकता है। स्वरूप का ज्ञान मिलने से भ्राँति जाती है, आवरण हटते हैं इसलिए पट्टियाँ निकल जाती हैं। भावकर्म का कर्ता कौन है? अहंकार। अहंकार में से क्रोध-मान-माया-लोभ उत्पन्न होते हैं। अहंकार कहाँ से उत्पन्न होता है? ये जो छ: द्रव्य मिलते हैं, उनमें से जड़ और चेतन के मिलने पर विशेष परिणाम उत्पन्न होते हैं। उस विशेष परिणाम से अहम् उत्पन्न होता है। खुद चेतन है फिर भी अन्य को, जड़ को, 'मैं' मानता है, उससे रोंग प्लेस में जो आरोपित भाव खड़ा हो जाता है, वही अहंकार कहलाता है। करते हैं संयोग और खुद मानता है कि 'मैंने किया', तो अन्य जगह पर 'मैं' के अस्तित्व के रोंग बिलीफ से रोंग बिलीफ एक स्टेप आगे बढ़ती है और कर्तापद में अन्य के स्थान पर खुद को कर्ता मानता है। इससे अहम् में से बन जाता है अहंकार, कर्तापन में आया, इस वजह से अहम् में से अहंकार बना। ज्ञान मिलने के बाद उसे यह राइट बिलीफ बैठ जाती है कि जड़ और चेतन अलग हैं, तब फिर इसका अंत आ जाता है।

आत्मा कर्म का प्रेरक नहीं है। वह कर्म ग्रहण करता ही नहीं है। यह तो, व्यवहार से उसके लिए प्रेरक और ग्रहण करनेवाला माना जाता है। मान्यता के अनुसार *पुद्गल* उसी स्वरूप का हो जाता है। इसके फल स्वरूप भाव, द्रव्य बन जाते हैं।

क्रमिक मार्ग में भावकर्म, वह खुद की निज़ कल्पना कहलाती है, इसलिए चेतनरूप अर्थात् मिश्रचेतन बन जाता है। चेतन की स्फूरणा होने से *पुद्गल* में पावर आ जाता है, जिससे पावर चेतन बना है। ज्ञान के बाद नया पावर नहीं भरता।

जड़धूप अर्थात् परमाणु खिंचते हैं। गुस्सा होना, वह भावकर्म है। उसके (क्रोध के) परमाणु खींचता है। ये जो परमाणु खिंचते हैं, वे बाहर से नहीं खिंचते। बाहर तो वे स्थूल रूप से हैं। यह तो अंदर के ही परमाणुओं को, निज आकाश में खींचता है। सूक्ष्म के हिसाब से फिर बाहर के स्थूल परमाणु मिल आते हैं और रूपक में आते हैं।

खुद ने जो कल्पना की अर्थात् जैसी डिज़ाइन बनाई, परमाणु वैसे ही हो जाते हैं। अत: जिस तरह की स्फूरणा हुई, उसी तरह के *पुद्गल* को खींचता है और उसी तरह का सारा सर्जन हो जाता है। ये गधे, हाथी, चींटी वगैरह खुद की ही स्फूरणा से उत्पन्न हुए हैं, लेकिन वह परभाव में हो गया है। परसत्ता में हो गया है।

आत्मा ज्ञान से अकर्ता है और अज्ञान से कर्ता है।

जिसका उपचार नहीं हुआ, डिज़ाइन नहीं बनी, कोई योजना नहीं बनी, उस अनउपचरित व्यवहार से आत्मा द्रव्य कर्म का कर्ता है। 'मैं कह रहा हूँ, जा रहा हूँ, आ रहा हूँ,' वह है उपचारिक व्यवहार, जो चरित हुआ वह उपचरित होता है और उसमें से औपचारिक हो जाता है। उपचार से घर-व्यापार आदि का कर्ता है और अनुपचर्य अर्थात् नाक-कान-आँख वगैरह, वह क्या हमने ही गढ़ा है?

भावकर्म करने से देह निर्मित हो जाती है। भावकर्म करनेवाले को (अहंकार को) *पुद्गल* से कोई लेना-देना नहीं है। लेकिन जैसे भाव किए हैं, उसी अनुसार *पुद्गल* बन जाता है!

अक्रम ज्ञान से दादाश्री ने उपचार और अनुपचार खत्म कर दिए। क्रमिक में, जो दिखाई देते हैं उन्हीं को द्रव्य कर्म कहते हैं। वास्तव में द्रव्य कर्म दिखाई नहीं देते।

भाव कौन करता है? व्यवहार आत्मा। प्रतिष्ठित आत्मा भी भाव नहीं करता और शुद्धात्मा भी नहीं करता।

द्रव्य कर्म की पट्टी की वजह से कषाय (आवरण) हैं और उसी की वजह से भावकर्म हैं।

अक्रम में दादाश्री द्वारा दिया गया भावकर्म, द्रव्य कर्म और नोकर्म का स्पष्टीकरण क्रमिक से बिल्कुल अलग है, लेकिन यथार्थ है। द्रव्य कर्म में से भावकर्म उत्पन्न होते हैं। डिस्चार्ज हो रहे कर्म, इफेक्ट में आए हुए कर्म, वे सभी नोकर्म हैं। जो भावकर्म डिस्चार्ज होते हैं, वे नोकर्म हैं।

क्रमिक मार्ग में, गुस्सा होना, वह भावबंध है और मार खाना, वह द्रव्यबंध है। क्रमिक में नोकर्म को द्रव्य कर्म कहते हैं। वास्तव में मार खाना वह नोकर्म है। क्रमिक में ऐसा मानते हैं कि भावकर्म में से द्रव्य कर्म बनते हैं लेकिन वास्तव में द्रव्य कर्म, ये जो आठ प्रकार के हैं, उन्हीं को कहते हैं। द्रव्य कर्म में से भावकर्म, भावकर्म में से वापस द्रव्य कर्म। नोकर्म की कोई क़ीमत ही नहीं है।

क्रिया नहीं, लेकिन जो भाव होते हैं वे भावकर्म है।

लोकपूज्य व्यक्ति को 'आइए, पधारिए, पधारिए' कहते हैं तो उससे सेठ खुश हो जाते हैं, वह भावकर्म है। अपमान होने पर डिप्रेस हो जाते हैं, वह भी भावकर्म है।

अक्रम में, ज्ञान के बाद भावकर्म खत्म हो जाते हैं क्योंकि इन सभी का मालिक ही हट गया! मालिक हो तो क्या होगा? यह 'मेरा' है, ऐसी दृष्टि उत्पन्न होने से वापस *आश्रव* (कर्म चार्ज) हो जाएगा। भावकर्म होने से *आश्रव* होता है, उससे वापस कर्म बंध पड़ता है। इस आश्रव बंध को लोग अनादिकाल से खोदकर निकालने जाते हैं लेकिन वैसा होता

नहीं है, मेहनत बेकार जाती है। ज्ञानी तो क्या कहते हैं कि 'किसी भी तरीके से मात्र दृष्टि बदल लो।'

दृष्टि बदल जाए तो सारे *आश्रव*, *परिश्रव* (निर्जरा) हैं। उसके बाद बंध नहीं पड़ता।

अक्रम में तो 'यह मेरा है ही नहीं' ऐसा हो जाता है। कषाय, 'चंदू' के। अहंकार मृतपाय हो जाता है और अंदर सौ प्रतिशत ऐसा हो जाता है कि 'मैं' तो शुद्धात्मा। पूरी दृष्टि ही बदल जाती है।

क्रमिक में जिसे लिंग-देह कहते हैं, उसे अक्रम में भावकर्म कहते हैं। द्रव्य कर्म में से भावकर्म और भावकर्म में से द्रव्य कर्म। दादाश्री ज्ञान देते ही इस श्रंखला तोड़ देते हैं। उसके बाद नए भावकर्म नहीं बंधते। पिछले दैहिक कर्म पूरे करने बाकी रहते हैं और कुछ अंशों तक ज्ञानावरण और अंतराय रहता है।

तीर्थंकर पूर्वजन्म में तीर्थंकर गोत्र बाँधते हैं। वह समकित होने के बादवाला भावकर्म है। 'जो सुख मैंने प्राप्त किया वे सभी पाएँ।' ऐसी उनकी सहज करूणा रहती है! भावकर्म संपूर्ण रूप से खत्म होने के बाद केवलज्ञान होता है।

[2.13] नोकर्म

नोकर्म तो, अगर आत्मज्ञान हो तो उनका असर नहीं होता, नहीं तो असर होता ही है। नोकर्म अर्थात् 'नो', NO - नो नहीं।

ज्ञानी के और अज्ञानी के नोकर्म एक जैसे ही दिखाई देते हैं लेकिन ज्ञानी में कर्तापन नहीं होता, भावकर्म नहीं होता इसलिए नोकर्म में से नया चार्ज नहीं होता, वे झड़ जाते हैं। इसमें मुख्यत: सम्यक् दृष्टि ही काम करती है। दृष्टि बदल गई, इसलिए नोकर्म हैं। डिस्चार्ज हैं।

नोकर्म अर्थात् क्या? जो पाँच इन्द्रियों से अनुभव किए जा सकते हैं। जो मन से होते हैं, वे भी नोकर्म हैं। मन उसका प्रेरक है। क्रोध-मान-माया-लोभ निकाल दें तो जो बचे,वे सभी नोकर्म हैं। मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार सभी नोकर्म हैं। फिर यह स्थूल क्रोध-

मान–माया–लोभ की बात नहीं है, यहाँ पर सूक्ष्म की बात है। स्थूल अनुभव हो, वे नोकर्म हैं। धौल लगाना, वह नोकर्म है और उस समय अगर अंदर क्रोध आ जाए तो वह भावकर्म है। ज्ञान होने के बाद क्रोध हो जाए, धौल लगा दे, तब भी वह भावकर्म नहीं है। मात्र झड़ते हुए नोकर्म हैं।

क्रिया को नोकर्म कहा गया है। जिसकी आत्मदृष्टि हो गई होगी उसे क्रिया नहीं चिपकती। दृष्टि ही मुख्य वजह बन जाती है।

धर्म में जो पाठ–पूजा, उपवास और जप–तप करते हैं वे सभी नोकर्म हैं। प्रकृति जो करती है उसमें अगर आत्मा का भावकर्म नहीं है तो वे सभी नोकर्म हैं। सभी हाजत नोकर्म हैं। राग–द्वेष रहित सभी क्रियाएँ नोकर्म कहलाती हैं। अक्रम ज्ञान में, 'मैं कर्ता नहीं हूँ, व्यवस्थित कर्ता है,' इस ज्ञान से नया कर्म नहीं बंधता। जो दिखाई देते हैं, वे सभी नोकर्म हैं। दादाश्री कर्तापन के आधार को ही खत्म कर देते हैं। महात्माओं की क्रियाएँ अज्ञानी जैसी ही दिखाई देती हैं, इसलिए औरों को कोई फर्क महसूस नहीं होता लेकिन उनके भावकर्म खत्म हो चुके हैं, जो बचे, वे नोकर्म हैं।

नोकर्म के दो भाग हैं। एक चारित्र मोहनीय जो अब महात्माओं में रहा है और दूसरा मोहनीय जो अज्ञान दशा में रहता है। दर्शन मोह जाने के बाद जो बाकी बचता है, वह चारित्र मोह है।

नोकषाय महात्माओं पर असर नहीं डालते। जो कषाय करने में निमित्त बनते हैं, वे नोकषाय हैं। अक्रम में फाइल १ से उनका प्रतिक्रमण करवाना चाहिए।

अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी, संज्वलन कषायों के चतुष्क को भावकर्म कहा जाता है।

क्रमिक में नोकर्म अर्थात् हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद और नपुसंक वेद। रति–अरति अर्थात् लाइक–डिसलाइक और जुगुप्सा अर्थात् घिन आना। भय अर्थात् घबराहट। कुदरती रिफ्लेक्शन....अचानक से बड़ा धमाका हो जाए तो उससे शरीर काँप जाता है, वह नोकर्म है। वह भय नहीं है लेकिन वास्तव में घबराहट है।

जो आठ प्रकार के द्रव्यकर्म हैं, वे संचित कर्म हैं और जो फल देते हैं वे प्रारब्ध कर्म हैं, उन्हें नोकर्म कहा गया है।

स्वरूप ज्ञान के बाद अक्रम में नोकर्म, अकर्म कहलाता है वर्ना अज्ञान दशा में जो नोकर्म हैं, वे सकर्म कहलाते हैं।

हर एक क्रिया में क्रोध–मान–माया–लोभ रहे हुए हैं ही, उनमें से द्रव्यकर्म उत्पन्न होते हैं।

दादाश्री दृष्टि बदल देते हैं, उससे संसार रोग चला जाता है।

[2.14] भावकर्म + द्रव्यकर्म + नोकर्म

द्रव्यकर्म में से भावकर्म उत्पन्न होते हैं और फिर उसमें से क्या बनता है? भावकर्म और नोकर्म दोनों के मिलने से वापस नया द्रव्यकर्म उत्पन्न हो जाता है। कॉज़ेज में से इफेक्ट और इफेक्ट में से कॉज़ेज..... अत: भावकर्म की माँ द्रव्यकर्म है और ओरिजिनल मूल द्रव्य कर्म (जो सब से पहले बना), उसकी माँ कौन है? तो वह है साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शयल एविडेन्स। साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शयल एविडेन्स पहली पीढ़ी तक ही रहते हैं। उसके बाद द्रव्यकर्म में से भावकर्म बनते हैं और द्रव्यकर्म में से जो फल आते हैं, वे नोकर्म हैं। उसके बाद भावकर्म और नोकर्म के मिलने से नए ही द्रव्यकर्म उत्पन्न होते हैं। देह और पट्टियाँ (आवरण), ये दोनों द्रव्यकर्म हैं। देह भावकर्म का साधन है।

द्रव्यकर्म और नोकर्म परिणाम हैं। खुद उनका कर्ता नहीं है और भावकर्म का कर्ता खुद है लेकिन उसमें भी वह नैमित्तिक कर्ता है। संयोगों के दबाव से भावकर्म बनते हैं।

पिछले जन्म के चार्ज किए हुए भावकर्मों के फल इस जन्म में नोकर्म के रूप में भोगने पड़ते हैं। इसमें मुख्य है भावकर्म, नोकर्म नहीं लेकिन भावकर्म वापस द्रव्यकर्म के निमित्त से ही बनते हैं। अगर द्रव्यकर्म नहीं हों तो भावकर्म नहीं बनेंगे।

रात को ग्यारह बजे मेहमान आएँ तो उन्हें देखते ही 'आइए पधारिए कहते हैं' लेकिन तुरंत अंदर क्या हो जाता है? 'कहाँ से आ गए मुए?' तो वह जो 'आइए पधारिए'

कहा, वह नोकर्म है 'अभी कहाँ से आ गए मुए?' तो वह भावकर्म है। नोकर्म खुले रूप से दिखाई देते हैं और 'अभी कहाँ से आया मुआ?' ऐसा अंदर हुआ तो वह कपट किया। अत: वह माया हुई। इसलिए वह भावकर्म में आता है और अंदर अच्छा भाव रहे तो भी वह भावकर्म है। शुभ और अशुभ भाव दोनों ही भावकर्म हैं।

'कहाँ से आए मुए' कहा तो उसका फल अगले जन्म में मिलता है। कुत्ता बनकर पूरे दिन आनेवालों पर भोंकता रहता है। लोग 'कहाँ से आया मुए' कहकर निकाल देते हैं।

भावकर्म वह भ्रांत पुरुषार्थ है। फिर चाहे शुभ हो या अशुभ, दोनों ही (भ्रांत पुरुषार्थ) हैं, जबकि रियल पुरुषार्थ ज्ञान के अधीन होता है और देह की सभी क्रियाएँ नोकर्म हैं। निकाचित कर्म भी नोकर्म हैं।

वाणी क्या है? वह द्रव्यकर्म है। मूल परमाणु द्रव्यकर्म के हैं और यहाँ से बाहर खिंचकर जिस स्वरूप में निकलती है, वह नोकर्म है। कोड वर्ड और उसके बाद जो शॉर्ट हेन्ड है, वह द्रव्यकर्म है और जो बाहर निकली, वह नोकर्म है।

विचार नोकर्म हैं लेकिन मन की जो ग्रंथि है, वह द्रव्यकर्म है। चित्त-अहंकार-बुद्धि वगैरह द्रव्यकर्म हैं लेकिन जब उनका उपयोग होना शुरू होता है, तब वे नोकर्म हैं।

प्रयोगसा द्रव्यकर्म से पहले हो जाता है। जो विश्रसा (शुद्ध) परमाणु थे, जब बोलना शुरू करते हैं तो हमारे अंदर भाव करते ही वे परमाणु घुस जाते हैं, वह है प्रयोगसा। फिर मिश्रसा होने में देर लगती है। मिश्रसा होते समय वह द्रव्यकर्म कहलाता है। बाद में द्रव्यकर्म वापस उदय में आते हैं।

दृष्टि उल्टी होने से भावकर्म की शुरुआत हुई, विशेष भाव हुआ, स्वभाव भाव नहीं। उसके बाद आगे जाकर 'मैं कर रहा हूँ' वह भी भावकर्म है। कषाय का समता भाव से *निकाल*कर लें तो नया चार्ज नहीं होता।

द्रव्यकर्म कुछ वर्षों के लिए, पचास-साठ वर्षों के लिए होता है। वे सिर्फ चश्मे हैं, वह अज्ञानता नहीं है। जबकि इन सभी में मुख्य अज्ञान है, वह परदा है।

ये चश्मे लगाता कौन है? अहंकार। इस अहंकार का मोक्ष करना है, आत्मा का नहीं। आत्मा तो मोक्ष स्वरूप ही है।

ज्ञान से पहले जगत् को जिस स्वरूप में देखते हैं, वह 'दृष्टि' द्रव्यकर्म के आधार पर है। उस दृष्टि से उल्टे चले हैं। द्रव्यकर्मवाली 'दृष्टि' चश्मा है।

दादाश्री जब ज्ञान देते हैं, तब मूलभूत उल्टी दृष्टि निकल जाती है। वह मूलभूत दृष्टि उस तरफ द्रव्यकर्म में चली जाती है और स्वरूप में चली जाती है।

दादाश्री मूल दृष्टि का गुह्य रहस्य बस इतने में ही दे देते हैं कि, 'कोई गालियाँ दे तो वह नोकर्म में आता है लेकिन उसमें अगर आपकी (मूल) दृष्टि बदल जाए तो उसमें से द्रव्यकर्म उत्पन्न होते हैं।' जो रौद्रभाव उत्पन्न होते हैं, वे भावकर्म हैं और रौद्रभाव उत्पन्न होते समय मूल 'मशीनरी, यह लाइट (दब जाती/कम हो जाती) दिखती है, दृष्टि बिगड़ना, वह द्रव्यकर्म है।' यह दृष्टि तो अनुभव की चीज़ है। शब्दों में नहीं समा सकती। महात्माओं की, 'आपकी' नोकर्म के समय 'दृष्टि' नहीं बिगड़ती। भाव उत्पन्न होने पर भी दृष्टि नहीं बिगड़ती क्योंकि अब उसके पीछे हिंसक भाव नहीं रहा। अर्थात् दृष्टि नहीं बिगड़े तो चार्ज नहीं होता। फिर तो जो भावकर्म होते हैं, वे भी डिस्चार्ज में आते हैं। भावकर्म और मूल दृष्टि बिगड़ जाएँ, वे दोनों एक हो जाएँ, तभी कर्म चार्ज होते हैं।

सम्यक दृष्टि होने के बाद फिर भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म अलग-अलग हो जाते हैं और फिर छूट जाते हैं। फिर अलग ही रहा करते हैं उसके बाद फिर कर्म बंधते ही नहीं।

दो तत्वों के साथ में रहने से तीसरा व्यतिरेक गुण उत्पन्न होता है, उसी से चश्मे बनते हैं।

आत्मा स्वभाव में ही है लेकिन चश्मे रूपी कोहरा आ जाता है। कोहरा आ जाए तो स्पष्ट नहीं दिखाई देता। द्रव्यकर्म कोहरे जैसे हैं। कोहरे में से बाहर निकलने के बाद भी कितने ही काल तक उसका असर रहता है।

अगले जन्म के लिए जो बीज डालना, वह भावकर्म है। बीजरहित कर्म, वे नोकर्म हैं और पिछले जन्म के चश्मे, वे द्रव्यकर्म हैं। जैसे चश्मे वैसा ही पूरी ज़िंदगी दिखाई देता है और चश्मे के अनुसार सूझ पड़ती है।

स्थूल चश्मे का पता चलता है लेकिन इन सूक्ष्म द्रव्यकर्म रूपी चश्मों का पता चलना मुश्किल है। यदि चश्मा *लक्ष* (जागृति) में रहे, खुद का *लक्ष*रहे और बाहर की हकीकत *लक्ष*में रहे तो कोई भी हर्ज नहीं है।

अक्रम में सभी कुछ खत्म कर दिया, इसीलिए कहते हैं न, 'मैं भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से मुक्त ऐसा शुद्धात्मा हूँ।'

जब ज्ञानी को सर्वस्व समर्पण करते हैं उस समय जीवित भाव अर्पण हो जाता है और मृत भाग बचता है यानी कि मात्र फल देने लायक ही बचते हैं जो कि फल देकर झड़ जाते हैं।

क्रमिक मार्ग में जैसे-जैसे भावकर्म कम करते जाते हैं वैसे-वैसे स्वभाव अनावृत होता जाता है, जबकि अक्रम में पूरा भावकर्म ही खत्म कर दिया है क्योंकि 'मैं चंदूभाई हूँ' वही भावकर्म है, जो अब खत्म हो गया है। भावकर्म खत्म हो गया इसलिए फिर नए द्रव्यकर्म नहीं बंधते क्योंकि भाव के कर्ता भी अब खुद नहीं रहे। अक्रम में मात्र दादाश्री की पाँच आज्ञाओं का पालन करना होता है, उतना ही चार्ज होता है, जिससे ज़बरदस्त पुण्यानुबंधी पुण्य बंधते हैं। जो महाविदेह में सीमंधर स्वामी द्वारा पूर्णाहुति करवाने के लिए तमाम सहूलियतें उपलब्ध करवा देते हैं।

इस प्रकार भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म की यह सूक्ष्म समझ दादाश्री ने सरल कर दी है। ऐसी समझ और कहीं भी मिल सके, ऐसा नहीं है। हालांकि यहाँ पर वह शब्दों में ही मिलती है, लेकिन जैसे-जैसे महात्मा ज्ञानी की इस समझ को आत्मसात करते

जाते हैं, वैसे–वैसे उन्हें ये अनुभव में आता जाता है। यह सटीक अनुभवजन्य हकीकत है।

[3] 'कुछ है', वह दर्शन है और 'क्या है,' वह ज्ञान है

दर्शन और ज्ञान। दृष्टा देखे, वह दर्शन है और ज्ञाता जाने, वह ज्ञान है।

दर्शन क्या है? ज्ञान क्या है? अंधेरे में अगर पास के कमरे में कुछ खड़के तो सभी को अंदर, ऐसा लगता है कि वहाँ पर 'कुछ है!' कुत्ता है, बिल्ली है या कुछ है। अब 'कुछ है' ऐसा लगना, उसे दर्शन कहा है। उसके बाद उठकर अंदर जाकर देखें तो दिखाई देता है कि बिल्ली थी! 'कुछ है' वह जो अस्पष्ट ज्ञान था, वह पक्का हो गया कि बिल्ली ही है, उसे 'ज्ञान' कहते हैं। अर्थात् अनडिसाइडेड ज्ञान को दर्शन कहते हैं और डिसाइडेड ज्ञान को ज्ञान कहते हैं। इसमें बिल्ली ज्ञेय है और जब अस्पष्ट था कि 'कोई जानवर है', तो उसे दृश्य कहा गया है। पेट में दुखता रहता है, वह दर्शन है और निदान हो गया कि 'अपेन्डिक्स है' तो उसे ज्ञान कहा गया है।

सोचकर देखा जाए वह ज्ञेय है और जो बिना सोचे–देखा जाए, वह दृश्य कहलाता है।

अंदर जब चिढ़ जाता है तो उसका उसे पता चलता है लेकिन वह चिढ़ किस वजह से हुई, जब तक उसका पता न चले तो वह दर्शन है और पता चल जाए, जान जाए, डिसाइडेड हो जाए कि अपमान होने की वजह से चिढ़ मची, तो वह ज्ञान कहलाता है। देखने में तो बहुत कुछ आ जाता है लेकिन जानने में कम आता है। देखते हैं लेकिन जानते नहीं हैं। अभी तक यह अनुभव में नहीं आता कि उससे क्या फायदा हुआ?

देखना और जानना, दोनों रिलेटिव ज्ञान हैं। विनाशी चीज़ों के आधार पर देखा और जाना, अत: रिलेटिव ज्ञान है और 'मैं यह जो समझा हूँ वह रिलेटिव ज्ञान है,' जब समझ ऐसी हो गई तो वह केवलज्ञान की नज़दीक की समझ है! यह निरपेक्ष ज्ञान के पक्ष में आता है। ज्ञाता–दृष्टा दोनों एक ही हैं। डिसाइडेड हो जाए तब दृष्टा ही ज्ञाता बन जाता है।

वास्तव में तो ज्ञान दर्शन और चारित्र में कोई भेद है ही नहीं। आत्मा तो एक ही है। जब आत्मा का 'कुछ' भान होता है, आत्मा दर्शन में आया तो उसे 'प्रतीति होना' कहते हैं, उसके बाद ज्ञान होता है। निरंतर प्रतीति रहे तो उसे क्षायक दर्शन कहा गया है। महात्माओं को दादाश्री ने क्षायक दर्शन दिया है। अब, अनुभव करने पर जब डिसाइड होता है, तब ज्ञान हो जाता है और जब दर्शन व ज्ञान दोनों साथ में हों, तब चारित्र हुआ।

अस्पष्ट हो, वह दर्शन है और स्पष्ट होना, वह ज्ञान है।

मैं आपको समझाऊँ और आपको समझ में आ जाए तो ऐसा कहा जाएगा कि वह आपके 'दर्शन में आया', और मेरा 'ज्ञान में' कहा जाएगा। आप जो समझे, उसे फिर दूसरों को समझाते हो तो ऐसा कहा जाएगा कि आपका दर्शन ज्ञान में परिणमित हुआ और सुननेवाले का दर्शन कहा जाएगा।

जब तक ज्ञान में परिणमित नहीं हो जाता, तब तक सामनेवाले को समझाया नहीं जा सकता। दादाश्री को केवलज्ञान पूरा दर्शन में आ गया है लेकिन वह समझाया नहीं जा सकता। जाना हुआ समझ में रहता ही है, लेकिन समझा हुआ शायद जानपने में न भी हो।

रास्ते पर जाते हुए सभी पेड़ों को सामान्य भाव से देखें तो उसे दर्शन कहा जाता है और यह नीम है, यह आम है, जब ऐसा विशेष भाव से जानें, तब उसे ज्ञान कहते हैं। विशेष भाव से जानने गया तो फँस गया, अत: सामान्य भाव से देखते रहो। विशेष ज्ञान से दखल हो जाती है और सामान्य भाव से वीतरागता रहती है।

हम अगर पूछें, 'तू कहाँ रहता है?' अहमदाबाद। अहमदाबाद में कहाँ पर? अडालज। अडालज में कहाँ पर? सीमंधर सिटी में। सीमंधर सिटी में कहाँ पर? बंगला नं-२ में। दो में कहाँ पर? मेरे रूम में। बाकी के रूमों में तो चिड़ियाँ, चूहा, और कॉक्रोच वगैरह सभी रहते हैं। ये सब फॉरेन में ही रहते हैं जबकि संक्षेप में तो एक ही जवाब है। कहाँ रहते हो? 'मैं अपने स्वदेश में रहता हूँ। होम डिपार्टमेन्ट में रहता हूँ।' होम में बैठकर फॉरेन का सभी कुछ देखता रहता है। होम से बाहर निकला कि सफोकेशन होने लगता है। विस्तारपूर्वक जानने गया इसीलिए परेशानी है। अंदर आत्मा के बारे में गहराई में उतरना था, उसके बजाय बाहर उतरे इसलिए उतने ही फँसे। फिर आत्मा में नहीं रह पाते।

दादाश्री कहते हैं कि 'हमारी समझ में संपूर्ण रूप से आ गया है कि जगत् क्या है लेकिन विस्तार से पूरी तरह से नहीं जान पाए हैं।' समझने में समय नहीं लगता लेकिन डिटेल में जानने में ज़्यादा समय लगता है।

सूझ अर्थात् दर्शन। ज्ञानी में बेहिसाब सूझ होती है। सामान्य लोगों में बूंद-बूंद होती है।

तीर्थंकरों की कितनी सुंदर सूक्ष्म खोज है! दर्शन और ज्ञान का कितना सूक्ष्म विवरण दिया है।

[4] ज्ञाता-दृष्टा, ज्ञायक

देखना और जानना, क्या आत्मा के कर्म हैं? नहीं। वह आत्मा का मूल स्वभाव है। स्वभाव से बाहर निकलना, वही कर्म है। स्वभाव के विरुद्ध करना, वही कर्म है। आत्मा स्वभाव में रहे तो उसका फल क्या है? परमानंद।

ज्ञान क्रिया और दर्शन क्रिया दोनों आत्मा की क्रियाएँ हैं। ज्ञान उपयोग और दर्शन उपयोग। यह जो क्रियावाला *पुद्गल*है, वह खुद की क्रिया में परिणमन करता है। इन सभी क्रियाओं को देखनेवाला यह, ज्ञान उपयोग है। ज्ञानक्रिया से मोक्ष है और अज्ञान क्रिया से बंधन। व्यवस्थित करता है और उसे खुद जानता है, वह ज्ञानक्रिया है।

'ज्ञान क्रियाभ्याम मोक्ष' आत्मा में रहकर कर्मों का निकाल करना, सचमुच में वही ज्ञानक्रिया है। बाकी तो सभी अज्ञान क्रियाएँ हैं। ज्ञान हुए बिना ज्ञानक्रिया किस तरह से संभव है? ज्ञान धारा और क्रिया धारा दोनों अलग ही हैं।

ज्ञान मिलने के बाद महात्माओं में दर्शन खुल गया इसलिए दृष्टा पद रहता है। उसके बाद जितना अनुभव होता है उतना ज्ञाता रहा जा सकता है, और दादाश्री निरंतर ज्ञाता-दृष्टा रह पाते थे।

किसी ने गाली दी और हिल गए और फिर ज्ञान हाज़िर होने पर जुदा हो जाता है। इस प्रकार फिर वापस और ज़्यादा से ज़्यादा रहने लगता है, उससे वह ज्ञातापद में आता है।

जैसे–जैसे हिसाब चुकते जाते हैं, वैसे–वैसे ज्ञान बढ़ता जाता है। ज्ञान–दर्शन साथ में हो तब चारित्र में आता है। उससे पहले अदीठ तप होता है।

समसरण मार्ग में न तो दुनिया का, न ही अपना अंत आता है। अंत तो आता है मार्ग का! देखनेवाला 'मुक्त हो जाता है। चलनेवाला बंधन में है।' चलनेवाले को 'देखता' रहे, तो वह मुक्ति है। दोनों अब जुदा हो गए। पहले एक ही थे।

ज्ञाता–दृष्टा का मतलब क्या है? ज्ञान मिलने के बाद ज्ञाता–दृष्टापन मन या बुद्धि के आधार पर नहीं रहता, वह प्रज्ञाशक्ति के आधार पर है।

अंदर फाइल नं–१ क्या कर रही है, मन क्या कर रहा है, बुद्धि–चित्त और अहंकार सभी क्या कर रहे हैं, उसे देखना और जानना, वह ज्ञाता–दृष्टापन है।

मन की सभी अवस्थाओं को बुद्धि नहीं जान सकती। राग–द्वेष रहित ज्ञान को अतीन्द्रिय ज्ञान कहा जाता है। सम्यक दर्शन और सम्यक ज्ञान से जो देखा व जाना उसे ज्ञाता–दृष्टा कहा जाता है। अन्य सारा काल्पनिक, इन्द्रिय ज्ञान कहलाता है।

चंदूभाई बनकर अंदर देखना, वह इन्द्रिय ज्ञान है और शुद्धात्मा बनकर चंदूभाई को देखना, वह आत्मा का ज्ञान है।

आँख से देखना, कान से सुनना और नाक से सूँघना, वह सारा इन्द्रिय ज्ञान है। उसे बुद्धि जानती है। वह सब अज्ञान कहलाता है। बुद्धि अर्थात् अज्ञा। अज्ञा को भी जो जानती है, वह प्रज्ञा है। जो कि मूल आत्मा की शक्ति है, रिप्रेज़ेन्टेटिव है। करनेवाला अहंकार है और जाननेवाली प्रज्ञा है। करनेवाला करता ही रहता है, उसे 'जानते' ही रहना है।

साक्षी भाव और दृष्टा भाव में क्या फर्क है? साक्षी अहंकार है और दृष्टा आत्मा है। अहंकार खत्म हो जाने के बाद, दृष्टा। तब तक साक्षी ही रहता है। जितना मोह कम होता जाता है उतना ही अधिक साक्षी रहा जा सकता है। मोह का नशा साक्षी किस तरह से रहने देगा? और ज्ञाता–दृष्टा तो निरंतर रहता है। वह आत्मा की जागृति है और साक्षी भाव से रहना, वह एक प्रकार की अहंकार की जागृति है।

'मैं चंदूभाई हूँ', जब तक ऐसी रोंग बिलीफ है तब तक 'मैं ज्ञाता हूँ' और 'मैं ही कर्ता हूँ' ऐसा रहता है। जब ज्ञानी–कृपा से निज स्वरूप का भान हो जाता है, तब मैं चंदूभाई नहीं लेकिन 'मैं शुद्धात्मा हूँ', ऐसा ज्ञान हो जाता है, भान हो जाता है और जो चंदूभाई पहले ज्ञाता थे, वे अब ज्ञेय बन जाते हैं और मूल ज्ञाता जो कि शुद्धात्मा हैं, वे सिंहासन पर आ जाते हैं।

दो तरह के ज्ञेय हैं, एक अवस्था स्वरूप से है और दूसरा ज्ञेय तत्व स्वरूप से है। जो ज्ञेय अवस्था स्वरूप से हैं, वे सभी विनाशी होते हैं और जो ज्ञेय तत्व स्वरूप से होते हैं, वे अविनाशी होते हैं।

ज्ञाता भाव जब ज्ञेय–भाव से दिखाई देता है, तब स्व स्वभाव में आता है। ज्ञेय में जो ममत्वपना था वह अब छूट गया, अब *पुद्गल*को देखता रहे तो आत्म पुष्टि होगी और उससे *पुद्गल*शुद्ध होगा। वे *पुद्गल*फिर वापस नहीं आएँगे।

जब आत्मा तत्वरूप से दिखाई देगा, तब सभी तत्व दिखाई देंगे। वास्तविक ज्ञेय तत्व स्वरूप से है और केवलज्ञान के माध्यम से ही ज्ञेय तत्व स्वरूप से दिखाई देते हैं।

ज्ञातापद हमेशा नहीं रहे तो वह अंश ज्ञानीपद है और हमेशा ज्ञातापद रहे तो सर्वांश हो जाता है। अंश में से सर्वांश ज्ञानी अपने आप ही हो जाता है।

महात्माओं का डिस्चार्ज कैसा होता है? खुद डिस्चार्ज बैटरियों को 'देखता है', इसलिए वे संकुचित होती जाती हैं। एक रतल के डिस्चार्ज का बोझ एक पाव का बन जाता है, और अगर न देखे और कर्ता बने तो डिस्चार्ज बोझ पाँच गुना हो जाता है।

डिस्चार्ज कर्म अर्थात् धोने के कपड़े यदि धोए बगैर रह जाएँगे तो फिर से धोने पड़ेंगे, उसके जैसा है! भारी फोर्सवाले कर्म हों तो शायद ज्ञाता–दृष्टा न भी रह सके, लेकिन अगर पुरुषार्थ हो तो रह सकता है। एक बार गिर जाए तो फिर से खड़ा हो जाता है और फिर से गिर जाए तो फिर से खड़ा हो जाता है! लेकिन पुरुषार्थ ढीला छोड़ देता है।

दादाश्री खुद की जागृति के बारे में बताते हुए कहते हैं, 'एक मिनट के लिए भी हम कभी एक वर्क में नहीं रहते हैं, हर समय हमारे दो वर्क रहते हैं! सिर्फ यह विधि, तब कुछ समय के लिए ही एक वर्क में रहता हूँ।' दो वर्क कौन से? 'बाहर नहलाते हैं तब मैं अपने ध्यान में रहता हूँ इसलिए ज्ञाता–दृष्टापन रहता है और जो नहलाता है, उनके साथ बातें कर रहा होता हूँ, अर्थात् हमारे तो हर समय दो कार्य रहते हैं! किसी को ऐसा पता नहीं चलता कि ये दूसरे काम में हैं।'

दादा कहते हैं कि, 'विधि के समय हम ज्ञाता–दृष्टा नहीं रहते। उस घड़ी एक्ज़ेक्ट ज्ञानीपुरुष के रूप में होते हैं, नहीं तो आपका काम फलेगा नहीं न!' विधि के समय खुद ज्ञानीपुरुष की तरह ही रहते हैं, ए.एम.पटेल की तरह नहीं और दादा भगवान तो अपनी जगह पर ही बैठे हुए होते हैं। उस तरफ की हमारी दृष्टि बंद हो जाती है। हमारी दृष्टि उस समय सीमंधर स्वामी में रहती है, दूसरी जगह अर्थात् विधि करने में रहती है।

अवस्था में अवस्थित तो अस्वस्थ और 'स्व' में स्थित तो स्वस्थ! अवस्था विनाशी है, वह अस्वस्थ बनाती है और स्व अविनाशी है, इसलिए स्वस्थ रखता है।

स्वस्थ या अस्वस्थ, शुद्धात्मा दोनों को जाननेवाला है। अस्वस्थ, फाइल नं–१ है, उसे 'देखते' रहो। अत: आवरण जितना अधिक होगा अस्वस्थता का समय उतना ही बढ़ जाता है।

दृष्टा और दृश्य दोनों अलग ही रहने चाहिए, वह कहलाती है जागृति! 'क्या है', उसे देखता है और 'क्या हो रहा है', उसे देखता है। 'क्या है' में सभी में खुद का स्वरूप दिखाई देता है और 'अपने आप ही हो रहा है,' ऐसा दिखाई देता है। तो हो गया काम पूरा।

करना कुछ भी नहीं है, मात्र देखना है। जो-जो भाव किए, निश्चय किए, उन सब को देखते रहना है। अपने में भाव करने की सत्ता है? नहीं। यह तो पिछले जन्म की डिज़ाइन बोल रही है, उसमें सत्ता क्या? उल्टा और सीधा, दोनों को ही देखते ही रहना है!

इस उलझन का कारण क्या है? उलझन में डालनेवाला अलग है, पड़नेवाला अलग है और जाननेवाला अलग है। जाननेवाला अगर पड़नेवाला न बने तो नहीं भुगतेगा और अगर पड़नेवाला बन जाए तो भुगतेगा!

ज्ञान मिलने के बाद डिस्चार्ज को फास्ट करने के लिए क्या किया जा सकता है? उसके बाद तो करनेवाला रहा ही नहीं न? अत: 'देखते' रहो आप। जो *पूरण*किया हुआ है, कड़वे-मीठे फल देकर उसका *गलन*होगा।

देखनेवाला कौन है? शुद्धात्मा जो कि चैतन्य पिंड है। ज्ञेय और ज्ञाता एकाकार न हों, उसे ज्ञान कहते हैं। तब सभी ज्ञेय खुद के ज्योति स्वरूप में झलकते हैं।

'ब्रह्मांड के अंदर और ब्रह्मांड के बाहर से देखना,' इसका क्या मतलब है? ज्ञेयों में तन्मयाकार हो गया तो ब्रह्मांड के अंदर कहा जाएगा और जब ज्ञेयों को ज्ञेय स्वरूप से देखे, तब ब्रह्मांड से बाहर कहलाएगा। मन के विचारों में तन्मयाकार हो गया तो उसे ब्रह्मांड के अंदर कहा जाता है और जुदा रहकर उन्हें देखे और तन्मयाकार न हो तो उसे ब्रह्मांड से बाहर कहा जाएगा। जो खुद के स्वरूप में ही रहा, उसे 'ब्रह्मांड से बाहर' रहा कहा जाएगा।

महात्मा को कई बार ऐसा आभास होता है कि ज्ञाता-दृष्टा भाव चला गया है, लेकिन ऐसा नहीं होता। अगर डोज़िंग हो जाए तो क्या उससे लाइट थोड़े ही चली जाती है? व्यवहार सारा ज्ञेय स्वरूप से है और निश्चय ज्ञायक स्वरूप से है। ज्ञेय-ज्ञाता का संबंध है यह!

ज्ञाता-दृष्टा भाव में रहें, तब खूब ठंडक लगती है। उसमें तो केवलज्ञान के नज़दीक की ठंडक लगती है। 'मैं केवलज्ञान स्वरूप हूँ' ऐसा भी कितने ही महात्माओं को रहता है!

यह तो ओवर ड्राफ्ट की वजह से आया है। जो संपूर्ण ज्ञाता–दृष्टा रहें, वे केवलज्ञानी, लेकिन वह धीरे–धीरे प्राप्त होता है।

ज्ञाता–दृष्टा बन जाए तो 'व्यवस्थित' सुंदर रूप से चला लेता है। क्या शुद्धात्मा को प्रकृति की मदद की ज़रूरत पड़ती है? नहीं। आत्मा परमात्मा ही है। संपूर्ण स्वतंत्र है, निरालंब है! अनंत शक्ति, अनंत ज्ञानवाला है। वह ज्ञान स्वरूप है, विज्ञान स्वरूप है। उसे किसी की क्या ज़रूरत?

क्या आत्मा का जानपना प्रकृति के माध्यम से है? नहीं। आत्मा खुद स्वभाव से ही जानपनेवाला है। प्रकृति में जो जानपना आता है, वह आत्मा में से आरोपित हुआ है। बुद्धि, वह भी खुद का आरोपण है। आत्मा के अलावा किसी में भी जानपना है ही नहीं। अब नया आरोपण करना ही नहीं है।

ज्ञाता–दृष्टा अर्थात् कैसा रहता है? हम दर्पण के सामने खड़े रहें तो हम उसमें दिखाई देते हैं न? क्या उसमें दर्पण को कुछ करना पड़ता है? उसके स्वभाव से ही, जो कुछ भी उसके सामने आता है वह उसमें झलकता ही है। उसी प्रकार आत्मा में सभी कुछ झलकता है। अंतिम ज्ञाता–दृष्टा इस तरह से है!

जितने समय तक ज्ञाता–दृष्टा रहे, उतने ही वीतराग। जो संपूर्ण ज्ञाता–दृष्टा हैं, वे संपूर्ण वीतराग।

जितना शुद्ध उपयोग, उतना ही ज्ञाता–दृष्टापन अधिक।

विनाशी जगत् के साथ आत्मा का क्या संबंध है? जो सिनेमा के परदे के साथ प्रेक्षक का होता है वैसा, देखनेवाले का संबंध सिर्फ देखने का ही है। सिनेमा चले तभी देखनेवाले की क़ीमत है और अगर सिनेमा बंद हो तो?

चरणविधि करते समय अंदर लिंक टूट जाती है, फिर ऊँची आवाज़ में बोलने पर वापस शुरू हो जाती है। अंदर आत्मा को तो यह भी पता चलता है कि लिंक टूट गई और चल रही है, वह भी पता चलता है! फिल्म ही है। ज्ञान कच्चा पड़ जाए तो उसे कौन जानता है? वही मूल आत्मा है। अत: ज्ञाता–दृष्टा पद का अनुभव निरंतर होता ही है।

यह अक्रम विज्ञान है ही ऐसा कि जहाँ पर विभाव उत्पन्न ही नहीं होता! कुछ भी स्पर्श नहीं करता और बाधा भी नहीं डालता। *पुद्गल*का ज़ोर कितना रहा अब? वह सारा टेम्परेरी है और हम परमानेन्ट हैं!

जो स्व को स्व जाने, वह मुक्त है और जो अन्य को अन्य जाने व स्व को स्व जाने, वह महामुक्त! जब अन्य को अन्य जाने, उस समय अगर मन–वचन–काया का योग कंपायमान नहीं होता तो वह स्व को स्व जानता है और अगर कंपायमान हो जाए तो स्व को स्व जाना है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

ज्ञाता–ज्ञेय दोनों एक हो ही नहीं सकते, दोनों अलग ही हैं। ज्ञेय के आधार पर ज्ञाता है। मन फिल्म बताता है और हम उसके ज्ञाता। फिल्म खत्म हो जाए, तो फुल गवर्नमेन्ट!

जो खुद खुद का जानकार रहे, उसे दूसरे जानकार की ज़रूरत नहीं है।

ज्ञाता और ज्ञायक में क्या फर्क है? जब मात्र जानने का ही कार्य करे, तब ज्ञायक कहलाता है। जब सत्ता में रहे, तब ज्ञायक।

ज्ञायक भाव में आना, वही उपयोग है। अन्य कुछ नहीं। महात्माओं को दादाश्री ने ज्ञायक भाव में रख दिया है। जितने समय तक ज्ञायक भाव में आया उतने समय तक केवलज्ञान के अंश प्राप्त होते हैं। उससे आधि, व्याधि और *उपाधि* (बाहर से आनेवाला दु:ख) में भी समाधि रहती है।

'मैं करता हूँ और मैं जानता हूँ' उसका जो मिक्स्चर है, उसे ज्ञेय कहते हैं और 'मैं जानता हूँ, मैं करता नहीं हूँ' वह है ज्ञायक भाव!

ज्ञायक भाव को अच्छा–बुरा, कोई द्वंद्व है ही नहीं। वे मात्र ज्ञेय और दृश्य ही हैं उसके लिए।

ज्ञायक में हिंसा भी नहीं है और अहिंसा भी नहीं है, लेकिन फाइल नं–१ से प्रतिक्रमण करवाना है। इससे परमाणु हो जाते हैं शुद्ध!

ज्ञायक भाव अर्थात् अंतिम भाव! फिर देह चाहे कुछ भी कर रही हो तो भी उसे कोई दोष स्पर्श नहीं करता। जब सूक्ष्म से सूक्ष्म दोष भी दिखाई दें, तब ज्ञायक भाव कहलाता है।

ज्ञायक को स्मृति का संग नहीं है, उसे किसी आधार की ज़रूरत नहीं है। ज्ञायक अर्थात् दर्पण जैसा। अंदर पूरा जगत् दिखाई देता है, सहज रूप से।

ज्ञायक से आगे क्या है? उसके बाद कोई शब्द है ही नहीं। यह तो जब तक व्यवहार में है, तभी तक यह भाग है। उसके बाद तो खुद ही रहा! जहाँ ज्ञायकपना है वहाँ पर राग–द्वेष नहीं है, वीतरागता है। ज्ञायक को संसार दिखाई ही नहीं देता। संसार तो, जब तक देहाध्यास है तभी तक है।

दादाश्री को पूरा ब्रह्मांड समझ में आ गया था लेकिन ज्ञान में नहीं आया था। ज्ञान में आ जाए तो सबकुछ दिखाई देता है!

जिसका ज्ञायक स्वभाव नहीं छूटे, वह परमात्मा है। वहाँ पर परमानंद है।

[5] आत्मा और प्रकृति की सहजता से पूर्णत्व

साहजिकता क्या है? मन–वचन–काया की क्रियाओं में दखलंदाज़ी नहीं करना। 'मैं कौन हूँ' वह समझ में आ जाए, तब सहज हो जाता है।

आत्मज्ञान के बाद व्यवहार कैसा रहता है? सहज व्यवहार चलता रहता है। कर्तापना छूट जाए तो फिर व्यवहार उदय स्वरूप रहा!

देहाध्यास छूटे तो व्यवहार आत्मा की *डखोडखल* (दखलंदाज़ी) बंद हो जाती है, अहंकार, ममता चले जाते हैं, इसीलिए तो! फिर देह, देह के स्वभाव में और आत्मा आत्मा के स्वभावमेंरहता है, उसी को सहजता कहते हैं।

परम पूज्य दादाश्री *डखोडखल*करते थे लेकिन वह तो हमारी *डखोडखल*निकालने के लिए! हँसते हँसाते हमारी *डखोडखल*बंद कर देते थे!

ज्ञान मिलने के बाद आसानी से निरंतर आत्मा का*लक्ष* (जागृति)रहता है। उसे सहज आत्मा होना कहते हैं। उसके बाद जैसे–जैसे दादा की आज्ञा में रहें, वैसे–वैसे मन–वचन–काया सहज होते जाते हैं।

अहंकार गैरहाज़िर तो सहजभाव हाज़िर। यह सब बिगाड़नेवाला अहंकार ही है।

मूल आत्मा तो सहज है ही, लेकिन यह व्यवहार आत्मा सबकुछ बिगाड़ देता है। वह अगर सहज हो जाए तो देह तो सहज है ही।

सहज भाव से अगर धौल लगाई जाए तो भी सामनेवाले को दु:ख नहीं होता! ज्ञानी के अलावा ऐसा कौन कर सकता है?

अक्रम मार्ग सहजता का मार्ग है, इसलिए इसमें 'नो लॉ लॉ' है, जो सहजता की तरफ ले जाता है। अगर लॉ हो तो सहजता कैसे आ पाएगी?

अंतिम स्थिति कौन सी है? आत्मा सहज स्थिति में और देह भी सहज स्थिति में।

दादाश्री की आज्ञा में जितना रहा जा सके उतना ही समाधि में रहा जा सकता है! हर रोज़ सुबह दादाश्री की पाँच आज्ञा में ही रहने की ही शक्तियाँ माँगनी हैं।

'*डखोडखल*नहीं करूँ ऐसी शक्तियाँ दीजिए,' ऐसा बोलने से काफी असर होता है।

दादाश्री कहते हैं, सामान्य तौर पर 'अक्रम विज्ञान में चौदह साल का कोर्स है।' अगर कोई बहुत ही कच्चा हो तो ज़्यादा समय लगता है और बहुत पक्का हो तो उसे ग्यारह साल में ही हो जाता है! चौदह साल में सहज हो जाता है!

किसी को टोकना ही नहीं चाहिए और अगर टोक लें और वह न सुने तो हमें अपनी बात वापस ले लेनी चाहिए। भरा हुआ माल निकले और उसे हम देखते रहें, तो सहज हुआ जा सकता है।

आत्मा स्वयं मोक्ष स्वरूप है लेकिन ये पूर्वजन्म की पच्चरें *डखोडखल*करती हैं। अब उन अंतरायों को 'देखते' रहने से वे जाएँगे।

*पुद्गल*तो नियम में ही है। उसमें *डखोडखल*न की जाए न, तो वह शुद्ध ही होता रहेगा। लेकिन यह *डखोडखल*कौन करता है? अज्ञान मान्यताएँ। और फिर *वांधा* और*वचका* (आपत्ति उठाते हैं और बुरा लग जाता है)।

अपनी देह को कोई कुछ भी करे लेकिन राग–द्वेष नहीं होना चाहिए। कोई जेब काट ले या देह को किसी भी तरह से परेशान करे, लेकिन अगर उसे स्वीकार कर लिया जाए तो वह देहाध्यास है। 'मुझे ऐसा क्यों किया' तो वह देहाध्यास है और अगर इनका असर नहीं हो तो देहाध्यास गया! अपनी देह को कोई कुछ भी करे, तब भी हमें राग–द्वेष न हो, उसी को सहज कहते हैं।

महात्मा ऐसे सहज कब हो पाएँगे? ज्ञान मिला है, इसीलिए वह परिणामित होने पर कर्म कम होते जाएँगे, तो सहज होता जाएगा। पहले एक–एक अंश करके सहज होता जाता है और अंत में संपूर्ण सहज हो जाता है। जितने अंशों तक सहज, उतने अंशों तक की समाधि!

चार डिश आइसक्रीम खिलाए, वह दखलंदाज़ी है और 'खाने जैसा नहीं है, गला बिगड़ जाएगा' तो वह भी दखलंदाज़ी! दखलंदाज़ी न करे तो अपने आप ही संतुलन रहेगा!

दखल को निकालना नहीं है, उससे अलग रहना है! अंदर प्रज्ञा दखल को चेतावनी देती है, इसके बावजूद भी अगर वह करता रहता है, और भगवान तो उदासीन! वीतराग!

'दखल नहीं करनी है,' ऐसा निश्चय करना भी दखल है। इस प्रकार से दखल दखल को निकालती है।

अगर चार डिश आईस्क्रीम ठोक जाए तो प्रज्ञा उसे चेतावनी देती है लेकिन फिर भी वह खा ही जाता है। वह कौन खिलाता है? वह चारित्र मोह है। चारित्र मोह के ज्ञाता–दृष्टा रहने से वह विलय हो जाता है। जागृति नहीं रही, निश्चय नहीं किया तो चारित्र मोह बढ़ जाता है! ज्ञाता–दृष्टा रहे तो *डखोडखल* (दखलंदाज़ी) बंद हो जाती है!

मन–बुद्धि–चित्त और अहंकार सभी दखलवाले हैं। प्रज्ञा चेतावनी देती है लेकिन अगर उसका नहीं माने तो फिर वह बंद हो जाती है। उसके प्रति सिन्सियर रहे तो वह सभी प्रकार से सावधान करती है।

'हमें' दखल करने की आदत है, उसमें 'हम' कौन हैं? 'हम' दो प्रकार से रहे हुए हैं। निश्चय से आत्मा की तरफ हैं। जितना 'देखा' उतना छूट गया और जितना नहीं 'देखा' तो उतना व्यवहार से रहा।

जलेबी सामने आए तो वह छूटने के लिए ही आई है लेकिन 'मुझे बहुत भाती है' ऐसा कहा कि कर दी दखल?

अत: इसमें 'हम' अर्थात् कौन? अहंकार।

देह और आत्मा की एकता किसने मानी है? अहंकार ने।

ज्ञान मिलने के बाद चार्ज करनेवाला अहंकार फ्रेक्चर हो जाता है। उसके बाद डिस्चार्ज अहंकार रहता है, फिर इट हेपन्स कहलाता है। जब तक चार्ज अहंकार है, तब तक ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि अहंकार न जाने क्या पागलपन करे?

डिस्चार्ज अहंकार के भी खत्म हो जाने के बाद सबकुछ सहज रूप से होता है, जैसे भूख कैसे सहज रूप से लगती है!

व्यवहार का असर हो जाए लेकिन वह पकड़े नहीं, तब वह शुद्ध कहलाता है। 'शुद्ध अर्थात् सहज!'

आत्मज्ञान हो जाने पर फिर छकता नहीं है, केफ नहीं चढ़ता!

इफेक्ट में किसी भी तरह की दखल नहीं की जाए, उसी को सहज कहते हैं। दखल करना भ्रांति है।

कर्ता पुरुष करता है, ज्ञाता पुरुष उसे निरंतर जानता है। आमने-सामने किसी की किसी में दखलंदाज़ी नहीं हो, उसी को कहते हैं व्यवहार में सहजात्म स्वरूप।

शरीर का स्वभाव है विचलित होना, भाग-दौड़ करना। वह उसका सहज परिणाम है, ज्ञानी को भी देह का असर होता है। अज्ञानी को अहंकार के मारे ऐसा नहीं होता। भगवान महावीर के कान में ग्वाले ने बरू ठोक दिए थे, उस समय उनकी आँखों में करुणा के आँसू थे और निकालते समय वेदना के आँसू थे और बहुत तेज़ चीख भी निकल पड़ी थी! इसे कहते हैं साहजिक। अहंकारी अहंकार से स्थिर रहता है। निरअहंकारी सहज रहता है।

अज्ञान दशा में मन के कहे अनुसार चलते हैं, उसे भी साहजिक कहा जाता है। सोचना या मेहनत करना, कुछ भी नहीं। जैसे गाड़ी लुढ़के वैसे लुढ़कने देता है। साहजिक में पुरुषार्थ नहीं रहता, लट्टू जैसा ही रहता है। जबकि ज्ञान होने के बाद, साहजिक को परमात्मा कहते हैं।

भ्रांति जाए, तब से सहज होने लगता है। उसके बाद कर्मबंधन नहीं होता। फिर कारण कार्य रहा ही नहीं।

महात्मा कॉज़ेज में सहज और इफेक्ट में असहज हैं। लोग कॉज़ेज में असहज होते हैं। कॉज़ेज में असहज रहने से कर्म चार्ज होते हैं!

जो सहज समाधि में रहे, वह भगवान कहलाता है।

रोंग बिलीफ से असहज हो गया है यह! कुछ भी करने से सहज अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। वह तो ज्ञानीपुरुष की कृपा से होता है। 'सहज' और 'करना' इन दोनों में बैर

है। नहीं?

'जल्दी उठना है' ऐसा सिन्सियर निश्चय रखना, उसके बाद जो हुआ वही सही।

मोक्ष में ज़ोर ज़बरदस्ती नहीं करनी है, सहज है।

सहज कैसे होते हैं? सुबह चाय दे तो पी लेते हैं और नहीं दे तो कोई बात नहीं। भोजन रख जाए तो खा लेते हैं वर्ना माँगकर नहीं खाते। एक महीने के लिए सहज योग करके देखने जैसा है ज़रूर!

मन, बुद्धि और अहंकार सभी अंदर शोर मचाएँ, उस समय अलग रहकर उन्हें देखे और जाने और बाहर सहज प्राप्त संयोग। जब खाना दे तो ठीक और नहीं दे, तब भी सहज! ऐसा सहज योग किसी-किसी में ही होता है। अरबों में एकाध को! अत: अपने अक्रम में तो यह सब झंझट ही खत्म कर दिया है। सहजरूप से जो मिला, वही सही। एक का आदर नहीं और दूसरे का अनादर भी नहीं। प्राप्त को भोगो।

सहज की प्राप्ति प्रारब्ध के अधीन नहीं है, वह ज्ञान के अधीन है।

क्या प्रयत्न करने से मिलनेवाली चित्त प्रसन्नता साहजिक कहलाती है? प्रयत्न अर्थात् रिलेटिव, अत: वह असहज ही होती है। रियल सहज होता है। प्रयत्न तो सहज प्रयत्न ही होने चाहिए। सहज शक्ति निर्विकल्प होती है।

प्रयास की ज़रूरत है लेकिन बीच में करनेवाला नहीं होना चाहिए। अगर ऐसा कहेंगे कि प्रयास की ज़रूरत नहीं है तो लोग कुछ करेंगे ही नहीं और उल्टे रास्ते चलेंगे।

मन-वचन-काया की क्रियाओं में कोई बदलाव नहीं आता, मात्र कर्तापन की दखलंदाज़ी है। करनेवाला सिर्फ अहंकार है। 'मैं कर रहा हूँ' की मान्यता से वह अगले जन्म की ज़िम्मेदारी लेता है।

चाय याद आए, खाना याद आए तो ऐसा कहा जाएगा कि सहजता टूट गई है। अत: आहारी को सहज बनाना है।

जहाँ पर क्रोध–मान–माया–लोभ खत्म हो जाते हैं, वहाँ पर सहजता उत्पन्न हो ही जाती है!

दादाश्री के पास इसीलिए पड़े रहना है न! ताकि पूरे दिन उनकी सहजता देखने को मिलती रहे। दादा की कैसी निर्मल सहजता है! उनकी

अहंकार रहित अद्भुत दशा! बुद्धि रहित अबुद्ध दशा है उनकी! वह सब देखने को मिलता है। दादाश्री का फोटो खींचने के लिए फोटोग्राफरों में होड़ मचती थी। बिल्कुल सहज दशा! और दूसरों को तो उस घड़ी अंदर ऐसा हुए बिना रहता ही नहीं है न कि 'मेरा फोटो ले रहे हैं?' अत: वे असहज हुए बगैर रहते ही नहीं। अत: उनका फोटो बिगड़ जाता है।

जब तक दादाश्री साहजिकता में रहते हैं, तब तक उन्हें प्रतिक्रमण नहीं करने होते।

दादाश्री हमें सिखाते हैं कि 'सहज होना है', ऐसा भाव रखना है। हमें ध्येय कैसा रखना है कि दादा की सेवा करनी है, ऐसा सहज भाव रखना है। उसके बाद उस समय जो होता है उसे देखना है। दादाश्री की सेवा मिलना तो बहुत बड़ी चीज़ है न! बहुत बड़ा पुण्य हो तो मिलती है! दादा को तो यों छू भी नहीं सकते न! एक बार भी हाथ से छू लिया तो बहुत बड़ा पुण्य कहलाएगा।

सहज हो जाए तो अंदर पूर्ण विज्ञान अनावृत हो जाएगा। जब संपूर्ण व्यवस्थित समझ में आ जाए, तब संपूर्ण सहज हो जाता है। अब किसी भी चीज़ का इंतज़ार नहीं करना है। उसका तो अंत ही नहीं आएगा।

जितना व्यवस्थित समझ में आता जाता है, उतना केवलज्ञान अनावृत होता जाता है। उतना ही सहज होता जाता है।

वाणी कब सहज होती है? जब ऐसा लगे कि 'यह टेपरिकॉर्डर बोल रहा है' तब। जब वाणी मालिकी रहित हो जाए तब वह सहज हो जाती है। मन–वाणी और वर्तन सभी की सहजता आ जाती है।

सहजात्म स्वरूप, वह अंतिम पद है। सहजानंद अर्थात् प्रयत्न रहित आनंद!

अगर एक मिनट के लिए भी सहज हो गया तो वह भगवान पद में आ गया। इस अक्रम विज्ञान से महात्मा सहज हो गए हैं।

दादा भगवान कौन? इस ब्रह्मांड के *ऊपरी।* इसका क्या कारण है कि वे देह के मालिक नहीं हैं, वाणी के और मन के मालिक नहीं हैं। इस देह का मालिक कौन है? पब्लिक ट्रस्ट!

दादाश्री जब भी अमरीका में, भारत में, देश–विदेश में जाते थे, तब वे पोटली की तरह जाते थे। *''विचरे उदय प्रयोग! अपूर्व वाणी परमश्रुत!''* उस तरह से।

जितना सहज हो जाए, उतना ही आत्म ऐश्वर्य प्रकट होता है।

क्रिया से नहीं लेकिन उस समय अंदर जो चंचलता उत्पन्न हो जाती है, उससे सहजता टूट जाती है और उसी से कर्म बंधन होता है। चंचलता शुभ भाव में हो तो शुभ कर्म बंधते हैं और अशुभ भाव में हो तब अशुभ कर्म बंधते हैं।

जल्दी से अंतिम दशा में पहुँचने के लिए क्या करना चाहिए? व्यवहार पूरा ही छूट जाए तब काम होगा। व्यवहार तुझ से नहीं चिपटा है, तू व्यवहार से चिपटा है! जिसे जल्दबाज़ी हो उसे अपरिग्रही बन जाना चाहिए। आवश्यक व्यवहार को शुद्ध व्यवहार कहा गया है। खाना, पीना, सोना वगैरह आवश्यक है। नौकरी–धंधा आवश्यक व्यवहार नहीं है।

पूरे दिन शुद्ध उपयोग में रहे न, तो फिर कोई झंझट ही नहीं।

जंजाल कितना होना चाहिए? जिसे आवश्यक कहा गया है उतना ही। जिसके बगैर न चले, उतना ही। खाना, पीना, सोना सभी कुछ सहज होना चाहिए फिर। सोच–समझकर किया हुआ नहीं होना चाहिए वह। वह अंतिम दशा! जितनी अनावश्यक चीज़ें, परेशानी उतने ही ज़्यादा! बाग–बगीचे बनाते हैं, पूरे दिन खोदते रहते हैं।

अंतिम दशा में कैसा रहता है? थाली और लोटे की ज़रूरत नहीं रहती। संडास बाथरूम भी गाय–भैंस की तरह! शादी के मंडप में भी क्या उन्हें शरम आती है? उनमें तो कपड़े भी नहीं होते हैं! सहजता में विवेक नहीं होता। खाना भी नहीं माँगते न? लेकिन नियम है कि उसे समय–समय पर चीज़ें अपने आप ही मिल जाती है।

अक्रम मार्ग में ऐसा कहा गया है कि फाइलों का निकाल करो, जो भी हो उनका लेकिन फाइलें बढ़ाने को नहीं कहा है। अत: अंदर से जागृति ऐसी रहनी चाहिए कि चीज़ें उसे दु:खदाई लगती रहें।

अक्रम ज्ञानी तो परिग्रह होने के बावजूद भी संपूर्ण अपरिग्रही होते है। वह किस प्रकार से? आई विदाउट माइ इज़ गॉड! सभी माइ की ही पच्चर है न!

संक्षेप में, आत्मा तो सहज ही है, अब *पुद्गल*को सहज कर! किस प्रकार से? जो संपूर्ण सहज हैं, ऐसे ज्ञानी को नज़दीक से देखता रह। उन्हें देखते रहने से ही सहज होते जाते हैं। इसके लिए कॉलेज नहीं होते। लुटेरों के भी कॉलेज नहीं होते। वह तो अगर उस्ताद के पास छ: महीने रहे न, तो उसे देख–देखकर ही लुटेरा बन जाता है! दादाश्री को जब कोई गालियाँ दे, उस समय अगर उनकी सहजता देखने को मिल जाए तो वह शक्ति अपने में उत्पन्न हो जाती है।

अक्रम विज्ञान, वह पूर्ण सहज योग है, पूर्ण विज्ञान है! अष्टांग योग की पूर्णाहुति हो जाए, तब यह पद प्राप्त होता है! यह अपवाद मार्ग है! जिसे यह मिल गया, उसका काम हो गया!

[6] एक ही *पुद्गल*को देखना

'*पुद्गल*संपूर्ण संसारी नाच करे और आत्मा उसे देखे' तभी पूर्णाहुति कहलाती है।

फिल्म सहज होनी चाहिए। संसारी के लिए संसारी की और त्यागी के लिए त्यागी की फिल्म हो तो चलेगा, लेकिन सहज होनी चाहिए।

'यह छोड़ूँ और वह छोड़ूँ,' अरे, छोड़ने की भक्ति करनी है या भगवान की?

इस *पुद्गल* में से बिल्कुल भी रस नहीं लेना चाहिए। रस (रुचि) कब नहीं लिया जाएगा? खुद संपूर्ण स्वरूप में रहे तब।

या तो वर्तमान में बरते या फिर खुद के *पुद्गल*को देखे, ये दो चीज़ें रखनी है।

इस *पुद्गल*की तरफ की मित्राचारी कब तक रखनी है? जो दगाखोर हों, उसके साथ धीरे–धीरे मित्राचारी कम कर देनी चाहिए।

फाइल नं–१ क्या कर रही है, क्या खाती–पीती है, वह सब आप सिर्फ जानते हो लेकिन देखते नहीं हो। *पुद्गल*को निरंतर देखते रहना चाहिए। पहला फर्ज है देखने का और फिर जानने का।

जिस प्रकार से फाइल नं–१ दर्पण को अलग दिखाई देती है वैसे ही 'हमें' भी वह अलग दिखाई देनी चाहिए। इसके लिए अरीसा (दर्पण) सामायिक की प्रेक्टिस करनी चाहिए। सब से अंतिम ज्ञाता–दृष्टा तो... आपको फाइल नं–१ ऐसे आते–जाते अलग दिखाई दे। 'ओहोहो आइए–आइए' ऐसा करे।

दादाश्री की आज्ञा है। सामनेवाले को शुद्ध देखोगे तो शुद्ध हो जाओगे, मुक्त हो जाओगे।

फाइल नं–१ का *पुद्गल*क्या रहा है, मन–बुद्धि–चित्त–अहंकार, ये सभी क्या कर रहे हैं, उसे 'हमें' निरंतर देखते ही रहना है। भगवान महावीर निरंतर एक *पुद्गल*को ही देखते थे कि 'अंदर क्या–क्या परिवर्तन हो रहा है, क्या–क्या स्पंदन हो रहे हैं।' अरे, आँख की पलकें हिलती थीं तो उसे भी भगवान देखते रहते थे! लोग इन्द्रिय दृष्टि से देखते हैं और भगवान अतीन्द्रिय दृष्टि से देखते थे!

महात्माओं से भगवान की तरह एक *पुद्गल*को देखना नहीं हो पाता न? इसलिए दादाश्री ने रियल–रिलेटिव, दो दृष्टियों से देखने को कहा है। पुणिया श्रावक की सामायिक होती है इस तरह से।

जो हमें गाली दे, उसे भी शुद्धात्मा की तरह देखो।

भगवान महावीर तो, जब खटमल काटें तो उन्हें भी देखते थे। महावीर करवट बदलते तो उन्हें भी देखते थे। शरीर का स्वभाव है तो ऐसा

होता था लेकिन खुद सहज ही रहते थे। दीक्षा लेने के बाद शुरुआत में भगवान महावीर का समय कर्म खपाने में गया और फिर 'देखने' में गया।

एक *पुद्गल*को देखना अर्थात् जो *पूरण–गलन*होता है, वेढ़मी (गुजराती पकवान) खाईं, तो *पूरण*और फिर उसका *गलन*, उन सब को निरंतर देखते रहना। सुगंध–दुर्गंध दोनों को देखते रहना, उसमें अच्छा–बुरा नहीं करना। अच्छा–बुरा सापेक्ष दृष्टि से है, समाज में है, रियल में नहीं है।

जब प्रवृत्ति में निवृत्ति रहे, तब नया कर्म नहीं बंधता।

जब *पूरण*व *गलन*दोनों ही हों, तब वह मोह है और जब सिर्फ *गलन*हो, तब वह चारित्रमोह है। समकित के बाद सिर्फ *गलन*रहता है, *पूरण*नहीं होता। उसके बाद हर एक को खुद का *पूरण*किया हुआ *पुद्गल*खपाना पड़ेगा। जैन को जैन का *पुद्गल*, वैष्णव को वैष्णव का *पुद्गल*।

अच्छा–बुरा सभी कुछ *पुद्गल*की बाज़ी है। लोगों ने इसका भ्रांति से विभाजन कर लिया।

अब ध्यान किसका करना है? खुद के एक *पुद्गल*को ही देखना है।

आत्मा के अलावा अपने अंदर बाकी का सभी कुछ *पुद्गल*है। उसके बाद सभी ज्ञेय स्वरूप से हैं। उनमें कोई विशेष नहीं है।

सारा *पुद्गल*एक है, उसमें कहाँ हाथ डालना? अनंत प्रकार की अवस्थाएँ हैं लेकिन *पुद्गल*एक ही है सारा।

भगवान महावीर को प्रश्न पूछे जाते थे और वे उसका जवाब देते थे, वह भी *पुद्गल*ही देता था और वे खुद तो उसके देखने–जाननेवाले ही रहते थे!

ज्ञानी के खूब परिचय में रहा जाए तो सहजरूप से ही वीतराग हो जाएँगे!

जो एक *पुद्गल*का स्वभाव है, वही सर्व *पुद्गलों* का स्वभाव है इसलिए भगवान महावीर मात्र एक ही *पुद्गल*को ही देखते थे।

रजकण के रिद्धि वैमानिक देवनी;

सर्व मान्या *पुद्गल*एक स्वभाव जो, अपूर्व अवसर...

– श्रीमद् राजचंद्र

(धूल हो या वैमानिक देव की सिद्धि, सभी को माना एक ही *पुद्गल*स्वभाव का। अपूर्व अवसर...)

[7] देखने–जाननेवाला और उसे जाननेवाला

आत्मा की अनंत शक्तियाँ हैं! सभी तरफ का देख सकता है! यह चर्म चक्षु तो सिर्फ आगे का ही देख सकते हैं और आत्मा तो दसों दिशाओं का, सभी कोने देख सकता है।

मिश्रचेतन भी देख और जान सकते हैं और मूल आत्मा भी देख और जान सकता है, दोनों में फर्क क्या है? मिश्रचेतन विनाशी को देख सकता है और मूल चेतन विनाशी और अविनाशी दोनों को देख और जान सकता है।

ज्ञानी को क्या सूर्य–चंद्र गिरे हुए दिखाई देते होंगे? आत्मा जो देखता है वह रियल दृष्टि है और आँखें जो देखती हैं वह रिलेटिव दृष्टि है। रियल वस्तु रियल को ही देखती है।

आत्मा खुद को जानता है और पर को भी जानता है!

कई बार बुद्धि आत्मा का स्वांग रचकर ज्ञाता–दृष्टा बन जाती है! वास्तविक ज्ञाता–दृष्टा तो बुद्धि से परे है। महात्मा बुद्धि से परे चले गए हैं इसीलिए तो हररोज़ खिंचकर सत्संग में आ सकते हैं! नहीं तो बुद्धि रोज़ सत्संग में आने ही न दे। वर्ना, काफी कुछ ज्ञाता–दृष्टापन बुद्धि का ही होता है।

'ऐसा लगता है' जब ऐसा हो, तब दृष्टा और जब जानता है तब आत्मा ज्ञाता के रूप में है! बुद्धि को जो देखता है, वह 'हम' खुद है।

यह बुद्धि का ज्ञाता–दृष्टापन है या आत्मा का, इसका डिमार्केशन क्या है? बुद्धि का तो, यों जो आँखों से दिखाई देता है, इन्द्रियों से दिखाई देता है वह सब है, जबकि आत्मा का ज्ञान–दर्शन तो अलग ही है। आत्मा द्रव्यों को देखता और जानता है, द्रव्यों के पर्यायों को देखता और जानता है, उसके गुणों को देखता और जानता है। बुद्धि मन के कुछ पर्यायों को जान सकती है व अहंकार के पर्यायों को जान सकती है जबकि आत्मा उससे भी आगे का देखता और जानता है।

महात्माओं में द्रव्य का देखना और जाननापन नहीं होता। उन्हें तो राग–द्वेष नहीं हों तो काफी है। अक्रम ज्ञान प्राप्ति की निशानी।

आत्मा तो सभी छ: द्रव्यों को और उनके पर्यायों को देखता और जानता है! यह सब से अंतिम बात है।

महात्माओं में जो देखता और जानता है, वह बुद्धि है लेकिन पहले बुद्धि के साथ अहंकार था इसलिए राग–द्वेष होते थे। अब अहंकार नहीं रहा इसलिए राग–द्वेष नहीं होते। यह भी बहुत बड़ी बात है। लेकिन यह रिलेटिव ज्ञान कहलाता है। वास्तविक देखना व जानना तो बुद्धि से परे है। अब, जब ऐसा जाने कि यह बुद्धि का जानपना पर–परिणाम है, तब वह स्व–परिणाम को समझेगा।

सामायिक में देखने पर सबकुछ दिखाई देता है, लेकिन वापस उसे भी जो देखे, अर्थात् जो देखनेवाले को भी देखता है वह अंतिम देखनेवाला है। उसके ऊपर कोई नहीं है। अत: सामायिक में जो देखता है वह बुद्धि व अहंकार अर्थात् अज्ञाशक्ति है और उसे देखनेवाला आत्मा अर्थात् प्रज्ञाशक्ति है।

देखने का कार्य सहज होना चाहिए। अब यह जो ज्ञाता–दृष्टा 'रहना पड़ता है,' यानी कि उसे भी जाननेवाला ऊपर कोई है। अब *ऊपरी* (बॉस, वरिष्ठ मालिक) को 'देखना नहीं पड़ता।' उसे 'सहज रूप से दिखता ही रहता है।'

यदि 'देखना पड़ता है' तो वह बीचवाला उपयोग है और उसे भी जाननेवाला ठेठ अंतिम दशा में! जैसे दर्पण में हम सब दिखाई देते हैं न, उसी प्रकार से आत्मा में पूरा जगत् झलकता (प्रतिबिम्बित होता) है! वह बीच का उपयोग प्रज्ञा का है। प्रज्ञा के उपयोग में आ जाए तो आगे अन्य किसी की ज़रूरत नहीं रही।

अंदर विचार आए, गुस्सा आए तो उसका पता चलता है न? वह प्रज्ञा को पहुँचता है।वह अंतरिम ज्ञान है, वह मूल ज्ञान नहीं है। मूल तक बाद में पहुँचेगा। मूल तक पहुँचने का साधन क्या है? दादाश्री की पाँच आज्ञा!

पहले इन्द्रिय ज्ञान से दिखाई देता है,

फिर बुद्धि से दिखाई देता है,

फिर प्रज्ञा से दिखाई देता है,

और अंत में आत्मा से दिखाई देता है।

केवलज्ञान होने तक प्रज्ञा ही काम करती है। फिर वह खत्म!

इन पेड़-पौधों को देखने और जानने की पावर चेतन की क्रिया हुई और आत्मा के प्रकाश में सभी ज्ञेय झलकते हैं, तो उनमें क्या फर्क है? आत्मा के प्रकाश में ज्ञेय झलकते हैं अत: वहाँ पर फिर देखना-जानना शब्द है ही नहीं।

'केवलज्ञान होना,' इसका अर्थ क्या है? तमाम बादल हट गए तो फिर पूरा दिखाई देता है!

आत्मा स्व को जानता है और पर को भी जानता है! जाननेवाला कौन है? स्व कौन है? सभी कुछ जानता है!

आप्तवाणी श्रेणी–१३ (पूर्वार्ध)

[1.1] प्रकृति किस तरह बनती है?

प्रकृति का सूक्ष्म साइन्स

प्रश्नकर्ता : दादा, प्रकृति क्या होती है?

दादाश्री : प्रकृति अर्थात् आरोपण करके जो पुतला बनाया हुआ है वह। 'मैं चंदूभाई हूँ, चंदूभाई हूँ' (चंदूभाई की जगह वाचक को खुद का नाम समझना है), करता है और फिर ऐसा कहता है कि 'मैंने किया'। उसी को मूर्ति में प्रतिष्ठा करना कहते हैं। यह जो देहरूपी मूर्ति है उसमें प्रतिष्ठा की। इससे प्रतिष्ठित आत्मा खड़ा हो जाता है और फिर वह अगले जन्म में फल देता है। जैसे यह मूर्ति प्रतिष्ठा करने से फल देती है न, उसी तरह यह भी एक्ज़ेक्ट फल देती है। क्योंकि एक्ज़ेक्ट मूर्ति है यह तो। उसके बाद अपने बस में नहीं रहती। उसके बाद वह फल देने लगती है। वही प्रकृति है। अत: वह अपनी खुद की ही कृति है, जो अज्ञानता से खड़ी हो गई है, आत्मा से नहीं हुई है। दो चीज़ों के मिलने से बनी थी, विशेष भाव से!

प्रश्नकर्ता : मतलब जड़ के साथ चेतन के मिलने से यह प्रकृति उत्पन्न हो गई?

दादाश्री : हाँ, चेतन और जड़ के परमाणु, दोनों इकट्ठे हुए तो उससे यह खड़ा हो गया। अहंकार, क्रोध–मान–माया–लोभ खड़े हो जाते हैं। क्रोध और मान से 'अहंकार' बना और माया और लोभ से 'मेरा' (ममता) बना, उससे बन गई यह प्रकृति।

खुद आत्मा है लेकिन खुद के स्वरूप की अज्ञानता से भ्रांति खड़ी हो गई है कि 'मैं चंदूभाई हूँ, मैंने किया।' ऐसा माना इसलिए यह नया पुतला खड़ा हो गया। उससे बन गई प्रकृति। अब खुद ने किया नहीं है, हो गया है। ये दोनों वस्तुएँ जुदा हो जाएँ तो नईं प्रकृति उत्पन्न होना बंद हो जाती है, बस इतना ही है। प्रकृति अर्थात् चेतन रहित पुतला। जिसमें चेतन है ही नहीं। सिर्फ 'बिलीफ चेतन' है।

दोनों के संबंध से यह जो भ्रांति उत्पन्न हो गई है न, कि 'यह मैं कर रहा हूँ या फिर यह कौन कर रहा है?' फिर 'खुद ने' उसे स्वीकार कर लिया है कि 'यह मैं ही कर रहा हूँ। मेरे अलावा अन्य कोई अस्तित्व है ही नहीं। नहीं तो कौन कर सकता है?'

दो वस्तुएँ साथ में आई, उससे यह विशेष परिणाम उत्पन्न हो गया है। यह विशेष परिणाम है, वही है यह प्रकृति।

इसमें एक 'पुरुष' खुद आत्मारूप है, भगवान ही है खुद। लेकिन बाहरके दबाव से प्रकृति उत्पन्न हो गई! यह सब क्या है? यह सब किसने किया? 'मैंने किया' ऐसा सब जो भान उत्पन्न होता है, वह विशेष भाव है और उससे प्रकृति बन जाती है।

इसमें मूल पुरुष को कुछ भी नहीं होता। बाहर के संयोगों की वजह से यह विशेष भाव उत्पन्न हुआ है। जब तक पुरुष खुद की जागृति में नहीं आ जाता, तब तक प्रकृति–भाव में ही रहा करता है। प्रकृति अर्थात् खुद के स्वभाव की अजागृति!

लोहे को समुद्र के किनारे रख छोड़ें तो उसमें बदलाव होता है। इसमें लोहा कुछ भी नहीं करता है। उसी प्रकार समुद्र की हवा भी कुछ नहीं करती। यदि हवा कर रही होती तो सभी चीज़ों को ज़ंग लगता! यह तो दो चीज़ों का संयोग है, इसलिए तीसरी चीज़ उत्पन्न हो जाती है। वह विशेष भाव है। जो ज़ंग लगता है, वह प्रकृति है। लोहा, लोहे के भाव में है, और प्रकृति, प्रकृति के भाव में। इन दोनों को अलग करो तो पुरुष, पुरुष की जगह पर और प्रकृति, प्रकृति की जगह पर। जब तक एकाकार हैं तब तक ज़ंग बढ़ता ही जाएगा, बढ़ता ही जाएगा....

'ज्ञान' – स्वभाव में, विभाव में

पुरुष और प्रकृति एक दूसरे के साथ गुथे हुए नहीं हैं। दोनों सामीप्य भाव में हैं और इस सामीप्य भाव में होने की वजह से उसे खुद के 'ज्ञान' में विभ्रमता उत्पन्न हो जाती है क्योंकि पुरुष ज्ञानमय है। उसे विभ्रमता उत्पन्न हो जाती है कि 'यह किसने किया?' फिर कहता है 'मैंने किया,' जबकि वास्तव में यह सब प्रकृति ही करती है। बाकी 'ज्ञान' बदलने की वजह से प्रकृति उत्पन्न होती है और अगर ज्ञान स्वभाव में आ जाए तो प्रकृति का नाश हो जाता है। अभी यह ज्ञान विशेष भाव में है और अगर यह स्वभाव में आ जाए, तो प्रकृति का नाश हो जाए।

दो सनातन वस्तुओं के इकट्ठे होने से दोनों में 'विशेष भाव' उत्पन्न हो जाता है। उसमें दोनों के खुद के गुणधर्म तो रहते ही हैं, लेकिन अतिरिक्त विशेष गुण उत्पन्न हो जाते हैं। छ: मूल वस्तुओं में से जब जड़ और चेतन दोनों सामीप्य भाव में आते हैं, तब विशेष परिणाम उत्पन्न होते हैं। अन्य चार तत्व चाहे कहीं भी, चाहे किसी भी तरह सामीप्य में आएँ तो भी उन पर कुछ असर नहीं होता।

सूर्यनारायण की उपस्थिति से संगेमरमर का पत्थर तप जाता है, उसमें मूल (असल) मालिक ऐसा मानता है कि पत्थर का स्वभाव गरम है। उसी के जैसा इस विशेष परिणाम का है। सूर्यनारायण अस्त हो जाएँगे तो वह खत्म हो जाएगा। पत्थर तो स्वभाव से ठंडे ही हैं। उसी प्रकार आत्मा और *पुद्गल* (जो पूरण और गलन होता है) के सामीप्य भाव से 'विशेष परिणाम' खड़ा हुआ, उससे अहंकार खड़ा हो गया। जो मूल स्वाभाविक *पुद्गल* था, वह नहीं रहा।

दो वस्तुओं का मिश्रण से दोनों के ही स्वभाव में फर्क नहीं आता लेकिन 'अज्ञान दशा' में तीसरा 'विशेष भाव' उत्पन्न हो जाता है। जैसे कि अगर किताब को दर्पण के सामने रखें तो किताब अपना स्वभाव नहीं बदलेगी, तब क्या दर्पण अपना स्वभाव बदलता है? नहीं। दर्पण तो खुद के स्वभाव में ही है लेकिन उसके सामने जाओ तो 'वह' खुद का स्वभाव भी दिखाता है और 'विशेष भाव' भी दिखाता है। यह बहुत सूक्ष्म बात है। साइन्टिस्टों को जल्दी समझ में आएगी।

यह विशेष भाव क्या है? प्रकृति अपने आप किस तरह खड़ी हो जाती है? यह सब मेंने देखा है। मैं यह सभी कुछ देखकर कह रहा हूँ! यह होता किस तरह से है? दोनों का

सामीप्य भाव, दोनों का टच होना। इन दोनों के टच होने से आत्मा की यह दशा हो गई! वह मान्यता छूट जानी चाहिए।

पुद्गल और चेतन दोनों के मिलने से व्यतिरेक गुण उत्पन्न हो गए। उनसे जो भाव उत्पन्न होते हैं, उनकी वजह से प्रकृति उसी अनुसार बनती जाती है, भाव से। रहती है अलग लेकिन यहाँ पर 'यह' जैसा भाव करता है, वैसे ही पुतले की रचना होती जाती है। भाव से रचे जाने के बाद वह अपने स्वभाव में रहा करता है। फिर वह जवान होता है, बूढ़ा होता है। पहले सभी में इच्छानुसार होता है लेकिन फिर वह अपने स्वभाव में चला जाता है। बूढ़ा होना अच्छा नहीं लगता फिर। जैसे अपने भाव हैं, उसी भाव से प्रकृति बन जाती है। जिसे संसारी बनने की इच्छा हो, उसे स्त्री वगैरह सबकुछ मिल जाता है। वे सभी संयोग मिल जाते हैं। 'खुद' जैसा भाव करता है, विशेष भाव, वैसा ही यह बन जाता है। *पुद्गल* में गुण ही ऐसे हैं।

प्रकृति के गुण, वे 'पर' गुण हैं, आत्मा के नहीं हैं। जगत् 'पर' के गुणों को 'स्व' गुण कहता है। प्रकृति का एक भी गुण 'शुद्धचेतन' में नहीं है और 'शुद्धचेतन' का एक भी गुण प्रकृति में नहीं है, गुणों से दोनों सर्वथा भिन्न हैं। दोनों भिन्न ही हैं। सामीप्य भाव की वजह से एकता हो गई है इसके सिवा कुछ है ही नहीं। पहले से अलग ही हैं। पूरी 'रोंग बिलीफ' ही बैठ चुकी है। 'ज्ञानीपुरुष' राइट बिलीफ दें, तब हल आ जाता है! सिर्फ दृष्टि फेर ही है। मात्र दृष्टि की भूल है।

निबेड़े की रीति अनोखी

ऐसा है हमेशा ही, यह दृष्टि तो कैसी है? यों बैठे हों तो हमें एक लाइट के बदले दो लाइटें दिखती हैं। आँख ज़रा यों हो जाए तो चीज़ें दो-दो दिखाई देती हैं या नहीं? अब वास्तव में है तो एक ही फिर भी दो दिखती हैं। हम प्लेट में चाय पी रहे हों, तब भी कई बार प्लेट के अंदर जो सर्कल होता है न, वे दो-दो दिखते हैं। इसका क्या कारण है? दो आँखें हैं, इसलिए सबकुछ डबल दिखता है। ये आँखें भी देखती हैं और वे अंदरवाली आँखें भी देखती हैं। लेकिन वह मिथ्या दृष्टि है इसलिए वह सबकुछ उल्टा दिखाती है। यदि सीधा दिखाए तो सभी *उपाधि* (बाहर से आनेवाला दु:ख) रहित हो जाए, सर्व

उपाधि रहित हो जाए। वीतराग विज्ञान ऐसा है कि सर्व दु:खों का क्षय करता है। यह विज्ञान ही ऐसा है कि सर्व दु:खों से मुक्त करता है। 'विज्ञान' ऐसा ही होता है, विज्ञान हमेशा क्रियाकारी होता है। अत: इस विज्ञान को जानने के बाद विज्ञान ही काम करता रहता है, आपको कुछ भी नहीं करना होता। जब तक आपको करना पड़े, तब तक बुद्धि है और जब तक बुद्धि है, तब तक अहंकार है और जब तक अहंकार है तब तक इसका निबेड़ा लाना हो तो भी नहीं आ सकता।

प्रश्नकर्ता : इस दृष्टि को बदलने की शुरुआत किस तरह हो सकती है?

दादाश्री : दृष्टि बदलने की शुरुआत तो, जब 'ज्ञानीपुरुष' मिल जाएँ और उनके पास सत्संग सुनने जाएँ तो अपनी दृष्टि धीरे-धीरे बदलती है। अभी आप सुन रहे हो तो इससे आपकी दृष्टि थोड़ी-थोड़ी बदलती है। ऐसे करते-करते थोड़ा परिचय हो जाए, एकाध महीने का, दो महीनों का तो दृष्टि बदल जाती है। वर्ना 'ज्ञानीपुरुष' से कहना कि, 'साहब, मेरी दृष्टि बदल दीजिए।' तो एक ही दिन में या एक घंटे में ही बदल देंगे!

प्रकृति जड़ है या चेतन?

प्रश्नकर्ता : इस प्रकृति को क्या जड़ समझना है या चेतन समझना है?

दादाश्री : प्रकृति में चेतन बिल्कुल है ही नहीं और जो चेतन है वह पावर चेतन है।

प्रश्नकर्ता : इस प्रकृति में सिर्फ पावर चेतन ही है? तो इसमें जड़ विभाग बिल्कुल भी नहीं है?

दादाश्री : प्रकृति जड़ ही है न! उस जड़ में पावर आ गया है।

प्रश्नकर्ता : अब यह बताया है कि यह प्रकृति जो जड़ है, उसमें इस चेतन के सानिध्य से गति होती है?

दादाश्री : हाँ, जैसे ही सूर्यनारायण हाज़िर होते हैं, वैसे ही अपने यहाँ लोगों में चंचलता बढ़ती जाती है और सूर्यनारायण की गैरहाज़िरी हुई कि चंचलता घटती जाती है। वह उनकी हाज़िरी से ही होता है। वे उन्हें कुछ नहीं कहते, ऑर्डर नहीं करते, कुछ भी नहीं। उसी प्रकार से आत्मा की हाज़िरी से, इस प्रकृति में पावर चेतन भर जाता है। पावर चेतन, मूल चेतन नहीं। पावर खत्म हो जाए तो गया। जब तक पावर रहता है, तब तक काम करती है।

मन–वचन–काया की ये तीन बैटरियाँ चार्ज होती हैं और फिर वे डिस्चार्ज हो जाती हैं और फिर से नई चार्ज होती हैं। अत: आत्मा की हाज़िरी से ही यह सब चार्ज होता रहता है। वास्तव में यह जड़ है लेकिन पावर चेतन है। इसे सिर्फ जड़ कह तो देते हैं, लेकिन जड़ अकेला कुछ भी नहीं करता, इसमें पावर चेतन भरा हुआ है। ये तीन बैटरियाँ फिर डिस्चार्ज होती रहती हैं, निरंतर। पावर भरी हुई बैटरियों का जो डिस्चार्ज होता है, उसे इफेक्ट कहते हैं।

अंदर प्याले में बरफ हो और उस प्याले को यहाँ पर रखें, तो बाहर पानी कहाँ से जमा हो जाता है? उस पर पानी बहने लगता है। बाहर पानी के दाग़ कहाँ से आ गए? यह बरफवाला प्याला है, जिस हवा ने इसे छुआ, उसमें मॉइस्चर (नमी) था, तो उससे पानी बन गया। वह हमें यों सीधी तरह से नहीं दिख सकता। बुद्धि से समझ में आता है। लेकिन लोग समझाते हैं कि ऐसा–ऐसा हो गया, तो समझ में आ जाता है उसे। लेकिन इन तत्वों के बारे में समझ में नहीं आता। यहाँ पर ऐसा हो गया है। यह किस तरह से हुआ, ऐसा

लगता है। जिस प्रकार पानी के रेले विज्ञान से बनते हैं, उसी प्रकार प्रकृति भी विज्ञान से बनी है।

लोग समझते हैं कि इस प्रकृति का कोई अर्थ नहीं है। प्रकृति तो बन चुकी है। इसे तो लोग ऐसा कहते हैं कि 'भगवान ने रचा'। 'भगवान ने लीला की' कहते हैं।

प्रकृति का कर्ता कौन?

प्रश्नकर्ता : और भी ज़्यादा समझने के लिए पूछ रहा हूँ कि प्रकृति को कर्तृत्व शक्ति कौन देता है? अंत में तो वह जड़ में से ही बनी हुई है न?

दादाश्री : नहीं, यह प्रकृति पूरी तरह से जड़ नहीं है। वह निश्चेतन–चेतन है और वह निश्चेतन–चेतन अचेतन नहीं है।

प्रश्नकर्ता : उसे निरंतर परिवर्तनशील कहा जा सकता है?

दादाश्री : वह तो बदलती रहती है, लेकिन यह प्रकृति निश्चेतन–चेतन है।

प्रश्नकर्ता : निश्चेतन–चेतन अर्थात् इसे कौन सी शक्ति कहा जा सकता है?

दादाश्री : निश्चेतन–चेतन का अर्थ डिस्चार्ज चेतन है। अगर 'हमने' किसी भी चीज़ को चार्ज किया हो तो फिर वह अपने आप डिस्चार्ज हो जाती है या नहीं? उसमें क्या 'हमें' कुछ करना पड़ता है? अपने आप ही क्रिया होती रहती है। इसमें किसी को कुछ करना नहीं पड़ता। अत: यह सब डिस्चार्ज है, इफेक्टिव है और इफेक्टिव शक्ति को मैं निश्चेतन–चेतन कहता हूँ। इफेक्टिव में चेतन नहीं होने के बावजूद भी चेतन जैसा दिखाई देता है, अत: निश्चेतन–चेतन कहता हूँ।

प्रश्नकर्ता : प्रकृति में कर्तृत्वपना (कर्तापन) है?

दादाश्री : हाँ, प्रकृति स्वभाव है उसका। कर्तापन निज स्वरूप में नहीं है, आत्मा में नहीं है, आत्मा अक्रिय है। प्रकृति में जो *पुद्गल* परमाणु हैं, जो चार्ज हो चुके हैं, वे

क्रियाशील हैं, सक्रिय हैं वे खुद। यह नहीं समझने से पूरी गाड़ी ही उल्टी चली। 'कौन कर रहा है' इतना समझ गए तो हमेशा के लिए हल आ जाएगा, नहीं तो हल नहीं आएगा।

'*पुद्गल*,' वह कोई जीवंत वस्तु नहीं है लेकिन वह 'आत्मा' के विशेष भाव को ग्रहण करता है और वैसा ही तैयार हो जाता है। अत: उसमें भी परिवर्तन होता है। 'आत्मा को कुछ भी नहीं करना पड़ता।' 'उसका' विशेष भाव हुआ कि *पुद्गल* परमाणु खिंचे चले आते हैं, फिर वे अपने आप ही मूर्त हो जाते हैं और खुद का कार्य करते रहते हैं!

जगत् में किसी को भी करनेवाले की ज़रूरत नहीं है। इस जगत् में जो भी चीज़ें हैं, वे निरंतर परिवर्तनशील हैं। उनके आधार पर सभी विशेष भाव बदलते ही रहते हैं और नई ही तरह का दिखता रहता है सबकुछ!

इतना यदि समझ में आ जाए न तो ये सभी खुलासे हो जाएँगे। यह आत्मा जो अक्रिय है, उसे सक्रिय बना दिया कि 'यह मैंने किया' और प्रकृति सक्रिय है, उसे इन लोगों ने 'जड़' कह दिया।

फर्क, प्रकृति और कुदरत में

प्रश्नकर्ता : प्रकृति क्या है? कुदरत क्या है? यह समझाइए।

दादाश्री : जो कुदरत परिणमित हुई, वह प्रकृति कहलाती है। H2 और O दोनों जुदा हों तब कुदरत कहलाती है और दोनों एक हो जाएँ और पानी बन जाए तो वह प्रकृति कहलाती है।

अर्थात् प्रकृति भिन्न और कुदरत भिन्न है। प्रकृति में पुरुष का व्हॉट है। प्रकृति पुरुष के व्हॉटवाली है और कुदरत में पुरुष का व्हॉट नहीं है। वह साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स है।

अपना शरीर बन गया है पाँच धातुओं के मिलाप होने से, वह प्रकृति कहलाती है और जब धातु अलग-अलग हों तो उसे कुदरत कहते हैं। जब तक वायु, तेज़, आकाश अलग होते हैं तब तक वे कुदरत कहलाते हैं और वे सब इकट्ठे हो जाएँ और यह शरीर बन

जाए तो वह प्रकृति कहलाती है। प्रकृति में करनेवाला की ज़रूरत है और कुदरत में कोई करनेवाला नहीं है। कुदरत, वही कुदरती रचना है।

संबंध, प्रकृति और आत्मा का

प्रश्नकर्ता : प्रकृति के साथ आत्मा का क्या संबंध है?

दादाश्री : प्रकृति और आत्मा के बीच कोई संबंध नहीं है, लेकिन आत्मा की हाज़िरी से प्रकृति बनती रहती है। ऐसे संयोग मिल आते हैं कि उसकी हाज़िरी से प्रकृति बन ही जाती है अब अगर ज्ञानीपुरुष संयोगों को अलग कर दें, तो उसके बाद कुछ भी नहीं होगा। अत: इस भ्रांति से आगे जाना पड़ेगा, पुरुष बनना पड़ेगा। यह प्रकृति भ्रांतिवाली है।

आप इसे चंदूभाई मानते हो, वही चार्ज करता है और फिर चंदूभाई ही बंधन में आया है। यह ज्ञान मिल जाए, स्वरूप का भान हो जाए, तब फिर 'आपका' चार्ज करना बंद हो जाएगा। उसके बाद सिर्फ डिस्चार्ज रहता है। वह डिस्चार्ज तो बंद किया नहीं जा सकता। इफेक्टिव है, तो उस इफेक्ट को तो कोई बंद नहीं कर सकता। शायद कभी नए सिरे से खाना बंद कर दे, लेकिन जो खा लिया है, उसका क्या होगा? क्या संडास गए बगैर चलेगा? अत: जिन्हें यह 'ज्ञान' दिया है, उन सब का चार्ज बंद हो गया है।

प्रश्नकर्ता : ज्ञान मिलने के बाद प्रकृति जो कि विशेष भाव से बनी है, तो उससे आत्मा को अलग नहीं रखा जा सकता?

दादाश्री : अलग ही है और अलग ही रहता है। मुझे दिखता है न! है अलग लेकिन अभी तक आपकी जो पहले की मान्यता चिपकी हुई है न, वह मान्यता छूटती नहीं है। आदत पड़ गई है न! वह धीरे-धीरे छूट जाएगी, बाकी है ही अलग। आप में अलग ही रहता है।

[1.2] प्रकृति, वह है परिणाम स्वरूप से

क्या प्रकृति और प्राण साथ में जाते हैं?

प्रश्नकर्ता : मनुष्य खुद दु:खी रहता है, इसके बावजूद भी वह इस संसार में क्यों फँसता रहता है?

दादाश्री : वह नहीं फँसता है, वह दु:खी है, उसे खुद को छूटना है, यह अच्छा नहीं लगता लेकिन उसके हाथ में सत्ता नहीं है। प्रकृति के ताबे में है। वह प्रकृति से छूटे तभी छूट पाएगा, वर्ना प्रकृति उसे उलझाती ही रहेगी। प्रकृति बन चुकी है, खुद उसके ताबे में है। उसके बाद खेल अपने हाथ में नहीं रहा। अब तो जितना प्रकृति से छूटेंगे, उतना ही खेल अपने हाथ में आएगा। बाकी जब तक प्रकृति से नहीं छूटेंगे, तब तक प्रकृति हमें उलझाती ही रहेगी। पूरा जगत् प्रकृति से परवश होकर चलता रहता है।

प्रश्नकर्ता : अपने में ऐसा कहते हैं कि प्राण और प्रकृति साथ में ही जाते हैं, तो फिर क्या करना चाहिए?

दादाश्री : हाँ, दोनों साथ में जाते हैं इसका अर्थ इतना ही है कि कुछ प्रकृति ज्ञान प्राप्त करने से कम हो जाती है, प्रकृति अर्थात् आवरण। तो अगर उसमें यहाँ पर आवरण हो न तो खुद की इच्छानुसार जहाँ जाना हो वहाँ जा नहीं सकता। जितना वह आवरण टूटे, उतनी ही कम हो जाती है। वर्ना अगर बहुत मज़बूत प्रकृति बाँधी हुई हो, गाढ़ आवरणवाली, तो मरने पर भी छूटती नहीं है, वैसी की वैसी ही दिखती है। प्रकृति छूटती नहीं है उसकी। जब देखो तब वैसे का वैसा, मार खाता है फिर भी वैसे का वैसा। चोरी करने की प्रकृति हो तो मार खा-खाकर भी वह चोरी ही करता है।

चारित्र से खराब हो तो मार खाकर भी प्रकृति वैसी की वैसी ही और प्रकृति के वश होकर ऐसा सब करता है। दान देता है, वह भी प्रकृति के वश, वह ज्ञान से नहीं है, और चोरी भी प्रकृति के वश करता है। अब उसे जब प्रकृति और पुरुष का यह ज्ञान हो जाता है कि 'मैं कौन हूँ' और 'यह प्रकृति कौन है' तब दोनों जुदा हो जाते हैं, तब छुटकारा होता है, नहीं तो छुटकारा नहीं होता। आप पुरुष हो, आत्मा भी पुरुष है जबकि यह प्रकृति है। जब तक पुरुष प्रकृति के अधीन है, तब तक उसका कुछ नहीं चलता। जब पुरुष प्रकृति से छूटे, तब सबकुछ पुरुष का ही चलता है। 'मैं कौन हूँ' ऐसा जानो और वह अनुभव में आ जाए, तब छुटकारा होगा, नहीं तो छुटकारा नहीं होगा। वर्ना ये दु:ख आप पर आते ही रहेंगे, संसार के दु:ख निरंतर भोगते ही रहने पड़ेंगे। पलभर में शांति और पलभर में अशांति, पलभर में शांति और पलभर में अशांति, वह प्रकृति की वजह से है। खरा सुख इसमें है ही नहीं। शांति और अशांति, दोनों ही कल्पित चीज़ें हैं, सच्चा सुख नहीं है। सच्चा सुख तो सनातन होता है, जो आने के बाद जाता नहीं। सच्चा सुख तो, अगर जेल में डाल दे न, तो भी परेशानी नहीं हो, अशांति नहीं हो।

प्रश्नकर्ता : कितने ही लोग तो जब शांति नहीं होती, तो परेशान होकर शांति प्राप्त करने के लिए ज़हर पीकर मर जाते हैं।

दादाश्री : हाँ, लेकिन क्या करें वे? और ज़हर पीता है ऐसा नहीं है। वह भी जान–बूझकर ज़हर नहीं पीता है, वह भी प्रकृति पिलवाती है। जान बूझकर तो संडास जाने की भी शक्ति नहीं है। मुझे भी नहीं है और कृष्ण भगवान को भी नहीं थी और महावीर भगवान को भी नहीं थी। प्रकृति के अधीन है यह सब। भगवान तो भगवान थे, कृष्ण भगवान थे। पुरुष हो चुके थे, इसीलिए इस प्रकृति को जानते थे! यह प्रकृति है, ऐसा पड़ोसी की तरह जाना करते थे, पहचानते थे। यह बहुत जानने जैसा है, अंदर का पूरा साइन्स!

प्रकृति नचाए वैसे नाचता है

जैसे प्रकृति नचाए वैसे नाचता है। खुद के हिताहित का ध्यान नहीं रहता। प्रकृति जब गुस्सा करवाती है तब गुस्सा करके खड़ा रहता है। प्रकृति रुलाती है तब रोता भी है। उसे शरम भी नहीं आती। खुले आम रोता है। ऐसे रोता है कि टप–टप आँसू गिरते हैं।

प्रश्नकर्ता : प्रकृति रुलाती है या कर्म रुलाते हैं, दादा?

दादाश्री : कर्म का मतलब ही है, प्रकृति। वही मूल प्रकृति कहलाती है। यह प्रकृति ही सबकुछ चलाती है, करती है प्रकृति और खुद क्या कहता है कि मैंने किया। इसी को कहते हैं इगोइज़म।

चाय कौन माँगता है? प्रकृति माँगती है। यह जलेबी कौन माँगता है? भूख किसे लगती है? प्यास किसे लगती है? वह सब प्रकृति को। अपमान करने पर अपमान किसका होता है? प्रकृति का। संडास कौन जाता है? आत्मा जाता होगा, नहीं? यह सब प्रकृति है, जबकि लोग क्या कहते हैं? 'मैं संडास जा आया।' भूख प्रकृति को लगती है या हमें लगती है?

प्रश्नकर्ता : प्रकृति को।

दादाश्री : और वह कहता है कि मुझे भूख लगी। व्यवहार से कहने में हर्ज नहीं है, ड्रामेटिक बोलने में हर्ज नहीं है। लेकिन अंदर एक्ज़ेक्ट वैसी ही बिलीफ से बोलता है। व्यवहार से तो बोलना ही पड़ता है, नाटक में तो।

जब आत्मा को जान ले, तब पुरुष और प्रकृति दोनों अगल हो जाते हैं। उसके बाद प्रकृति, प्रकृति का रोल करती है और पुरुष, पुरुष का रोल करता है।

इस ज्ञान के मिलने के बाद तो अब कर्तापन चला गया, 'मैं' पुरुष बना गया और प्रकृति अलग हो गई। आप पुरुष बन गए और प्रकृति बिल्कुल अलग हो गई, इसीलिए पुरुष पुरुषार्थ कर सकता है, वर्ना प्रकृति तो पुरुषार्थ कर ही नहीं सकती न! और प्रकृति का पुरुषार्थ भ्रांत पुरुषार्थ माना जाता है। प्रकृति तो हमें नचाती है बल्कि। प्रकृति अपने ताबे में नहीं है, हम उसके ताबे में हैं। हालांकि अपने ताबे में तो है ही नहीं यह प्रकृति क्योंकि जो प्रकृति बन चुकी है, वह तो इफेक्ट है और इफेक्ट में तो चलता ही नहीं न किसी का। अत: वह इफेक्ट हमें भोगना ही पड़ेगा अर्थात् उसके वश में रहना पड़ेगा। अत: हमें, पुरुष को पुरुषार्थ करना है और प्रकृति अपना ज़ोर लगाएगी। ऐसे करते–करते हम अलग हो जाएँगे, तो वह खत्म हो जाएगी। नई आमदनी आती नहीं और पुरानी भी खत्म

हो जाती है। पुराना डिस्चार्ज हो जाता है और नया चार्ज नहीं होता, इसलिए खत्म हो जाता है। अभी तक तो अपना कर्तापन था ही, यह तो ऐसा है कि प्रकृति पलभर में अच्छा रखती है, पलभर में बिगाड़ देती है। पलभर में अच्छा रखती है, पलभर में बिगाड़ देती है। बस इतना ही है कि उसमें हम मेरापन मानते थे। बाकी वास्तव में वह हम थे ही नहीं न! इस ज्ञान को समझने के बाद हम तो पुरुष हो गए! यह जो रियल है वह पुरुष है और जो रिलेटिव है वह प्रारब्ध है, इफेक्टवाली प्रकृति। यह पूरा विज्ञान समझने जैसा है सारा।

प्रकृति बरबस करवाती है......

असल में देखने जाएँ तो अज्ञान दशा में कोई प्रकृति से अलग हुआ ही नहीं है। ये सब लोग कुछ हद तक प्रकृति के भोक्ता हैं। प्रकृति का मालिक कौन है? जो कहता है कि 'यह मैं ही हूँ, मैं चंदूलाल हूँ,' वही इस प्रकृति का भोक्ता है। वहाँ पर प्रकृति कैसी रहती है? किसी की वह सास होती है, तब वह सासवाला भाव दिखाए तो खुश हो जाती है। मासी सास आई, चाची सास आई, वाइफ होती है। बेटा कहेगा, 'पापा जी।' उससे प्रकृति तो खुश हो जाती है, पर यह जो चंदूलाल है, वह भोगता है ये सब चीज़ें, अर्थात् कि आत्मा नहीं लेकिन यह सारा अहंकार है, 'चंदूलाल' नामक अहंकार है।

यह दुनिया प्रकृति के वश में है। यह सबकुछ प्रकृति बरबस करवाती है सभी से और वह खुद बरबस करता है। हमें नहीं करना हो, फिर भी करवाती है। अपना विज्ञान यह सूचित करता है कि प्रकृति यह सब बरबस करवाती है, उसे तू जान और प्रकृति से अलग हो जा, लेकिन 'यह प्रकृति मैं ही हूँ, यह जो कर रहा है वह मैं ही हूँ।' ऐसा जो देहाध्यास है, वह छूट जाए उसके लिए यह (ज्ञान) है। वर्ना प्रकृति तो पूरे जगत् को बरबस नचाती है।

नहीं तो, ऐसे कृष्ण भगवान! यानी कौन? नर में नारायण पद कहलाते हैं वे, लेकिन ऐसे सो गए थे। अरे... तीर लगा न! वे क्या ऐसा नहीं जानते थे कि तीर आनेवाला है? उन्होंने नाटक की तरह होने दिया। वे खुद जानते थे, फिर भी कोई बदलाव नहीं किया, लेकिन जिस समय प्रकृति में जो होना है, वह छोड़ता नहीं है।

आत्मा और प्रकृति, यों तो दोनों अलग हैं लेकिन नज़दीक होने की वजह से दोनों ऐसे चिपक पड़े हैं अनादिकाल से कि उखड़ते ही नहीं। अत: दोनों के स्वभाव में 'एकता' लगती है। 'मैं मर जाऊँगा,' इस आत्मा को भी ऐसा ही लगता है। दोनों एक हो गए हैं न! अरे भाई, तू कैसे मर सकता है? लेकिन उसे स्वभाव 'एकता' हो गई है।

प्रकृति सर्वस्व प्रकार से परवश ही है। थ्री हंड्रेड एन्ड सिक्सटी डिग्री से परवश ही है। यह तो बस इतना ही है कि लोग अहंकार करते हैं। 'मैं ऐसे कर दूँगा, मैं ऐसा कर दूँगा और मैं वैसा कर दूँगा' ऐसा अहंकार करता है। बस इतना ही है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् ज़ीरो से थ्री सिक्सटी तक पूरी प्रकृति परवश है?

दादाश्री : संपूर्ण (प्रकृति) पूरी ही परवश है। यह तो प्रकृति में जो होनेवाला है, उस आधार पर नैमित्तिक वाणी निकलती है तब वह खुद के मन में ऐसे एडजस्ट कर लेता है कि अब मैं जो यह कह रहा हूँ, अब उसी अनुसार हो रहा है।

प्रश्नकर्ता : तीर्थंकरों की प्रकृति भी परवश है?

दादाश्री : तीर्थंकरों की क्या, सभी की। प्रकृति मात्र परवशता है!

प्रश्नकर्ता : नहीं, अर्थात् आत्मा का और उसका कोई लेना-देना नहीं है लेकिन वह.....

दादाश्री : कोई लेना-देना नहीं है दोनों को ही।

प्रश्नकर्ता : लेकिन तीर्थंकरों की और ज्ञानियों की प्रकृति कुछ हद तक चोखी हो चुकी होती है न?

दादाश्री : जैसे-जैसे प्रकृति चोखी होती जाती है न, वैसे-वैसे ज्ञान की ओर जाता है। जैसे-जैसे प्रकृति अधिक बिगाड़ता है वैसे-वैसे डाउन जाता है, नीचे जाता है वह। प्रकृति को जैसे-जैसे चोखी करे, वैसे-वैसे हल्का होता जाता है और वैसे-वैसे ऊर्ध्वगति में जाता है।

प्रश्नकर्ता : क्या प्राकृत अवस्थाएँ केवलज्ञान तक रहती हैं?

दादाश्री : प्राकृत अवस्थाएँ तो केवलज्ञान के बाद भी रहती हैं। जब तक मोक्ष में नहीं जाए, तब तक प्रकृति है। अत: कुछ गुण रहते हैं, लेकिन क्रोध-मान-माया-लोभ वगैरह सब निकल चुका होता है, लेकिन जो बाकी बच गया हो, वह रहता है।

संबंध, स्वसत्ता और प्राकृत सत्ता का

खुद इस परसत्ता को समझ जाए और परसत्ता में फिर खुद एकाध जनम तक हाथ न डाले तो फिर वह सत्ता ही उसे छोड़ देती है और वह मुक्त हो जाता है, बस। खुद परसत्ता में दखलंदाज़ी करता है, इसीलिए यह सत्ता उसे पकड़कर रखती है। उसकी सत्ता में लोग दखलंदाज़ी करते हैं। 'मैंने किया' कहते हैं। संडास जाने की शक्ति नहीं है। मैंने फॉरेन के डॉक्टरों को इकट्ठा करके कहा था, तब वे सब असमंजस में पड़ गए। फिर मैंने कहा, जब बंद हो जाएगा तब पता चलेगा कि आपकी शक्ति नहीं थी।

प्रश्नकर्ता : प्राकृतिक शक्ति है।

दादाश्री : हाँ बस। यह जो है, उसे कुदरत चलाती है, प्रकृति चलाती है और ऊपर से कहता है, 'मैं चला।'

प्रश्नकर्ता : प्रकृति की सत्ता, आत्मा की सत्ता से स्वतंत्र है या परतंत्र है?

दादाश्री : प्रकृति की सत्ता, आत्मा की सत्ता से स्वतंत्र है बिल्कुल। सिर्फ आत्मा की हाज़री की ज़रूरत है। आत्मा कुछ भी नहीं करता है। आत्मा की हाज़िरी हो तो चलता रहता है। आत्मा के अधीन नहीं है वह। आत्मा की हाज़िरी की ज़रूरत है, सिर्फ हाज़िरी! वर्ना अगर आत्मा की हाज़िरी नहीं हो तो कुछ भी नहीं होगा।

प्रश्नकर्ता : इसका अर्थ ऐसा हुआ कि प्रकृति मुझ पर आक्रमण कर सकती है? क्या प्रकृति आत्मा पर आक्रमण कर सकती है?

दादाश्री : किया ही है, आक्रमण ही किया हुआ है तभी तो ये लोग ऐसे दिखते हैं। खुद भगवान होने के बावजूद भी ऐसे दिखते हैं। कोई गुस्सा हो जाता है, कोई लोभी बन जाता है, कोई कपट करता है, लुच्चापन करता है।

छूटते समय प्रकृति स्वतंत्र

प्रश्नकर्ता : लेकिन अब यदि प्रकृति को कोई कार्य करना हो तो आत्मा की अनुमति लेनी पड़ेगी न?

दादाश्री : नहीं। प्रकृति अर्थात् आत्मा ने (व्यवहार आत्मा ने) जो कुछ भी भाव किया, जैसी दखलंदाज़ी की, वैसी ही प्रकृति बन गई है आज। फिर छूटते समय, आत्मा को तो छोड़ना होता है इस तरह से, लेकिन प्रकृति अपने स्वभावपूर्वक ही छूटती है। उस घड़ी 'उसे' अच्छा नहीं लगता। मान लीजिए मुझे आप पर गुस्सा आया लेकिन मुझे वह गुस्सा अच्छा नहीं लगेगा।

प्रश्नकर्ता : गुस्सा आना, वह प्रकृति करती है न?

दादाश्री : जो दिखता है वह गुस्सा नहीं है। मैं उसके मूल बीज पर, मौलिक, मैं उसकी जड़ तक जाता हूँ। उसका स्टार्टिंग पोइन्ट क्या है, उस पर! अर्थात् स्टार्टिंग पोइन्ट में वह गुस्से की दखलंदाज़ी करता है इस प्रकृति में और उससे जो तैयार होती है, जैसे भाव से करता है, उसी भाव से मूल प्रकृति तैयार होती है। उसके बाद वह प्रकृति स्वभावत: डिस्चार्ज हो जाती है। उस समय 'उसे' अच्छा नहीं लगता, इसमें फिर प्रकृति क्या करे बेचारी! अर्थात् जब तक खुद के समझने में भूल रहे, तब तक प्रकृति दु:ख देगी, वर्ना प्रकृति खुद, न तो दु:ख देने आई है, न ही सुख देने आई है।

दोनों बरतें निज स्वभाव में

प्रश्नकर्ता : प्रकृति और ज्ञान, ज्ञान तो दिनोंदिन बढ़ता जाता है और प्रकृति भी काम करती है। प्रकृति तो ज्ञानी में भी काम करती है और अज्ञानी में भी काम करती है। अब प्रकृति पर ज्ञान की विजय किस तरह हो सकती है, वह आप समझाइए।

दादाश्री : प्रकृति पर ज्ञान की विजय नहीं होती। प्रकृति अपने स्वभाव में रहती है। ज्ञान, ज्ञान के स्वभाव में रहता है! आत्मा, आत्मा के स्वभाव में रहता है, प्रकृति, प्रकृति के स्वभाव में रहती है। जब यह भ्रांति टूट जाती है कि 'प्रकृति की जो क्रिया होती है, वह सब मैं कर रहा हूँ' तो उसके बाद स्वभाविक क्रिया में आ जाता है।

प्रकृति की स्वतंत्रता और परतंत्रता

प्रश्नकर्ता : बीच में वह एजेन्ट कौन है, वह समझाइए।

दादाश्री : बीच में कोई भी एजेन्ट नहीं है। जिसे एजेन्ट मानते हैं न, वह तो प्रकृति ही एजेन्ट है और उसी के हाथ में सत्ता है। अपने हाथ में सत्ता नहीं है। हम चिपट पड़े हैं। हम ऐसा समझते हैं कि यह कोई बाहरी एजेन्ट आया है, जबकि वह क्या कहती है? आप बाहरी एजेन्ट हो। आपका यहाँ कोई लेना-देना नहीं है। आपको सिर्फ 'देखते' रहना है।

हम क्या करते हैं? पूरे दिन 'ए.एम.पटेल' क्या खाते हैं, पीते हैं, वही सब 'देखते' रहते हैं। कितनी बार उल्टी हुई, कितनी बार वह हुआ, वह सब 'देखते' रहते हैं। इतना ही अधिकार है हमें।

प्रश्नकर्ता : जो प्रकृति है, वह तो देह से संबंधित है न?

दादाश्री : यह देह, मन-वचन-काया सबकुछ इसी मेंआ गया। आत्मा के अलावा बाकी का सभी कुछ जिसे जगत् 'मैं पना' मानता है, वह सारी प्रकृति ही है और आत्मा इससे अलग है। उसे खुद जानता नहीं है, बेचारे को भान नहीं है। और प्रकृति यों तो परिणाम से स्वतंत्र है, परिणाम अर्थात् इफेक्टिव में, लेकिन कॉज़ेज़ में परतंत्र है। संपूर्ण परतंत्र नहीं है लेकिन वोटिंग पद्धति, पार्लियामेन्टरी पद्धति है। आत्मा को इसमें कोई लेना-देना नहीं है।

प्रश्नकर्ता : प्रकृति यदि पूरी तरह स्वतंत्र नहीं है तो किस पर आधारित है?

दादाश्री : नहीं, परिणाम से स्वतंत्र है। इस जन्म से लेकर मृत्यु तक यह परिणाम कहलाता है, वह स्वतंत्र है। इसमें प्रकृति स्वतंत्र है, अपना कुछ भी नहीं चलता लेकिन अंदर जो कॉज़ेज़ बन रहे हैं, वहाँ पर अपना चलता है। उसमें हमें बदलाव करना हो तो हो सकता है थोड़ा बहुत। वह भी संपूर्ण तो हो ही नहीं सकता। थोड़ा-बहुत बदलाव हम कर सकते हैं कि भाई, किसी पर हमें ऐसे कुदरती रूप से बैर होने लगे, फिर भी अंदर हम नक्की करते हैं कि 'भाई हमें बैर बाँधकर क्या फायदा पाना है!' अर्थात् अंदर उतना बदलाव करने का राइट है, कॉज़ेज़ में। इफेक्ट में राइट नहीं है, इफेक्ट तो एक्ज़ेक्ट आएगा ही।

जब लड़की देखने जाता है, तब प्रकृति उसे पसंद करती है और खुद कहता है कि 'मैंने पसंद की।' और फिर घर आने पर क्या कहता है कि 'मैं तो तुझे ऐसा समझता ही नहीं था, तू तो खराब निकली।' अरे भाई, वह खराब नहीं निकली है, तू टेढ़ा है। इन सभी को किस तरह ये सब पज़ल्स समझ में आएँ? इसलिए इंसान उलझता ही जाता है, पूरे दिन उलझन, उलझन और उलझन।

प्रकृति को नहीं बदलना है, उसके कारणों को बदलना है

प्रश्नकर्ता : लेकिन गीता में कहा है कि प्रकृति का जो मूलभूत स्वभाव है, वह तो माया की तरफ जाने का ही है और अब उसके विरूद्ध जाना अर्थात् आत्मा की तरफ जाना, वह कैसे हो सकता है? जिस प्रकार पानी का स्वभाव नीचे जाने का है, अग्नि का स्वभाव ऊपर जाने का है तो उन्हें उनके स्वभाव से विरुद्ध ले जाना मुश्किल है, तो उसी प्रकार से प्रकृति को आत्मा की तरफ ले जाना कितना मुश्किल है?

दादाश्री : प्रकृति को विरुद्ध (दिशा में) ले जाना गुनाह है। विरुद्ध नहीं ले जाना है। प्रकृति को सुधारना नहीं है। प्रकृति खुद की सत्ता में ही है। वह सत्ता, परिणाम है। प्रकृति की सत्ता परिणामिक है। वह परिणाम बदल नहीं सकेगा न? कॉज़ेज़ बदलने हैं, उसके बजाय लोग प्रकृति को बदलने जाते हैं।

पुरुषार्थ किस आधार पर होता है?

प्रश्नकर्ता : तो प्रकृति यह सब करती है या यह सब प्रकृति में हो रहा है?

दादाश्री : प्रकृति ही है यह सब। प्रकृति क्या है, वह एक बार जान लेना चाहिए। प्रकृति अर्थात् जैसे आम के पेड़ पर आम लगते हैं न, तो वह आम लगता है या बनाया जा रहा है?

प्रश्नकर्ता : लगता है।

दादाश्री : उसी प्रकार से है यह प्रकृति। परीक्षा का जवाब आता है न, वह प्रकृति है और जो कॉज़ेज़ उत्पन्न होते हैं, वह भ्रांत पुरुषार्थ है। जितना उसे ज्ञान है, उसी अनुसार उसका पुरुषार्थ है।

सतज्ञान, जो संपूर्ण ज्ञान है उसे भगवान कहा जाता है। वे भगवान जितने अंशों तक उसके पास हैं उतना ही उसका पुरुषार्थ है। वह ज्ञान के आधार पर कर रहा है। अभी किसी को गालियाँ दे, तो उसके बाद जो पछतावा करता है, वह ज्ञान से करता है या अज्ञान से करता है?

प्रश्नकर्ता : ज्ञान से करता है।

दादाश्री : तो वह ज्ञान का प्रताप है, अत: वहाँ पर पुरुषार्थ है। जितना-जितना ज्ञान भाग के लिए हेल्पिंग हुआ, वह सारा पुरुषार्थ है। बाकी की सारी प्रकृति है। विसर्जन प्रकृति के हाथ में है। सर्जन ज्ञान के अनुसार है और विसर्जन प्रकृति के अधीन है। विसर्जन में किसी का नहीं चलता। ओन्ली साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स है यह सब। द वर्ल्ड इज़ द पज़ल इटसेल्फ। गॉड हेज़ नॉट पज़ल्ड दिस वर्ल्ड एट ऑल।

कारण-कार्य स्वरूप प्रकृति का

प्रश्नकर्ता : कुछ प्रकार की प्रकृति तो हम जन्म से लेकर आए होते हैं, जन्म से ही कुछ प्रकृति लेकर आए होते हैं न?

दादाश्री : प्रकृति लेकर ही आए हैं। आत्मा प्रकृति के साथ है, बस इतना ही है। बाकी प्रकृति लेकर आए हैं। लानेवाली प्रकृति है और ले जानेवाली भी प्रकृति है और प्रकृति ही है यह सब। प्रकृति कब बनी? पिछले जन्म में कारण प्रकृति बनी थी, वही इस जन्म में कारण प्रकृति में से कार्य प्रकृति बन जाती है। कार्य प्रकृति अर्थात् फल देनेवाली प्रकृति और कारण प्रकृति अर्थात् जो अभी तक फल देने के लिए सम्मुख नहीं हुई है। अब इस कार्य प्रकृति में से वापस से कारण प्रकृति उत्पन्न होती है। अहंकार टेढ़ा है इसलिए कारण प्रकृति उत्पन्न करता ही रहता है।

प्रश्नकर्ता : उसका जन्म हुआ, उसी घड़ी से वह आंतरिक प्रकृति लेकर आता है और फिर बाह्य प्रकृति यहाँ पर जन्म लेने के बाद उसके उदय में आती है?

दादाश्री : हाँ, आंतरिक प्रकृति लेकर आता है, वही बाह्य प्रकृति को उत्पन्न करती है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन दादा, बाह्य प्रकृति का निर्माण और आंतरिक प्रकृति का जो लेकर आए हैं, क्या उन दोनों में कोई संबंध है?

दादाश्री : इतनी यदि खोज करना आ जाए न तो मेरे जैसा ज्ञानी बन जाए।

अंदर की प्रकृति है, तभी तो बाहर यह सब मिलता है, वर्ना मिलता ही नहीं। नहीं तो ऐसा कोई नियम नहीं है कि बाहरवाला हमें मिल जाए। यह बहुत सूक्ष्म बात है।

प्रश्नकर्ता : नए कर्म जो बनते हैं, वे बाह्य प्रकृति की वजह से ही बनते हैं?

दादाश्री : ये जो नए कर्म बनते हैं, वे तो अपने अहंकार और आज की अपनी समझ और ज्ञान पर आधारित हैं। कर्म उल्टे भी बाँध सकता है और सीधे भी बाँध सकता है और प्रकृति हमें वैसे संयोगों में रखती है।

ऐसी समझ तो है ही नहीं न किसी में! उसे तो ऐसा ही लगता है कि बाहर से मिल रहा है यह सबकुछ।

इसमें राग-द्वेष किसे हैं?

प्रश्नकर्ता : आत्मा राग-द्वेष रहित है तो प्रकृति राग-द्वेष रहित किस तरह से हो सकती है? कब हो सकती है? उसका क्रम क्या है?

दादाश्री : स्थूल प्रकृति राग-द्वेषवाली है ही नहीं। वह तो *पूरण-गलन* (चार्ज होना, भरना-डिस्चार्ज होना, खाली होना) स्वभाव की है? यह तो, अहंकार राग-द्वेष करता है। उसे जो अच्छा लगता है उस पर राग करता है और अगर अच्छा नहीं लगता तो द्वेष करता है। प्रकृति तो अपने स्वभाव में है। सर्दी के दिनों में ठंड होती है या नहीं होती?

प्रश्नकर्ता : होती है।

दादाश्री : वह उसे अच्छी नहीं लगे तो उसे द्वेष होता है। कुछ लोगों को इसमें मज़ा आता है। नहीं आता?

प्रश्नकर्ता : हाँ, ठीक है।

दादाश्री : ऐसा ही है। प्रकृति को सर्दी के दिनों में ठंड लगती है, गर्मियों के दिनों में गर्मी लगती है। अर्थात् ये सारे राग-द्वेष अहंकार ही करता है। अहंकार जाए तो राग-द्वेष चले जाते हैं।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् ज्ञान देने के बाद प्रकृति ऑटोमेटिक सहज होती ही जाती है न?

दादाश्री : हाँ, ज्ञान मिलने के बाद प्रकृति जुदा हो गई लेकिन डिस्चार्ज के रूप में रही हुई है। वह डिस्चार्ज होती रहती है धीरे–धीरे। जो चार्ज हो चुकी है, वही डिस्चार्ज होती रहती है। 'जीवित' अहंकार के बिना डिस्चार्ज होती ही रहती है, अपने आप ही। उसे हम कहते हैं कि 'व्यवस्थित है।'

प्रकृति, अहंकार के ताबे में या व्यवस्थित के?

प्रश्नकर्ता : प्रकृति और व्यवस्थित एक ही चीज़ है?

दादाश्री : अपनी प्रकृति व्यवस्थित के ताबे में है और अज्ञानी की प्रकृति अहंकार के ताबे में है। 'अहंकार के ताबे में है,' इसका मतलब क्या है? वह पागलपन भी कर सकती है। अहंकारी इंसान व्यवस्थित की तो सुनता ही नहीं है न! अपने महात्माओं का तो वह अहंकार चला गया है, उसके बाद सिर्फ व्यवस्थित रहा।

प्रश्नकर्ता : व्यवस्थित और प्रकृति के बीच संबंध है क्या?

दादाश्री : है न संबंध। प्रकृति व्यवस्थित ही है सारी। प्रकृति ऐसे कोई गप्प नहीं है। व्यवस्थित अर्थात् सत्तानवे के बाद अठानवे आकर खड़ा रहता है वह तो। अठानवे के बाद नब्बे नहीं आएगा, वह भी व्यवस्थित है। जैसा शोभा दे उस तरह से आता है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् प्रकृति और व्यवस्थित में कुछ फर्क है?

दादाश्री : बहुत फर्क है। व्यवस्थित, वह तो कार्य करता है, जबकि प्रकृति तो डिज़ोल्व होती रहती है। व्यवस्थित शक्ति को अंग्रेजी में 'साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स' कहता हूँ।

प्रश्नकर्ता : प्रकृति डिज़ोल्व होती रहती है तो फिर प्रकृति का नाश हो जाना चाहिए ना?

दादाश्री : हाँ, नाश ही तो होने लगा है न यह, अब *निर्जरा* (आत्म प्रदेश में से कर्मों का अलग होना) ही होने लगेगी न। यह ज्ञान लेने के बाद नया कर्म नहीं बंधता, पुराने कर्म

विलय होते रहते हैं, डिस्चार्ज होते रहते हैं। नया चार्ज नहीं होता। जब तक ऐसा भान था कि 'मैं कर्ता हूँ', तब तक नया चार्ज हो रहा था और अगर 'व्यवस्थित' कर्ता है तो, वहाँ पर उसका चार्ज होना बंद हो जाता है। उसके बाद फिर सिर्फ डिस्चार्ज ही होता रहता है।

प्रकृति को भोगते हैं, वह व्यवस्थित है। प्रकृति बनाई वह व्यवस्थित नहीं है। नई उत्पन्न करना वह व्यवस्थित नहीं है। ज्ञान नहीं हो तो नई प्रकृति उत्पन्न करता रहता है फिर। ज्ञान हो तो प्रकृतिउत्पन्न होती ही नहीं, कॉज़ेज़ खत्म हो जाते हैं!

प्रश्नकर्ता : दादाजी, तो वह प्रकृति इफेक्ट है न?

दादाश्री : हाँ, प्रकृति इफेक्ट है, लेकिन सिर्फ प्रकृति को ही इफेक्ट नहीं कह सकते। प्रकृति में इफेक्ट और कॉज़ेज़ दोनों गुण रहे हुए हैं। उनमें से कॉज़ेज़ के अलावा बाकी का सारा भाग इफेक्ट है। अत: हम कॉज़ेज़ बंद कर देते हैं, इसलिए आपसे कह देते हैं कि 'व्यवस्थित है।' यदि कॉज़ेज़ ज़ारी रहें तो उसे व्यवस्थित नहीं कहा जा सकता।

प्रकृति का मतलब क्या है कि पूर्वजन्म में वह माल भरा था। पूर्वजन्म में जो माल भरा है, वह अभी प्रकट हो रहा है और अभी जो भरोगे वह अगले जन्म प्रकट होगा, उसे कहते हैं प्रकृति।

प्रकृति, जैसे सुलगाया हुआ बारूद

आपने जो भरा है, नियम से वही निकलता है। एक पटाखा, एक हवई बम या कोई टिकड़ी हो तो, उसे जलाने के बाद वे अपना स्वभाव छोड़ेंगे क्या? प्रकृति अर्थात् सुलगाई हुई चीज़। अब, हमें सुलगाना नहीं पड़ता। जब उसके काल का उदय आता है, उस घड़ी उसका अंकुर फूटता है। उसके बाद क्या वह रुक सकता है? यदि हवई बम के स्वभाववाला होगा तो धोती में घुस जाएगा और पटाखे के स्वभाववला होगा तो फूटेगा और फुलझड़ी के स्वभाववाला होगा तो फुलझड़ी। इस प्रकार स्वभाव के अनुसार फूटेंगे।

यदि कोई ऐसा बड़ा बम होगा, भड़ाक से फूटते हैं वैसा, अब उसमें अगर गलती से हवई बम का बारूद भर लिया हो और आप फोड़ो तो वह हवई बम की तरह फूटेगा।

आपकी धोती में घुस जाएगा, उसमें रखनेवाले का क्या दोष बेचारे का? उसने कपड़े पटाखे के पहने हैं और आप समझते हो कि पटाखा फूटेगा। अरे, ऐसा नहीं है। उसके अंदर बारूद भरा हुआ है हवई बम का! इसलिए हवई बम जैसा गुण देगा। पटाखे में फुलझड़ी का बारूद भरा हुआ होगा तो क्या वह फूटेगा? नहीं। उसी तरह इन सब में बारूद अदल-बदल हो जाते हैं, इसलिए वैसा है। उसमें मन क्या करे बेचारा? क्या वह बुद्धि को पहुँचता है? क्या बीच में बारूद बदल जाता है? तब फिर क्या होता है? ये पटाखे बनानेवाले जब भरते हैं, तब मज़दूरों से बातें करते-करते इसके बदले उसमें से भर दिया, फिर ऐसा हो जाता है। फिर पटाखा फोड़ते समय हवई बम की तरह घुस जाता है धोती में, जला देता है और फिर लोग शोर मचाते हैं, 'अरे भाई, यह कैसा, यह कैसा? यह कैसा?' अरे भाई, यह ऐसा है इसी को कहते हैं कलियुग।

[1.3] प्रकृति जैसे बनी है उसी अनुसार खुलती है

आसक्ति है प्रकृति को

प्रश्नकर्ता : ज्ञान मिलने के बाद ऐसी श्रद्धा है कि 'मैं शुद्धात्मा हूँ' लेकिन जो आसक्ति है वह एकदम से छूटती नहीं है न?

दादाश्री : आसक्ति तो प्रकृति को है, पुरुष को आसक्ति नहीं है। पुरुष तो एक बार अलग हो गया न, इसलिए फिर पुरुषार्थ ही करता रहता है और प्रकृति आसक्तिवाली कहलाती है। प्रकृति आसक्ति करती रहती है। पुरुष और प्रकृति दोनों अलग हो जाने चाहिए। इन्हें कोई जुदा करके नहीं देता है। कभी-कभी ही, जब ज्ञानीपुरुष अवतरित होते हैं, दस लाख सालों में एक बार, तब दोनों को जुदा कर देते हैं। तब तक सबकुछ करते ही रहना पड़ता है। जबकि इसमें प्रकृति और पुरुष दोनों को जुदा कर देते हैं तब फिर पुरुष, पुरुष के स्वभाव में और प्रकृति, प्रकृति के स्वभाव में। प्रकृति आसक्ति में रहती है और पुरुष ज्ञाता-दृष्टा रहता है।

और ऐसा ज्ञान देने के बाद तो यह पुरुष और प्रकृति दोनों को जुदा कर देते हैं। इससे खुद पुरुष बनता है। पुरुष पुरुषार्थ सहित है। कितना अधिक पुरुषार्थ कर सकता है

इसमें! और लोग तो आपकी प्रकृति को ही देखते रहते हैं। अरे, प्रकृति को मत देख, पुरुष को देख। अगर प्रकृति देखेगा तो जैसा था वैसा ही स्वभाव दिखेगा। छोड़ ना इसे। उसे नहीं देखना है। संडास नहीं जाता? क्या ज्ञान लेने के बाद संडास बंद हो जाता है?

प्रश्नकर्ता : नहीं वह तो चलता ही रहता है न!

दादाश्री : तब क्या कढ़ी ज़्यादा खाता हो तो बंद हो जाती होगी?

खपे प्रकृति किस से?

प्रश्नकर्ता : फिर आपने लिखा है कि 'कोई प्रकृति त्यागवाली होती है, कोई प्रकृति तपवाली होती है, कोई प्रकृति विलासी होती है। मोक्ष में जाने के लिए मात्र आपकी प्रकृति को खपाना है।' तो प्रकृति को खपाना अर्थात् क्या?

दादाश्री : वह ठीक है। प्रकृति खपाना अर्थात् अपनी प्रकृति को सामनेवाले के साथ अनुकूल करके (एडजस्ट करके), अनुकूल होकर समभाव से *निकाल* (निपटारा) करना।

प्रश्नकर्ता : इस विलासी प्रकृति को खपाना है और मोक्ष में किस तरह जाया जा सकता है?

दादाश्री : हाँ, उसे तो खपाकर ही जाया जा सकता है। यह सारा विलास ही है न? क्या जलेबी नहीं खाते? फिर हाफूस के आम नहीं खाते? ये सब नहीं खाते? यह सारा विलास ही है न! इसमें कौन सा विलास नहीं है? ये सभी जीवविलास हैं। कोई विलास गाढ़ होता है और कोई ज़रा हल्का होता है।

प्रश्नकर्ता : आदत और प्रकृति में क्या फर्क है?

दादाश्री : आदत, वह शुरुआत है। अगर आप आदत नहीं डालो तो प्रकृति वैसी ही रहती है। अगर आदत डालते हो तो फिर प्रकृति आदतवाली बन जाती है। अगर आप बार-बार चाय माँगते रहो, तो फिर आदत पड़ जाती है। पहले 'आप' आदत डालते हो और फिर आदत पड़ जाती है। आदत डालने और आदत पड़ जाने में फर्क है? हाँ? जब आदत डाल रहे हों तो छूट सकती है और अगर आदत पड़ जाए तो वह नहीं छूटती।

प्रश्नकर्ता : प्रकृति तो जन्म से ही लेकर आता है, ऐसा नहीं होता?

दादाश्री : हाँ, जन्म से ही लेकर आया है, और जन्म से ही है यह। 'जन्म से ही लेकर आया है,' मतलब यह नहीं है कि वह जन्म से ही स्थूल में लेकर आया है। जन्म के समय तो वह परमाणु के रूप में होता है, और रूपक में सेटअप यहाँ आने पर होता है।

नहीं बदलती प्रकृति की स्टाइल

प्रश्नकर्ता : हमारा प्रकृति का जो स्वभाव है, वह किस तरह से हल्का पड़ सकता है? क्योंकि इस प्रकृति का ऐसा है कि खुद को पता चलता है कि यह बंधन है। उदाहरण के तौर पर, किसी को मिर्ची खाने की आदत हो या फिर किसी को मीठा खाने की आदत होती है, जिस की वजह से नियम में नहीं रहा जा सकता।

दादाश्री : नियम से बाहर गई हुई हो या नियमवाली हो, लेकिन प्रकृति फल देती है। भले ही नियम से बाहर गई हुई हो, लेकिन डिस्चार्ज है न सबकुछ। अत: ऐसा नहीं रहना चाहिए या रहना चाहिए, वैसा नहीं है। जैसी है वैसी दिखाई देती है। प्रकृति में जैसा स्वभाव है वैसे ही स्वभाव का वह प्रदर्शन करती रहती है, निरंतर। डिस्चार्ज अर्थात् क्या? प्रकृति खुद के स्वभाव .का प्रदर्शन करती रहती है।

जो चार्ज हो चुका है, वह डिस्चार्ज होता रहता है। यह देह इस तरह से चार्ज हो चुकी है इसलिए चलते समय ऐसे-ऐसे चलता है और अस्सी साल का होने पर भी वैसे ही चलता है। तरीका (स्टाइल) नहीं बदलता। उस पर से हम पहचान जाते हैं कि वह व्यक्ति जा रहा है! और ये तीन चार्ज हो चुकी बैटरियाँ, इनमें बदलाव नहीं हो सकता। इनमें बदलाव अगले जन्म में होता है। वहाँ पर यह सांसारिक ज्ञान काम में आता है, अपना ज्ञान नहीं। उस अनुसार बदलाव हो जाता है।

प्रकृति नियमवाली है। नियम के बिना तो कोई चीज़ है ही नहीं। नियमवाला जगत् है। सिर्फ यह इगोइज़म ही टेढ़ा है। इगो ही टेढ़ा है, बाकी पूरी ही नियमवाली है। यह इगो, नियमवाली को अनियमवाली कर देता है। कहेगा, 'मुझे चाय गरम ही चाहिए' और फिर लोगों के साथ बातें करता रहता है और चाय ठंडी हो जाती है। अरे भाई, जल्दी से पी ले ना चुपचाप! बाद में बात करना। लेकिन यह इगो ऐसा पागल है। मन का स्वभाव ऐसा नहीं है, इगो का है। मन तो पूर्ण नियमवाला है।

जागृति लाती है प्रकृति को नियम में

प्रश्नकर्ता : अर्थात् ज्ञान की जागृति रहे तो प्रकृति अपने आप नियम में आती जाती है। क्या यह बात सही है?

दादाश्री : आपकी भी प्रकृति नियम में आती जा रही है, वर्ना तब तक ज्ञान उतर ही नहीं सकता! ज्ञान अंदर उतर चुका हो तो प्रकृति नियम में आने लगती है फिर।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् नियमिततावाली प्रकृति हो, तो उसमें और ज्ञान मेंकोई संबंध है क्या? नियमित प्रकृति अपने ज्ञान में कुछ हेल्प करती है क्या? श्रीमद् राजचंद्र का भी एक वाक्य है; देह नियमिततावाला होना चाहिए, वाणी स्याद्वाद होनी चाहिए। अर्थात् नियमितता को बहुत महत्व दिया गया है। और अभी आपने भी कहा कि अंजीर नियम अनुसार ली जाए तो अच्छा है।

दादाश्री : हाँ, तो अच्छा है न!

प्रश्नकर्ता : हाँ, तो प्रकृति का यह जो नियम है, वह व्यवहार को स्पर्श करता है, अब वह ज्ञान में किस तरह से मददगार है?

दादाश्री : नियम वाली प्रकृति व्यवहार को हेल्प करती है न और व्यवहार को हेल्प करे न, तो ज्ञान में हेल्प रहती है। नियम के बिना रहे तो फिर ज्ञान में हेल्प रहेगी ही नहीं न! नियम रहना चाहिए। ऐसा नहीं कहते हैं अपने यहाँ कि नियम होना चाहिए। यदि हो सका तो ठीक है, उसका आग्रह नहीं है।

प्रश्नकर्ता : अब यह नियम क्या होना चाहिए, इसे भी जानना ज़रूरी है न?

दादाश्री : वह शरीर पर आधारित है न! खुद नियम जानता है कि मुझसे दो रोटियाँ खाई जाएँगी। उसने दो का नियम पक्का किया फिर कभी कोई बहुत दबाव डाले तो आधी ज़्यादा ले लेता है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् इस तरह से कौन-कौन सी मुख्य चीज़ें नियमवाली होनी चाहिए?

दादाश्री : हर एक चीज़। नियम से खाना चाहिए, नियमपूर्वक। फिर अगर नहीं खा पाए तब क्या करना चाहिए? रोने नहीं बैठना चाहिए। खाना-पीना, उठना-सोना मुख्य यही हैं न! इनमें से कौन सा निकाल दोगे? सबकुछ नियमित रखने जैसा है। कुदरत का नियम अर्थात् जैसे सुबह उठे तो संडास-वंडास वगैरह सभी जैसा उसने नियम बनाया हो उस अनुसार सेट हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : प्रकृति का जो स्वभाव है और नियम, ये दोनों चीज़ें अलग हुई?

दादाश्री : अलग ही हैं न! हेबिच्युएटेड हो जाए तो वह स्वभाव कहलाता है।

प्रश्नकर्ता : हाँ। सारे हेबिच्युएटेड को स्वभाव कहा है आपने, तो उस स्वभाव में से नियम में आना, ऐसा कोई पुरुषार्थ होता है?

दादाश्री : नियम में ही होता है स्वभाव।

एक इंसान को खट्टी चीज़ नहीं भाती। उसे हम अगर सौ रूपये दें तो भी वह खट्टा नहीं खाएगा। एक दूसरे इंसान को खट्टा भाता हो तो वह सामने से पाँच रूपए देकर भी खा जाएगा।

प्रश्नकर्ता : हाँ। उसे प्रकृति का स्वभाव कहते हैं?

दादाश्री : ये सब स्वभाव कहलाते हैं।

प्रश्नकर्ता : और स्वभाव नियमपूर्वक ही होता है?

दादाश्री : नियम के अनुसार होता है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन अब खट्टे खाने की मात्रा सेट करना है। कितना खट्टा खाना चाहिए और कितना नहीं खाना चाहिए वह नियम कहलाता है न?

दादाश्री : ये सभी नियम है। वह अपना काम है। वह तो अपना ज्ञान काम करता रहता है।

प्रकृति के सामने जागृति

प्रश्नकर्ता : आप जो कहते हैं कि, 'कार्य करते जाओ,' उसके बजाय 'कार्य होने दो' वह ठीक है न?

दादाश्री : नहीं। 'कार्य करते जाओ' ऐसा कहने का अपना भावार्थ क्या है कि प्रकृति में जो कार्य है, उस कार्य को चलने दो। आप ऑबस्ट्रक्ट मत करो। आप तो अपने प्रयास में ही रहो।

प्रश्नकर्ता : कहने का मतलब यह है कि जो हो ही रहा है, उसे हम 'ऐसा करो' कहते हैं लेकिन वह हो ही रहा है न?

दादाश्री : वह हो ही रहा है, लेकिन ऑबस्ट्रक्ट नहीं करने के लिए हम कहते हैं 'करो'। 'अब कुछ भी करने जैसा नहीं है,' इसे ऑबस्ट्रक्शन कहते हैं। 'सबकुछ हो ही रहा है, अब कुछ भी करने जैसा नहीं है' ऐसा नहीं कहना चाहिए। प्रकृति को प्रकृति की तरह चलने दो, आप देखते रहो। इसीलिए ऐसा कहते हैं न कि 'खुल्ली आँखों से गाड़ी चलाओ!' बंद आँखों से गाड़ियाँ चलाते हैं क्या लोग? बंद आँखों से गाड़ियाँ चलाई जाती होंगी कहीं? उसी तरह इसे जागृति से चलाना है (ज्ञान दशा)।

ज्ञान लेने के बाद में गाड़ी बंद हो जाए तो हेन्डल लगाना चाहिए। पहले हेन्डलवाली गाड़ी आती थी न, गाड़ी बंद हो गई कि फिर से हेन्डल मारकर गाड़ी चालू कर देते थे। अत: आत्मा को हेन्डल मारो और *पुद्गल* को ब्रेक मत लगाओ। *पुद्गल* को ब्रेक लगा देते हैं कई लोग कि 'ऐसा नहीं कहेंगे तो चलेगा' ब्रेक नहीं लगाना चाहिए। *पुद्गल* को उसके मिज़ाज में ही चलने देना चाहिए। ब्रेक नहीं लगाना चाहिए कि 'व्यवस्थित' है न! 'ऐसा है और वैसा है।' ब्रेक लगाने की ज़रूरत क्या है? वह अपने मिज़ाज में इतनी अच्छी तरह से चलेगी, बिल्कुल सही चलेगी।

प्रश्नकर्ता : हाँ, और आत्मा को हेन्डल मारना चाहिए?

दादाश्री : हाँ, आत्मा को हेन्डल मारना चाहिए और *पुद्गल* को ब्रेक नहीं लगाना चाहिए। कई लोग *पुद्गल* को ब्रेक लगाते हैं। व्यवस्थित ही है न! तो फिर भाई, ब्रे्क लग जाएगा उससे तो! हो जाने के बाद व्यवस्थित कहना है। तब तक गाड़ी को चलने ही दो अपने आप और *पुद्गल* को तो चलने ही दो जहाँ जाए वहाँ। जैसे भी जा रहा है, ब्रेक मत लगाओ क्योंकि सिर्फ उसे देखते रहना है। लगाने से ब्रेक लगेगा नहीं और टकरा जाएगा बल्कि, टकराव है यह।

ब्रेक लगने से टकरा जाएगा, बस इतना ही है। उसमें और कोई बदलाव नहीं हो सकेगा और आत्मा को हेन्डल मारना अर्थात् उपयोग, जागृति रखो ज़रा, धीमा हुआ कि जागृत हुआ, धीमा हुआ और जागृत हुआ।

प्रश्नकर्ता : सब ऐसा कहते हैं कि डिसिप्लिन होना चाहिए। इस तरह से डिसिप्लिन का ब्रेक लगाना चाहिए, उसका क्या?

दादाश्री : अपने महात्माओं के लिए तो हमने पाँच आज्ञा ही दी हुई हैं। महात्माओं के लिए इसमें से कुछ भी है ही नहीं। यह सब जो कहा है न, वह बाहर के लोगों के लिए सिखाया है।

प्रश्नकर्ता : अपने महात्मा ऐसा कहते हैं कि डिसिप्लिन होना चाहिए, ऐसा होना चाहिए।

दादाश्री : वे तो बोलेंगे अब। वह तो उनके पास जो माल भरा हुआ होगा, वह बोल रहा है और उसने भी डिसिप्लिन नहीं रखा हो तो वह वैसा बोलता है। उसका प्रश्न नहीं है। कैसा माल भरा है, उसका हमें क्या पता चले? तरह-तरह के माल भरकर लाए हैं और भरा हुआ माल निकलता रहता है। अगर इन पाँच आज्ञा का पालन कर रहा है, तो हमारी और कोई शर्त है ही नहीं। उसे जहाँ ठीक लगे वहाँ घूमे न! और जो खाना हो वह खाना। यह तो आज्ञा में ज़रा कच्चे पड़ जाते हैं, इसीलिए हेन्डल मारने को ज़रा ज़्यादा कहना पड़ता है।

'ऑफिस नहीं जाएँगे तो चलेगा,' अगर ऐसा कहें तो फिर उल्टा होगा लेकिन अगर ऐसा बोलें ही नहीं तो वह ऑफिस जाता ही रहेगा। इसमें हेन्डल नहीं घुमाना पड़ता। इसमें अगर ब्रेक नहीं मारेंगे तो चलता रहेगा।

प्रश्नकर्ता : इसी तरह इन पाँच आज्ञा में नहीं रहने के लिए क्या ब्रेक लग जाते हैं?

दादाश्री : ब्रेक तो दूसरे लगाए हुए हैं इसने। 'ऐसा नहीं करे तो क्या हर्ज है, ऐसा हो जाए तो क्या हर्ज है?' इस तरह के ब्रेक लगाए हुए हैं। ब्रेक उठाए नहीं हैं न अभी तक। वे ब्रेक तो लगे ही रहते हैं। वैसे ब्रेक लगाए हुए ही रहते हैं।

वह सब तो चलता ही रहता है उसका, ब्रेक नहीं मारो तो चलता ही रहेगा, और ब्रेक मन से नहीं लगते, वाणी से लग जाते हैं। अगर वाणी से बोलें, तभी, वर्ना ब्रेक नहीं कहलाता। मन में खराब विचार हों तो ब्रेक नहीं कहलाता!

प्रश्नकर्ता : अब अगर कोई काम हो और कहे कि 'मैं यह काम नहीं करूँगा, मैं यह काम नहीं करूँगा' तो क्या ब्रेक लग गया?

दादाश्री : ब्रेक लग जाता है और फिर वह ब्रेक लगा ही रहता है। जब तक वह उठाए नहीं, तब तक वे ब्रेक घिसते ही रहते हैं।

प्रश्नकर्ता : फिर भी व्यवस्थित तो वह काम करवाता ही रहता है न।

दादाश्री : करवाता है लेकिन फिर भी ब्रेक लगे रहते हैं। लगाए हुए ब्रेक बिगड़ते ही रहते हैं। वे सभी ब्रेक उठा देने चाहिए।

[1.4] प्रकृति को निर्दोष देखो

इसमें दोषित कौन?

प्रकृति तो सहज है, लेकिन बुद्धि दखल करती है। प्रकृति को पंखा माफिक नहीं आता तो उसमें पंखे का क्या दोष है? प्रकृति का क्या दोष है? दोष दिखना बुद्धि के

अधीन है, वह आत्मा के अधीन नहीं है।

संजोगानुसार प्रकृति बनती है और प्रकृति के अनुसार संसार चलता है। इसमें किसका दोष देखना है?

ये सभी प्राकृत दोष हैं। इनको चेतन के दोष मानते हैं इसीलिए तो यह संसार कायम है। वास्तव में कोई दोषित है ही नहीं। जब प्रकृति करती है, उस समय आत्मा मालिक नहीं रहता। प्रकृति बनते समय आत्मा भ्रांति से मालिक बन जाता है और छूटते समय आत्मा मालिक नहीं रहता।

प्रकृति अर्थात् क्या? तू बावड़ी में बोले कि 'तू नालायक है।' तो उससे फिर प्रकृति बन जाती है और फिर वह बोलती है वही प्रकृति है। जब वह प्रकृति बोलती है तब हमें बावड़ी के प्रतिस्पंदन का पता नहीं चलता कि पहले क्या कहा था हमने? अत: यह सब प्रकृति के दोष हैं।

प्रकृति किस तरह बदली जा सकती है?

प्रश्नकर्ता : बरसों से जो प्रकृति स्वभाव पड़ चुका हो, वह किस तरह बदला जा सकता है?

दादाश्री : अपनी प्रकृति को हम जानें कि इस प्रकृति में ये गलतियाँ हैं इतना जानें तो बस हो गया, इसी को बदलना कहते हैं। भूल को भूल समझो तो बहुत हो गया। भूल को भूल समझना, वही बड़ा पुरुषार्थ है। प्रकृति तो रहती है, प्रकृति बदलती नहीं है, भाई! जो बन चुकी है, वह प्रकृति जाती नहीं है।

प्रश्नकर्ता : प्रकृति को देखने से क्या प्रकृति के दोष कम हो जाते हैं?

दादाश्री : उसके अलावा और कोई रास्ता नहीं है न! अपनी भावना निकालने की हो तो कम हो जाती है और निकालने की भावना नहीं हो तो रहती है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन प्रकृति में तो कई अच्छे गुण भी हैं और कई खराब भी हैं।

दादाश्री : सभी निकालने हों तो सभी निकालना, नहीं तो सिर्फ कुछ खराब निकालना जो कि आपके लिए दु:खदाई हों।

होता है, प्रकृति के अनुसार

अन्यथा बाकी सब तो हर एक की प्रकृति के अनुसार होता है। जिसकी जैसी प्रकृति उसी तरह से करना है। सभी लोग कहीं गीत नहीं गानेवाले हैं, वह तो कोई गायक हो तो गीत गाएगा। हर कोई अपनी प्रकृति के अनुसार काम करता है। उसमें भला क्या भूल निकालनी? वह अपनी कुशलता के अनुसार करता है। हर कोई अपनी कुशलता के अनुसार काम करता है। खुद की डिज़ाइन के अनुसार नहीं करवा सकते कि 'मेरी डिज़ाइन' के अनुसार ही तुझे 'चलना पड़ेगा,' ऐसा नियम नहीं है।

अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार काम कर रहे हैं तो, उसमें भूल कहाँ हुई? क्या यह न्यायाधीश का डिपार्टमेन्ट है? हर कोई अपनी प्रकृति के अनुसार काम कर रहा है। मैं भी अपनी प्रकृति अनुसार काम करता रहता हूँ। प्रकृति तो रहती ही है न!

प्रश्नकर्ता : वही भूल जाते हैं कि सामनेवाला व्यक्ति कर्ता नहीं है।

दादाश्री : हाँ। इस की जागृति रहे तो कोई परेशानी नहीं है। सामनेवाले की भूल देखी तो वहीं से नया संसार खड़ा हो जाता है। तो जब तक वह भूल खत्म नहीं होती तब तक उसका निबेड़ा नहीं आता। इंसान उलझा रहता है।

हमें तो एक क्षण के लिए भी किसी की भूल नहीं दिखी है और अगर दिख जाए तो हम मुँह पर कह देते हैं। छुपाना नहीं है, मुँह पर ही कि 'भाई, हमें ऐसी भूल दिख रही है। आपको ज़रूरत हो तो स्वीकार लेना नहीं तो एक तरफ रख देना।'

प्रश्नकर्ता : वह तो आप उसके कल्याण के लिए कहते हैं।

दादाश्री : ऐसा उसे सावधान करने के लिए कहते हैं, तो निबेड़ा आएगा न और फिर अगर वह नहीं माने तो भी हमें कोई परेशानी नहीं है। हमें बिल्कुल भी परेशानी नहीं, वह

बिल्कुल नहीं माने तब भी। हम कहते हैं, 'ऐसा करना' और फिर अगर वह नहीं माने तो कोई बात नहीं।

प्रश्नकर्ता : आपको कुछ भी नहीं?

दादाश्री : मैं जानता हूँ कि वह किस आधार पर बोल रहा है! उदयकर्म के आधार पर बोल रहा है। उसकी इच्छा थोड़े ही मेरी आज्ञा भंग करने की? उसकी इच्छा ही नहीं है न! इसलिए हमें गुनाह नहीं लगता।

वह उदयकर्म के आधार पर बोले तब उसे मोडना पड़ता है हमें। जब प्रकृति बिफर जाए तब हमें परहेज कर देना पड़ता हैं। खुद का तो संपूर्ण अहित करता है, बाकी सब का भी कर देता है। बाकी, सामान्य रूप से प्रकृति गलतियाँ करती ही हैं। दुनिया में तो ये सब प्रकृतियाँ ही हैं!

जितने विकल्प उतने ही स्तर प्रकृति के

प्रश्नकर्ता : जो प्रकृति शांत दिखती है वह सप्रेस्ड होती है या बेलेन्स्ड होती है?

दादाश्री : तेज़ दिखनेवाली प्रकृति होती है न, वह भी बेलेन्स्ड कहलाती है और जो शांत दिखनेवाली प्रकृति होती है न, वह भी बेलेन्स्ड कहलाती है। सप्रेस नहीं कहलाती। सप्रेस का लेना-देना नहीं है। कुछ लोगों को तो, चाँटा लगाने पर भी शांत दिखता है। अर्थात् वह कोई सप्रेस नहीं है, और बहादुर भी नहीं है। वह ज्ञान से नहीं है, उसकी प्रकृति ही ऐसी है।

प्रश्नकर्ता : तो प्रकृति के कितने स्तर होते हैं, दादा?

दादाश्री : बस, जितने प्रकार के विकल्प हैं, उतने ही प्रकार के प्रकृति के स्तर होते हैं।

बिफरी हुई प्रकृति के सहज होने पर बढ़े शक्ति

प्रश्नकर्ता : दादा ने ऐसा कहा है कि बिफरी हुई प्रकृति सहज हो जाए, तब शक्ति बढने लगती है।

दादाश्री : हाँ, शक्ति खूब बढ़ती है।

प्रश्नकर्ता : ऐसा किस तरह से होता है?

दादाश्री : बिफरी हुई प्रकृति यदि सहज हो जाए न, तो एकदम से शक्ति उत्पन्न होती है। खूब खींचती हैं बाहर से सारी शक्तियों को। हॉट (गरम) लोहा होता है न, उस हॉट लोहे के गोले पर पानी डालें तो क्या होता है? सारा पी जाता है, नीचे नहीं गिरने देता, एक भी बूँद। उसी तरह जो प्रकृति ऐसी बिफरी हुई होती है न, वह हॉट गोले जैसी होती है। फिर जैसे-जैसे ठंडी पड़ती जाती है, वैसे-वैसे उसकी शक्ति बढ़ती जाती है।

आखिर तो दोनों ही हैं वीतराग

सामनेवाले की प्रकृति को पहचान जाएँ तो उसके साथ वीतरागता रहती है कि यह गुलाब का पौधा है और काँटे लग रहे हैं, तो गुलाब में काँटें होते ही हैं ऐसा पक्का हो जाता है। उसके बाद काँटों पर गुस्सा नहीं आता। अगर हमें गुलाब चाहिए तो काँटे सहने ही पड़ेंगे। प्रकृति की पहचान होना, वह ज्ञान है और ज्ञान हो गया तो वर्तन में आएगा ही, बस।

अर्थात् अगर प्रकृति को हम पहचान गए कि इस व्यक्ति में यह गुण है, तो फिर उसके साथ वीतरागता रहेगी। हम जानते हैं कि यह इसका दोष नहीं है, यह तो उसकी

प्रकृति ही ऐसी है!

अत: अगर किसी का भी दोष दिखे तो वह अपना ही दोष है। अपना विज्ञान ऐसा कहता है कि किसी भी व्यक्ति कादोष दिखे तो वह आपका ही दोष है। आपके दोष की वजह से यह रिएक्शन आया है। आत्मा भी वीतराग है और प्रकृति भी वीतराग है, लेकिन आप जैसा दोष निकालते हो, वैसा ही उसका रिएक्शन आता है।

पुरुष वीतराग है और प्रकृति भी वीतराग है। पुरुष के साथ रहने के बावजूद भी वीतराग रही है क्योंकि यह प्रकृति जड़ है न! वह चेतन नहीं है। वह स्वभाविक रूप से वीतराग है। जिस प्रकार से आत्मा स्वभाविक रूप से वीतराग है उसी तरह यह भी स्वभाविक रूप से वीतराग है।

प्रश्नकर्ता : प्रकृति की वीतरागता और आत्मा की वीतरागता में क्या फर्क है?

दादाश्री : दोनों में कोई फर्क नहीं है लेकिन आज आत्मा (व्यवहार अर्थात्) वीतरागता में नहीं है। अत: यह प्रकृति दखल करती है। इसीलिए प्रकृति अपना रिएक्शन देती है, बस! वर्ना प्रकृति अपने आप कुछ भी नहीं करती है।

प्रकृति को ऐसे मोड़ते हैं ज्ञानी

लोग समझते हैं कि दादा कमरे में जाकर आराम से सो जाते हैं, उस बात में माल नहीं है। पद्मासन लगाकर एक घंटे तक, वह भी इस सतहत्तर साल की उम्र में पद्मासन लगाकर बैठता हूँ। पैर भी मुड़ जाते हैं और इसीलिए आँखों की शक्ति, आँखों का प्रकाश, वगैरह सब बना हुआ है। क्योंकि प्रकृति की मैंने कभी भी निंदा नहीं की है। कभी उसकी निंदा नहीं की। उसका अपमान नहीं किया। लोग निंदा करके अपमान करते हैं। प्रकृति जीवित है, उसका अपमान करोगे तो उसका असर होगा। इसका (जड़ का) अपमान करने से असर होता है। क्या असर होता है? तो वह यह कि, उसका प्रत्याघात आपको ही लगता है। प्रकृति थोड़ी जीवित है, मिश्रचेतन, अत: थोड़ा कम प्रत्याघात लगता है। इसलिए अपमान तो करना ही नहीं चाहिए।

हर्ज नहीं है गलती होने में, लेकिन हर्ज है अनजान रहने में!

मैं जानता हूँ कि अभी भी भूलें वैसी की वैसी हैं। यह तेरे *लक्ष* (जागृति) में आता है क्या?

प्रश्नकर्ता : पूर्ण *लक्ष*में है लेकिन निकल जाता है। भूल हो जाने के बाद में लगता है कि 'हाँ, निकल गया।'

दादाश्री : तो कोई हर्ज नहीं।

प्रश्नकर्ता : और दादा उलाहना देंगे ऐसा भी पता चलता है।

दादाश्री : उलाहना देंगे वह भी पता चलता है क्योंकि अगर भूल हो जाए तो उसे हम जानते हैं, और वह फिर अलग है। जो प्रकृति है वही निकलनेवाली है। उसमें तो चलेगा ही नहीं। हम उलाहना इसलिए देते हैं कि अजागृत रहते हो या जागृत रहते हो?

भूल हो जाए तो उसमें हर्ज नहीं है। जिस भूल को आप जान जाओगे तो सुधार लोगे, वह बड़ी चीज़ है। भूल तो प्रकृति से होती है। प्रकृति की भूल को, दोष को दोष नहीं कहते। भूल को जानों तो आप जुदा हो वह तय हो गया।

प्रश्नकर्ता : इसमें हमें पता भी नहीं चलता लेकिन अपने आप ही बाद में जो जागृति आ जाती है, वह क्या है?

दादाश्री : बाद में जागृति आना ठीक नहीं है, लेकिन अगर भूल हो रही हो और साथ में जागृति भी रहे तो वह जागृति फुल जागृति कहलाती है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन अपने आप ही बाद में जागृति आ जाती है।

दादाश्री : वह तो अपने आप ही आएगी न पर, उसी को आत्मा कहते हैं। लेकिन अगर साथ में आए तो वह एक्ज़ेक्ट कहलाता है।

प्रश्नकर्ता : क्योंकि ऐसा कोई हेन्डल नहीं मारा है या ऐसा कुछ किया नहीं है फिर भी अंदर से दिखाता है कि यह भूल हो गई, भूल हो गई।

दादाश्री : आत्मा अलग है। ऐसा प्रमाणित हो गया न! अब जुदा हो गया है, उसी का प्रमाण है न यह!

शुद्धात्मा देखने से बाघ भी अहिंसक

प्रश्नकर्ता : खुद की प्रकृति को सामनेवाले की प्रकृति के साथ एडजस्ट करना उसके बजाय अब यदि 'मैं शुद्धात्मा हूँ' और सामनेवाले को यदि शुद्धात्मा देखूँ तो क्या प्रकृति अपने आप ही एडजस्ट हो जाएगी?

दादाश्री : हो ही जाएगी। परेशान किया जाए तो प्रकृति विरोध करेगी, वर्ना इतने अच्छे-सहज भाव में आ जाती है। खुद असहज हुआ है न, इसीलिए प्रकृति विरोध करती है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन जिसने ज्ञान लिया है उसकी प्रकृति सहज हो जाती है, लेकिन अगर सामनेवाले ने नहीं लिया हो तो उसकी थोड़े ही सहज हो जाती है?

दादाश्री : लेकिन ज्ञानवाला दूसरों की प्रकृति के साथ आसानी से काम कर सकता है। अगर वह दूसरा बीच में दखलंदाज़ी न करे तो।

प्रश्नकर्ता : दो लोग आमने-सामने हों, एक ने दादा का ज्ञान लिया है अत: वह इस प्रकार ज्ञान में रहकर खुद की प्रकृति सहज करता जाता है, पाँच आज्ञा का पालन करके। लेकिन सामने जो व्यक्ति है, जिसने दादा का ज्ञान नहीं लिया है, तो उसकी प्रकृति किस प्रकार से सहज होगी?

दादाश्री : नहीं, उससे कोई लेना-देना नहीं है।

प्रश्नकर्ता : अब अगर उसकी प्रकृति सहज नहीं होगी तो क्या हमें कोई परेशानी नहीं होगी?

दादाश्री : हमारे लिए तो ये पाँच आज्ञा हैं न, ये सेफसाइड है आपकी, हर प्रकार से। अगर उसमें आप रहोगे न, तो कोई भी आपको परेशान नहीं कर सकेगा। बाघ–सिंह, कुछ भी नहीं। बाघ को जितना समय आप शुद्धात्मा की तरह देखोगे, उतने समय तक वह अपना पाशवी धर्म, पशुयोनि का जो धर्म है उसे भूल जाएगा। वह अपना धर्म भूल गया तो हो चुका! कुछ भी नहीं करेगा।

प्रश्नकर्ता : तो सामनेवाले में शुद्धात्मा देखने से उसमें कोई परिवर्तन आता होगा?

दादाश्री : ऑफ कोर्स, इसीलिए मैं कहता हूँ कि घर के लोगों को शुद्धात्मा के रूप में देखो। कभी देखा ही नहीं न! आप घर में घुसते ही बड़े बेटे को देखते हो तो यों आपको दृष्टि में कुछ भी नहीं होता। दृष्टि में कैसे हो, कैसे नहीं, सब करते हो लेकिन अंदर कहते हो 'साला नालायक है' ऐसा देखते हो तो उसका असर होता है। यदि शुद्धात्मा देखोगे तो उसका भी असर होता है।

निरा असरवाला है यह जगत्। यह इतना अधिक इफेक्टिव है कि पूछो मत! ये विधियाँ करते हैं, तब हम ऐसा ही करते हैं। असर रखते हैं। विटामिन रखते हैं। इसलिए इतनी शक्ति उत्पन्न हुई, वर्ना शक्ति कैसे आ पाती? मैं अनंत जन्मों की कमाई लेकर आया हूँ और आप यों ही रास्ते चलते आ गए।

प्रश्नकर्ता : आपने कहा है कि हम शुद्धात्मा को शुद्धात्मा की तरह देखते हैं। अंदर यह शुद्धात्मा तो निर्दोष है ही....

दादाश्री : वे तो भगवान ही हैं।

प्रश्नकर्ता : लेकिन हमें उसकी प्रकृति भी निर्दोष दिखाई देती है।

दादाश्री : हाँ, वह प्रकृति निर्दोष दिखाई देनी चाहिए।

प्रश्नकर्ता : अंत में वह प्रकृति भी निर्दोष दिखाई देगी तो दोनों एक जैसे हो जाते हैं।

दादाश्री : हाँ और अपना मार्ग तो यहाँ तक कहता है कि 'आप में कपट हो तो उसे भी देखो,' जबकि क्रमिक मार्ग में कपट चलेगा ही नहीं न! अहंकार को ही बिल्कुल शुद्ध करते जाना है! वहाँ पर चलेगा ही नहीं।

अर्थात् ऐसे करते–करते अगर दो–तीन जन्मों में भी खत्म हो जाए तो भी बहुत हो गया न! अरे, दस जन्मों में हो जाए तो भी क्या नुकसान होनेवाला है? लेकिन दोषित नहीं है कोई भी।

ज्ञानी की दृष्टि की निर्दोषता

प्रश्नकर्ता : निर्दोषता किसे कहते हैं? कोई भी व्यक्ति निर्दोष कब दिखाई देता है? निर्दोषता सहज रूप से होती है या कैसे?

दादाश्री : अब जब हम संपूर्ण रूप से निर्दोष हो जाएँ तभी सामनेवाला मुझे निर्दोष दिखाई देगा, नहीं तो नहीं दिखेगा। जब तक हम दोषित हैं, तब तक वह दोषित दिखाई देता है। मुझे पूरा जगत् निर्दोष ही दिखाई देता है। मुझे अर्थात् मैं जब दादा भगवान के रूप में रहता हूँ न, तब पूरा जगत् निर्दोष दिखाई देता है और अगर कभी 'अंबालाल' में आ जाऊँ उस समय निर्दोष दिखता ज़रूर है। प्रतिति में रहता है लेकिन कभी शायद आचरण में न भी हो। उस समय आपकी भूल भी निकाल लेता हूँ।

बाकी, अगर हमें निर्दोष ही दिखें तो फिर भूल कहाँ से दिखाई देगी? लेकिन फिर वह तो बाद में हमारा ज़रा धो देते हैं न, तुरंत ही, ऑन द मोमेन्ट तो सबकुछ साफ, क्लियर भी दिखाई देता है बीच में। मैं कहीं आपकी प्रकृति के दोष देखने नहीं आया हूँ, मैं आपकी प्रकृति को देखने आया हूँ। निरीक्षण करने आया हूँ। मैं आपकी प्रकृति और मेरी प्रकृति के, किसी के भी दोष देखने नहीं आया हूँ, मैं तो प्रकृति का निरीक्षण करने आया हूँ। देखने और जानने आया हूँ।

प्रश्नकर्ता : और निर्दोषता क्या सहज होती है?

दादाश्री : वह सहज हो तभी उसे निर्दोष कहा जाएगा, नहीं तो निर्दोष नहीं कहा जा सकता। असहज हुआ अर्थात् दोषित।

अब वह जो आगे की बात है कि अपने महात्मा क्या करते हैं? बच्चों को डाँटते हैं, ऐसा सब करते हैं। महात्मा जानते हैं कि 'यह निर्दोष है।' वह भी उनकी *लक्ष* (जागृति) में

है, आत्मा के रूप में निर्दोष है लेकिन देह के रूप में नहीं है इसलिए डाँट भी देते हैं। वे कब तक डाँटेंगे? जब तक ऐसा अभिप्राय है कि 'मैं इसे सुधारू,' तभी तक। अत: सुधारने के लिए ऐसा सब करते हैं।

अत: हम दूसरों की प्रकृति को देखते ही रहते हैं। लेकिन जो बिल्कुल नज़दीक रहते हों, इन नीरू बहन जैसे, तो उन्हें ज़रा सुधारने का भाव रह गया है और वह गलत है। कभी हम बोल देते हैं, भूल निकाल बैठते हैं। प्रकृति की भूल नहीं देखनी चाहिए। ज्ञानी उसे कहते हैं... संपूर्ण ज्ञानी अर्थात् भगवान। भगवान किसे कहते हैं कि प्रकृति के दोषों को देखें ही नहीं। हालांकि हम निर्दोष तो देखते हैं। हमें कोई दोषित दिखाई ही नहीं देता, लेकिन थोड़ी सी भी भूल नहीं निकालनी चाहिए किसी की भी। उनके हाथ से हम पर अंगारे भी गिर जाएँ तो भी हमें भूल नहीं दिखनी चाहिए, लेकिन छोटी-छोटी बातों में भूल दिख जाती है कि इनका यह दोष कब निकलेगा, मन में ऐसा भाव आ जाता है लेकिन धकेलने की ज़रूरत ही नहीं है प्रकृति को। प्रकृति अपना रोल अदा किए बिना रहेगी नहीं और ये संसार के लोग क्या करते हैं? सामनेवाले को सुधारते हैं लेकिन वे खुद के सौ खोकर सुधारते हैं उसे। लेकिन उनके बाप ने भी सौ खोए थे और तभी जाकर ये सुधरे थे।

प्रश्नकर्ता : अब दादा, ये जो सौ गँवाए, सौ खोकर बच्चे को सुधारा तो उसने वे कौन से सौ खोए?

दादाश्री : आत्मा के। लेकिन उसके पिता ने भी ऐसे ही खोए थे न! एक व्यक्ति तो ऐसा कह रहा था, 'समझता नहीं है, मैं तेरा बाप हूँ!' अरे घनचक्कर, कैसा पैदा हुआ है तू! ऐसा बोला! और वह भी कॉलेजियन बेटे से! अरे, कैसा फादर है! फिर मैंने बहुत डाँटा था। वह भी उसे समझाने के लिए कि 'अरे, क्या बच्चे के साथ ऐसे बात करनी चाहिए? आपकी क्या दशा होगी?' लेकिन हम तो ऐसे ज्ञानी हैं, हमें ऐसा सब नहीं कहना चाहिए! हमें तो निर्दोष दिखते हैं हंड्रेड परसेन्ट, उसमें दो मत हैं ही नहीं। पूरे जगत् के जीवमात्र निर्दोष दिखते हैं, हमें बिल्कुल भी दोषित नहीं दिखाई देते, आपको भी दोषित नहीं दिखाई देते लेकिन इसमें आपके दोष डिस्चार्ज रूप से बरतते हैं। अगर दोषित दिखे तो द्वेष रहा और जो द्वेष है उसे निकालना पड़ेगा।

दोषित जानो लेकिन मानो मत

प्रश्नकर्ता : यानी कि हर एक व्यक्ति को निर्दोष जानना है, लेकिन मानना नहीं है, ऐसा?

दादाश्री : निर्दोष मानना अर्थात् वह अभिप्राय हुआ, ओपिनियन हुआ। हमें तो सभी को निर्दोष जानना है।

प्रश्नकर्ता : और अगर दोषित हो तो दोषित जानना है, ऐसा?

दादाश्री : नहीं, अपने ज्ञान में दोषित नहीं, निर्दोष ही जानना है। दोषित कोई होता ही नहीं है। दोषित भ्रांत दृष्टि से है। भ्रांत दृष्टि दो भाग कर देती है। यह दोषित है और यह निर्दोष है। यह पापी है और यह पुण्यशाली है और इस दृष्टि से एक ही है कि यह निर्दोष ही है और उस पर ताला लगा दिया है। यहाँ पर बुद्धि को बोलने का स्कोप ही नहीं रहा। बुद्धि को दखल करने का स्कोप ही नहीं रहा। बुद्धि बहन वहाँ से वापस चली जाती है कि अपना अब नहीं चल रहा, घर चलो। वह थोड़े ही कुँआरी है? शादी-शुदा थी, तो वापस वहाँ अपने ससुराल चली जाती है बहन।

प्रश्नकर्ता : तो फिर दादा, दोषित भी नहीं मानना है, निर्दोष भी नहीं मानना है, निर्दोष जानना है।

दादाश्री : सभी कुछ जानना है, लेकिन दोषित नहीं जानना है। दोषित जानें तब तो अपनी दृष्टि बिगड़ी हुई है, और दोषित के साथ 'चंदूभाई' जो सिर फोड़ी करता है उसे 'हमें' देखते रहना है। 'चंदूभाई' को (फाइल नं-१ को) 'हमें' रोकना नहीं है।

प्रश्नकर्ता : वह क्या कर रहा है, क्या सिर्फ यही देखते रहना है?

दादाश्री : बस, देखते रहो क्योंकि दोषित के साथ दोषित अपने आप ही झंझट करता है। लेकिन ये 'चंदूभाई' भी निर्दोष हैं और वह भी निर्दोष है। दोनों लड़ते हैं लेकिन दोनों ही निर्दोष हैं।

प्रश्नकर्ता : अगर चंदूभाई दोषित हों, फिर भी सूक्ष्म दृष्टि से वह निर्दोष ही है।

दादाश्री : सूक्ष्म दृष्टि से वह निर्दोष ही है, लेकिन चंदूभाई के साथ आपको जो कुछ भी करना हो, वह करना। बाकी, जगत् के संबंध में तो मैं सभी को 'निर्दोष हैं,' ऐसा मानने को कहता हूँ। चंदूभाई को आपको टोकना पड़ेगा कि 'ऐसे चलोगे तो नहीं चलेगा। उसे शुद्ध फूड देना है। अशुद्ध फूड से यह जो दशा हो गई है, तो शुद्ध फूड से उसका निबेड़ा लाने की ज़रूरत है।'

प्रश्नकर्ता : वह कुछ उल्टा-सीधा करे तो प्रतिक्रमण करने को कहना पड़ेगा?

दादाश्री : हाँ, वह सभी कुछ कहना पड़ेगा। उसे भी कह सकते हैं, 'आप नालायक हो'। सिर्फ चंदूभाई के लिए ही, औरों के लिए नहीं, क्योंकि वह आपकी फाइल नंबर-१ है, आपकी खुद की है। दूसरों के लिए नहीं।

प्रश्नकर्ता : अगर फाइल नं-१ दोषित हो तो उसे दोषित मानना और डाँटना चाहिए?

दादाश्री : डाँटना। प्रेजुडिस भी रखना उस पर कि 'तू ऐसा ही है, मैं जानता हूँ।' उसे डाँटना भी सही क्योंकि हमें उसका निबेड़ा लाना है अब।

पकड़ा गया असल गुनहगार

प्रश्नकर्ता : लेकिन अगर ये दूसरे भाई हों, फाइल नं-१०वीं, तो उन्हें दोषित नहीं देखना है, वह निर्दोष ही है। ऐसा?

दादाश्री : निर्दोष। अरे, अपनी फाइल नं-२ भी निर्दोष है! क्योंकि गुनाह क्या था? कि सभी को दोषित देखा और इन चंदूभाई (फाइल नं -१) का दोष नहीं देखा। उस गुनाह का रिएक्शन आया है यह। अत: गुनहगार पकड़ा गया। अन्य कोई गुनहगार है ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : सब उल्टा देखा है।

दादाश्री : उल्टा ही देखा है, अब सीधा देखा है। बात को सिर्फ समझना ही है। कुछ करना नहीं है। वीतरागों की बात को सिर्फ समझना ही होता हैं, करना कुछ नहीं होता। वीतराग कितने समझदार थे! यदि करना हो तो इंसान थक जाए बेचारा!

प्रश्नकर्ता : और यदि करेगा तो वापस बंधन आएगा न?

दादाश्री : हाँ! करना, वही बंधन है। कुछ भी करना, वह बंधन है। माला फेरी, तो भी बंधन है लेकिन वह सब के लिए नहीं। बाहर के लोगों के लिए कह सकते हैं कि माला फेरना क्योंकि उनका व्यापार बंधनवाला है।

[1.5] कैसे–कैसे प्रकृति स्वभाव

एक ही वाक्य से मोक्षमार्ग

कोई कहे कि 'मुझे भगवान दिखाइए', तो हम कहेंगे कि 'उसके सभी प्रकृति स्वभाव घटा(माइनस कर) दे तो वह खुद भगवान ही है।'

प्रश्नकर्ता : वह घटाने की मुख्य चीज़ है दादा?

दादाश्री : पहले यह तय कर कि इनमें भगवान है। उसके बाद यह जान कि घटाना किस तरह से है?

प्रश्नकर्ता : जन्म जन्मांतर की साधना हो, तब जाकर घटाना आता है।

दादाश्री : आता है लेकिन घटाना आसान नहीं है।

प्रश्नकर्ता : आपने तो कह दिया कि घटा दो, लेकिन किस तरह घटाना है? प्रकृति तो जड़ है।

दादाश्री : जड़ है फिर भी क्रियावान है और कड़वे–मीठे फल देनेवाली है। लोग कहते हैं कि 'जो मीठे है, उन्हें मैंने मीठा बनाया है और कड़वे मेरे नहीं हैं।' लेकिन मीठे और कड़वे दोनों प्रकृति ही हैं। जिसे नये फल उत्पन्न नहीं करने हैं, वह आत्मा है।

अत: प्राकृत स्वभाव को घटा करके देखो, भगवान दिखेंगे। भगवान तो जो अंदर प्रकट हुए हैं, वे हैं। यह तो प्रकृति दिखाई देती है।

प्रश्नकर्ता : आप प्रकृति के स्वभाव को घटाने को कहते हैं। प्रकृति के ज्ञाता–दृष्टा रहा जा सकता है, लेकिन बाकी कैसे और किस में से करना है?

दादाश्री : सामनेवाला यदि हमें गालियाँ दे तो ये गालियाँ भगवान नहीं दे रहे हैं, यह तो प्रकृति स्वभाव इसे गालियाँ दे रहा है। इतना घटा दें तो (उसमें) भगवान दिखाई देंगे।

तमाम प्रकार के प्रकृति स्वभाव घटा दें तो भगवान दिखाई देंगे। इतना वाक्य यदि कभी होता न तो ये जो कितने ही साधु हैं, ये सभी मोक्षमार्ग पर चल पड़ते। अगर इतनी ही मिलावट रहित बात किसी ने कही होती तो!

इससे जन्म लेते हैं प्राकृत गुण

लौंग मीठे लगें, तो क्या कहते हो? मुँह को स्वादिष्ट लगें तो? विकारी हो गया है यह, मूल स्वभाव में नहीं है।

अगर करेले मीठे हो जाएँ तो खाओगे? 'नहीं! कड़वे ही चाहिए।' कहता है। ज़रा फीके हों तो चला लेंगे, लेकिन मीठे तो छूएँगे ही नहीं।

हर चीज़अपने-अपने स्वभाव में होती है। इस जगत् में कोई भी चीज़ अपना स्वभाव छोड़ती नहीं है। इसीलिए कई लोग कहते हैं न, 'मछली हमें प्रिय है।' अरे मछली में क्या सुख मिलता है? तो जैसे अपनी सब्ज़ी-भाजी में सब अलग-अलग लगता है, वैसा ही? हर एक चीज़ के परमाणुओं में फर्क है, इसलिए स्वाद में फर्क है। अगर अभी रोटी बनाएँ आठ बजकर दस मिनट पर और फिर आठ बजकर पंद्रह मिनट पर बनाएँ तो दोनों के स्वाद में फर्क होगा क्योंकि टाइम चेन्ज हो गया न! उसमें भाव कम-ज़्यादा पड़ता है, आटा वही का वही है।

प्रश्नकर्ता : आटे के परमाणुओं में भी परिवर्तन होता है?

दादाश्री : वही टाइम लिमिट! आटा, पानी वगैरह, यानी कि हर एक चीज़ में परिवर्तन होता रहता है और फिर अपने लोग कहते हैं, 'नहीं-नहीं, रोटी वही की वही है।' अरे, नहीं है! हर एक रोटी अलग होती हैं। टाइम अलग है न!

प्रश्नकर्ता : नहीं, लेकिन करेले हमेशा कड़वे ही निकलते हैं और यह जो आम होता है, वह खट्टा या मीठा निकलता है।

दादाश्री : आम खट्टा हो तो भी लोग उसे गलत नहीं मानते, मीठा निकले तो भी गलत नहीं मानते, लेकिन अगर तीखा निकले तो? 'फेंक देंगे' कहेंगे, 'इसमें कुछ हो गया

है, कुछ नई ही तरह का है।' खट्टा निकले तो समझते हैं कि खट्टा है।

प्रश्नकर्ता : नहीं, लेकिन ये सब उसके गुणधर्म हैं। नीम कड़वा ही निकलता है। लेकिन इंसानों में ऐसा सब चेन्ज होता रहता है।

दादाश्री : इंसानों में भी ये सारी प्रकृतियों को पहचानना आ जाए न, तो फिर हम समझ जाएँगे कि 'यह नीम है, इसे छू सकते हैं। इसके नीचे बैठ सकते हैं लेकिन इसके पत्ते मुँह में नहीं डाल सकते।' क्या नीम के नीचे नहीं बैठते हैं लोग?

प्रश्नकर्ता : हाँ, बैठते हैं। ठंडक लेते हैं।

दादाश्री : अरे, उसके पत्ते लेकर ऐसे-ऐसे भी करते हैं। ऐसे सूँघते हैं लेकिन मुँह में नहीं डालते। जानते हैं कि कड़वा ही है, जन्म से ही कड़वा है। मनुष्य की प्रकृति ऐसी नहीं है। कई बार जो प्रकृति कड़वी होती है न, वह कुछ उम्र बीतने परमीठी हो जाती है।

प्रश्नकर्ता : बदल जाती है?

दादाश्री : क्योंकि मनुष्य बदलता हुआ है। एवर चेन्जिंग है। और इन लोगों(पेड़-पौधों) में जो चेन्ज है वह सिर्फ एक जन्म में फल देने के लिए ही है। जबकि हम (मनुष्य) तो फल भी देते हैं और कर्म बंधन भी करते हैं। इसलिए हम ऐसा नहीं कह सकते कि यह हमेशा के लिए चोर है।

प्रश्नकर्ता : नीम हमेशा ही कड़वा रहेगा, क्या ऐसा कह सकते हैं?

दादाश्री : हाँ।

प्रश्नकर्ता : और इंसान हमेशा कड़वा ही रहेगा, ऐसा नहीं कह सकते।

दादाश्री : नहीं! हमें पहचान लेना चाहिए कि इस व्यक्ति में क्या है? साधारण रूप से ऐसा देख लेना चाहिए। जैसे कि ये भाई हैं न, इन्हें ऐसे जाँच लिया, पहचान सकते हैं कि ये भाई ऐसे ही हैं। कल सुबह अगर चेन्ज हो जाएँ तो बड़ा महान ज्ञानीपुरुष बन सकते हैं।

प्रश्नकर्ता : लेकिन लगभग पूरी ज़िंदगी मनुष्य की प्रकृति एक जैसी रह सकती है क्या?

दादाश्री : हाँ। रह सकती है न! कई लोगों में रहती है इसीलिए लोग कहते हैं न कि प्राण और प्रकृति दोनों साथ में जाते हैं।

प्रश्नकर्ता : लेकिन ऐसा सिद्धांत नहीं है कि ऐसी ही रहेगी?

दादाश्री : इंसान के लिए नहीं है, बाकी के सभी जीवों के लिए ऐसा ज़रूर है।

प्रकृति को पहचानकर उससे काम लेना चाहिए। तू झक पर चढ़े और मैं भी ऐसा होऊँ कि झक कर लूँ तो फिर मज़ा आएगा? नहीं! मैं जान जाता हूँ कि यह झक पर चढ़ा है तो फिर मुझे वहाँ पर नरम हो जाना चाहिए क्योंकि झक पर चढऩेवाले का गुनाह नहीं है। उसकी यह प्रकृति ही ऐसी है। ज्ञान चाहे कितना भी हो लेकिन प्रकृति के अनुसार झक पर चढ़ता ही है।

प्रश्नकर्ता : झक पर चढऩा, वह प्राकृतिक गुण कहलाता है?

दादाश्री : हाँ। झक पर चढऩा प्राकृतिक गुण है।

प्रश्नकर्ता : प्रकृति क्या अहंकार की है?

दादाश्री : हाँ, अहंकार की! नहीं तो फिर और किस की?

प्रश्नकर्ता : झक पर चढऩा, उसे प्रकृति का गुण कहा है, फिर भी यों तो कहते हैं न कि यह झक अहंकार की है।

दादाश्री : अपने ज्ञान में यह प्रकृतिगुण है। इसलिए कोई अगर झक पर चढ़ रहा हो तो ऐसा समझ जाता हूँ कि आदत है इसलिए फिर मुझ पर कोई असर नहीं होता।

प्रश्नकर्ता : प्रकृति, वह तो अहंकार का फोटो है न?

दादाश्री : अहंकार का ही है यह सबकुछ। फोटो नहीं, पूरा ही। जो मानो सो। स्वरूप अहंकार का ही है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् ये जो कहते हैं कि यह बहुत विचित्र दिमाग़ का है, झक्की इंसान है, तो वे अहंकार को ही कह रहे हैं?

दादाश्री : तो और किसे?

प्रश्नकर्ता : प्रकृति?

दादाश्री : वह ऐसा नहीं जानता कि मैं यह किसे कह रहा हूँ। उसे इस चीज़ का पता नहीं चलता। वह तो यही समझता है कि इस अंदर रहनेवाले को ही कह रहा हूँ अर्थात् आत्मा को ही सबकुछ कहता है वह। यों सारे षडयंत्र करते हैं और दुनिया का जो व्यवहार चल रहा है, वह सारा आत्मा पर ढोल देते हैं। क्योंकि वह भी कहता है कि, 'यह मैं हूँ, मैं हूँ, मैं ही मगनलाल हूँ।'

प्रश्नकर्ता : 'मुझे झक चढ़ गई,' कहता है।

दादाश्री : वह खुद ही मान बैठा है और वह जो मान बैठा है, उसे भी दूसरे लोग सच मान लेते हैं कि वास्तव में यह मगनलाल ही है। वह ठेठ उसके आत्मा को पहुँचता है। जो मूल गुनहगारी है वह आत्मा तक पहुँचती है। वर्ना क्या कोई लकड़ी चबाता होगा? लेकिन उसमें भी स्वाद आया। मोल लाकर चबाते हैं।

प्राकृत गुणों की मूल उत्पत्ति

प्रश्नकर्ता : 'यह तीखा है, वह मीठा है', उसके पीछे क्या कुछ अहंकार जैसा है? ये प्रकृति गुण किस तरह उत्पन्न होते हैं?

दादाश्री : वह सारी जो है, वह प्रकृति ही है। अहंकार था न, वह तो साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स के आधार पर बना।

वह इस स्पेस में आया, इसलिए स्वाद ऐसा हो जाता है। इस स्पेस पर आधारित है, उसका रूप-रंग वगैरह स्पेस पर आधारित है। इंसानों के चेहरे अलग-अलग दिखाई देते हैं, वह भी स्पेस की वजह से है। एक ही प्रकार के दिखेंगे तो क्या होगा? पति को ढूँढ ही नहीं पाएगी। इधर से उधर जाते रहेंगे। सभी एक जैसे दिखें तो फिर जब घर पर जाना हो तो घर मिलेगा ही नहीं। स्पेस अलग है इसलिए कितना अलग-अलग है। कितना सुंदर हुआ है!

प्रश्नकर्ता : स्पेस अलग इसलिए स्वाद भी अलग उत्पन्न होते हैं, रूप-रस-गंध-स्पर्श सभी कुछ।

दादाश्री : स्वाद वगैरह सभी चीज़ें, यह स्पेस अलग है इसलिए इस संसार की सभी अलग-अलग चीज़ें मिल जाती हैं हमें।

अगर सभी लोग मीठे हों, तो वकील कहाँ से लाएँगे? तीखे लोग कहाँ से लाएँगे? फीके कहाँ से लाएँगे?!

प्रकृति की पूरी-पूरी पहचान

प्रश्नकर्ता : यह प्रकृति अपने स्वभाव में रहती है, खुद तो इससे भी अलग ही है न?

दादाश्री : बिल्कुल अलग। हमें कोई लेना-देना है ही नहीं। जो बिल्कुल अलग रहता है, उसे तो कोई परेशानी नहीं है। इस व्यवहार में तो सामनेवाले की प्रकृति को पहचानकर रखना है, और क्या? स्वभाव। सामनेवाले का स्वभाव अर्थात् हमें ऐसा रहे कि 'यह भाई आया इसलिए अब झंझट नहीं है। यहाँ पर कोट-वोट सबकुछ सौंपकर आराम से, कोट में दो लाख हों, और वह उसे सौंपकर कहीं जाएँ तो भी हर्ज नहीं है, ऐसा हम जानते भी है। अगर पहचानते हो तो। और किसी को नहीं सौंपना, देखना।

प्रश्नकर्ता : लोगों की प्रकृति को पहचानता है लेकिन खुद की प्रकृति को नहीं पहचानता, उसी वजह से मार खाता है।

दादाश्री : अपने महात्मा तो खुद का जानते हैं, सभी कुछ जानते हैं, कोना-कोना जानते हैं। कौन से कोने में वीकनेस है, कौन से कोने में अच्छा है, वह सारा जानते हैं। अभी कई लोग जो गहराई में नहीं उतरे हैं वे नहीं जानते होंगे, लेकिन कितने ही समझदार लोग सभी कुछ जानते हैं और ये लोग बड़े-बड़े पत्र लिखते हैं, तो उनकी प्रकृति के बारे में सभी कुछ बता देते हैं। ये लोग अपनी खुद की आलोचना लिखते हैं न, तब कितना बड़ा पत्र लिखकर लाते हैं।

प्रश्नकर्ता : प्रकृति एक तरह से हल्की होती जाती है, लेकिन दूसरी तरफ प्रकृति अधिक गाढ़ भी होती जाती है न?

दादाश्री : गाढ़ होने का अब रहा ही नहीं न! वह तो जब तक अहंकार रहता है तभी तक गाढ़ होती है। अहंकार के बिना गाढ़ किस तरह हो सकती है?! यह तो, अहंकार की अनुपस्थिति में अपने आप ही हल्की होती जाती है, विलय होती जाती है।

प्रश्नकर्ता : प्रकृति की आदत तो बदल जाएगी, लेकिन स्वभाव का क्या?

दादाश्री : स्वभाव वगैरह तो बाकी सब खत्म हो जाएँगे। खुद को अगर स्वभाव बदलना हो न, तो सारा बदल सकता है और अगर खुद को नहीं बदलना हो तो तब तक बैठे रहेंगे सभी।

मालिकीपने के बिना सहजता से रिपेयर

डॉक्टर कहते हैं, 'आपका लिवर बहुत ही बिगड़ गया है।' मैंने कहा 'कुछ भी नहीं बिगड़ा है। आराम से रोटी के साथ मक्खन खाता हूँ।' और डॉक्टर तो मक्खन को छूता भी नहीं है। कहाँ गया तेरा बिगड़ा हुआ लिवर? अमरीका में डॉक्टर कहते हैं, 'ऑपरेशन करूँ?' 'अरे भाई, रहने दे न ऑपरेशन!' किसका कर रहा है यह तू? ये तो ज्ञानीपुरुष

कहलाते हैं। 'जो देह के मालिक नहीं हैं।' यहाँ पर भी सीधे नहीं रहते? क्या उनका ऑपरेशन करना होता है? मालिकीवाले का ऑपरेशन करना पड़ता है!

प्रश्नकर्ता : जो मालिकीवाला हो, उसका ऑपरेशन करना पड़ता है?

दादाश्री : हाँ। जिनकी मालिकी नहीं है उनका ऑपरेशन कैसा? मालिकीवाले को नुकसान या फायदा होता है। यहाँ पर फायदा–नुकसान नहीं है। यह तो बस इतना ही है कि दिखावा करते हैं। मालिक नहीं हैं, फिर क्या है?

प्रश्नकर्ता : यहाँ पर अपने आप ही रिपेयर हो जाता है? जिस देह में मालिकीपना नहीं है वहाँ पर सारी रिपेयरिंग किस तरह से होती है?

दादाश्री : मालिकीपने के वजह से ही घर बूढ़ा हो जाता है और जर्जर हो जाता है। बाकी यदि अपने स्वभाव से बूढ़ा होता है, वह तो उम्र होने पर होता है, लेकिन मालिकीपने की वजह से उसका सबकुछ खराब हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : स्पीडी असर होता है? मालिकीपने की वजह से स्पीडी असर होता है?

दादाश्री : नहीं। मालिकीपने की वजह से अर्थात् वे जो कुदरती असर होते हैं कि 'यह मुझे हुआ,' वैसा होता है, इससे फिर चिपक जाता है फिर। जो ऐसा कहता है कि 'मुझे नहीं हुआ' तो उन्हें कुछ भी नहीं चिपकता।

'जो भी हुआ है वह तो चंदूभाई को हुआ है, उसमें मुझे क्या? मैं हूँ साथ में' ऐसा कहना चाहिए हमें। 'मैं हूँ न आपके साथ चंदूभाई! घबराना मत' ऐसा कहना। ऐसा भी कहकर तो देखो। दर्पण के सामने देखकर कहना, और उसका कंधा थपथपाकर। कोई कंधा थपथपाने नहीं आएगा। पत्नी क्या कहती है? 'मैं आपसे पहले ही कह रही थी न लेकिन आप में समझते नहीं हो तो क्या हो सकता है?' 'अरे भाई! समझ कहा हमारी, अभी इस उम्र में? समझ नहीं है आप में!' अर्थात् संसार तो मूलत: ऐसा ही है। काला है फिर भी मीठा क्यों लगता है? मोह की वजह से।

प्रश्नकर्ता : एक बार आपकी वाणी में निकला था कि 'यह फ्रेक्चर हुआ है लेकिन इसमें रिपेयर कौन कर रहा है?' तब कहा था, 'मैं निकल गया हूँ इसमें से।' अत: कुदरत कर देती है यह सारा रिपेयर।

दादाश्री : हाँ, और कोई चारा ही नहीं है न!

प्रश्नकर्ता : और बहुत जल्दी से करती है। तुरंत ठीक हो गया। जब तक तन्मयाकार रहते हैं तब तक कुदरत की हेल्प नहीं मिलती।

दादाश्री : नहीं, लेकिन वे डॉक्टर भी कहने लगे थे कि 'फ्रेक्चर होने के बाद तो बहुत दर्द होता है, आपको दर्द क्यों नहीं हो रहा? बहुत सहन किया है।' मैंने कहा, 'नहीं, मुझ में सहनशीलता नहीं है।' हमारे में सहनशीलता होती ही नहीं। सहनशीलता तो अहंकार का गुण है। हम में ऐसा कुछ भी नहीं है। ज़रा इंजेक्शन देना हो तो ठंडा, ठंडा करने के बाद ही इंजेक्शन दिया जा सकता है।' तब डॉक्टर कहते हैं 'तो फिर क्या हुआ? यह क्या है?' 'यही है आत्मा!' वे अलग और यह अलग। अलग है लेकिन उसके बाद फिर डॉक्टर ने दूसरे डॉक्टरों से कहा, 'देख आओ, देख आओ, आत्मा देख आओ।' क्योंकि अभी जैसे हैं, उस दिन भी ऐसे के ऐसे ही थे। उसमें कोई फर्क नहीं पड़ा था। डॉक्टर भ्रमित हो सकते हैं लेकिन मैं भ्रमित नहीं हूँ। अमरीका में डॉक्टर भ्रमित हो जाते थे कि 'आपको यह कर लें और वह कर लें।' मैंने कहा, 'अगर ऑपरेशन करने लगेंगे तो मैं मना कर दूँगा। यहाँ पर आपका नहीं चलेगा। इसे खोलना मत, यह पेटी खोलने जैसी नहीं है। सहज स्वभाव से रिपेयर हो जाए ऐसी पेटी है। इसमें उसे आप क्या रिपेयर करोगे?' जैसे भूख अपने आप लगती है न! क्या वह डॉक्टरों के ऑपरेशन करने से लगती है?

प्रश्नकर्ता : नहीं।

दादाश्री : वह तो अपने आप ही लगती है। और ठीक भी होता रहेगा, मालिकी नहीं है इसलिए। तूफान आया और खिड़कियाँ टूट गईं तो उसे ऐसा कहा कि तूफान से टूट गईं अर्थात् दूसरी बार मालिकीपने की वजह से टूट जाती हैं। एक तो टूटनी ही थी कुदरती, दूसरी मालिकीपने की वजह से टूट गई। एक बार ही टूटने दे न भाई! तूफान का असर रहना चाहिए जबकि फिर साथ में तेरा भी असर पड़ता है।

प्रश्नकर्ता : अब कुदरत में क्या ऐसा नियम है कि खिड़की वापस जुड़ जाएगी?

दादाश्री : वह तो जुड़ ही जाएगी। कुदरत का तो ऐसा नियम है ही। बाल को अगर हम निकाल दें तो वह फिर से उग ही जाता है। चाहे सफेद, तो सफेद, लेकिन उग जाता है।

प्रश्नकर्ता : अब अगर मालिकीपना नहीं रखें और उसके बजाय यह निदिध्यासन रहे, तो वह भी इतना ही काम करता है न रिपेयरिंग का?

दादाश्री : करता है न, रिपेयर करता है न सारा। हम अगर जानकर, समझकर छोड़ दें तो कुदरत सबकुछ अपने आप करती ही रहती है। डॉक्टर की क्या ज़रूरत है? और अगर आए तो मना नहीं करना चाहिए। आए तो दवाई ले लेनी चाहिए। रात-दिन उसका ध्यान नहीं करना है कि मुझे इस दवाई की ज़रूरत है। अगर सहजरूप से मिल जाए तो पी लेनी चाहिए। 'ऑपरेशन मत करना' कहा 'भाई, अब तू खोलना मत इस पेटी को इसमें मज़ा नहीं है, तू फँस जाएगा!'

प्रकृति श्रेष्ठ इलाज करती है देह का

प्रश्नकर्ता : सभी संयोग उदयकर्म के अधीन हैं, मुझे सभी चीज़ें अपने आप ही मिल जाती हैं। अब उन्हें सेट करनेवाला कोई और तो है नहीं, तो उस चेतन में ऐसी शक्ति होगी या उन अणुओं में ही इतनी अधिक चेतनता होगी कि वे वहाँ पहुँच जाते होंगे?

दादाश्री : चेतन को इससे कुछ लेना-देना नहीं है। यह तो जैसे सिनेमा की फिल्म चलती है न, वैसे ही यह जो फिल्म है, वह प्रकृति का गुण है। स्वभाव से सेट हो जाते हैं। डॉक्टर आपका इलाज करे, उसके बजाय प्रकृति बहुत सुंदर इलाज करती है। डॉक्टर तो जो नहीं देना हो वह इंजेक्शन भी दे देता है। प्रकृति तो बहुत सुंदर काम करती है। ऐसा, जो कि शरीर के हित में होता है।

प्रश्नकर्ता : जब शरीर मर जानेवाला हो, तब डॉक्टर चाहे कितना भी इलाज करें फिर भी प्रकृति के हिसाब से तो यह शरीर खत्म हो ही जाता है न?

दादाश्री : चलेगा ही नहीं न। डॉक्टर तो निमित्त है बीच में। बाल कटवाने के लिए नाई जितना निमित्त है, उतना ही निमित्त यह है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् उस समय उसके शरीर का विलय हो जाना, वास्तव में तो वह उसके हित में ही है न?

दादाश्री : हित में ही, बिल्कुल हित में है। हित से बाहर नहीं चलती है यह प्रकृति। पेट में दुखाती है वह भी हित में है क्योंकि वह दर्द निकालती है, बढ़ाती नहीं है। बाद में ज़्यादा जोखिम आएगा उसके बजाय पहले से ही उस जोखिम को निकाल देती है!

इस ज्ञान के बाद खुद प्रकृति का मालिक बनता ही नहीं है न, इसलिए दर्द अपने आप निकल ही जाता है। मालिकी रहे, तब तक वह कम नहीं होता। जब मालिकी नहीं रहे तो निकल जाता है सभी कुछ। प्रकृति शुद्धता को भजती जाती है। जब तक मालिकी रहे, तब तक प्रकृति खुद, अपना कार्य नहीं कर सकती। मालिक दखल किए बगैर रहता नहीं है न? मालिक दखल करता है?

प्रश्नकर्ता : हाँ, पकड़े रखता है, मालिक बनकर।

दादाश्री : छेड़ता है, छेड़ता! उसका इलाज करवाता है, फलाना करवाता है, छेड़-छाड़ हो जाती है। वर्ना यदि कभी इसमें दखल नहीं करो तो प्रकृति शुद्ध ही होती जाएगी। प्रकृति का स्वभाव ही है शुद्ध होने का, लेकिन अगर दखल नहीं करेंगे तो। लेकिन अज्ञानी तो दखल किए बगैर रहता ही नहीं न! आप नहीं करते लेकिन अज्ञानी तो करता है न? 'मुझे हो गया' कहा कि और भी ज़्यादा बढ़ जाता है। 'मुझे हो गया' कहा कि बढ़ा।

कर्म उपद्रवी और प्रकृति निरुपद्रवी

प्रश्नकर्ता : अर्थात् ऐसा कहा जा सकता है कि खुद की प्रकृति उसका बचाव करती है, आधार देती है।

दादाश्री : वह तो स्वभाव है। उसमें तो, अगर कभी यदि अपनी दखलंदाज़ी न रही हो तो फिर प्रकृति तो अपने आप रिपेयर कर ही देती है। प्रकृति का स्वभाव निरुपद्रवी है। कोई भी उपद्रव होने लगे तो वह बंद कर देती है क्योंकि अपने कर्म के उदय की वजह से उपद्रवी हो जाती है यदि अहंकार करे तो। बाकी प्रकृति का स्वभाव निरुपद्रवी है। हो चुके उपद्रव को ढंक देती है तुरंत ही।

प्रश्नकर्ता : इसका मतलब यह है कि जो *पूरण* किया हुआ है उसका अपने आप *गलन* होता ही रहेगा।

दादाश्री : होता ही रहता है, लेकिन प्रकृति निरुपद्रवी होती है। उपद्रव अपने कर्मों की वजह से है। फिर अगर यहाँ पर चोट लग जाए तो प्रकृति उसे ढँक देने की शुरुआत कर देती है तुरंत ही!

प्रश्नकर्ता : चोट लगने के बाद तुरंत ही हीलिंग प्रोसेस शुरू हो जाती है।

दादाश्री : तुरंत ही, सारी मशीनरी तैयार। यह इस म्युनिसिपालिटी में भी ऐसा होता है, किसी जगह पर नुकसान हुआ कि म्युनिसिपालिटी की सारी मशीनरी वहाँ पर लग जाती है और यह भी ऐसी ही है लेकिन यह अक्सीरहै और वह तो सारा रिश्वतवाला हिसाब है। अंदर थोड़ा बहुत हो जाए या न भी हो। किसी के वहाँ रोड़ी डालनी होती है लेकिन किसी और के वहाँ डाल आता है, ऐसा सब है। जबकि यह तो अक्सीर।

प्रश्नकर्ता : इसमें जो आपने उपद्रवी कहा है, तो वह कैसा उपद्रव है?

दादाश्री : किसी को अगर साइकल से टकराकर चोट लग गई, पैर में चीरा लग गया, तो ये सब उपद्रव कर्म के उदय की वजह से हैं लेकिन उसका खुद का स्वभाव निरुपद्रवी है, इसलिए ढंक देती है, घाव भर देती है। हुआ कि तुरंत ही। खून वगैरह सबकुछ बंद कर देती है तुरंत ही।

प्रश्नकर्ता : यह तो आज खुलासा हुआ कि ये डॉक्टर भी ऐसा कहते हैं कि जो घाव लगा है, हम उसे नहीं भरते। भरती तो कुदरत ही है लेकिन हम तो मात्र उसे साफ करते हैं।

दादाश्री : वे साफ ही करते हैं, हेल्प करते हैं, कुदरत की हेल्प करते हैं।

[1.6] क्या प्रकृति पर प्रभुत्व प्राप्त किया जा सकता है?

काबू करना गुनाह है

प्रश्नकर्ता : प्रकृति को काबू में किस तरह लाया जा सकता है?

दादाश्री : प्रकृति को काबू में लेने जाना गुनाह है क्योंकि प्रकृति तो परिणाम है। परिणाम को काबू में नहीं लिया जा सकता। कॉज़ेज़ को काबू में लिया जा सकता है। कॉज़ेज़ अपने हाथ में होते हैं, परिणाम हाथ में नहीं होते। अर्थात् पूरी प्रक्रृति परिणाम स्वरूपी है। जैसे कि स्कूल, कॉलेज में रिज़ल्ट देते हैं, उस रिज़ल्ट को काबू में लेने जाएँ तो? परीक्षा को काबू में लिया जा सकता है। यह फर्क तुझे समझ में आया पूरी तरह से? यह प्रकृति परिणाम स्वरूप है, ऐसा समझ में आता है? हाँ, कॉज़ेज़ बंद किए जा सकते हैं।

क्रोध-मान-माया-लोभ में बदलाव हो सकता है। जो कॉज़ेज़ हैं उनमें बदलाव हो सकता है। कॉज़ेज़ में बदलाव होने से प्रकृति मंद हो जाती है। अर्थात् रंग-रूप बदल जाते हैं। प्रकृति अपना काम करेगी लेकिन रंग बदल जाते हैं अर्थात् हल्के पड़ जाते हैं। इससे मन में ऐसा लगता है कि प्रकृति भी बदल गई। नहीं, बदलती नहीं है! इफेक्ट है। इफेक्ट कैसे बदल सकता है? यदि इफेक्ट बदल सकते तब तो भगवान महावीर को इफेक्ट भोगने ही नहीं पड़ते! कान में कीलें लगवाने को क्यों रहते? कितनी सुंदर खोज है यह इफेक्ट की!

प्रकृति को हमें पहचानना चाहिए कि यह गुलाब है, गुलाब क्या अपने वश में आ सकता है? काँटे नहीं चुभें ऐसा कर सकता है? हमें संभालकर काम निकाल लेना है

उससे, तब प्रकृति वश में हो सकती है। गुलाब कब वश में आता है? काँटे नहीं लगें उस तरह संभालकर हम फूल ले लें, तब गुलाब वश में आता है। उसी तरह से, हम यह कहना चाहते हैं। वर्ना गुलाब क्या कभी बदलेगा? वह तो आपने हाथ डाला कि काँटा लगेगा ही। काँटा लगता है न? मुझे लगता है माली को छोड़ देते होंगे! नहीं? माली को भी नहीं छोड़ते, जो उन्हें सींचता है? किसी को नहीं छोड़ता?

अनटाइमली बम पर कंट्रोल?

प्रश्नकर्ता : हमें इतने साल हो गए ज्ञान लिए, फिर भी अभी तक प्रकृति अपनी भूमिका निभाए (काम किए) बगैर क्यों नहीं, रहती?

दादाश्री : यह प्रकृति तो भूमिका निभाएगी ही न! प्रकृति क्या है, वह नहीं समझना चाहिए? प्रकृति अर्थात् अनटाइमली बम। कब फूट जाए, वह कहा नहीं जा सकता! फूटेगी तो अवश्य। वह खुद के काबू में नहीं है!

प्रश्नकर्ता : लेकिन दादा, अभी भी संयम क्यों नहीं आता?

दादाश्री : लेकिन आपके काबू में नहीं है। फिर भी ऐसा बोलने की ज़रूरत नहीं है। उसे कंट्रोल करने जाओगे तो मूर्ख बनोगे। उसे कंट्रोल नहीं करोगे तो और ज़्यादा मूर्ख बनोगे। अर्थात् बात को समझने की ज़रूरत है हमें। समझेंगे तभी बात बनेगी। समझना अर्थात् क्या कि प्रकृति को जो होता रहता है, उसे देखते रहना है।

प्रश्नकर्ता : हमें अगर कोई कुछ अपमानजनक बात कह दे तब इतने सालों बाद भी, हमें संयम नहीं रहता तो इसका अर्थ ही क्या है?

दादाश्री : उसमें तो अंदर प्रकृति ज़ोर से आवाज़ भी कर सकती है। दस सालों से वह धीरे से बोल रही थी और उस दिन तो आवाज़ तेज़ हो जाती है क्योंकि अंदर बारूद ज़्यादा भर गया है, इसलिए हमें कोई झंझट नहीं करनी है। उसे हम जुदा 'देख' सकते हैं या नहीं, इतना ही समझ लेने की ज़रूरत रहती है। प्रकृति को जुदा देखें तो परेशानी नहीं है। देखा अर्थात् आप मुक्त।

हमें कोई डाँटे, उस समय क्या हम अलग नहीं रहते होंगे? मान दे उस घड़ी भी अलग रहते हैं और डाँटे उस घड़ी भी अलग रहते हैं।

प्रश्नकर्ता : हम अलग नहीं रह सकते हैं उस घड़ी। हमें कोई डाँटें तो सामने जवाब दे देते हैं।

दादाश्री : लेकिन वहाँ पर भी आपको यह 'देखना' है और उसके बाद आपका ध्यान ऐसा होता जाएगा, धीरे-धीरे। इस मार्ग पर हमारे साथ भी ऐसा ही होता था लेकिन अब यह होने लगा है। अब आपके साथ भी ऐसा हो रहा है, तो उसमें से अब धीरे-धीरे यह भी होगा। यानी कि मार्ग पर आ रहे हो।

प्रश्नकर्ता : तो इस जन्म में भी ऐसा ही रहनेवाला है?

दादाश्री : शायद बाद के जीवन में कुछ कम भी हो जाए। यह तो अलग-अलग रहता है कि किसका कैसा माल पड़ा है! *पुद्गल* अर्थात् *पूरण* किया हुआ *गलन* होता है। नया *पूरण* नहीं होता है लेकिन जो *गलन* हो रहा है, उसे देखा करो।

प्रश्नकर्ता : ज्ञान के इतने साल हो चुके तो अपने में प्रकृति के सामने इतना संयम आ ही जाना चाहिए न?

दादाश्री : वह ठीक है लेकिन अगर यदि दादा नहीं मिलें होते तो क्या दशा होती?

प्रश्नकर्ता : ओहोहो! उसकी तो फिर बात ही करने जैसी नहीं है!

दादाश्री : तो फिर, ऐसी बात करते हो! कितने महल तोड़ दे ऐसी शक्ति! हाँ! फिर इसमें जहाँ विरोधाभास लगे, वहाँ पर आप संभालकर काम लो। प्रकृति तो मशीन है और मशीनरी के साथ ऐसे *आड़ाई* (अहंकार का टेढ़ापन) कैसे की जा सकती है? मशीन से अगर ऐसा कहें, उस गियर से कि 'देख मैं ऊँगली लगा रहा हूँ, मैंने तुझे बनाया है। तू मेरी ऊँगली के बीच में मत आना!' लेकिन वह तो काट ही डालेगी। फिर चाहे वह हमने बनाई हो या किसी और ने क्योंकि मिकेनिकल एडजस्टमेन्ट है। यह प्रकृति मिकेनिकल है अत:

हमें दादा से ऐसा सीख लेना है, तो वह मिकेनिकल एडजस्टमेन्ट ढीला पड़ जाएगा। हो सकता है या नहीं हो सकता ऐसा? हमारे पास से एक बार कला सीख जाओ। यह बोधकला अर्थात् अङ्कहसक कला है, हिंसक कला नहीं है। हाँ, मोक्ष में ले जाए ऐसी है। अत: अब यह जन्म बिगाड़ना मत!

ज्ञान का परिणाम इस जन्म में या आगे जाकर?

प्रश्नकर्ता : अपने एक महात्मा हैं, उन्होंने ज्ञान लिया है और अब अलौकिक के भाव करते हैं, होते हैं, तो उस अलौकिक के भावों का परिणाम अभी मिलेगा या आगे जाकर मिलेगा?

दादाश्री : वह अभी भी मिलेगा और आगे जाकर भी मिलेगा, दोनों ही मिलेंगे। भाव का परिणाम फ्रेश भी मिलता है और आगे जाकर भी मिलता है। आगे जाकर वह प्रकृति के बनने से होता है और अभी उसकी लाइट का प्रकाश मिलता है हमें। हमने ज्ञान दिया उसके बाद इंसान क्या ठंडा (शांत) नहीं हो जाता?

प्रश्नकर्ता : बहुत, हाँ!

दादाश्री : वह भाव का परिणाम है।

प्रश्नकर्ता : पूरा रस (की तीव्रता) भी बदल जाता है।

दादाश्री : वह सबकुछ बदल जाता है। हल्का पड़ जाता है। कितने प्रकार से मुक्त हो गए हो! अब मोक्ष की भी जल्दबाज़ी करने की क्या ज़रूरत है? जिसकी जो प्रकृति है, वह प्रकृति छोड़ेगी नहीं। उस प्रकृति को भोगना ही पड़ेगा। समझ लेना है कि इस प्रकृति में मुझे क्या करना है। इतना ही समझ लेने की ज़रूरत है। प्रकृति बाँधकर लाए हैं। बेहद बाँधकर लाए हैं और काफी कुछ छूट गई है। ये तो बेहद बाँधकर लाए हैं। एकभी दिशा की गठरी बाकी नहीं रही। सभी गठरियाँ हैं, हर एक दिशा की!

निग्रह किम् करिष्यति?

प्रकृति का कुछ भाग चेन्जेबल है और कुछ भाग चेन्जेबल है ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : कौन सा भाग चेन्जेबल है और जो चेन्जेबल नहीं है वह कौन सा भाग है?

दादाश्री : काफी कुछ भाग चेन्जेबल है ही नहीं। वह तो कुछ ही भाग चेन्जेबल है और जो चेन्जेबल दिखाई देता है, वह प्रकृति चेन्ज नहीं होती, चेन्ज होती हुई दिखती है हमें। वास्तव में तो अंदर वह चेन्ज सहित ही है यह। वह भी प्रकृति है एकप्रकार की। लेकिन लोग क्या कहते हैं कि इससे मेरा चेन्ज हो गया। ऐसा दिखाई देता है उसे। लेकिन वह चेन्ज नहीं होता। अंदर चेन्ज सहित ही है यह! यह तो बहुत समझने जैसा है। बहुत गहरा है यह अक्रम विज्ञान!

प्रश्नकर्ता : यह ज्ञान लेने के बाद प्रकृति चेन्ज होती है?

दादाश्री : ज्ञान लेने से पहले भी नहीं होती है और बाद में भी नहीं होती। ज्ञान के बाद अगर कुछ होती होगी तो कितनी होती है? लेकिन वह तो पहले से ही हो चुकी थी इसलिए चेन्ज होती है। प्रकृति कहीं नई नहीं बनती।

प्रश्नकर्ता : प्रकृति बदली नहीं जा सकती, तो फिर प्रतिकूल प्रकृति या अनुकूल प्रकृति के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए?

दादाश्री : उसे देखना ही है। आप कहो कि, 'ज़्यादा क्यों खा रहे हो ये सब? क्यों इतनी खटाई खा रहे हो?' प्रकृति खा रही होती है, तब आप अलग हो और प्रकृति अलग है। यू आर नोट रिस्पोन्सिबल और अगर बंद करने जाओगे तो उससे रिस्पोन्सिबिलिटी आएगी। कृष्ण भगवान ने कहा है न कि 'निग्रह किम् करिष्यति?' तू कैसे रोक पाएगा? प्रकृति का निग्रह किस तरह कर सकेगा? प्रकृति डिस्चार्ज चीज़ है। मैंने तो ऐसा सिद्धांत लिखकर दिया है कि कुछ पढ़ना ही ना पड़े!

प्रश्नकर्ता : हाँ, ऐसा लिख दिया है।

दादाश्री : वह सिद्धांत भी हृदय में ही रहता है और प्रोब्लम सोल्व कर दे तो कोई भी उलझन खड़ी न हो।

प्रश्नकर्ता : प्रकृति का निग्रह नहीं किया जा सकता, वह एक बात है, तो उसमें इस प्रकृति को क्या समझना चाहिए? इसे जड़ समझें?

दादाश्री : परिणाम नहीं बदल सकते। इसमें जड़-चेतन का सवाल ही नहीं रहता न! कॉलेज में परीक्षा दे दी, तो उसके परिणाम में क्या कोई परिवर्तन हो सकता है? यहाँ पर परिणाम इन लोगों के हाथ में होता है, तब भी ज़्यादा कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। वहाँ तो बगैर खटपटवाला है न! परिणाम अर्थात् इफेक्ट, कोई बदलाव नहीं हो सकता। प्रकृति ये सारे इफेक्ट ही दे रही है। अत: खुद कुछ भी बदल नहीं सकता। अत: संक्षेप में ऐसा कह दिया था कि 'निग्रह किम् करिष्यति', इन साधुओं को अच्छी नहीं लगती। ज्ञानी इसे समझ गए कि प्रकृति का निग्रह नहीं किया जा सकता, प्रकृति को देखना है। उसके बजाय लोग प्रकृति का निग्रह करने में पड़ गए!

प्रकृति की आदतें नहीं छूटतीं जल्दी

प्रश्नकर्ता : कुछ खास प्रकार की प्रकृति होती ही है इंसान की या फिर उसे आदत पड़ चुकी होती है, ऐसी प्रकृति होती है। वह जल्दी से नहीं छूटती। क्या ऐसा है?

दादाश्री : नहीं छूटती। आदत पड़ गई हो तो वह प्रकृति बहुत समय बाद छूटती है।

प्रश्नकर्ता : तो फिर यह जल्दी छूटे उसके लिए क्या करना चाहिए?

दादाश्री : जितनी ज़ोरदार होगी, जितना फॉर्स होगा उतने समय तक चलेगी। यह तो बॉल है न, तो इसे अगर इतनी ऊँचाई पर से ऐसे फेंके तो क्या तुरंत बंद हो जाएगी? नहीं! इसके जैसा है।

व्यसनी प्रकृति के सामने.....

प्रश्नकर्ता : हम कहते हैं कि 'प्रकृति का एक भी अंश मुझ में नहीं ꠰और मेरा एक भी अंश प्रकृति में नहीं हैं,' तो फिर प्रकृति बदलती क्यों नहीं है ज्ञान लेने के बाद?

दादाश्री : बदलेगी कैसे? जो प्रकृति लेकर आया है वह तो रहेगी ही न! इस ज्ञान से तो मूलत: कॉज़ेज़वाली प्रकृति बदलती है और इफेक्टिव (प्रकृति) रह जाती है। ऐसी कोई उलझन खड़ी नहीं करती। जैसी फिल्म तैयार हो चुकी है, एक्ज़ेक्ट उसी रूप में निकलती है। सिर्फ उसमें से जो कॉज़ेज़ भाग है वह हल्का पड़ जाता है। यानी कि कुदरत की तो बहुत सुदंर व्यवस्था है!

प्रश्नकर्ता : चाहे कैसे भी संयोग आएँ लेकिन क्या प्रकृति कभी भी नहीं बदलती?

दादाश्री : जो कभी भी नहीं बदले, उसी को प्रकृति कहते हैं। वह बदलती कब है कि जब ज्ञानीपुरुष पापों को भस्मीभूत कर देते हैं, तब उसका कुछ भाग कम हो जाता है। अत: इस ज्ञान के बाद आपकी प्रकृति बदली हुई कही जाएगी, वर्ना प्रकृति बदलती नहीं है। इसीलिए लोग कहते हैं कि दादा लोगों की प्रकृति बदल देते हैं। कुछ तो खूब शराब पीनेवाले, मांसाहार करनेवाले लोग होते हैं लेकिन दूसरे ही दिन से सब बंद!

प्रश्नकर्ता : किसी को अगर शराब और मांस छोड़ने हों तो क्या करना चाहिए?

दादाश्री : शराब छूटना ज़रूर महत्वपूर्ण है और मांस नहीं खाए तो वह उत्तम है क्योंकि ये तो ज़ोखिमवाली चीज़ें हैं लेकिन जब मैं समझाता हूँ तब पता चलता है कि यह ज़ोखिम है। तब फिर छोड़ देता है। वह तो, आपकी प्रकृति में तो नहीं है इसलिए खा नहीं सकते। बल्कि हमें तो ऊपर से इतना कहना है कि 'मैं नहीं खाता हूँ' बस इतना ही है। अत: 'मैं नहीं खाता हूँ' शब्द कहने में हर्ज नहीं है लेकिन उसके पीछे ऐसा नहीं होना चाहिए कि 'मैं इनसे ज़्यादा समझदार हूँ'। ये भाई पहले ऐसा समझते थे कि 'मैं इनसे कुछ ज़रा ज़्यादा समझदार हूँ।' अब निकल गई वह समझदारी?!

प्रश्नकर्ता : निकल गई लेकिन अभी भी फिर से सिगरेट के विचार घेर लेते हैं।

दादाश्री : प्रकृति छोड़ती नहीं है न, उसे तो समझा-बुझाकर और पद्धतिपूर्वक इस तरह से छोड़ना है, ताकि वे परमाणु शरीर के अंदर न रहें। उसकी जड़ भी नहीं रहनी चाहिए। एक झटके से छोड़ दें तो जड़ वगैरह सब रह जाता है अंदर।

दृढ़ भावना सुधारे नई प्रकृति

प्रश्नकर्ता : स्वभाव में जो जड़ता है, उससे उम्र बढने की वजह से दृढ़ हो गया है। कोई क्रोधी है, कोई लोभी है अत: जब तक कोई व्यक्ति स्वभाव सुधारने का प्रयत्न नहीं करे, तब तक उससे कभी भी सत्संग नहीं हो सकता।

दादाश्री : ऐसा है न, प्रकृति स्वभाव, पहले कम उम्र में आपका जो स्वभाव था अभी उसमें कितना बदलाव हुआ है?

प्रश्नकर्ता : काफी कुछ हो गया है।

दादाश्री : तो वह उसके डेवेलपमेन्ट के आधार पर हो ही जाएगा। अगर हम करने जाएँगे तो नहीं होगा। जैसे-जैसे संयोग बदलते जाते हैं वैसे-वैसे प्रकृति स्वभाव बदलता जाता है। बाकी प्रकृति छोड़ती नहीं है। प्रकृति के स्वभाव को हम बदल नहीं सकते। वह तो संयोग इसे बदलते रहते हैं। वैसे संयोग मिलने चाहिए। अहंकारी प्रकृति हो तो उसे जब देखो तब अहंकार में ही रहती है और लोभी प्रकृति हो तो जन्म से अंतिम स्टेशन तक जाए तब तक भी उसमें लोभ रहता है। अंतिम स्टेशन पर जाने के लिए लकड़ियाँ लाकर रखी हों तो वह कहता है कि 'भाई, वो वाली जो लकड़ियाँ हैं न, मेरे लिए उतने का ही उपयोग करना। बाकी की वे सब अपने घर के लिए हैं।' ऐसा बिल्कुल साफ-साफ कहकर मरता है क्योंकि उसे लोभ है न! अर्थात् वह उसका प्रकृति स्वभाव है।

प्रश्नकर्ता : कम हो सकती है?

दादाश्री : अगर कम हो जाए तो भी उसे कम करनेवाले आप नहीं हो। वह उसके पुरुषार्थ से नहीं होती, वह साइन्टिफिक समकमस्टेन्शियल एविडेन्स के आधार पर कम होती है या फिर बढ़ भी जाए एविडेन्स के आधार पर वह बढ़ भी सकती है या कम भी हो सकती है। यह प्रकृति अपनी सत्ता में नहीं है इसलिए आपको तो यही देखना है कि 'ओहोहो! इतनी लोभी प्रकृति है तो पूरी ज़िंदगी यह प्रकृति छोड़ेगी नहीं।' अत: हमें क्या भावना करनी चाहिए कि 'जितना हो सके उतना, मेरी जो कुछ भी जायदाद है उसका उपयोग जगत् कल्याण के लिए हो।' ऐसी भावना की जाए तो इस भावना के फल स्वरूप प्रकृति वापस, अगले जन्म में आपका मन बड़ा रहेगा। जबकि यह तो बिगड़ गई है। यह जन्म तो गया लेकिन अब नया तो सुधारो भाई। अत: इस प्रकृति को देखकर आपको नई सुधारनी है। यह आपको सावधान करती है कि अगर पसंद नहीं हो तो नया सुधारो और अगर पसंद हो तो रहने दो। अत: सिर्फ भावना ही करनी है और कुछ नहीं करना है।

एक व्यक्ति ने मुझसे कहा कि मुझे किसी को भी कुचलना नहीं है। मेरे क्या करने से ऐसा हो सकता है कि एक भी जीव मेरी गाड़ी के नीचे नहीं कुचला जाए? तब मैंने कहा, 'निश्चय से भावना कर, निश्चय से कि कभी भी, किसी भी स्थिति में भी यह नहीं होना चाहिए।' उस भावना को इतनी मज़बूत कर दे कि तुझे अंदर हाज़िर रहे फिर तेरे हाथ से कोई नहीं मरेगा।

अत: यह जगत् आपकी भावना का ही फल है। अच्छी भावना के बीज डालोगे तो फल अच्छे मिलेंगे।

किसी भी इंसान को ऐसी इच्छा नहीं होती कि उसकी गाड़ी के नीचे कोई जीव कुचला जाए, फिर भी कुचल जाते हैं। इसका क्या कारण है? तब कितने ही लोगों से पूछें कि, 'आपकी गाड़ी जा रही हो और कोई व्यक्ति एकदम से आ जाए, तो क्या करोगे?' तब उसने कहा, 'क्या कर सकते हैं? वह तो ऐसा हो ही जाएगा।' वही अंदर फल देता है। यह जो दरवाज़ा खुला रखा उसका यह फल आता है। किसी भी संयोग में ऐसा नहीं होना चाहिए, एक बार अगर गाड़ी टूट जाए तो टूट जाए लेकिन कोई मरना तो नहीं ही चाहिए। इतना निश्चय तो होना चाहिए। सब आपका ही है। भगवान ने इसमें दखल नहीं की है। यह सब आपका ही प्रोजेक्शन है।

अब, आप इस प्रकृति को जैसी बाँधना चाहो वैसी बंधती जाएगी। जैसे संस्कार आपको मिलते हैं, उसी अनुसार प्रकृति बंधती है। अत: अगर अच्छे संस्कार में रहोगे तो अच्छी प्रकृति बंधेगी और खराब संस्कार में रहोगे तो खराब बंधेगी। इस दुनिया में अगर सिर्फ संसारी सुख चाहिए, कल्पित सुख, तो आप लोगों को सुख दो, जीवमात्र को सुख दो तो आपको घर बैठे सुख मिलेगा।

इस जन्म में ही स्वभाव बदल सकता है?

प्रश्नकर्ता : दादा, यह स्वभाव प्रकृति का है या अहंकार का है?

दादाश्री : यह प्रकृति का है। अहंकार अंदर आ गया है। प्रकृति अर्थात् स्वभाव। इंसान का एक स्वभाव बन गया है, नक्की हो गया है। स्वभाव में वह उसी अनुसार फल देता है, फिर अन्य किसी प्रकार का फल नहीं देता। अगर उसका रिश्वत नहीं लेने का स्वभाव होगा तो भले ही उसके साथ कितनी भी झंझट करो फिर भी नहीं लेगा। ली हुई भी वापस दे देगा।

प्रश्नकर्ता : वह स्वभाव वापस बदलता है क्या?

दादाश्री : उसका जितना भी स्वभाव है, उसके अंदर जितने-जितने डिविज़न हैं, उनमें से एकाध डिविज़न खत्म होने को हो तब वह बदल जाता है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन क्या वह अपने आप ही बदल जाता है?

दादाश्री : अपने आप बदल जाता है।

प्रश्नकर्ता : खुद प्रकृति को जानता है कि प्रकृति ऐसी है। उसके बाद अगर उसे स्वभाव बदलने का पुरुषार्थ करना हो तो हो सकता है?

दादाश्री : अन्य कोई पुरुषार्थ होता ही नहीं है। जो अंदर हो रहा है न, वही पुरुषार्थ है। उसके अंदर ऐसा हो रहा हो, होता ही रहता है। 'पुरुषार्थ किया' वह तो हम सिर्फ

शब्दों में बताने के लिए कहते हैं। वर्ना जब पुरुषार्थ हो तब हमें जानना है कि इस पुरुषार्थ से कुछ तो अच्छा होगा।

प्रश्नकर्ता : वह भी उसके अंदर गुथा हुआ होता ही है।

दादाश्री : हाँ। यह कहना कि 'पुरुषार्थ करते हैं' यह सब भी अहंकार है एक तरह का।

प्रश्नकर्ता : अत: जब संयोग मिलते हैं, तब यह प्रकृति अपना स्वभाव बताती है। वापस कोई और संयोग मिल जाएँ तब वैसा बताती है। ऐसे करते-करते खत्म हो जाती है, ऐसा है?

दादाश्री : हाँ, अगर उसका एन्ड आ चुका हो तो खत्म हो जाती है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन उसकी जो *चीकणी* (गाढ़) प्रकृति होती है, उसे भी संयोग मिलेंगे और वह प्रकृति ओपन होगी ही। उस समय क्या वह प्रकृति उतनी घिस जाती है?

दादाश्री : घिसती है न! घिसती ही जाती है, नियम ही ऐसा है!

प्रश्नकर्ता : यह ज्ञान लिया, लेकिन प्रकृति का स्वभाव तो बदलेगा ही नहीं न?

दादाश्री : बदलता है न! उसके कम-ज़्यादा परिणाम रहते ही हैं अंदर। अत: किसी में सहज रूप से बदल जाती है, बंद हो जाती है यह प्रकृति क्योंकि वह खत्म होने आई है जबकि वह समझता है कि मैंने पुरुषार्थ किया।

यह प्रकृति कोई ऐसी नहीं है कि ऐसी ही रहती है, उसे जितना समझाएँ उस अनुसार चलती है। मूल प्रकृति बन चुकी है, पक्की हो चुकी है। उसके बाद और कुछ समझाया जाए तो बदल जाती है, लेकिन अंदर जो उसके बदलने का स्कोप है उतने में ही बदलती है, उससे आगे नहीं बदल सकती। आपने प्रकृति में ऐसा तय किया हो कि मुझे संतपुरुषों की सेवा करनी है, तो फिर कोई भी संतपुरुष आएँ तो आप सेवा करते हो। अत: प्रकृति बदलती है यानी उस अनुसार तय किया हुआ ही होता है। ऐसे एक-एक

पोइन्ट टु पोइन्ट नक्की नहीं किया है कि ऐसा ही होना चाहिए। वह तो, जिसने पिछले जन्म में ऐसा भाव किया हो कि ज्ञान के अनुसार ही प्रकृति रखनी है, तो उसे कोई ऐसा ज्ञान बताए तो उस अनुसार प्रकृति बदल जाती है। जिसने ऐसा भाव किया हुआ हो, उसकी बदल जाती है।

बदले प्रकृति ज्ञान से

प्रश्नकर्ता : इंसान की प्रकृति कब बदलती है?

दादाश्री : मरने पर भी नहीं बदलती। प्रकृति कभी भी नहीं बदलती। जितना ज्ञान का प्रमाण उत्पन्न होता है, जितनी समझ उत्पन्न होती है, उतनी ही प्रकृति बदलती जाती है। प्रकृति ज्ञान के अनुसार बदलती है लेकिन फिर भी वह रहती है प्रकृति की प्रकृति ही। प्रकृति से बाहर नहीं निकल सकता इंसान। इस जन्म की प्रकृति बदल नहीं सकती बिल्कुल भी। उसके अंदर जितना ज्ञान उत्पन्न हुआ है न, उस ज्ञान के आधार पर अगले जन्म में बदलती है वापस। वापस उसमें जितना ज्ञान उत्पन्न हुआ, वह उसके बादवाले जन्म में बदलती है। ऐसे करते-करते स्टेप चढ़ता जाता है लेकिन प्रकृति से बाहर नहीं निकल सकता। साधु-सन्यासी, संत-वंत वगैरह सभी सात्विक प्रकृति में होते हैं।

प्रकृति से बाहर नहीं निकल सकते और जो प्रकृति से बाहर निकले हैं वे या तो ज्ञानीपुरुष या फिर भगवान कहलाते हैं, बस!

प्रश्नकर्ता : ज्ञानीपुरुष प्रकृति बदल सकते हैं?

दादाश्री : प्रकृति नहीं बदली जा सकती, ज्ञान बदला जा सकता है। मकान बदला जा सकता है, घर बदला जा सकता है लेकिन प्रकृति नहीं बदली जा सकती। आप प्रकृति के घर में रह रहे थे, वहाँ से आपको आपके खुद के घर में बिठा दिया। प्रकृति तो अपना काम करती ही रहेगी लेकिन हमारे साथ बैठाने से प्रकृति एकदम बदल जाती है।

हम जिसे ज्ञान देते हैं, दस–पंद्रह साल में उसकी प्रकृति खत्म हो जाती है। प्रकृति में जो विरोधाभास लगता है, वह उसकी बाद की लाइफ में नहीं रहता। फिर जैसी लोगों को अनुकूल आए, प्रकृति वैसी हो जाती है। प्रकृति सौम्य हो जाती है क्योंकि पहलेवाली प्रकृति खाली हो जाती है, जबकि अज्ञानी में तो प्रकृति खाली होती है और ऊपर से भरता जाता है। अत: एक तरफ प्रकृति खाली होती है और दूसरी तरफ वह भरता जाता है, दोनों साथ में हैं। इनमें (महात्माओं में) नया नहीं भरता। सिर्फ खर्च ही होता है, इसलिए खत्म हो जाती है फिर।

ज्ञान के बाद में *संवर* (कर्म का चार्ज होना बंद हो जाना) होता है और *निर्जरा* होती है इसलिए उन्हें अन्य कुछ नया नहीं मिलता, जबकि, इनमें तो बंध (कर्मबंधन) और *निर्जरा* दोनों साथ में हैं। अत: वापस बंध पड़ता जाता है। वह सारी अज्ञानी की दशा है, इसलिए मरते दम तक जाती नहीं है। प्रकृति बढ़ती है बल्कि।

प्रश्नकर्ता : खुद जानने की कोशिष करे और निकाले तभी खुद की प्रकृति जाती है?

दादाश्री : अज्ञानी खुद किस तरह से निकाल सकेगा? प्रकृति से खुद बंधा हुआ है। प्रकृति की समझ ही नहीं है कि मेरी यह प्रकृति गलत है क्योंकि जो अहंकार है वह गलत प्रकृति को भी सही मानता है। अहंकार हमेशा ही अंधा होता है इसलिए उसे सत्य–असत्य का भान ही नहीं रहता और उसकी जो बुद्धि है वह उसका दुरूपयोग करती है। अहंकार से कहती, 'ठीक है, आप जो कह रहे हो, वह ठीक ही है।' इसलिए फिर अहंकार वापस शुरू हो जाता है अंधा होकर, इसलिए उसे खुद का एकभी दोष नहीं दिखता।

प्रकृति को देखें किस तरह?

प्रश्नकर्ता : आपने कहा है कि प्रकृति को 'देखना' ही है और अब यह बदल नहीं सकती। फिर तो कोई प्रश्न ही नहीं रहा।

दादाश्री : प्रकृति को 'देखना' है अर्थात् पतंग उड़ानेवाले को तू देख। पतंग उड़ानेवाले को तू दूर रहकर 'देखता' रह और तू कहना ज़रूर कि 'ओहोहो, चंदूभाई आपने तो सिर्फ रौब से ही चढ़ा दी।' इसे 'देखना' कहते हैं, प्रकृति को 'जानना' कहते हैं। तू ऐसा करता है? चंदूभाई खाएँ उसे तू देखता रहे कि ओहोहो, मिर्च खूब खाता है, फलानी दाल नहीं खाता, जलेबी बहुत खाता है!

डिकंट्रोल्ड प्रकृति के सामने......

प्रश्नकर्ता : अगर प्रकृति बगैर कंट्रोल की हो तो?

दादाश्री : लेकिन वह तो अपने आप बगैर कंट्रोल की प्रकृति ही उसे फल दे देगी, सीधे ही। उसे हमें सिखाने नहीं जाना पड़ेगा। अत: अगर कंट्रोलवाली प्रकृति हो तो उसे सुख ही मिलता है और बगैर कंट्रोलवाली प्रकृति होती है तो अपने आप ही उसका फल वहीं के वहीं मिल ही जाता है। पुलिसवाले के साथ बगैर कंट्रोल की प्रकृति करके देखना। वहीं के वहीं फल मिल ही जाएगा। जहाँ देखो वहाँ। घर में भी, सभी जगह। अर्थात् बगैर कंट्रोलवाली हो, तो उसे वहीं के वहीं फल मिल ही जाता है अपने आप ही, अंदर ही फल मिल जाता है। मिले बिना रहता ही नहीं। बगैर कंट्रोल के दौड़-भाग करता है। अंत में ठोकर खाकर ठिकाने पर आ जाता है।

प्रश्नकर्ता : मुद्दे में पूछना यह है कि कंट्रोल हो तो अच्छा है या नहीं?

दादाश्री : कंट्रोल हो तो उत्तम कहलाएगा। बगैर कंट्रोलवाली हो तो उसे खुद को मार पड़ती ही है। कंट्रोल में रहे, उसके जैसा तो कुछ भी नहीं है और ज्ञान के आधार पर प्रकृति कंट्रोल में रह सकती है।

प्रश्नकर्ता : ज्ञान से कंट्रोल रहना अर्थात् सहज रूप से, ऐसा?

दादाश्री : सहज शब्द हो ही नहीं सकता न! पुरुषार्थ से रहता है। जिसे सहज रूप से रहता हो, उसे तो फिर आगे कुछ करने का रहता ही नहीं न! खत्म ही हो गया, काम पूरा हो गया।

प्रकृति का कर तू समभाव से *निकाल*

जो माफिक आए न, हम वह खाते हैं। फिर भी प्रकृति जाती नहीं है न। हम कहें फिर भी, प्रकृति नहीं जाती।

प्रश्नकर्ता : अगर प्रकृति बदलनी हो तो बदली जा सकती है?

दादाश्री : प्रकृति नहीं बदलती और जो बदलती है न, वह इसीलिए बदलती है कि वह बदलनेवाली ही थी।

प्रश्नकर्ता : इसका अर्थ यह है कि प्रकृति को बदला जा सकता है?

दादाश्री : बिल्कुल भी नहीं बदली जा सकती। यह ज्ञान मिलने के बाद समभाव से *निकाल* किया जा सकता है। प्रकृति बदली नहीं जा सकती। अगर प्रकृति बदली जा सके तब तो कल्याण (!) ही हो जाए न! बदलनेवाला होना चाहिए न! और बदलनेवाला हुआ तो हो गया! तब तो ज्ञान खत्म हो गया!

ज्ञान से प्रकृति एकदम ढीली

प्रश्नकर्ता : लेकिन दादा, इस ज्ञान से प्रकृति नरम तो पड़ती है न?

दादाश्री : एकदम ढीली हो जाती है क्योंकि अपने ज्ञान की यह लाइट अंदर नहीं जाती है न। आत्मा की हाज़िरी से चलता है यह सब। अब आत्मा है, हाज़िरी भी है लेकिन खुद की लाइट अंदर नहीं जाती है न!

प्रश्नकर्ता : नहीं जाती इसलिए प्रकृति.....

दादाश्री : ढीली हो जाती है। प्रकृति चलती ज़रूर है आत्मा की हाज़िरी से, लेकिन लाइट नहीं जाती।

प्रश्नकर्ता : लाइट अंदर नहीं पहुँचती अर्थात् क्या?

दादाश्री : पावर चला गया है सारा। प्रकृति का पावर पूरा ठंडा पड़ गया है। ढीला पड़ गया है। गुस्सा किया वह सिर्फ प्रकृति है। हम अंदर मना कर रहे होते हैं और प्रकृति गुस्सा कर रही होती है, उसे गुस्सा कहते हैं हम। जब प्रकृति और अहंकार दोनों मिलकर करते हैं तो उसे क्रोध कहते हैं। अत: अहंकार भीतर नहीं जाता। उसमें भी अहंकार नहीं जाता है न! इसमें पावर नहीं है। बगैर पावरवाला क्रोध हो तो वह जला नहीं देता, वह जलन नहीं पहुँचाता।

सजीव और निर्जीव प्रकृति

इस प्रकृति में हमें किस तरह से बरतना चाहिए इतना हम ज्ञान से कर सकते हैं। अपनी दखल नहीं हो तो प्रकृति बहुत काम नहीं कर सकती। प्रकृति कब काम करती है? खुद अंदर एकाकार रहे तभी बहुत फॉर्सवाली होती है। खुद उससे अलग हो गया तो प्रकृति विलय ही होती रहती है निरंतर। निर्जीव हो गई है न! जबकि अहंकारवाली प्रकृति तो सजीव है।

प्रश्नकर्ता : दखल करने से सजीव हो जाती है?

दादाश्री : हाँ, वह तो आड़ापन भी करता है। अंदर भरा हुआ माल है, आड़ापन भी करता है।

प्रश्नकर्ता : तो फिर ज्ञान लेने के बाद प्रकृति सुधर सकती है क्या?

दादाश्री : हल्की हो जाती है। प्रकृति अपना काम किए बगैर तो रहती ही नहीं लेकिन जुदा पड़ सकती है। मृतपाय हो जाती है। ऐसी हो जाती है जैसे उसमें से जीव निकाल लिया हो।

प्रश्नकर्ता : वह मृतप्राय हो चुकी है लेकिन उसका इफेक्ट तो रहेगा ही न?

दादाश्री : इफेक्ट भी जब तक हम कच्चे हैं तभी तक। बाकी, हर एक जीव हावभाव से जीता है। उसमें से भाव निकाल लेना है, तो फिर हाव से रहेगा। 'हावभाव कैसे थे?' पूछते हैं। उसमें भाव अपना और हाव उसका, प्रकृति का!

प्रश्नकर्ता : हाव का अर्थ क्या है?

दादाश्री : भाव के अलावा बाकी का जो कुछ भी है उसका अर्थ है हाव। भाव, वह (व्यवहार) आत्मा का है। बाकी का सारा हाव प्रकृति का। हम जब ज्ञान देते हैं तो उस भाव को निकाल लेते हैं न! फिर अहंकार मृतप्राय रहता है। यानी कि भाव अहंकार खिंच जाता है। द्रव्य अहंकार रहता है उसके बाद। भाव प्रकृति खत्म हो जाती है और द्रव्य प्रकृति रहती है।

प्रश्नकर्ता : दूसरों की नज़रों में तो अपनी प्रकृति वही की वही रही न?

दादाश्री : वह तो कहीं बदलती नहीं है। लेकिन उन्हें ऐसा पता चल जाता है कि इसमें भाव नहीं है। इसलिए बहुत दु:ख नहीं होता सामनेवाले को। भाव रहे, तभी उसे दु:ख होता है। हाव नहीं हो और सिर्फ भाव रहे तो भी बहुत दु:ख होता है।

स्वभाव प्रकृति का और कर्तापन खुद का

पंखे में सिर्फ स्वभाव ही है। बदलता नहीं है यह। चाहे कैसे भी मंत्र फूँकें, तंत्र करें फिर भी कुछ नहीं होता जबकि इन मनुष्यों में तो प्रकृति का स्वभाव और कर्तापन दोनों रहते हैं। यह ज्ञान मिला है, इसलिए फिर कर्तापन निकल जाता है। सिर्फ स्वभाव ही बचा। कर्तापन कम हो जाता है। इसलिए हमें ऐसा लगता है कि 'ओहो! कितना बदलाव हो गया है! इसका स्वभाव बदल गया!'

प्रश्नकर्ता : कर्तापन छूट जाए तो उसके बाद स्वभाव नहीं बदलता?

दादाश्री : नहीं। वह स्वभाव तो फिर धीरे-धीरे खत्म होता जाता है। हम बॉल डालते हैं, उसके जैसा है। ज़रा ऊँची उठती है, फिर उससे कम ऊँची होती है, फिर ऐसे करते-करते बंद हो जाती है। इस ज्ञान के बाद बस, कर्तापनवाला भाग ही बदल जाता है इसलिए हमें ऐसा लगता है कि यह बदल गया है। फिर भी उसका स्वभाव तो बदलता ही नहीं। कर्तापन बदलने से हमें ऐसा लगता है कि स्वभाव में बदलाव आ गया। हम उन सभी को स्वभाव मानते हैं। प्रकृति स्वभाव मानते हैं।

प्रश्नकर्ता : यह ज़रा समझ में नहीं आया। यह क्या कहा आपने?

दादाश्री : कर्तापन ही चला जाता है ज्ञान से, अत: सिर्फ प्रकृति स्वभाव ही रहता है। उससे हम ऐसा मानते और जानते हैं कि यह पहले ऐसा था और अब क्यों बदल गया है? कर्तापन सहित जो स्वभाव था, वह चेन्ज हो गया, इसलिए हमें बदला हुआ लगता है। लेकिन वास्तव में वह बदला हुआ नहीं है। इसमें से कर्तापन का कुछ भाग खत्म हो गया ज्ञान से।

ये जो बच्चे होते हैं न, उनमें सिर्फ स्वभाव ही है और बड़ा होने के बाद स्वभाव कर्तापन सहित होता है। (ज्ञान के बाद) उसका कर्तापन चला जाता है तो सिर्फ स्वभाव ही बचता है। तो हम मन में समझते हैं कि इसका स्वभाव बदल गया है। जो कर्तापन सहित है, उसे हम स्वभाव कहते हैं। वह बदल गया इसलिए फिर मन में ऐसा लगता है कि इसमें यह बदलाव हो गया है।

प्रश्नकर्ता : यानी कि कर्तापन जाने के बाद भी मूल प्रकृति स्वभाव तो रहेगा ही?

दादाश्री : वह तो रहेगा ही। उसके बाद प्रकृति डिमोलिश होती जाती है। क्योंकि अन्य आवक (कमाई) नहीं रही। एक बार बॉल को डालने के बाद वह ऐसे डिमोलिश होते-होते बंद हो जाती है। फिर से अगर टप्पा लगाया जाए तो वापस शुरू हो जाती है।

प्रश्नकर्ता : 'कर्तापन का स्वभाव कैसा होता है?' ज़रा उदाहरण देकर समझाइए।

दादाश्री : क्रोध तो इंसान बच्चे पर भी करता है और बाहर दुश्मन पर भी करता है। उस क्रोध और कर्तापना का स्वभाव कैसा है, बच्चे की ओर? बच्चे के हित के लिए है। जबकि दुश्मन के साथ खुद के हित के लिए है। अत: जब वह बच्चे के हित के लिए क्रोध करता है, वह पुण्य बंधन करवाता है। बच्चे का भला हो, उसके लिए बाप खुद अपने आपको जलाता है। क्रोध अर्थात् जलाना। कर्तापने का स्वभाव खत्म हो जाने पर सिर्फ क्रोध ही रह जाता है।

कर्तापन का वह सारा स्वभाव खत्म हो जाए, फिर भी क्रोध होता है। वह भी निर्जीव चीज़ है। यह क्रोध निर्जीव है। वह तो जब कर्तापना सहित होता है, तभी जीवंत कहलाता है। ज्ञान के बाद आपका सारा कर्तापन खत्म हो जाता है न, इसलिए यह क्रोध दु:खदाई रहता ही नहीं। चींटी-मच्छरों के काटने को काटना नहीं कहते। बिच्छू काटे, तब उसे काटना कहते हैं। ये चींटी-मच्छर जैसा बचा है अब! बिच्छू जैसा काटना चला गया है। सभी गाँठें अहंकार की ही हैं, पागलपन। उसे दादा खत्म कर देते हैं न!

दिखाई दे तो 'हम' बॉस और न दिखाई दे तो 'प्रकृति' बॉस

प्रश्नकर्ता : मान लीजिए कि किसी की प्रकृति हमेशा ही *डखोडखल* (दखलंदाज़ी) करनेवाली हो, तो 'मेरी प्रकृति ऐसी है' ऐसा करके उसका रक्षण तो नहीं करना चाहिए न?

दादाश्री : रक्षण करे उसे भी हमें जानना चाहिए। रक्षण करनेवाली भी प्रकृति है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन पुरुषार्थ में रहने के लिए हमें इस प्रकृति को घोड़ा बनाकर लगाम कसकर उस पर बैठना चाहिए। एक बार मना किया, दूसरी बार मना किया तो हमें समझ नहीं जाना चाहिए कि यह प्रकृति अपने पर सवार हो गई है! तो हमें प्रकृति पर कैसे सवार होना है?

दादाश्री : जब तक हमें प्रकृति दिखाई देती है, तब तक हम सवार है, और अगर नहीं दिखाई दे तो वह हम पर सवार हैं।

प्रश्नकर्ता : इसका अर्थ यह हुआ कि जब इस खराब प्रकृति को देखते हैं, तब वास्तव में हम उस पर सवार ही हैं! मान लीजिए कि मेरी प्रकृति शंका करने की है, तो ऐसे संयोग खड़े होते हैं कि शंका होने लगी, तो वह प्रकृति तो बिल्कुल खराब है क्योंकि शंका तो होनी ही नहीं चाहिए। तब ऐसे समय में इस प्रकृति का क्या करना चाहिए? उसे सीधे रास्ते पर लाने के लिए क्या करना चाहिए?

दादाश्री : आपको सीधा हो जाना है।

प्रश्नकर्ता : यानी कि वह जो भी करे, उसे करने देना हैं?

दादाश्री : हाँ।

प्रश्नकर्ता : लेकिन यों सामान्य तौर पर जब खुद को देखते हैं तब ऐसा लगता है जैसे खुद की प्रकृति को देख रहे हों कि सुबह से शाम तक प्रकृति क्या कर रही है!

दादाश्री : प्रकृति को ही देखना है।

प्रश्नकर्ता : और आसपास देखें तो औरों की प्रकृति भी दिखाई देती है। ऐसा होता है।

दादाश्री : सबकुछ दिखेगा। वह जो दिखाई देता है न, उसमें देखना चाहिए। हमें कहाँ कमियाँ निकालनी हैं? प्रकृति तो दिखेगी। प्रकृति में कमियाँ किसे कहते हैं?

प्रश्नकर्ता : दादा, लेकिन ऐसा है कि पहले की बहुत सारी आदतें हैं न, इसलिए कभी-कभी कह देते हैं कि 'ऐसा नहीं होना चाहिए। ऐसा जो हो रहा है वह नहीं करना चाहिए।' ऐसा कह देते हैं।

दादाश्री : नहीं, ऐसा नहीं। प्रकृति में कमियाँ कौन देखता है? जिसमें अभी तक भ्रांति के गुण हैं, वही देखता है। बाकी, भगवान के वहाँ कमियों जैसा है ही नहीं। सबकुछ ज्ञेय ही है। भगवान के वहाँ यह अच्छा और यह बुरा है, ऐसा भाव वहाँ पर नहीं है। द्वंद्व नहीं है वहाँ पर। इसलिए फिर वहाँ पर ऐसा नहीं देखना है। इसलिए अगर कुछ खराब हो तो हम उसे भी देखते हैं अच्छी तरह से। सबकुछ देखते हैं लेकिन अंदर हमारा भाव नहीं बिगड़ता। हमारा ज्ञान नहीं बिगड़ता। यह अच्छा-बुरा तो समाज ने बनाया है। अपने में कुछ गलत हो लेकिन वह औरों को अच्छा भी लग सकता है। मुझे जलेबी पसंद हो और आप मना करें तो इसमें अच्छे-बुरे का सवाल ही कहाँ रहा? यह तो, फेक्ट समझ लेने की ज़रूरत है ज्ञानी से। हम निरंतर इसी तरह रहते हैं। तो एक-एक फेक्ट को समझ लेना है साथ में बैठकर। आपको जो अड़चन है वह पूछ लेना और आप अड़चन पूछो तो मैं जवाब देता हूँ। यह सब भ्रांति में तो था ही न! अच्छा और बुरा कहाँ नहीं था?

प्रश्नकर्ता : अभी तक यही सब किया था न?

दादाश्री : नहीं, ऐसा नहीं है। भ्रांति में तो यह था ही न, लेकिन सेटिंग करते हुए ऐसा सब होता है। तब अगर वापस पूछोगे तो निकल जाएगा वापस। फिर थोड़ा समय बीत जाने पर वापस भूल जाते हो। फिर से वैसा आता है, वापस भूल जाते हो। ऐसे करते-करते वह कम होता जाएगा। सब से अंतिम स्टेज कौन सी है कि चंदूभाई क्या कर रहे हैं, उसे आप देखो और जानो, और जो हो गया, वही करेक्ट है। ये दो चीज़ें सब से अंतिम स्टेज हैं। ऐसे रहा जा सकता है या नहीं रहा जा सकता?

प्रश्नकर्ता : रहा जा सकता है।

दादाश्री : हाँ! फिर क्या है? वस्तु अपने हाथ में आ गई है। जब पतंग की डोर हाथ में आ जाए न, उसके बाद चाहे कितने भी गोते खाए, फिर क्या हर्ज है? खींचने से ठीक हो जाती है। पहले तो डोरी ही हाथ में नहीं थी, पतंग की डोरी ही हाथ में नहीं थी तो फिर गोते खाने पर वह हाथ में कैसे आती?

प्रश्नकर्ता : प्रकृति की लगाम हाथ में आ गई, ऐसा कब कहा जा सकता है?

दादाश्री : प्रकृति जब मोड़ी जा सके, उस दिन हमें पता चल जाएगा कि आज इसे मोड़ा जा सका। हमारा (देखकर) पता नहीं चलता?

प्रश्नकर्ता : प्रकृति दिखाई देती है लेकिन उसे मोड़ा नहीं जा सकता।

दादाश्री : तो फिर वह ज़रा ज़्यादा कहलाएगा। जब तक वह सुने नहीं तब तक उसके साथ यह सिलसिला जारी रखना पड़ेगा, बाद में वह कभी न कभी सुनेगी। जिसे प्रकृति जीतनी ही है, उसे हरानेवाला कोई है ही नहीं।

टेढ़ी प्रकृति को भी जान

तुझे ऐसा कोई अनुभव हुआ है?

प्रश्नकर्ता : हाँ, हुआ है न, दादा। नहाने के लिए पहले दौड़ना, यात्रा में ऐसा ज़्यादा दिखाई दिया।

दादाश्री : चढने में, उतरने में सभी में वह स्वार्थी। उसके रंग–ढंग अलग ही होते हैं।

प्रश्नकर्ता : उसकी नज़र वहीं पर रहती है, उसका *लक्ष* (जागृति) वहीं पर रहता है।

दादाश्री : प्रकृति में वह भले ही हो, लेकिन उसे अच्छा लगता है इसलिए, अभी तक तो उसे इसकी खबर ही नहीं पड़ी है। यह तो जब मैंने समझाया तब। हर बार यह समझ में आना चाहिए कि 'ऐसा नहीं होना चाहिए। ऐसा क्यों हो रहा है?' तब फिर जो हो जाता है,

वह प्रकृति है। लेकिन आपको पता चलना चाहिए कि 'ऐसा क्यों हो रहा है, ऐसा नहीं होना चाहिए।'

प्रश्नकर्ता : तो वह प्रकृति है?

दादाश्री : हाँ, 'अभी तक भी नहाने में जल्दबाज़ी क्यों होती है? 'जल्दी खा लूँ' ऐसी जल्दबाज़ी क्यों होती है?' ऐसा सब भान रहना चाहिए। नहीं रहना चाहिए? तो उसका जो भान नहीं रहा, उस वजह से यह गलती हो गई है। अगर भान रहे, तो 'प्रकृति को हुआ,' ऐसा कहा जाएगा न! वह जैसी प्रकृति लाया है, उसी तरह प्रकृति खुल रही है।

साढ़े छ: को उठनेवाला व्यक्ति आज साढ़े पाँच बजे ही क्यों इधर–उधर हो रहा है। तब समझना कि यह स्वार्थी है! संडास जा आऊँ नहीं तो ये लोग घुस जाएँगे। पता चलता है न हमें? अब, वह स्वार्थी है, उसमें भी कोई दिक्कत नहीं है लेकिन उसकी जागृति में रहना चाहिए कि 'यह जो हो रहा है वह गलत हो रहा है। उसकी प्रकृति ऐसी है।' प्रकृति भी दिखाई न दे, ऐसा है सब! धीरे–धीरे सत्संग में रहने से, सेवाभाव से आगे बढ़ा जा सकेगा।

वही है रोकनेवाला बड़ा कचरा

आपके कचरे अलग, इनके कचरे अलग।

प्रश्नकर्ता : कचरे तो *पुद्गल* के गुण नहीं होते? कुछ चीज़ों में तो उसकी खुद की भी इच्छा नहीं है। अत: ये सब प्राकृतिक गुण हैं न? *पुद्गल* के ही गुणों को ऐसा कहते हैं न, अच्छे या बुरे?

दादाश्री : *पुद्गल* के हुए उससे कोई हर्ज नहीं है। लेकिन आत्मा पर *पुद्गल* का इतना ज़्यादा असर हो गया है कि आत्मा का चलना-फिरना बंद हो गया है, परहेज़ हो गया है। इतना असर है *पुद्गल* का। इसमें से ज़रा पचास प्रतिशत कम हो जाए तो आत्मा मुक्त हो जाएगा, तो फिर आत्मा शक्तिशाली बनेगा।

प्रश्नकर्ता : तो आप कहते हैं न 'प्रकृति का एक भी गुण मुझ में नहीं हैं और मेरा एक भी गुण प्रकृति में नहीं हैं।'

दादाश्री : हाँ, लेकिन 'तुझ में नहीं है' यानी कि तेरापन रहना चाहिए न? प्रकृति का एक भी गुण 'खुद का' नहीं मानें और 'खुद के' सभी गुणों को जानें, वे 'ज्ञानी'। एक भी गुण को 'खुद का' माने तो संसार में फँसता है। प्रकृति का बहुत दबाव है न! प्रकृति इंसान को, आत्मा तो न जाने कहाँ रहा, लेकिन पशु तक बना देती है।

प्रश्नकर्ता : दादा ने कहा है न अभी कि 'इनके कचरे अलग, आपके कचरे अलग।' हमारे कचरे में क्या है? कैसा है?

दादाश्री : हर एक के कचरे अलग-अलग ही होते हैं न! वे भी दुर्गंध मारने लगते हैं। सुगंध नहीं आती। लेकिन ये सभी कचरे निकल जाएँगे, कुछ ही दिनों में, जिनकी इच्छा है उनके निकल जाएँगे।

प्रश्नकर्ता : आपकी हाज़िरी में ही निकल जाएँगे न?

दादाश्री : हाँ, किसी–किसी के तो वे हाज़िरी में भी नहीं निकलते।

प्रश्नकर्ता : आपके कहने के बाद अगर इनकी इच्छा होगी तो निकल जाएँगे न?

दादाश्री : हाँ, इच्छा होती है लेकिन वापस थोड़ी देर बाद कहता है न, 'लेकिन मेरी समझ में नहीं आ रहा है।' तो फिर हो गया वापस जैसा था वैसा ही। कौन से थर्मामीटर के आधार पर तू पूछ रहा है? एक भी थर्मामीटर सही नहीं है। खुद के थर्मामीटर से देखता है कि '102 डिग्री बुखार चढ़ा।' फिर भी, यहाँ पड़ा रहेगा तो आत्मा प्राप्त हो जाएगा।

प्रश्नकर्ता : जो लोग दादा के चरणों में आ गए हैं, उन्हें आत्मा प्राप्त हो ही जाएगा न?

दादाश्री : हाँ, उनका तो काम ही निकल जाएगा न!

होती है प्रकृति विलय 'सामायिक' में

आप शुद्धात्मा हो गए तो प्रकृति साहजिक हुई। जो साहजिक है वह तो *डखोडखल* (दखलंदाज़ी) करने दे वैसी होती नहीं है। और क्योंकि साहजिक हो गई है, तो वह व्यवस्थित है। अत: हम आप से ऐसा नहीं कहते कि 'तुझे खराब विचार आए तो तू ज़हर पी ले।' अब तो अगर खराब विचार आया तो खराब को जाना और अच्छा विचार आया तो अच्छे को जाना। लेकिन अब यह सब विलय कैसे होगा? कितना कुछ तो ऐसा है जो कंट्रोल में नहीं आ सकता। आप जो कह रहे हो वह ऐसी चीज़ है जो विलय नहीं हो सकती। उसका हमें रास्ता निकालना पड़ेगा। एकाध घंटे बैठकर ज्ञाता–ज्ञेय के संबंध से वह चीज़ विलय होगी। जिस भी प्रकृति को विलय करना हो, वह इस तरह से विलय हो सकती है। एक घंटा बैठकर और खुद ज्ञाता बनकर उन चीज़ों को अपने सामने ज्ञेय के रूप में देखो। तो वह प्रकृति धीरे–धीरे विलय होती जाएगी। सभी तरह की प्रकृतियाँ यहाँ पर खत्म हो सकती हैं, ऐसा है।

[1.7] प्रकृति को ऐसे करो साफ...

प्रकृति लिखे और पुरुष मिटाए

प्रश्नकर्ता : ये क्रोध-मान-माया-लोभ, यह सारी प्रकृति क्या तिर्यंच गति में भी रहती है? इसी प्रकार से?

दादाश्री : हाँ, देवगति में, सभी में, जहाँ देखो वहाँ पर यही प्रकृति। इन्हें ग्रंथियाँ कहते हैं और जब वे चली जाएँ तब निग्रंथ कहलाता है।

अर्थात् इन ग्रंथियों से बंधा हुआ है वह, वह क्या कर सकता है? इसका कोई उपाय ही नहीं है। यह तो, अपने जैसा ज्ञान मिले और अंदर ग्रंथियों पर पकड़ पकड़वाए कि 'भाई, यह अलग और तू अलग,' तब जाकर कुछ छूटती हैं। ये ग्रंथियाँ भी अलग हैं और यह चंदूभाई भी अलग है। यह सभी कुछ अलग है। अब इन्हें देखते रहना। अपना विज्ञान बहुत सुंदर है। बिना मेहनत के मज़े हैं और आनंद है न?

प्रश्नकर्ता : लेकिन जब प्रकृति के माल की पहचान करवा देते हैं, तभी वह पकड़ में आती है न?

दादाश्री : हाँ।

प्रश्नकर्ता : जब इस प्रकृति का पदच्छेद (विश्लेषण) होता है तब मूल में से जाती है न?

दादाश्री : अपना विज्ञान तो सबकुछ समझा देता है कि 'यह लोभ आया, फलाना आया' क्योंकि जुदा रहकर देखनेवाले हैं न! चंदूभाई का लोभ नहीं छूटता, लेकिन हमें समझ में आ जाता है कि चंदूभाई का लोभ नहीं छूट रहा है। तब फिर हम उसे टोक देते हैं! कैसे भी समझाकर पाँच-पच्चीस हज़ार रूपये दिलवा देते हैं न किसी जगह पर!

प्रश्नकर्ता : प्रकृति का छेदन करने के सभी उपाय, क्या पुरुषार्थ विभाग में आते हैं?

दादाश्री : हाँ, वही न। यों कैसे भी करके समझा दिया कि चली गाड़ी! खुद की प्रकृति की भूलें दिख सकें, ऐसा नहीं हो पाता क्योंकि प्रकृति को प्रकृति की भूलें नहीं दिखाई देती, क्रोध-मान-माया-लोभ व अहंकार को और बुद्धि को खुद की भूलें दिखाई नहीं देतीं। खुद ही प्रकृति है न! इसलिए खुद की भूलें दिखाई नहीं देतीं। जो दिखाई देती

हैं वे बहुत बड़ी–बड़ी होती हैं, ज़बरदस्त! वे दिखाई देती हैं। उनके अलावा अनंत भूलें हैं। निरा भूल का भंडार है लेकिन दिखाई नहीं देतीं। यदि भूलें दिखाई देने लगें तो भगवान बन जाए।

ज्ञान मिलने के बाद भूलें किस माध्यम से दिखने लगती हैं? प्रज्ञाशक्ति से। आत्मा में से जो प्रज्ञाशक्ति प्रकट हुई है, उससे सभी भूलें दिखने लगती हैं और वे भूलें दिखाई देने लगती हैं इसलिए तुरंत अपना निबेड़ा ले आते हैं। हम कहते हैं कि 'भाई, प्रतिक्रमण करो।' प्रज्ञाशक्ति वह दाग़ दिखाती है तब हम कहते हैं कि 'इसे धो दो।' इस तरह सभी कपड़े धो देने हैं। सभी दाग़ों के प्रतिक्रमण किए तो फिर साफ!

प्रश्नकर्ता : दादा, यह जो स्लेट मिटाकर साफ कर दी है, अब फिर से उस पर कोई चित्रण न हो, ऐसी शक्ति दीजिए।

दादाश्री : प्रकृति लिखती है और पुरुष मिटाता है। प्रकृति लिख देती है भूल से और पुरुष मिटा देता है। प्रकृति लिखे बगैर रहती नहीं है और पुरुष हुए हैं इसलिए पुरुषार्थ से पुरुष मिटा देते हैं। वीतरागों ने ऐसी खोज की है। क्योंकि प्रकृति में पुरुषार्थ नहीं है। पुरुष पुरुषार्थवाला है!

प्रकृति तो अभिप्राय रखेगी, सभी कुछ रखेगी लेकिन हमें अभिप्राय रहित बनना है। प्रकृति अर्थात् अपना भी यह जो चारित्र मोह है न, वह अभिप्राय रखता है, लेकिन हमें अभिप्राय रहित बनना है। उसका भरा हुआ माल निकल रहा है।

बिफरी प्रकृति के सामने

प्रकृति के धक्के की वजह से कोई व्यक्ति किसी पर उग्र हो जाता है, लेकिन तुरंत ही उसके बाद खुद किसमें होता है? 'ऐसा नहीं होना चाहिए' उस भाव में है और जगत् के लोग, जो हो जाता है, उसी भाव में रहते हैं। अर्थात् दोनों में बहुत फर्क है। आपका तो सब काम सहमति से चलता है न?

प्रश्नकर्ता : ऐसा होता है। लेकिन फिर आज का अभिप्राय उससे अलग पड़ जाता है।

दादाश्री : फिर कितने टाइम में? जागृति तो तुरंत घंटे–दो घंटे में आ जानी चाहिए! लेकिन माल ऐसा कचरा भरा हुआ है कि... तो कितनी ही बातों में पता ही नहीं चलता। तुझे नहीं लगता ऐसा? कितने घंटों में वह खयाल आना चाहिए कि यह गलत है? दो घंटों में, चार घंटों में या बारह घंटों में, लेकिन खयाल आना चाहिए कि यह गलत हो गया। अभी भी कितनी ही चीज़ों के बारे में हो जाता है लेकिन आपको पता नहीं चलता। मुझे पता चल जाता है कि ये टेढ़े चले। हमें पता चल जाता है या नहीं? फिर भी हम चलने देते हैं। क्योंकि हम जानते हैं कि यह अभी रास्ते पर आ जाएगा।

जो प्रकृति के सामने जागृत, वह ज्ञानी

प्रश्नकर्ता : यह, जागृति रहे, उसके लिए प्रकृति कितनी हेल्प करती है?

दादाश्री : वह, आत्मा हेल्प करता है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् प्रकृति जब उपशम भाव में होती है, तब जागृति में हेल्प करती है। क्या ऐसा है?

दादाश्री : वह तो अपने आप ही होता है। उसके कर्म का उदय हो तो उपशम हो जाती है। और उसके उपशम हो जाने के बाद जागृति रहे तो वह बहुत काम की नहीं है। प्रकृति उपशम न हो, प्रकृति प्रतिरोध करे, उस समय जो जागृत रहे, वह ज्ञानी कहलाता है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन ज्ञानी पद तो जब प्रकृति उपशम में से आगे जाकर क्षय हो चुकी हो, तब उत्पन्न होता है न?

दादाश्री : वह तो पूरी क्षय हो जाती है। जब प्रतिरोध करती है तब वह तो क्षय होने के लिए आती है। इसलिए उससे कहना कि प्रतिरोध कर। उपशम करना अर्थात् चक्कर लगवाना। जब माँगनेवाले को दे देते हैं तब निबेड़ा आता है, नहीं तो वापस आएँगे ये, 'आओ, आओ साहब।' अरे, पाँच हज़ार दे दे न यहाँ से। साहब आए हैं। वे माँग रहे हैं इसलिए। लेकिन यह तो उसे वापस निकालना है न इसलिए मस्का मारता है, जैसे कि वह छोड़ देगी! छोड़ देती है क्या? नहीं छोड़ती? है न? बल्कि चाय-पानी पीकर जाती है और रौब मारकर जाता है। मुफ्त का चाय-नाश्ता कर जाती है और कर्ज़ तो खड़ा ही रहता है। उसे कहते हैं उपशम।

प्राकृतिक गाँठों को रोके ज्ञान प्रकाश

प्रश्नकर्ता : मान लीजिए कि कोई लोभ की गाँठ हो तो क्या ऐसा है कि उस समय ज्ञान का प्रकाश कम हो जाता है? यानी कि प्रकृति के आधार पर यह ज्ञान का प्रकाश है? एक तरफ कम-ज़्यादा होता है या सिर्फ जागृति के आधार पर कम-ज़्यादा होता है?

दादाश्री : प्रकृति अंतराय डालती है उसमें। इस ज्ञान का तो जो प्रकाश दिया है वह फुल प्रकाश है लेकिन यह प्रकृति बीच में दखलंदाज़ी करती है।

प्रश्नकर्ता : प्रकृति जो दखल करती है, वह उसके पिछले कर्म के अधीन, वे उसे दखल करवाते हैं?

दादाश्री : वही! और नहीं तो क्या? वही प्रकृति है। पिछले कर्म, वही प्रकृति है। हमें वैसा ज़्यादा झमेला नहीं होता। इसलिए हमें दखंलादाज़ी नहीं होती।

प्रश्नकर्ता : वहाँ पर क्या करना चाहिए?

दादाश्री : नहीं, कुछ भी नहीं करना है। वहाँ पर बस जो कुछ उल्टा-सीधा हो जाता है, उसके प्रतिक्रमण करते रहना है। यह पूरा मार्ग प्रतिक्रमण का ही है। शूट ऑन साइट का मार्ग है। यदि शूट ऑन साइट चलता रहे तभी आप इसे काबू कर सकोगे, नहीं तो काबू नहीं कर पाओगे!

दबाव से नहीं, समझ से बंद

जितना माल भरा है, उतना माल तो उसी को शुद्ध करना है!

प्रश्नकर्ता : कितना माल है, वह तो मैं कैसे कह सकता हूँ?

दादाश्री : वह तो कहा जा सकता है न! प्रकृति के विचार आते हैं सारे, सुगंध आती हैं, सबकुछ आता है। उसके एविडेन्स खड़े होते हैं न, कमिंग इवेन्टस कास्ट दियर शेडोज़ बिफोर। यह ज़ोर-ज़बरदस्ती से प्रकृति पर दवाब डालने का मार्ग ही नहीं है न! अहंकार होगा तभी इंसान दबाव डाल सकता है न! और फिर दबाव तो कहीं रहता होगा? न जाने कब छटक कर निकल जाए!

प्रश्नकर्ता : प्रकृति पर दबाव नहीं डालना है तो क्या उसे नाचने देना है?

दादाश्री : नाचने तो देना ही नहीं है लेकिन दबाव नहीं डालना है! उसे कुंद कर देना है, किसी चीज़ में कोई सार या गुण नहीं है अगर ऐसा समझ में आ जाए न, तो वृत्तियाँ बंद हो जाती हैं। अपने आप ही बंद हो जाती हैं। अगर उसे ऐसा पक्का समझ में आ जाए कि सार और गुणवत्ता नहीं है, बल्कि नुकसानदायक है, तो वृत्तियाँ बंद हो जाएँगी। समझाकर देखना।

डिस्चार्ज प्रकृति में न लो आनंद मिठास का

किसी भी प्रवृत्ति की प्रकृति जो बन ही चुकी है, तो जब तक वह प्रकृति करवाए तब तक करना लेकिन बढ़ावा मत देना। अंदर रुचि नहीं लेनी चाहिए। यह हितकारी प्रवृत्ति नहीं है। जो कार्य कर सकते हो न, वह डिस्चार्ज हो रहा है। जो कार्य आप से हो रहा है, वह डिस्चार्ज है। लेकिन उसमें आप जो रुचि लेते हो, वह रुचि मत लेना। ये रुचि लेने योग्य चीज़ें नहीं है। ये आपको भटकाकर फेंक देंगी। जो मीठा लगता है, स्वादिष्ट लगता है, वह गिरा देगा!

यह जो प्रकृति उत्पन्न हो चुकी है न, तो अभी आप उसके कर्ता नहीं हो, यह तो डिस्चार्ज है। इसीलिए हम डाँटते नहीं है कि 'ऐसा हुआ?' लेकिन आपको एन्करेज भी नहीं करते। आपको मन में ऐसा लगेगा कि 'न जाने क्या हो गया यह!' तो बल्कि बिगाड़ दोगे! बगैर समझे, किसे कितनी दवाई देनी है, वह जानते नहीं हो और चाहे किसी को भी दवाई दे दोगे। वह आपका काम नहीं है। यह सब तो प्रकृति है, उसे उदासीन भाव से देखते रहो। बहुत इन्टरेस्ट मत लेना। इस प्रकृति से किसी को नुकसान नहीं हो, उतना देख लेना।

खुद का जो कार्य है, वह करना। यह तो सिर पर आ पड़ी, भरी हुई प्रकृति है! छुटकारा ही नहीं हैं। ढूँढ निकालेगी कुछ उल्टा, वहाँ पर जा आएगी। जिसमें स्वाद आए, उसमें मिठास आती है। और फिर यह मिठास प्राकृतिक मिठास है, आत्मा की मिठास नहीं है। अभी तो बहुत कुछ करना बाकी है।

प्रश्नकर्ता : उसके बारे में ज़रा विस्तार से समझाइए।

दादाश्री : आप सभी ये पाँच आज्ञा ही पालो न, उसी में गहरे उतरो। अभी तक पाँच आज्ञा का भी पूरी तरह से पालन नहीं हो रहा न! यह तो, आपको अच्छा लगे ऐसा कुछ कहते हैं। यानी कि हमें खुशी नहीं है, फिर भी खुशी दिखाई है।

प्रश्नकर्ता : आपको सभी गलतियाँ बताने का यही कारण है। हमें प्रोपर मार्गदर्शन मिलेगा ही यहाँ पर, ऐसा हमें दृढ़ विश्वास है। कुछ भी नहीं छुपाने का कारण ही यह है!

दादाश्री : वह तो जब मिठास आने लगती है न, तब छुपाने लगता है हम से! बाकी, शुरुआत में तो हम से पूछता है। उसके बाद जब बहुत मिठास आने लगती है, तब छुपाने लगता है। सावधान होकर चलना।

प्रकृति को करो माफ

प्रश्नकर्ता : आपके सत्संग में आपका यह वचन आया था कि खुद की प्रकृति को माफ किया जा सकता है, लेकिन उसका रक्षण नहीं करना चाहिए, उसका बचाव नहीं करना चाहिए। उसका भेद ज़रा समझाइए उदाहरण देकर।

दादाश्री : जब रक्षण और बचाव करते हैं तब हम प्रकृति के साथ ही हो गए अर्थात् 'पर' के मालिक बन गए। प्रकृति ने उल्टा किया हो तो उसे माफ किया जा सकता है क्योंकि तब खुद में रहकर माफ कर सकते हैं। जबकि बचाव तो 'पर' में जाकर करना पड़ता है। 'पर' के मालिक बन जाते हैं। उसने चाहे कैसा भी गुनाह किया हो तो भी माफ किया जा सकता है। माफ तो खुद उससे अलग रहकर किया जा सकता है और जब बचाव करते हैं तो 'पर' के मालिक बनकर ही करते हैं। रक्षण करें तब 'पर' के मालिक बनकर ही करते हैं। उसी पक्षवाला हो गया न! और माफ करना उस पक्ष का नहीं कहलाता। माफ करना तो खुद का स्वभाव ही है।

प्रश्नकर्ता : प्रकृति को माफ किया जा सकता है, खुद के स्वभाव में रहकर, तो वह क्या है?

दादाश्री : प्रकृति चाहे कितनी भी गलत हो फिर भी उसे माफ करने के सिवा अन्य कोई उच्च (बेहतर) रास्ता नहीं है। बाकी सभी रास्ते तन्मयाकार होने के हैं इसलिए माफ कर पाए तो अलग रह पाओगे। प्रकृति खराब हो और उसका बचाव किया तो उस पक्ष में चला गया। रक्षण करने से तो प्रकृति बढ़ जाती है। खुद को अच्छी लगे, ऐसी प्रकृति आ जाए न तो उसे राग कहते हैं। रक्षण करना अर्थात् प्रकृति पर राग। बचाव करना भी राग ही है।

प्रश्नकर्ता : 'इस प्रकृति को ही माफ कर दो,' इसका मतलब क्या है?

दादाश्री : प्रतिक्रमण करनेवाला करता है न! अर्थात् जो भी दोष हो गया हो उसके लिए माफी माँगता है। अत: प्रतिक्रमण करनेवाली प्रकृति है और माफ करनेवाले भगवान हैं। यानी कि माफी माँगनेवाले अलग हैं और माफी देनेवाले अलग हैं। इन दोनों के बीच और कोई संबंध नहीं है जबकि बचाने में तो बहुत बड़ा संबंध है! बड़ा ज़बरदस्त संबंध हो, तब बचाव होता है।

प्रश्नकर्ता : हाँ, राग के बिना नहीं बचाता।

दादाश्री : उसे राग कहो या कुछ भी कहो लेकिन सब से बड़ा संबंध तो अगर वह 'पर' का मालिक है तो बचाव करेगा ही। बचाने के लिए और कोई शब्द रहा ही नहीं न!

प्रश्नकर्ता : तो प्रकृति का पोषण नहीं करना है, रक्षण नहीं करना है?

दादाश्री : हाँ, रक्षण नहीं करना है अर्थात् क्या कि आत्मा हुए हैं और फिर प्रकृति का रक्षण करें तो गलत कहलाएगा न? ज़्यादा रक्षण करें तो फिर उसी पक्ष के हो गए न। इस प्रकृति का बचाव करके, और रक्षण करके ही यह मुश्किल खड़ी हुई है और प्रतिक्रमण से धुल जाती है।

प्रश्नकर्ता : आपने हमें जो दृष्टि दी है, वह धोने की दृष्टि दी है, फिर भी प्रकृति का रक्षण क्यों कर देते हैं?

दादाश्री : वह तो इसीलिए कि अभी तक प्रकृति के पक्ष में हो। हम तो प्रकृति का रक्षण नहीं करते। प्रकृति का तो जहाँ से दोष दिखा कि तुरंत कब माफ हो जाए, उसी की तैयारी रहती है। अभी भी रक्षण कर देते हैं, वह तो भयंकर गुनाह है। उसे छुपाएँ तो भी रक्षण है, वह भी गुनाह है। आप कहो कि 'हाँ दादा, यह गलत है।' तो मुझे कह देना चाहिए कि 'भाई, गलत है।' मैं बचाव करने के लिए अन्य शब्द का उपयोग करूँ, वकालत करूँ तो गुनाह है।

प्रश्नकर्ता : इस तरह से छुपाना, वह कमज़ोरी है।

दादाश्री : वह गुनाह ही कहलाता है।

प्रश्नकर्ता : और दादा, औरों की प्रकृति को माफ किया जा सकता है लेकिन क्या खुद की प्रकृति को माफ किया जा सकता है?

दादाश्री : किया जा सकता है न! माफ करना ही चाहिए! माफ नहीं करोगे तो और कोई ऐसा रास्ता नहीं है कि जो इतना सरल हो।

प्रश्नकर्ता : दादा ऐसे माफ करना भी एक प्रकार का जजमेन्ट हो गया।

दादाश्री : हाँ, उसे जजमेन्ट कहो या कुछ भी कहो। प्रकृति के आधार पर जजमेन्ट है और यहाँ ज्ञान में जजमेन्ट नहीं होता। जजमेन्ट तो, जहाँ पर अहंकार के सौदे होते हैं, वहाँ जजमेन्ट कहलाता है।

प्रश्नकर्ता : प्रकृति को माफ कैसे किया जा सकता है?

दादाश्री : न तो उस पर चिढ़, न ही कुछ और। खुद की प्रकृति पर चिढऩा नहीं है, रक्षण नहीं करना है। और माफ कर देना यानी कि उसके प्रति राग नहीं और द्वेष भी नहीं, वीतरागता। खराब तो निकलेगा ही। ज्ञानी का भी खराब माल निकलता है कभी, लेकिन उसके प्रति हम वीतराग हो जाते हैं तुरंत!

प्रकृति से जो कुछ भी होता है, वह किस में हैं? उदयकर्म आया है। प्रकृति को जो भोगना पड़ा, वह भोगते हो। मैं जो यह कहता हूँ, तो वापस मन में ऐसा होता है कि ऐसा क्यों कहा था! लेकिन उसमें चलता नहीं है अपना क्योंकि प्रकृति में गुथा हुआ है, तो वह बोलेगी ही। उसे हमें देखते ही रहना है। मैं जो कहना चाहता हूँ वह समझ में आया या नहीं? कम्पलीट! समझ में आ जाए तो बहुत काम हो जाएगा न!

दोष दिखाई दे वहाँ पर होना खुश

जिसे खुद को नहीं बंधना हो, उसे कौन बाँधे?

प्रश्नकर्ता : वह ठीक है लेकिन अगर प्रकृति के ऐसे सभी पहलू खुद को नहीं दिख रहे हों, तो....

दादाश्री : नहीं दिख रहे हैं तो मार खाकर दिखेंगे!

प्रश्नकर्ता : वह कुछ भाग जो नहीं दिखाई देता....

दादाश्री : वह बाद में दिखेगा। दूसरे जन्म में दिखेगा। सभी कुछ एक साथ कैसे दिखेगा? जितना दिखता है वह सब, उसके लिए पार्टी देनी चाहिए कि इतने दिखे। बाकी के तो नहीं दिखते। थोड़े बहुत दिखते हैं न?

प्रश्नकर्ता : ढेरों दिखते हैं दादा।

दादाश्री : तब तो फिर पार्टी दो सभी को। भगवान की भाषा से चलना। क्या नहीं है ऐसा नहीं देखना है, मेरे पास क्या है वह देखना है।

अब आप कहते हो न कि मुझे नहीं दिखाई देते।

प्रश्नकर्ता : यानी कि जब कुछ दिखाई देते हैं, तब जो पहले नहीं दिखाई दिया हो, वह दिखाई देता है। उसके बाद ऐसा होता है कि ऐसा तो आज ही दिखाई दिया तो ऐसा तो कितना ही अंदर पड़ा हुआ होगा!

दादाश्री : भले ही हो, लेकिन जो दिखाई दिया उसकी पार्टी देनी पड़ेगी। ऐसा होता ही कहाँ है, दिखे ही कहाँ से? ऐसा दिखना कोई आसान चीज़ नहीं है।

प्रश्नकर्ता : कभी यों ही दादा से ऐसी दृष्टि मिल जाती है कि फिर एक नई दिशा ही बता देती है। बातों में, किसी सामान्य सत्संग में या व्यक्तिगत भी ऐसी दृष्टि मिल जाती है, वह एक नई दिशा दिखाने लगती है कि, 'ओहोहो! यह कोना तो रह गया था।'

दादाश्री : सत्संग में कॉमन भाव से निकलती हैं सभी बातें। किसी एक व्यक्ति को संबोधित करके नहीं होतीं। उसमें हर किसी का, सभी का, हर एक का अलग होता है भाई।

ज्ञान या ज्ञानी, कौन निकालता है प्रकृति

यह भी पूरी तरह से समझना पड़ेगा। हज़ारों लोगों के सामने कोई कहे कि 'चंदूभाई में अक़्ल नहीं है।' तो हमें आशीर्वाद देने का मन होना चाहिए कि 'ओहोहो! हम जानते थे, कि चंदूभाई में अक़्ल नहीं है लेकिन अब तो ये भी जानते हैं।' तब वह जुदापना रहेगा।

इन भाई से हम रोज़ बात करते हैं, अगर कभी नहीं करें, तो उसका क्या कारण है? विचार आता है कि अरे, 'आज ऐसा क्यों?' तब पता चलता है कि जुदा रह सकता है। ऐसी चाबियाँ देते हैं हम। उसे चढ़ाते हैं और गिराते हैं, चढ़ाते हैं और गिराते हैं, ऐसा करते-करते ज्ञान प्राप्त करता है। हमारी सभी क्रियाएँ ज्ञान प्राप्ति करवाने के लिए हैं। हर एक के साथ अलग-अलग होती है, उसकी प्रकृति को देखकर! सभी की प्रकृति को देखकर यह करते हैं।

प्रश्नकर्ता : हाँ, प्रकृति के अनुसार।

दादाश्री : ऐसा ही होना चाहिए न? वह प्रकृति निकल ही जानी चाहिए। प्रकृति को तो निकालना ही पड़ेगा। पराई चीज़ कब तक रहेगी अपने पास?

प्रश्नकर्ता : सही बात है। कोई चारा ही नहीं है प्रकृति निकालने के अलावा!

दादाश्री : (हाँ)। हमारी तो निकाल दी कुदरत ने। ज्ञान से निकाल दी हमारी तो। आपकी तो हम निकालते हैं तभी जाती है न! निमित्त है न! काफी कुछ निकल गई है। अभी भी रात को प्रतिक्रमण करने पड़ते हैं न? अत: अपनी भूलें हैं, वे अब निकालनी हैं धीरे-धीरे। पता चलता है न बाद में?

हम बुलाते नहीं हैं कि 'चंदूभाई आओ,' ऐसा कहकर, तो तब आपको समझ जाना है कि 'मुझे सावधान किया है।' और अगर बोलें तो प्रकृति निकलती रहती है। हम उनसे कहे कि 'आओ चंदूभाई' तब प्रकृति उछल पड़ती है बाहर। रौब में आ जाता है, लेकिन फिर आपको (कर्म) नहीं बंधते, फिर से नहीं बंधते। निकल जाने के बाद फिर से नहीं

बंधते। उसमें आप तन्मयाकार न हो जाओ इसलिए हम एक दिन वापस वैसा ही करते हैं, बोलते नहीं हैं, तो फिर उतर जाता है।

प्रश्नकर्ता : ये दवाईयाँ हैं सारी।

दादाश्री : हाँ।

प्रश्नकर्ता : इसमें दादा को तो राग भी नहीं है और द्वेष भी नहीं।

दादाश्री : वह तो प्रकृति है ज़रा। अच्छे लोगों से, कुछ लोगों से कहना पड़ता है, रखना (संभालना) पड़ता है नहीं तो लोग यहाँ पर सब तहस–नहस कर दें। खटपटवाले लोग हैं न! सभी को थोड़े ही खटपट आती है? इसलिए पक्षपाती रहना पड़ता है। यों वीतराग, लेकिन पक्षपाती रहना पड़ता है, कारणवश। किसी को भी नुकसान नहीं होना चाहिए। हम किसी को ऐसे दबाते हैं और किसी को ऐसे तो उसका भी रास्ते पर आ जाता है। रास्ते पर नहीं लाना पड़ेगा?

पुद्गलमय में स्वभाव और प्रकृति एक ही

प्रश्नकर्ता : स्वभाव और प्रकृति एक ही कहे जाते हैं या अलग?

दादाश्री : स्वभाव जब *पुद्गलमय* हो जाए तब वह स्वभाव कहलाता है। तो स्वभाव और प्रकृति एक ही कहलाते हैं। प्रकृति को ही स्वभाव कहते हैं हम। इस व्यक्ति का स्वभाव ऐसा है अर्थात् उसकी प्रकृति के स्वभाव को स्वभाव कहते हैं। क्योंकि वास्तव में वह स्वभाव नहीं है। स्वभाव में तो भगवान ही है वह खुद, लेकिन उसने यह उल्टी मान्यता मान ली है कि 'मैं ऐसा हूँ, मैं कलेक्टर बन गया, फलाना बन गया।' इसी की मार खाता रहता है न!

स्वभाव और प्रकृति एक ही कहे जाते हैं लेकिन स्वभाव हल्का हो सकता है। गाय नहीं मारती, तो वह भी प्रकृति है और अगर मारती है तो वह भी प्रकृति है। इंसान किसी को मार रहा हो उस घड़ी अगर अंदर ऐसा रहे कि 'यह गलत कर रहा हूँ। यह मैं गलत कर रहा हूँ,' तो वह ज्ञान है और जो मार रहा है, वह प्रकृति है।

प्रश्नकर्ता : अब जब ऐसा कहते हैं कि 'तू तेरे स्वभाव में आ जा' तब वह किसे कहते हैं?

दादाश्री : वह स्वभाव अलग है। परमात्मा स्वभाव में आ जा, ऐसा कहते हैं। यह तो तू दूसरी दशा में है, उल्टी दशा में है, संसारी दशा में है, प्राकृत दशा में है। तू तेरे स्वभाव में आ जा। खुद की परमात्मा दशा में आ जा। ''तू 'परमात्मा' है'', उसी दशा में आ जा। ऐसा अधिकार भगवान के या किसी और के पास नहीं है कि जो इन सब का लाइसेन्स ले ले। जो खुद के स्वभाव में आ जाता है वह परमात्मा बन जाता है!

प्रश्नकर्ता : तू तेरे स्वभाव में आ जा अर्थात् राग-द्वेष से रहित हो जा, कर्तापन में से निकल जा तो यह हो सकता है।

दादाश्री : ऐसा है न, यह जो शुद्धात्मा है वही आप हो और वही आपका स्वरूप है। वहाँ से आप अलग हो गए हो तो अब उन्हें देख देखकर आप उस रूप हो जाओ। वे अक्रिय हैं, ऐसे हैं, ऐसे हैं! और ऐसा समझ समझकर आप उस रूप हो जाओ। यह तो व्यतिरेक गुण उत्पन्न हो गया है और उसमें अपनी मान्यता खड़ी हो गई है इसलिए हमें यह देखकर उस रूप होना है।

प्रकृति बताए अंत में भगवत् गुण

हर एक व्यक्ति खुद का स्वभाव बताए बगैर रहता ही नहीं। जब तक आत्म स्वरूप नहीं हो जाता, तब तक आत्म स्वभाव नहीं दिखाई देता। *पुद्गल* स्वभाव ही दिखाई देता है।

यह *पुद्गल* स्वभाव खत्म हो जाए और आत्म स्वभाव जैसा हो जाए, उसकी नकल करे वैसा, डिट्टो वैसा ही हो जाए तब पूर्णाहुति कहलाती है।

इस तरफ आत्मा भी दिखाई देता है और उस तरफ यह भी आत्मा जैसा ही दिखता है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् मूल आत्मा दिखाई देता है और खुद मूल आत्मा जैसा हो जाता है।

दादाश्री : हाँ, वे आग्रह तो मैंने छुड़वा दिए हैं आप से। इस सब से बड़ी पकड़ की वजह से ऐसे नहीं हो पा रहे थे। हाँ पकड़ नहीं होनी चाहिए किसी भी तरह की।

प्रश्नकर्ता : तो मूल आत्मा की नकल जैसा अर्थात् ज्ञान-दर्शन-चारित्र। ऐसा?

दादाश्री : जैसा वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र और तप है, वैसा ही यहाँ पर व्यवहार में, ज्ञान-दर्शन-चारित्र और तप रहता है। वहाँ पर सभी कुछ आदर्श रहता है। आग्रह-वाग्रह कुछ भी नहीं होता। कोई दु:ख भी नहीं रहता, कोई झंझट नहीं रहता।

प्रश्नकर्ता : नहीं लेकिन यह व्यवहार अर्थात् *पुद्गल* ही रहा न? तो फिर *पुद्गल* कौन से *पुद्गल* को स्पर्श करता है? अर्थात् *पुद्गल* के सभी स्वांग खत्म हो जाएँ, *पुद्गल* के सभी स्वभाव खत्म हो जाने पर और फिर....

दादाश्री : यह जो मेरा *पुद्गल* है, क्या यह आपके *पुद्गल* से उच्च कक्षा का नहीं है? आगे बढ़ते-बढ़ते मेरी चार डिग्री पूर्ण हो जाएँ तो भगवान जैसा स्वरूप दिखाई देगा। मेरा वर्तन और आचरण सभी कुछ। अर्थात् शरीर भी भगवान जैसा हो जाएगा। तीर्थंकरों का शरीर भी भगवान हो गया था। इसलिए ये सभी लोग कबूल करते हैं न?

प्रश्नकर्ता : अर्थात् अंदर यह शरीर तो वैसा ही है लेकिन बीच का कुछ बदल जाता है? शरीर भले ही वैसा ही रहा। चार डिग्री में बदलाव किस बारे में, किस तरफ होता है?

दादाश्री : यह जो अंदर है, इस देह के आधार पर ही यहाँ पर लोगों को कमी दिखाई देती हैं। चार डिग्री के आधार पर लोगों को यह कमी दिखाई देती है। कपड़े हैं, फलाना है, अँगूठी है, बाल बनाए हैं। यह भोजन-वोजन वगैरह सबकुछ दिखाई देता है न, वहाँ ऐसा सब नहीं दिखता।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् वे जो चार डिग्री बदल जाएँ तो....

दादाश्री : फिर किसी को भी शंका हो, ऐसा नहीं रहता।

प्रश्नकर्ता : अंदर तो तीन सौ साठ पूरी हैं न?

दादाश्री : वह तो है ही न!

प्रश्नकर्ता : तो फिर?

दादाश्री : आचरण भी वैसा ही होना चाहिए न?

प्रश्नकर्ता : वह *पुद्गल* का स्वभाव माना जाता है न?

दादाश्री : हाँ, *पुद्गल* का स्वभाव भी ऐसा हो जाता है जैसे भगवान की हूबहू नकल कर रहा हो। अर्थात् वह भी भगवान और ये भी भगवान दिखाई देते हैं। लोग कहते हैं कि ये भगवान ही हैं।

प्रश्नकर्ता : यों पूरा रिलेटिव भाग (पहलू) भगवान जैसा हो जाता है? पूरी प्रकृति भगवान जैसी हो जाती है, ऐसा है?

दादाश्री : हाँ, क्षमा वैसी ही दिखाई देती है, नम्रता भी वैसी ही दिखाई देती है। सरलता भी वैसी ही दिखाई देती है, संतोष भी वैसा ही दिखाई देता है। किसी भी चीज़ का इफेक्ट ही नहीं! *पोतापणां* (मैं हूँ और मेरा है ऐसा आरोपण, मेरापन) नहीं रहा, वह सब लोगों की नज़र में आता है। बहुत सारे गुण उत्पन्न हो जाते हैं। वे आत्मा के गुण नहीं हैं और इस *पुद्गल* के भी गुण नहीं हैं, वैसे गुण उत्पन्न हो जाते हैं।

क्षमा तो आत्मा का भी गुण नहीं है और *पुद्गल* का भी गुण नहीं है, सहज क्षमा। कोई गुस्सा करे, तो हम क्षमा नहीं करते लेकिन यों सहज क्षमा ही रहती है। लेकिन सामनेवाले को ऐसा लगता है कि 'इन्होंने क्षमा कर दिया।' अर्थात् यहाँ पर पृथक्करण हो जाने पर हमें समझ में आ जाता है कि मुझे इससे लेना-देना नहीं है न!

प्रश्नकर्ता : यह तो क्षमा के लिए हुआ। इसी प्रकार सरलता के लिए कैसा होता है?

दादाश्री : हाँ, सरलता तो होती ही है न! सामनेवाले की दशा उलटी हो तब भी सरल को वह सब सीधा ही दिखता है। कैसी सरलता है! नम्रता!! इसमें आत्मा का कुछ है ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : यानी खुद में से क्रोध-मान-माया-लोभ चले जाते हैं, इसलिए ऐसे गुण प्रकट होते हैं?

दादाश्री : लोभ के बजाय संतोष रहता है इसलिए लोग कहते हैं, ''देखो न, 'इन्हें कुछ चाहिए ही नहीं।' जो कुछ भी हो, वह चलता है!'' ऐसे गुण उत्पन्न हो जाएँ तब भगवान कहलाते हैं।

प्रश्नकर्ता : लोगों को जब उनकी सरलता और क्षमा दिखती है तब वे खुद किसमें होते हैं?

दादाश्री : खुद मूल स्वरूप में होते हैं। लोग ऐसा कहते हैं, *पुद्गल* ऐसा दिखता है इसलिए। *पुद्गल* का वर्तन ऐसा दिखाई देता है इसलिए लोग कहते हैं, 'ओहोहो! कैसी क्षमा रखते हैं! इन्हें देखो न, हमने गालियाँ दीं लेकिन इनके चेहरे पर कोई भी असर नहीं हुआ। कितनी क्षमा रखते हैं और फिर यह कहावत भी बोलते हैं कि 'क्षमा वीरस्य भूषणम्।' अरे नहीं है! वीर भी नहीं है, क्षमा भी नहीं है। ये तो 'भगवान हैं!' और ऊपर से कहते हैं, 'क्षमा मोक्ष का दरवाज़ा है।' अरे भाई, यहवाली क्षमा नहीं, वह तो सहज क्षमा। जितना क्षमा सुधार सकती है, वैसा कोई नहीं सुधार सकता। इंसान जैसा क्षमा से सुधरता है, वैसा किसी भी चीज़ से नहीं सुधर सकता। पीटने से भी नहीं सुधर सकता। यह 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' कहलाता है।

अंत में प्रकृति भी बन जाए भगवान स्वरूप

प्रकृति आत्मा जैसी बन जाएगी तब छूटा जा सकेगा, यों ही नहीं छूटा जा सकता। जब प्रकृति को लोग भगवान कहेंगे, प्रकृति भगवान स्वरूप बन जाएगी, किसी को दु:ख न दे, बहुत सुंदर प्रकृति हो, खुद भगवान बन जाए, तब अपने से छूटा जा सकेगा। अभी प्रकृति भगवान होने लगी है। अब पहले जो कर रही थी, उसके बजाय कुछ बदलाव कर लिया है न प्रकृति ने या नहीं हुआ बदलाव? प्रकृति अभी भगवान बन रही है।

महावीर भगवान का *पुद्गल* अंत में जब भगवान बन गया, तब वे मुक्त हुए। भगवान बनाना ही पड़ेगा इसे।

प्रश्नकर्ता : सभी के लिए एक ही नियम है?

दादाश्री : हाँ, लेकिन किसी को गालियाँ दे और भगवान बन जाए, ऐसा नहीं हो सकता न!

प्रश्नकर्ता : इसमें अनात्मा *पुद्गल,* और *पुद्गल* ज्ञानी है, ऐसी बात आई इसलिए मैंने पूछा।

दादाश्री : वह रिलेटिव आत्मा है न, रिलेटिव आत्मा भगवान जैसा दिखेगा, लोगों को विश्वास हो जाएगा कि ये भगवान हैं, तब मुक्त हुआ जा सकेगा। रिलेटिव आत्मा गालियाँ दे रहा हो और मुक्त हुआ जा सके, क्या ऐसा हो सकता है?

प्रश्नकर्ता : मतलब प्रकृति ही न, या *पुद्गल*?

दादाश्री : प्रकृति। आत्मा के अलावा बाकी का सभी कुछ प्रकृति है और प्रकृति ही *पुद्गल* है।

प्रश्नकर्ता : मोक्ष में जाने से पहले क्या हम सब की प्रकृति उस स्टेज में आनी ही चाहिए, नियमानुसार?

दादाश्री : हाँ। तभी तो लोग कहेंगे न कि 'सर्वज्ञ हैं,' बाहर की प्रकृति ऐसी ही हो जाएगी।

प्रश्नकर्ता : आप जिन्हें ज्ञान देते हैं, वे लोग अलग हैं। जिन्हें अन्य किसी को ज्ञान देने के झंझट में नहीं पड़ना है और सीधे मोक्ष में जाना है, क्या वे लोग भी प्रकृति को भगवान के लेवल में लाने के बाद ही जा पाएँगे?

दादाश्री : सभी को। इसका तरीका तो एक ही है न! दो तरीके नहीं हैं। मार्ग अलग-अलग हो सकते हैं लेकिन तरीका एक ही है।

प्रश्नकर्ता : अब उस चीज़ की हमें इस जन्म में अंतर अनुभूति होगी या नहीं?

दादाश्री : इस जन्म की बात क्यों कर रहे हो? वह तो एक–दो जन्मों में सबकुछ अपने आप हो जाएगा। जहाँ दृष्टि बदल गई वहाँ देर ही नहीं लगेगी न।

प्रश्नकर्ता : तो दादा, सभी को ऐसा ही सारा झंझट करना पड़ेगा?

दादाश्री : तभी सबकुछ शुद्ध होगा न! क्रमिक मार्ग में अहंकार बहुत अधिक शुद्ध करना पड़ता है। क्रोध–मान–माया–लोभ के परमाणु नहीं रहते क्रमिक में।

अंदर जो आत्मा है, वह तो भगवान ही है। बाहर जो प्रकृति है, उसे वीतराग बनाओ। उसे वीतराग बना ही रहे हैं लोग। किस प्रकार आसानी से हो सकता है, उस मार्ग को जितना जानें उतना ही उसका निबेड़ा आएगा। इस प्रकृति को भी वीतराग बनाना है। भगवान महावीर की प्रकृति वीतराग ही थी।

प्रकृति को अंत में वीतराग बनाना है लेकिन इस ज्ञान के मिलने के बाद हमें बनाना नहीं है, अपने आप हो ही जाएगी। मेरी आज्ञा में रहे न, तो प्रकृति वीतराग होती ही जाएगी। आपको आपका कोई कर्तापन नहीं है। करने से तो कर्ता बन जाएँगे फिर से। आज्ञा में रहने से होता ही जाएगा।

सहजता में पहला कौन?

प्रश्नकर्ता : ज्ञान हो जाने के बाद प्रकृति सहज होती जाती है या फिर जैसे–जैसे प्रकृति सहज होती जाए वैसे–वैसे ज्ञान प्रकट होता जाता है? इसका क्रम क्या है?

दादाश्री : हम यह ज्ञान देते हैं, तब दृष्टि बदल जाती है और उसके बाद प्रकृति सहज होती जाती है। उसके बाद संपूर्ण सहज हो जाती है। आत्मा तो सहज है ही अगर प्रकृति भी बिल्कुल सहज हो जाए, तो बस हो गया। जुदा हो गए। और प्रकृति सहज इसका मतलब तो बाहर का भाग भी भगवान बन गया। अंदर का तो है ही। अंदर का तो सभी में है।

प्रश्नकर्ता : हमारी प्रकृति कितनी असहज है....

दादाश्री : उसमें कोई बात नहीं। यह प्रकृति तो आपने मुझ से मिलने से पहले भरी थी।

प्रश्नकर्ता : प्रकृति सहज हो जानी चाहिए या नहीं?

दादाश्री : वह तो, अगर खुद इस ज्ञान में रहे तो सहज हो ही जाएगी।

प्रकृति का *निकाल* होता ही रहता है, अपने आप *निकाल* हो जाएगा और नई प्रकृति मेरी हाज़िरी में भरी जा रही है और किसी की अगर ज़रा सख्त होगी तो एकाधजन्म ज़्यादा होगा। एक-दो जन्मों में तो सभी कुछ चला जाएगा। यह सारा मल्टिप्लिकेशनवाला है।

प्रश्नकर्ता : आपकी दृष्टि से तो यह सब शुद्ध ही भरा जा रहा है या नहीं? हमारी दृष्टि तो बदल गई, लेकिन जो नई प्रकृति बननी है, वह ठीक और सीधी बनेगी या नहीं?

दादाश्री : अब शंका रखने का कोई कारण नहीं है न! आप अगर चंदूभाई बन जाओ तो हम समझें की शंका रखनी है। वह तो आपकी श्रद्धा में है ही नहीं न?

दखलंदाज़ी से असहजता

प्रश्नकर्ता : ज्ञान होने के बाद समझ में आता है लेकिन प्रकृति का नाश थोड़े ही हो जाता है?

दादाश्री : नहीं, प्रकृति काम करती ही रहती है। प्रकृति जुदा रहती है ज्ञानी में, ज्ञानी में हंड्रेड परसेन्ट (१००त्न) जुदा रहती है।

वे ज्ञानी क्यों कहलाते हैं? क्योंकि सहज स्वरूप देह और सहज स्वरूप आत्मा, दोनों सहज स्वरूप। दखलंदाज़ी नहीं करते। दखलंदाज़ी करने से असहजता रहती है।

'अभी जितनी दखलंदाज़ी होती है, उतनी असहजता बंद करनी पड़ेगी,' आप यह जानते भी हो। असहज हो जाते हो, वह भी जानते हो। असहजता बंद करनी है, ऐसा भी जानते हो। किस तरह बंद होगी, वह भी जानते हो, सभी कुछ जानते हो आप।

प्रश्नकर्ता : फिर भी कर नहीं पाते।

दादाश्री : वह धीरे–धीरे होगा। एकदम से नहीं हो पाएगा यह। यह दाढ़ी (शेव) करने का सेफ्टी रेज़र आता है न, उस प्रकार करने से हो जाएगा? हाँ? थोड़ी देर लगेगी, हर एक को थोड़ा टाइम लगता है। ऐसा करने से हो जाएगा, सेफ्टी के लिए?

प्रश्नकर्ता : कट जाएगा।

दादाश्री : हर एक को टाइम लगता है।

[1.8] प्रकृति के ज्ञाता–दृष्टा

आज्ञा और सत्संग से बढ़े जागृति

प्रश्नकर्ता : दादा, हमें प्रकृति छोड़नी है या नहीं?

दादाश्री : बस और कुछ भी नहीं, प्रकृति क्या कर रही है उसे देखते रहना है। प्रकृति से जुदा होने के बाद, ज्ञानीपुरुष जुदा कर दें और पुरुष बना दें, तब फिर देखते ही रहना है। जब तक उसमें 'मैं चंदूभाई ही हूँ' ऐसा था, तब तक प्रकृति में ही थे! पिछले जो उदय हैं, अब उन उदयों को सिर्फ देखना है। प्रकृति जो करती है, मन करता है, बुद्धि करती है, उन सब को देखना है। उसके बजाय अंदर दखल करने जाते हो। आपको यह देखते रहना है कि वह अंदर क्या दखल कर रहा है। उसके बजाय आप भी चले जाते हो अंदर। उसी से कच्चा रह जाता है।

प्रश्नकर्ता : दादा, उसे पक्का करने का उपाय क्या है?

दादाश्री : यह सत्संग और आज्ञा पालन, बस। दोनों का मिक्स्चर होगा तो हो जाएगा!

अब यह जो प्रकृति है, वह मिश्रचेतन कहलाती है या तो पावर चेतन कहलाती है। पावर चेतन यानी क्या? नाम मात्र को भी चेतन नहीं। पावर खड़ा हो गया है। जैसे कि यहाँ पर एक हीटर के सामने कोई एक चीज़ पड़ी हो तो, वह पूरी गरम हो जाती है या नहीं हो जाती? हीटर की इच्छा नहीं है कि मुझे इसे गरम करना है।

प्रश्नकर्ता : प्रकृति को मिश्रचेतन कहा गया है। इस मिश्रचेतन के अंदर का चार्ज हो चुका भाग यदि निकल जाए यानी कि सारा डिस्चार्ज हो जाए, तो फिर क्या बचेगा?

दादाश्री : प्रकृति खुद ही चार्ज हो चुका भाग है इसलिए जब वह खत्म हो जाता है, तब प्रकृति भी खत्म हो जाती है।

प्रकृति ही सारा डिस्चार्ज कर देती है। इसीलिए फिर कहते हैं न, कि चले जाना पड़ेगा भाई (मृत्यु हो जाएगी)। इतनी जल्दबाज़ी क्यों मचा रहा है? चले जाना पड़ेगा, डिस्चार्ज हो जाएगा तब! तब मैंने पूछा, 'जल्दी जाना है?'

प्रश्नकर्ता : तो दादा, क्या प्रकृति का स्वभाव ही ऐसा है कि डिस्चार्ज होती ही रहती है?

दादाश्री : निरंतर। उसका स्वभाव ही है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् प्रकृति को मात्र देखते ही रहना है जैसा कि आप कहते हैं। 'प्रकृति डिस्चार्ज हो रही है उसे तू देखता रह, तो कभी न कभी प्रकृति खत्म हो जाएगी।'

दादाश्री : हाँ, देखते रहो। किसी की पागल होती है, किसी की समझदार होती है, किसी की अर्ध पागल होती है, किसी की आधी समझदार होती है, ऐसी इन सभी प्रकृतियों को देखते रहना है। कोई कढ़ी ही खाता रहता है, कोई दाल ही खाता रहता है, कोई लड्डू ही खाता रहता है, कोई जलेबी ही खाता रहता है, इन सब को देखते रहना है। प्रकृति के गुण, अपनी प्रकृति के क्या गुण हैं, उन्हें देखते रहना है। आप नहीं जानते?

प्रश्नकर्ता : जान सकते हैं न, क्यों नहीं जान सकते? उपयोग में रहें, वही न?

दादाश्री : हाँ, देखते रहना है।

प्रश्नकर्ता : सभी खुद की प्रकृति लेकर आए हुए हैं?

दादाश्री : हाँ, प्रकृति लेकर आए हुए हैं। प्रकृति अर्थात् रिकॉर्ड करके लाए हैं। अत: फिर जैसी रिकॉर्ड होती है, वैसी ही बजती रहती है पूरे दिन। तुझ में तेरी रिकॉर्ड बजती

है, इसमें इसकी रिकॉर्ड बजती है। तूने सुनी नहीं है तेरी रिकॉर्ड? तेरी रिकॉर्ड को सुना है? ऐसा! बहुत अच्छी लगती है? अच्छी नहीं लगती? नहीं? जबकि इस भाई को पसंद है खुद की रिकॉर्ड। पसंद नहीं है रिकॉर्ड? प्रकृति अर्थात् रिकॉर्ड किया हुआ। वह फिर बजती ही रहती है पूरे दिन! उसे देखते रहना है।

प्रश्नकर्ता : प्रकृति को जैसे–जैसे देखें, वैसे–वैसे कम होती जाती है?

दादाश्री : कम हो जाती है इसलिए फिर से बीज नहीं डलते। ऐसा लगे कि इन अभिप्रायों ने अंदर उलझा दिया है तो फिर देखो। देखने से शुद्धता को प्राप्त करता है। जैसे–जैसे शुद्धात्मा को देखे वैसे–वैसे प्रकृति शुद्धता को प्राप्त करती है।

प्रश्नकर्ता : जब तक प्रकृति को देखे नहीं, तब तक कम नहीं होती?

दादाश्री : जब तक प्रकृति को देखे नहीं तब तक मोक्ष में नहीं जा सकते।

प्रश्नकर्ता : हम अपनी खुद की प्रकृति को देखते रहें तो शुद्धिकरण हो जाएगा उसमें?

दादाश्री : तब आप ज्ञाता–दृष्टा बन गए, ऐसा, कहा जाएगा। खुद की प्रकृति को देखना, वही है ज्ञाता–दृष्टा पद। ये पेड़–पत्ते वगैरह देखना, वह ज्ञाता–दृष्टापन नहीं है। वह तो बुद्धि भी देख सकती है, वह इन्द्रियगम्य है लेकिन अतिन्द्रिय ज्ञान से तो यह पूरा जगत् जैसा है वैसा दिखाई देता है।

प्रश्नकर्ता : अब यह प्रकृति कम हो जाए, उसके लिए ज्ञानी दृष्टि बदल देते हैं न?

दादाश्री : तू अलग है और यह अलग। अब इस प्रकृति को तुझे देखना है। जैसे सिनेमा में फिल्म देखते हैं न, वैसे इस प्रकृति में हम यह सब देख सकते हैं कि मन क्या–क्या कह रहा है, मन क्या–क्या सोच रहा है। उसे देखना ही है, फिल्म है। वह ज्ञेय है और हम ज्ञाता हैं। यह ज्ञेय–ज्ञाता का संबंध है। वह फिल्म है और मैं देखनेवाला, दोनों जुदा हो गए।

प्रकृति के ज्ञेय सूक्ष्म, सूक्ष्मतर

प्रश्नकर्ता : क्या ऐसा है दादा कि प्रकृति के सभी ज्ञेय देख लेने के बाद दरअसल ज्ञेय दिखने की शुरुआत होती है?

दादाश्री : उसके बाद तो बहुत ज्ञेय देखने बाकी रहते हैं। उसके बाद तो सारे बीचवाले बाकी रहते हैं। बीचवाले सारे बहुत तरह-तरह के ज्ञेय हैं। पहले प्रकृति के स्थूल ज्ञेय हैं।

प्रश्नकर्ता : बीचवाले यानी कैसे?

दादाश्री : सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, ये सभी प्रकृति के मिक्स्चर हैं। मिश्रचेतन जैसे।

प्रश्नकर्ता : तो ये क्रोध-मान-माया-लोभ किसमें आते हैं?

दादाश्री : वह सब सूक्ष्म प्रकृति है।

प्रश्नकर्ता : उन ज्ञेयों को फिर देखना है? हालांकि वे तो दिखाई देते हैं दादा, कुछ यह भी दिखता है और वहवाला भी दिखता है।

दादाश्री : नहीं। नहीं दिखता। वे दिख जाते तो उसके चेहरे पर परिवर्तन नहीं आता। वह तो, जो बहुत स्थूल होता है, वही दिखाई देता है। सूक्ष्म तो दिखते ही नहीं है न! चेहरे पर असर होता ही रहता है न! वे सब देखते-देखते तो आगे जाकर उसके बाद के सभी ज्ञेय दिखेंगे। यह प्रकृति दिखेगी उसके बाद फिर बहुत अच्छी तरह आगे बढ़ेगा। प्रकृति ही रोकती है यह सब। तेरी प्रकृति दिखाई देती है तुझे?

प्रश्नकर्ता : स्थूल-स्थूल दिखता है। मोटा-मोटा दिखता है।

दादाश्री : मोटा भी कुछ नहीं दिखता! कौन सा मोटा दिखता है?

प्रश्नकर्ता : कहाँ-कहाँ असर होता है, क्या होता है वह पता चलता है।

दादाश्री : तुम्हारे उठने के बाद प्रकृति क्या करेगी जानते हो तुम? वहाँ तुम्हारी प्रकृति क्या कर रही थी वह तुम जानते हो? प्रकृति क्या करेगी, इसके बाद क्या करेगी, इसके बाद क्या करेगी, वह सबकुछ जानता है अंदर। अरे, मेरी प्रकृति नहीं, तुम्हारी प्रकृति क्या करेगी वह भी मैं जानता हूँ। प्रकृति को मैं जानता हूँ। तुम्हारे उठने के बाद टाइम टू टाइम सब करती है। टाइम को तो *लक्ष* (जागृति) में रखने जैसा है ही नहीं। क्या हो रहा है, उसे देखते रहना है।

जो प्रकृति में तन्मयाकार नहीं, वह संयमी

अब क्रोध-मान-माया-लोभ नहीं होते, क्योंकि वे आत्मा के गुण हैं ही नहीं। अत: अपने सभी महात्मा संयमी कहे जाएँगे। संयमी अर्थात् क्या कि यह प्रकृति जो कर रही है, खुद का उसके विरुद्ध अभिप्राय खड़ा हो जाए, वह संयमी।

प्रकृति गुस्सा करे तो उसे खुद को अच्छा नहीं लगता। इस प्रकार अभिप्राय अलग हो जाए, वह संयमी है, 'ऐसा नहीं होना चाहिए, आड़ाई नहीं होनी चाहिए।' प्रकृति तो अपना काम करती ही रहेगी। अगर असंयमी है तो प्रकृति में एकाकार होकर काम करता है और संयमी है तो वह प्रकृति को अलग रखता है, अलग ही रखा करता है। प्रकृति में तन्मयाकार हो जाए, वह भी अलग है और प्रकृति जो करती है, करती रहती है, उसके सामने खुद का अलग अभिप्राय रखे, वह संयमी है। फिर वह चाहे कैसी भी प्रकृति हो। जो प्रकृति में तन्मयाकार नहीं होता, वह संयमी है।

प्रश्नकर्ता : प्रकृति जैसी भी हो, उसके लिए उसके विरुद्ध अभिप्राय रखने की ज़रूरत है या उसके ज्ञाता-दृष्टा रहने की ज़रूरत है?

दादाश्री : ज्ञाता-दृष्टा रहने की ज़रूरत है। ज्ञाता-दृष्टा अर्थात् वह तो सब से अंतिम कहलाता है, हाई लेवल कहलाता है। उतना हाई लेवल आने में देर लगेगी। जबकि प्रकृति से अलग अभिप्राय का मतलब क्या है कि उसे ऐसा रहना चाहिए कि 'ऐसा नहीं होना चाहिए।' यह सब उसे अच्छा नहीं लगना चाहिए।

प्रश्नकर्ता : तब फिर उस ज्ञाता-दृष्टा की दिशा में आगे बढ़ता है।

दादाश्री : वह आगे बढ़ता है, फिर उस दिशा में फुल साइट हो जाए तब ज्ञाता–दृष्टा बन जाता है।

प्रश्नकर्ता : U वह फुल साइट है। उससे पहले अभिप्राय बदलना पड़ेगा।

दादाश्री : लेकिन उसे हम ज्ञाता–दृष्टा ही मानते हैं। निश्चय की अपेक्षा से। यहाँ से बिगिनिंग होती है।

प्रश्नकर्ता : जो प्रकृति में तन्मयाकार नहीं हुआ, क्या वही ज्ञाता–दृष्टा है?

दादाश्री : वही ज्ञाता–दृष्टा है।

प्रकृति नचाए नाच

प्रश्नकर्ता : तो ऐसा कह सकते हैं कि प्रकृति स्वभाव ही यह सब करवाता है। इच्छा नहीं हो फिर भी प्रकृति के करवाने से वह करता है। प्रकृति उससे करवाती है।

दादाश्री : प्रकृति करवाती है इतना ही नहीं, बल्कि लट्टू को नचाती भी है। ये सभी जो लट्टू हैं न, टी–ओ–पी–एस, सभी नाचते हैं और प्रकृति नचवाती है, फिर वह बड़ा मंत्री हो या कोई और, लेकिन ये सभी नाचते हैं और अहंकार करते हैं कि 'मैं नाचा'।

प्रश्नकर्ता : और वहाँ पर यदि ज्ञाता–दृष्टा भाव रखें तो?

दादाश्री : तो कल्याण ही हो गया न! खुद के स्वभाव में आ गया ऐसा कहा जाएगा। खुद का स्वभाव 'कर्ता' है ही नहीं, 'ज्ञाता–दृष्टा' ही है लेकिन खुद को कर्ता मानकर इसमें फँस जाता है। बस इतना ही है और इसीलिए संसार कायम है।

प्रश्नकर्ता : गीता में जब अर्जुन कहते हैं कि 'मैं नहीं लड़ूँगा' तब कृष्ण भगवान उसे कहते हैं कि 'तेरे स्वभाव से, तेरी प्रकृति की वजह से तू लड़ेगा ही।'

दादाश्री : हाँ, प्रकृति का अनुसरण किए बगैर कोई रह ही नहीं सकता न। कृष्ण भगवान ने भी खुद की प्रकृति का अनुसरण किया न! अपना कुछ चलता ही नहीं न!

प्रकृति छोड़ती ही नहीं न किसी को! सिर्फ खुद के अभिप्राय बदल देता है ज्ञान से। प्रकृति के अधीन राग हुए बगैर रहेगा ही नहीं। अगर खुद का अभिप्राय बदल जाए कि यह शोभा नहीं देता, तो छूट जाएगा।

मालिकी भाव छूटने के बाद, बचे दिव्यकर्म

प्रश्नकर्ता : आत्मा के अलग हो जाने पर भी प्रकृति रहती है। वह तो अपना काम करती ही रहती है।

दादाश्री : प्रकृति अपने आप ही स्वभाव से काम करती रहती है। उसमें आत्मा की ज़रूरत नहीं पड़ती। सिर्फ आत्मा की हाज़िरी की ज़रूरत है। हाज़िरी अर्थात् प्रकाश आत्मा का है।

प्रश्नकर्ता : शुद्धात्मा के अलग हो जाने के बाद प्रकृति का भी दिव्यकरण हो जाना चाहिए न?

दादाश्री : प्रकृति का वैसा दिव्यकरण हो जाने के बाद ही वे दिव्यकर्म कहलाते हैं। फिर जो कर्म बचे न, वे दिव्यकर्म हैं। उनका कोई मालिक नहीं है, और अहंकार नहीं है इसलिए दिव्यकर्म कहलाते हैं।

प्रश्नकर्ता : लेकिन जिन्हें ब्रह्मज्ञानी कहा जाता है, ऐसे विश्वामित्र की प्रकृति भी काम कर गई। कई बार वह प्रकृति खुद की पकड़ नहीं छोड़ती, ज्ञान होने के बाद भी प्रकृति छोड़ती नहीं है। वह तो काम कर ही लेती है।

दादाश्री : कोई हर्ज नहीं। प्रकृति करे तो हर्ज नहीं है। प्रकृति को हमें देखते रहना है। सिर्फ देखना ही है। ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है आत्मा का। आत्मा प्राप्त हो गया है तो इस प्रकृति को देखते ही रहना है आपको। आपका अहंकार चला गया, ममता चली गई, फिर बचा क्या? क्रोध-मान-माया-लोभ बिल्कुल हों ही नहीं, उसी को कहते हैं, ज्ञान।

प्रकृति के फॉर्स के सामने.....

प्रश्नकर्ता : प्रकृति का फॉर्स क्यों इतना ज़्यादा होता है कि देखना भी भुलवा देती है?

दादाश्री : इतनी आत्मा की शक्ति कम है। शक्ति अधिक हो तो भले ही कितने भी फॉर्सवाली हो, तब भी वह जुदा हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : आत्मा की शक्ति तो सभी की एक सरीखी ही होती है न?

दादाश्री : जितना आत्मारूप हो जाए, शक्ति भी उतनी ही होती है। खुद कितना आत्मारूप हुआ है?

प्रश्नकर्ता : आत्मारूप किसे होना है?

दादाश्री : खुद ही, खुद को ही होना है न! खुद को ही, सेल्फ को! जो आत्मा दिया हुआ है, उसी को! तुझे जो आत्मा दिया हुआ है, वही है मूल आत्मा।

प्रश्नकर्ता : शक्तिवाला कैसे बनना है, वह समझ में नहीं आया?

दादाश्री : आज्ञा का जितना पालन किया जाए, शक्ति उतनी ही बढ़ती जाती है। यानी कि प्रकट होती जाती है। मूल आत्मा की शक्ति सभी में एक सरीखी होती है लेकिन आज्ञा पालन के अनुसारकम या ज़्यादा प्रकट होती है। धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते अंत तक पहुँचती है।

प्रश्नकर्ता : जब तक इस प्रकृति का फॉर्स रहता है, तब तक आज्ञा पालन भी नहीं करने देती। प्रकृति की वजह से ही यह सब है। खुद की इच्छा तो है।

दादाश्री : प्रकृति की वजह से कोई परेशानी नहीं है। निश्चय किया तो सब सही हो जाता है। खुद चेतन है और प्रकृति निश्चेतन-चेतन है। तो फिर निश्चेतन-चेतन, चेतन का क्या बिगाड़ सकता है?

प्रश्नकर्ता : जब तक वह साथ में है, तब तक तो इसमें बाधक रहेगी।

दादाश्री : खुद मज़बूत हो जाए तो बाधक नहीं रहेगी।

प्रश्नकर्ता : तो यह ज्ञान लेने के बाद जो खुद की प्रकृति को देखता है, वह खुद कौन है जो देखता है?

दादाश्री : वही, आत्मा ही देखता है न। और कौन? सबकुछ आत्मा के सिर पर। आत्मा अर्थात् प्रज्ञा, वही फिर। यहाँ पर फिर सीधे आत्मा ही है, ऐसा मत मानना। आत्मा अर्थात् पहले प्रज्ञा ही सबकुछ, वही सारा कार्य करती है लेकिन हम आत्मा कहते हैं। कहते हैं, बस इतना ही!

प्रश्नकर्ता : वह जब प्रकृति को देखता है, तब प्रकृति शुद्ध मानी जाती है या वे जब उसके तत्वों को देखता है, तब शुद्ध माना जाता है?

दादाश्री : जब से प्रकृति को देखना शुरू किया, जब खुद तत्व स्वरूप हो गया, तब प्रकृति भी शुद्ध हो गई। जब तक अहंकार है तब तक प्रकृति शुद्ध नहीं कही जा सकती।

हम अब शुद्धात्मा हो गए हैं, पुरुष हो गए हैं इसलिए मोक्ष के लायक हो गए हैं लेकिन मोक्ष में नहीं जा सकते। क्यों? तो वह इसलिए कि यह प्रकृति क्या कहती है, *पुद्गल* क्या कहता है कि 'आप तो चोखे हो गए, शुद्ध हो गए लेकिन हम तो चोखे, शुद्ध थे न, और आपने बिगाड़ा है हमें, इसलिए हमें भी फिर से शुद्ध कर दो,' तभी छूट पाओगे, नहीं तो छूट नहीं पाओगे नियम अनुसार।' यानी कि जब हम उसके दाग़ वगैरह धोकर शुद्ध कर देंगे तब चला जाएगा, शुद्ध करते ही चला जाएगा। प्रतिक्रमण करने से शुद्ध होकर चला जाएगा। अब हम तो शुद्ध हो गए लेकिन जब तक इसे शुद्ध नहीं करेंगे, तब तक अपनी ज़िम्मेदारी रहेगी न?

प्रश्नकर्ता : किस तरह शुद्ध करना है?

दादाश्री : प्रतिक्रमण से। दाग़ दिखता जाए और हम प्रतिक्रमण करते जाएँ।

जो प्रकृति स्वभाव को जाने, वह ज्ञायक

प्रकृति के स्वभाव को निहारना, वही ज्ञायकता है। वह भी दूसरों की नहीं, खुद की ही प्रकृति। प्रकृति स्वभाव को वेदे तो वेदकता कहलाती है और जब प्रकृति स्वभाव को जाने तो वह ज्ञायकता कहलाती है।

अनादि से परिचय है न, इसलिए! सिर दु:खे तो वास्तव में तो खुद उसे जानता ही है, बाकी कुछ भी नहीं करता और ज्ञायकता तो आपको दी गई है कि प्रकृति को देखो। तो प्रकृति का सिर दु:खे तो उसे देखना है। उसके बजाय यदि ऐसा रहे कि मुझे दु:ख रहा है तो वहाँ पर अजागृति हो जाती है। इससे फिर दु:खना शुरू हो जाता है। और अगर जाने तो यह किसे दु:ख रहा है, वहजानता ही है। सामनेवाले के दु:ख को भी जानता है।

अपना विज्ञान बहुत अलग तरह का है। कई बार हम भी, हमसे भी दु:ख से अलग नहीं रहा जा सकता कुछ चीज़ों में। कुछ चीज़ों में अलग ही रहता है लेकिन कुछ प्रकार के दु:खों में अंदर चिपका रहता है, किसी जगह पर। चिपका रहता है, उसे हम उखाड़ते रहते हैं।

प्रश्नकर्ता : वहाँ ज़्यादा उपयोग रखते हैं?

दादाश्री : उपयोग रखते हैं ज़्यादा, लेकिन फिर भी उपयोग रखना पड़ता है, जबकि बाकी सब में सहज उपयोग रहता है।

दाँत दु:खे तब खुद सिर्फ जानता ही है। जाननेवाला तो सिर्फ जानता ही रहता है। अंदर दु:खता नहीं है, दु:खता है प्रकृति को, चंदूभाई को दु:खता है और खुद कहता है कि 'मुझे दु:खा' इसलिए दर्द उसे पकड़ लेता है, जैसा चिंतन करे, तुरंत वैसा ही बन जाता है लेकिन अब इसमें बहुत गहरे उतरने के लिए मना करता हूँ। उसके लिए तो अगला एक जन्म है ही न। सबकुछ निकल जाएगा।

प्रश्नकर्ता : वह तो मैंने देखा है। हमें पता चलता है कि यह चंदूभाई को दु:ख रहा है, उससे हमें क्या लेना-देना?

दादाश्री : उसमें अगर कमी रह जाए तो ज्ञायकता नहीं रह पाती।

प्रश्नकर्ता : पूरी रात ऐसे निकाली है, दादाजी।

दादाश्री : हाँ, वह तो निकालते हैं, निकालते हैं। लेकिन सभी से नहीं निकाली जा सकती। ये सब चीज़ें ऐसी नहीं हैं क्योंकि अनादि का अभ्यास है न उसे। कभी दो-चार मच्छर काट लें तो पता चल जाएगा। यों जो मारती है वह तो प्रकृति मारती है। प्रकृति के वे दोष तो निकलेंगे, जब निकलते हैं तभी आप परेशान हो उठते हो, वह भूल है।

प्रश्नकर्ता : वह तो सिखा दिया था आपने। फिर यहाँ कौन उलझेगा दादाजी! फिर तो उनका जो हिसाब है, वे लेकर जाएँगे। हमें क्या झंझट?

दादाश्री : हाँ, हिसाब चुकाते हैं लेकिन ऐसा रहना चाहिए न कि वह हिसाब है! पूरे रूम में बहुत सारे मच्छर हों तो सो जाता है। लेकिन अगर सिर्फ चार हों तो उनके लिए झंझट है इन्हें क्योंकि अगर बहुत मच्छर हों, तो मच्छरों में ही सो जाना है इसलिए सो जाता है शांति से लेकिन अगर चार ही हों तो उन्हेंदेखता रहता है। मेरी मच्छरदानी के अंदर दो मच्छर घुस जाएँ तो उन्हें भी नीरू बहन निकाल देती हैं क्योंकि उनके प्रति जो चिढ़ घुस चुकी है उसे निकलने में देर लगती है। पिछले जन्म की चिढ़ घुसी हुई हो, तो इस प्रकृति में गुथी हुई रहती है, इसलिए देर लगती है।

अब जैन शास्त्र कहते हैं कि बाईस परिषह सहन करो। अब चारों में से एक परिषह भी सहन हो सके ऐसा नहीं है। इस दुषमकाल के जीव परिषह कैसे सहन करेंगे? यह तो विज्ञान है इसलिए अपनी गाड़ी चल रही है। नहीं तो बाईस परिषह में, अगर कंकड़ों पर सुलाया गया हो तो भी हमें नरम बिस्तर याद नहीं आना चाहिए। 'तब कैसे गालीचे में सोते थे' वगैरह ऐसा सब याद नहीं आना चाहिए। वे बाईस परिषह क्या ऐसे हैं कि अभी सारे जीते जा सकें? वहता, यह विज्ञान है इसलिए सारा हल आ गया।

प्रकृति के सामने यथार्थ ज्ञाता-दृष्टापन

प्रश्नकर्ता : अब दादा, वह जो आपने कहा है कि अब आप अपने आप शुद्धात्मा का काम करते रहो, तो इसका मतलब क्या ज्ञाता–दृष्टा और परमानंदी रहना, ऐसा है?

दादाश्री : बस, और कुछ भी नहीं। ज्ञाता–दृष्टा और परमानंदी! और 'चंदूभाई की प्रकृति क्या कर रही है,' वह देखते रहो। इनकी गाड़ी आए तब चंदूभाई कहेंगे, 'यह टकरा जाएगी, ऐसा होगा, वैसा होगा।' तब आपको वह देखते रहना है कि 'अरे वाह!' ये *पुद्गल* पर्याय हैं सारे, इन्हीं को देखना हैं। खुद की प्रकृति को देखते रहना है।

इस प्रकृति को 'देखा' तो अपने आप ही फल देकर चली जाएगी यानी कि 'मैं फिर से नहीं आऊँगी, आप मुक्त और मैं भी मुक्त' ऐसा कहकर चली जाएगी। फिर अगर आपको कोई आपत्ति है तो बुलवा लेना!

एक बार रास्ते पर जा रहे थे, तो एक बस जल रही थी। वह मैंने देखी। मैंने कहा, 'यह बस जल रही है।' भड़,भड़,भड़, भड़ अरे....बहुत बड़ी होली की तरह जल रही थी। तब मैंने जाना, 'यह बस जल रही है।' तब फिर मैं यह दृष्टि लाता हूँ न कि यह प्रकृति कहाँ तक चली कि 'अरे अरे, इन लड़कों ने क्या लगा रखा है? ये आरक्षण विरोधी! इन लोगों को खुद की खबर नहीं है कि वे क्या कर रहे हैं! इस तरह यह प्रकृति अंदर जो चलने लगी, उसे मैं देख ही रहा था कि प्रकृति कैसे चल रही है!

प्रकृति तो बोले बगैर रहेगी नहीं न! 'ये बस जला रहे हैं और ऐसा हो रहा है' तो इसमें अपने बाप का क्या चला गया? प्रकृति, जैसे अपना ही हो ऐसे अक़्लमंदी किए बगैर रहती नहीं। प्रकृति ऐसी सब अक़्लमंदी करती ही रहती है। उसे हम देखते रहते हैं, बस! और क्या! हम समझ गए कि 'ओहोहो! प्रकृति क्या कर रही है?' 'लड़कों को ऐसा नहीं करना चाहिए। लड़कों को इसकी समझ नहीं हैं, इसलिए ऐसा कर रहे हैं। लड़कों को पता नहीं है कि वे क्या कर रहे हैं!' लेकिन फिर इन सब को भी हम जानते हैं। मैं इसे जान ही रहा होता हूँ और दूसरी तरफ प्रकृति तो अपनी बातें करती जाती है।

और इसमें प्रकृति में अंदर कोई सिरफिरा हो तो पूछेगा कि 'आप कौन हो?' तब फिर हम कहते हैं कि 'हम केवलज्ञान स्वरूप हैं। तुझे जो करना हो वह कर। उस पर जितने दावे करने हों वे कर!'

आप ज्ञाता–दृष्टा कहलाते हैं। खुद की प्रकृति को देखना, वह जो है वही ज्ञाता–दृष्टापन है। फिर प्रकृति के साथ बात–चीत करना। चंदूभाई के नाम से ही व्यवहार रखना है हमें। 'उदयकर्म है,' ऐसा कहना ही नहीं पड़े। 'चंदूभाई, कैसे हो? आपकी तबियत अच्छी है या नहीं?' सुबह उठकर पूछना ऐसा सब। क्योंकि अपने पड़ोसी हैं न! हर्ज क्या है? और फिर जैन के पड़ोसी जैन होते हैं और ब्राह्मण के ब्राह्मण होते हैं। फिर क्या परेशानी? इसलिए उन्हें 'कैसे हो, कैसे नहीं! आज ज़रा डेढ़ कप चाय पी लो' ऐसा कहना। ऐसा करके आप काम तो लेना! देखना कितना सुंदर करती है प्रकृति। प्रकृति के साथ एडजस्ट होना आना चाहिए। प्रकृति तो सुंदर स्वभाव की है। वह तो चाहे पाँच उबासी खाए लेकिन एक साथ उबासी नहीं खाती, वह आपका पेट खाली नहीं कर देती!

प्रश्नकर्ता : खुद की प्रकृति को पहचाना कैसे जाए?

दादाश्री : देखने से पहचाना जा सकता है। निरीक्षण करने से पहचाना जा सकता है।

प्रकृति को देखनेवाला व्यक्ति प्रकृति से बिल्कुल जुदा ही होता है, तभी देख सकता है। संसार व्यवहार में प्रकृति को देखनेवाले नहीं होते, प्रकृति को स्टडी करनेवाले होते हैं। ज्ञान के बाद 'खुद' आत्मा बनकर प्रकृति को देखता है, कि इसकी कैसी–कैसी आदतें हैं? मन–वचन–काया की आदतें और उसके स्वभाव को देखता है।

खींचे प्रकृति की पिक्चर, मूल कैमरे से

आप भी अपनी प्रकृति की फोटो खींच सकते हों। साल–दो साल हो गए हैं ज्ञान लिए लेकिन आप ज़रा कुछ फोटो तो खींचकर लाओ। और जगत् के लोगों से कहकर देखो, साधु–आचार्यों से कहकर देखो कि फोटो खींचकर लाओ, तो वैसा करना नहीं आएगा। एक भी फोटो काम नहीं आएगी इन साधु–आचार्यों की क्योंकि कैमरे नहीं हैं न! उन्होंने खुद का कैमरा घर पर बनाया हुआ है, अंहकार का। कैमरा तो मूल मौलिक होना चाहिए। यह तो अहंकार रूपी कैमरा है, क्या होगा इससे? फोटो कैसे खिंचेगी उसकी? समझने के लिए ज़रा सूक्ष्म बात है यह।

प्रश्नकर्ता : ज्ञान मिलने के बाद व्यक्ति की प्रकृति काम नहीं करती, लेकिन समष्टि की प्रकृति तो काम करेगी न? वह तो अपना काम करेगी न?

दादाश्री : वह जो करे उसे, उसे भी हमें देखना है और इस प्रकृति को भी देखना है। ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव में आ जाना है।

प्रकृति में मठिया या उसका स्वाद

प्रकृति मठिया (खास प्रकार का गुजराती पकवान जो दिवाली पर बनाया जाता है) खाती है। ये सभी महात्मा जान चुके हैं इसलिए अमरीका में, यहाँ जहाँ भी जाए हैं, वहाँ पर मेरे लिए मठिये बनाकर रखते हैं लेकिन इस साल सिर्फ दो ही लोगों के यहाँ पर खाए हैं, बस। जो माफिक आए वह प्रकृति। सभी के यहाँ पर माफिक नहीं आया। तब ज़रा सा खाकर मैं रहने देता हूँ। यानी अगर कोई ऐसा कहे कि इन्हें मठिये अच्छे लगते हैं तो वह बात मान नहीं सकते। मठिये में रहा हुआ स्वाद, वह मेरी प्रकृति में है।

प्रश्नकर्ता : और फिर यह कैसा है दादा कि अपनी प्रकृति को अभी भाता है लेकिन फिर से एक महीने बाद वह चीज़ नहीं भाती। बदल जाती है।

दादाश्री : अरे तीन ही दिनों में बदल जाती है। दिनभर में भी बदल जाती है। आज पराठे भाते हैं और कल नहीं भाते।

प्रश्नकर्ता : हाँ, न भी भाएँ।

दादाश्री : आपने कब स्टडी की इसकी?

प्रश्नकर्ता : दादा का देखता हूँ इसलिए स्टडी होती है। सहज प्रकृति किस तरह काम करती है, वह तो दादा का देखने से ही पता चलता है।

दादाश्री : नाश्ता आए तो देख–देखकर लेते हैं लेकिन इसमें अलग क्या होता है? तो वह यह कि किस पर मिर्ची ज़्यादा लगी हुई है? उसी का नाम प्रकृति। प्रकृति को

संपूर्णरूप से जान ले, तब भगवान बन जाता है। प्रकृतिमय नहीं रहे, तभी जान सकता है, वर्ना अगर प्रकृतिमय हो जाए तो नहीं जान सकता, तभी से बंधन। यदि प्रकृति उसे समझ में आ जाए तो मुक्त हो जाएगा।

यह प्रकृति है, उसे अगर आप देखते रहो तो बिल्कुल भी परेशानी नहीं है। आपकी जवाबदेही हो तो हर्ज नहीं है। हमारी जवाबदेही नहीं आएगी। आपकी देखने की इच्छा होनी चाहिए और फिर भी अगर नहीं देख पाए तो उसकी फिर ज़िम्मेदारी नहीं रहती।

[1.9] पुरुष में से पुरुषोतम

शक्ति, पुरुष और प्रकृति की

प्रश्नकर्ता : पुरुषार्थ परम देवम्, हर एक की दृष्टि में पुरुषार्थ की परिभाषा अलग-अलग हो सकती है तो उसमें से पुरुषार्थ की श्रेष्ठ परिभाषा क्या है?

दादाश्री : पुरुषार्थ दो प्रकार के हैं। एक तो, खुद पुरुष होकर प्रकृति से अलग हो जाए और प्रकृति को निहारे, तो वह पुरुषार्थ कहलाता है। प्रकृति को देखता रहे। 'प्रकृति क्या कर रही है?' उसे देखता ही रहे, वह पुरुषार्थ कहलाता है। और दूसरा पुरुषार्थ, इस जगत् की दृष्टि से भ्रांत पुरुषार्थ भी सच्चा माना जाता है। क्योंकि पुरुषार्थ तो है ही न! उसने उल्टा किया तो यह उल्टा फल मिला। सीधा किया तो सीधा फल मिला।

प्रश्नकर्ता : पुरुष शक्ति और प्राकृत शक्ति के बीच में भेद स्पष्ट करने की विनती है।

दादाश्री : पुरुष शक्ति अर्थात् जो पुरुषार्थ सहित हो, स्व पराक्रम सहित हो। ओहोहो! हम स्व पराक्रम से पूरी दुनिया में घूमते हैं, एक घंटे में! मैंने आपको पुरुष बनाया उसके बाद, आपके शुद्धात्मा हो जाने के बाद आपकी शक्तियाँ बहुत ही बढ़ने लगती हैं। लेकिन यदि इसमें *लक्ष* रखोगे, तब और हमारे टच में रहोगे तो बहुत हेल्प करेगी।

यह सब प्रकृति का है, प्राकृत शक्ति है। अब फर्क सिर्फ इतना ही है कि वह (चंदूभाई) प्रकृति में तन्मयाकार रहता है और हमें तन्मयाकार नहीं रहना है। प्रकृति जो

करती है उसे देखते रहना है।

महावीर भगवान सिर्फ खुद की ही *पुद्गल* प्रकृति को देखते रहते थे। उसी के ज्ञाता–दृष्टा रहते थे। ऐसे करते–करते केवलज्ञान उपजा।

ज्ञानी बैठे हैं सत् के संग

प्रश्नकर्ता : 'ज्ञानी भी प्रकृति में ही हैं' यह समझाइए।

दादाश्री : हाँ, हम भी प्रकृति में हैं। खाते हैं, पीते हैं, सो जाते हैं, बातें करते हैं।

प्रश्नकर्ता : 'लेकिन जो प्रकृति में रहकर खुद अलग रहें, वे ज्ञानी!'

दादाश्री : हाँ, हम इस शरीर से बाहर रहते हैं बिल्कुल। पड़ोसी की तरह रहते हैं।

अंदर जो बैठे हैं न, उस सत के साथ मैं बैठा हूँ और मेरे साथ ये सब बैठे हैं, इसलिए सत के नज़दीक ही हैं न ये सभी! इसलिए फिर मैं क्या कहता हूँ कि न्यूज़ पेपर पढ़ोगे तो भी हर्ज नहीं है, आप यहाँ आकर लड्डू खाओगे तो भी हर्ज नहीं है लेकिन अगर बाहर जाकर पुस्तकें और शास्त्र पढ़ोगे तो परेशानी होगी। चाहे कुछ भी करोगे तो भी परेशानी होगी। यहाँ पर कुछ भी करोगे तो भी हर्ज नहीं है, क्योंकि सत् के पास हो न! सत् अन्य कहीं पर हो नहीं सकता। सत् अर्थात् प्रकृति से बिल्कुल अलग! निराला!!

शुरू हुआ पुरुषोत्तम योग

प्रश्नकर्ता : पुरुष और प्रकृति को अलग रखने का उपाय क्या है?

दादाश्री : पुरुष और प्रकृति दोनों अलग चीज़ें हैं। पुरुष शुद्धात्मा है और प्रकृति *पुद्गल* है। प्रकृति *पूरण–गलन* स्वभाव की है, पुरुष ज्ञान स्वभाव का है। पुरुष अकर्ता है और प्रकृति कर्ता है, अर्थात् जहाँ पर कर्ता क्रियामान है। जो होता रहता है, वह प्रकृति है और जो अक्रिय रहे, वह है पुरुष। इस तरह अलग रखना है।

प्रश्नकर्ता : उसके लिए कोई साधन?

दादाश्री : यही, जागृति ही! इन दोनों को अलग-अलग पहचान ही गए कि भाई, यह अक्रिय है और यह सक्रिय है तो दोनों को अलग रखना है।

प्रश्नकर्ता : जो प्रकृति लेकर आए हैं, वह तो दुःखदाई ही है। अब वीतराग से ज्ञान मिला है। अब प्रकृति, प्रकृति का काम करेगी और जो सुख-दुःख का अनुभव होता है, वह कम हो जाएगा, हल्का हो जाएगा कभी?

दादाश्री : वह सब हल्का नहीं, पर छूएगा ही नहीं बाद में। जब पराया है ऐसा जान लोगे तब पूरा-पूरा अनुभव होगा। अभी तक तो ऐसा अनुभव नहीं होता न कि पराया है।

आत्मा के जुदा होने के बाद सिर्फ पुरुषार्थ बाकी रहा। जब तक देहाध्यास था, तब तक पुरुषार्थ नहीं खुला था। पुरुषार्थ तो, पुरुष और प्रकृति दोनों के अलग हो जाने के बाद पुरुषार्थ की शुरुआत होती है। पुरुषार्थ करते-करते वह पुरुषोत्तम बनता है! पुरुष में से पुरुषोत्तम बनता है। पुरुषोत्तम योग उत्पन्न होता है। इस पुरुषार्थ से क्या करना है? 'मेरा नहीं' 'मुझे कुछ स्पर्श नहीं करता,' 'यह हमारा नहीं है,' 'मेरा नहीं है' ऐसा कहने से चिपकेगा नहीं क्योंकि यह नियम है कि यह तेरा है या पराया? ऐसी उलझन खड़ी हो न तब कह देना कि 'मेरा नहीं है'। तो अपने आप भाग जाएगा। खड़ा ही नहीं रहेगा। कहने को नहीं रहेगा कि 'मैं आपका था।' 'यह मेरा नहीं है' कहा कि गया। दक्षिणी (मराठी) लोग 'आमचा नहीं' ऐसा कहते हैं लेकिन उसका अर्थ यही है न! 'आमचा नाहीं,' से पहले तो 'तुमचा ही था न?' अब 'आमचा नाहीं।'

भेद विज्ञान से पुरुष और प्रकृति दोनों जुदा हो जाते हैं। उसके बाद पुरुष होने के बाद फिर वह इन आज्ञाओं का पालन करे तो पुरुषोत्तम बनकर रहेगा। यह अंतिम दशा है पुरुषोतम। पुराण पुरुष पुरुषोत्तम भगवान कहलाते हैं। जिनमें *पोतापणां* भी नहीं होता। इस देह से *पोतापणां* नहीं रहता कि 'मैं कह रहा हूँ। मेरी बात क्यों नहीं सुनते!'

प्रश्नकर्ता : खुद एक सेकन्ड के लिए भी पुरुष हो जाए तो बहुत हो गया।

दादाश्री : एक सेकन्ड के लिए भी कोई पुरुष नहीं हुआ है। इन आनंदघन जी महाराज जैसों ने क्या कहा है? 'हे अजीतनाथ भगवान! आपने तो क्रोध-मान-माया-लोभ और राग-द्वेष को जीत लिया इसलिए पुरुष कहलाए, लेकिन इन लोगों ने मुझे जीत लिया है तो मैं पुरुष कैसे कहलाऊँगा? तो फिर पुरुष कैसे बन सकते हैं! एक सेकन्ड के लिए भी पुरुष हो जाए न, तो परमात्मा बन जाएगा।'

पुरुष अंतरात्मा है और पुरुषोत्तम परमात्मा

प्रश्नकर्ता : अगर हम उसे पुरुष कहते हैं तो प्रकृति की ये सारी लीलाएँ, उस बेचारे ने क्यों भोगीं?

दादाश्री : पुरुष भोगता ही नहीं है। जब तक भोगे, तब तक वह पुरुष नहीं कहलाता। जब तक भोगता है तब तक अहंकार कहलाता है। जब तक भोगता है, तब तक 'उसे' यह भ्रांति है, इसलिए अहंकार कहलाता है वह और उसका भोगना बंद हुआ कि वह पुरुष बन जाता है। 'खुद' खुद के स्वभाव का भोक्ता बने, तब पुरुष बन सकता है और विशेष भाव का भोक्ता बने, तब तक अहंकार है।

प्रश्नकर्ता : स्वभाव का भोक्ता यानी क्या?

दादाश्री : स्वभाव का भोक्ता बने तो पुरुष बन जाए। आत्म-स्वभाव का भोक्ता बने तो पुरुष बन जाए और विशेष स्वभाव का भोक्ता बने तो अहंकार व जीवात्मा कहलाता है जबकि 'वह' (स्वभाव का भोक्ता) परमात्मा कहलाता है। अब जीवात्मा में से एकदम से परमात्मा नहीं हुआ जा सकता, इसलिए बीच में थोड़े समय तक अंतरात्मा की तरह रहना पड़ता है, विश्राम के लिए। जीवात्मा में जो कुछ इकट्ठा किया हुआ है, उसका निबेड़ा लाने तक अंतरात्मा की तरह रहना पड़ता है। उसके बाद जब इन सब का निबेड़ा आ जाएगा, तब खुद ही परमात्मा! है ही परमात्मा!

ये तो निरी गुत्थियाँ हैं। जहाँ विरोधाभास है न, वहाँ पर बहुत उलझनें हैं। जगत् को वे प्रिय लगती हैं! उलझनवाला होता है तो फिर मज़ा आता है।

प्रश्नकर्ता : इसका कारण यह है कि एकदम से यदि प्रकाश मिल जाए तो बाकी के जीवन का क्या करेंगे?

दादाश्री : बाकी का जीवन बहुत सुंदर बीतता है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन प्रकाश मिल जाने के बाद बाकी का जीवन रहेगा ही नहीं न?

दादाश्री : फिर पुरुष बनता है और पुरुष बना इसलिए फिर खुद 'पुरुष' में से दिनों-दिन 'पुरुषोत्तम' बनता जाता है। उलझनों में से मुक्ति हुई उसके बाद फिर उलझन खड़ी ही नहीं होगी न!

शुद्धात्मा बन गए और ज्ञाता-दृष्टा बन गए, वे पुरुष बन गए, जो प्रकृति को निहारे वे पुरुषोत्तम। जो निरंतर प्रकृति को निहारता रहे, वह पुरुषोत्तम कहलाता है।

प्रश्नकर्ता : अभी आपकी जो स्थिति है, क्या उस स्थिति को पुरुषोत्तम कहा जा सकता है?

दादाश्री : नहीं। हमारी स्थिति उससे थोड़ी कच्ची है। हमारी यदि वह स्थिति होती तो हम खुद ही दादा भगवान बन जाते। अर्थात् हमारी ज़रा चार डिग्री कम है। इसलिए हम ऐसा नहीं कह सकते कि 'उस रूप है।' इसी वजह से हम भेद विज्ञानी, ज्ञानीपुरुष कहलाते हैं। जो है वैसा ही बताना चाहिए, नहीं तो खुद को ही दोष लगेगा। जैसा है उसी के लिए हमें 'हाँ' कहना पड़ता है और जो नहीं है उसके लिए 'ना' कहना पड़ता है। भले ही किसी को बुरा लगे तो हर्ज नहीं, लेकिन जैसा है वैसा ही कह सकते हैं। हम और कुछ नहीं कह सकते। ईश्वर है या नहीं, ईश्वर ने यह बनाया होगा या नहीं, तो हमें जैसा है वैसा कहना पड़ता है।

फिर पुरुष बनने के बाद उसका पुरुषार्थ शुरू हो जाता है। फिर उस पुरुष का पुरुषार्थ होने से दिनों-दिन वह पुरुष में से पुरुषोत्तमपने में आता जाता है। पुरुषोत्तम

परमात्मा बन जाता है। पुरुष अंतरात्मा है और पुरुषोत्तम परमात्मा। बस पुरुषोत्तम बनने तक ही वह अंतरात्मा है और पुरुष बना तभी से पुरुषोत्तम बनने की शुरुआत हुई। अस्तित्व, 'मैं हूँ', इसका तो पूरी दुनिया को भान है, जीवमात्र को भान है कि 'मैं हूँ।' 'मैं क्या हूँ?' वह भान नहीं है। उस वस्तुत्व का भान नहीं है। यदि 'मैं' 'पुरुष हूँ', ऐसा हो गया तो फिर सबकुछ हो गया। उसके बाद पूर्णत्व अपने आप ही होता रहता है, पुरुष हो जाने के बाद! यह गणित सादा है या मुश्किल है?

प्रश्नकर्ता : बिल्कुल आसान।

दादाश्री : हाँ, बिल्कुल ही आसान है यह तो! मुझे तो ऐसा गणित आ गया, सभी उदाहरण आ गए। उलझनों में से बाहर निकल गया और स्वतंत्र होकर घूमा!

[1.10] प्रकृति को निहार चुका, वही परमात्मा

भिन्नता दोनों के जानपने में

प्रश्नकर्ता : जो प्रकृति के गुण-दोष देखता है, देखनेवाला वह कौन है?

दादाश्री : वह प्रकृति ही है।

प्रश्नकर्ता : प्रकृति का कौन सा भाग देखता है?

दादाश्री : बुद्धि का भाग, अहंकार का भाग।

प्रश्नकर्ता : तो फिर इसमें मूल आत्मा का क्या काम है?

दादाश्री : मूल आत्मा को क्या है? उसे लेना-देना है ही नहीं न!

प्रश्नकर्ता : मूल आत्मा का देखना-जाननापन किस तरह का होता है?

दादाश्री : वह निर्लेप होता है और यह तो लेपित है।

प्रश्नकर्ता : यानी कि जो अच्छा-बुरा देखता है वह लेपित भाग है?

दादाश्री : हाँ, वह सारा लेपित भाग!

प्रश्नकर्ता : इस बुद्धि ने प्रकृति का अच्छा-बुरा देखा। वह जो कुछ देखता है, जानता है, वही वह खुद है?

दादाश्री : प्रकृति का दोष देखे तो वह प्रकृति ही हो गई, आत्मा नहीं है वहाँ पर। आत्मा ऐसा नहीं है। उसे किसी का दोष नहीं दिखाई देता।

प्रश्नकर्ता : दूसरों के दोष की बात नहीं कर रहे हैं, खुद के ही दोषों की बात कर रहे हैं।

दादाश्री : दोष देखता है, इसीलिए उस समय वह प्रकृति ही है लेकिन वह उच्च स्तरीय प्रकृति है। आत्मा को प्राप्त करवानेवाली।

प्रश्नकर्ता : और जो प्रकृति को निर्दोष देखता है, वह कौन है?

दादाश्री : जो प्रकृति को निर्दोष देखता है, वही परमात्मा है। वही शुद्धात्मा है। वह किसी और चीज़ में हाथ ही नहीं डालता न!

प्रश्नकर्ता : निर्दोष देखने में उसे कैसा आनंद मिलता है?

दादाश्री : वह आनंद, वह मुक्तानंद कहलाता है!

प्रश्नकर्ता : मतलब, परिणाम के बारे में कुछ बोलता ही नहीं?

दादाश्री : परिणाम को, प्रकृति के परिणामों को देखता ही नहीं है।

दो प्रकार के परिणामिक ज्ञान हैं। एक जो है वह प्रकृति का परिणामिक ज्ञान है और एक आत्मा का परिणामिक ज्ञान है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन वह जैसा है वैसा देखने में कौन सा स्वाद चख रहा है?

दादाश्री : वह आनंद तो उसने चख लिया है न! लेकिन वह क्या कहता है, 'मुझे आनंद की कुछ भी नहीं पड़ी है। मुझे तो यह जैसा है वैसा देखने की पड़ी है।' इसलिए हम क्या कहते हैं कि 'जैसा है वैसा' देखो न! वह सब से अंतिम बात है!

अब प्रकृति का जो परिणामिक ज्ञान है उसे आप निर्दोष देखो, तो आप पास हो गए और दोषित देखा तो उलझन खड़ी की!

प्रश्नकर्ता : कौन से ज्ञान प्रकाश की वजह से आत्मा का भाग उसे दोषित नहीं देखता है?

दादाश्री : वह केवलज्ञान के अंशों की वजह से दोषित नहीं देखता।

प्रश्नकर्ता : उन्हें दोषित देखने में कुछ ऐसा आनंद देखा होगा कि जो राग–द्वेष में परिणमित होता होगा, नाशवंत होगा इसलिए दोषित नहीं देखता?

दादाश्री : निर्दोष देखने में आनंद आता है। लेकिन वह इस हेतु से नहीं देखता कि आनंद आए, लेकिन वह तो यों ही, है ही ऐसा! 'जैसा है वैसा' देखता है, 'जैसा है वैसा' देखता है और वे....(प्रकृति) जो हैं वे, 'जैसा है वैसा' नहीं देखते इसी वजह से दु:ख होता है!

ज्ञानी एक को देखते हैं और एक को निहारते हैं?

हम से अगर कोई कहे कि 'आपकी पीठ पीछे ऐसा बोल रहे थे,' तो मैं कहूँगा, 'बोलने दो भाई। यह मेरा उदय स्वरूप है न, और उसका भी उदय स्वरूप है बेचारे का और उस उदय स्वरूप को हम निहारते हैं।'

हम पूरे जगत् को, जीवमात्र को शुद्ध स्वरूप से ही देखते हैं। जैसे आप देखते हो वैसे ही हम भी देखते हैं और प्रकृति को उदय के रूप में निहारते हैं। एक को देखते हैं और एक को निहारते हैं और दोषित तो कोई है ही नहीं, निर्दोष है जगत्। लोगों को दोषित दिखता होगा? पत्नी दोषित दिखती है? सभी दोषित ही दिखते है न!

प्रश्नकर्ता : आपने कहा न कि एक को हम देखते हैं और एक को निहारते हैं, तो वह समझ में नहीं आया। निहारने में और देखने में क्या फर्क है?

दादाश्री : आत्मा से देखते हैं, हम दृश्य को दृष्टा की तरह देखते हैं, आत्मा से आत्मा को देखते हैं और इस देह दृष्टि से उदय स्वरूप को निहारते हैं कि वह किसी को गाली दे रहा है तो वह उसका उदय स्वरूप है, इसमें आज उसका दोष नहीं हैं। उसका दोष तो, अंदर वह जो भाव कर रहा है, वही उसका दोष है लेकिन अपने महात्मा तो भाव भी नहीं करते। कर्तापन छूट गया, इसलिए। 'मैं शुद्धात्मा हूँ' इसलिए कर्तापन छूट गया है। वास्तव में आप शुद्धात्मा हो या वास्तव में चंदूभाई हो?

प्रश्नकर्ता : शुद्धात्मा हूँ।

दादाश्री : तो फिर कर्तापन छूट गया। 'मैं चंदूभाई हूँ' वही कर्तापन था। अत: कर्तापन छूट गया। अब आप में कर्तापन नहीं रहा, आपको कर्म नहीं बंधेंगे।

प्रश्नकर्ता : दादा, इसे पचाने में देर लगी है। बाकी सभी को पच गया है, मुझे पचाने में देर लगी है।

दादाश्री : ऐसा है न कि आज, ऐसी बात कभी-कभी ही निकलती है, ऐसी बातों का जैसे-जैसे भोजन लोगे, उतना ही ठीक होता जाएगा। वे पचती जाएँगी। ऐसी बातें हुई ही नहीं हैं न! ऐसे संजोग मिलने चाहिए न! और आपके तो कैसे संयोग! उतरना उनके वहाँ, रहना उनके यहाँ और खाना उनके हाथों से! तब फिर बात बन ही जाएगी! ऐसे संयोग, ऐसे क्षण कई दिनों में कभी आते हैं। कभी-कभी ऐसा आ जाता है न तो वह ऑलराइट हो जाता है, लेकिन आप तो आज्ञा पकड़ कर रखो तो बहुत हो गया। आज्ञा नहीं छोड़ोगे तो कोई परेशानी नहीं आएगी।

मात्र प्रकृति को ही निहारते रहो

प्रश्नकर्ता : खुद की प्रकृति अब दिखने लगी हैं, सबकुछ दिखने लगा है। ये मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार दिखते हैं, लेकिन इन्हें स्टडी कैसे करना है? प्रकृति के सामने ज्ञान को किस तरह काम करना चाहिए? किस तरह जागृति रहनी चाहिए? उसकी स्टडी कैसे की जाए?

दादाश्री : प्रकृति की स्टडी की जाए न तो हमें पता चल ही जाएगा कि प्रकृति ऐसी ही है अभी तक। प्रकृति का हमें पता चल ही जाएगा कि यह प्रकृति ऐसी ही है। और अगर कम पता चला है, तो धीरे-धीरे बढ़ती ही जाएगी दिनोंदिन लेकिन अंत में फुल हो जाएगी। हमें सिर्फ क्या करना है? 'ये चंदूभाई क्या कर रहे हैं?' उसे हमें देखते रहने की ज़रूरत है! वही शुद्ध उपयोग है।

प्रश्नक र्ता : लेकिन दादा, कई बार ऐसा होता है न कि ऐसे देखते रहते हैं और उसमें किसी घड़ी अंदर विचलित हो जाते हैं और बाद में फिर उसके रिएक्शन आते हैं।

दादाश्री : कहाँ घुस जाते हो?

प्रश्नकर्ता : खुद की प्रकृति हमें सतत देखनी है, लेकिन देख नहीं पाते तो उसमें कौन सी चीज़ काम करती है?

दादाश्री : आवरण! आवरण तोड़ना पड़ेगा वह तो।

प्रश्नकर्ता : किस तरह टूटेगा?

दादाश्री : अपने यहाँ विधियों से दिनों-दिन टूटता जाएगा, वैसे-वैसे दिखता जाएगा। ये सब तो, आवरणमय ही था सारा। कुछ भी नहीं दिखता था, अब धीरे-धीरे-धीरे दिखने लगा है। यह आवरण पूरी तरह से नहीं देखने देते। अभी सारे दोष नहीं दिखते हैं। कितने दिखते हैं? दस-पंद्रह दिखते हैं?

प्रश्नकर्ता : बहुत सारे दिखते हैं।

दादाश्री : सौ-सौ?

प्रश्नकर्ता : चेन चलती रहती है।

दादाश्री : फिर भी पूरे नहीं दिखाई देते। पूरे नहीं दिखाई देते। आवरण हैं न, अविरत रहते हैं न फिर! कई दोष होते हैं। विधियाँ करते समय हमसे भी सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम दोष होते रहते हैं न! अगर हम से ऐसे दोष हो जाएँ, जो सामनेवाले को नुकसान न पहुँचाएँ तो उनका भी हमें पता चल जाता है। हमें तुरंत उन्हें साफ करना पड़ता है। उसके बिना चलेगा ही नहीं न! जितने दिखें उतने साफ तो करने ही पड़ते हैं।

प्रश्नकर्ता : पुराना जो सबकुछ हो चुका है, उसका बोझ रहता है।

दादाश्री : पुराने का बोझ तो हमें यों फेंक देना है। हम क्यों बोझ रखें? अगर अभी तक आपको टच होता है तो बोझ रहेगा।

प्रश्नकर्ता : ज्ञान की वजह से अब सभी की प्रकृति दिखती है। यह जो पहले हो चुका है, उसमें लोगों की सारी प्रकृति दिखती है, खुद की प्रकृति दिखती है, अब एडजस्टमेन्ट किस तरह से लें? वह सब दिखता है।

दादाश्री : हाँ, सबकुछ दिखेगा। प्रकृति को पहचान लेता है न। खुद पुरुष हुआ इसलिए प्रकृति को पहचान लेता है, नहीं तो प्रकृति को पहचान ही नहीं सकते न! उसका निरीक्षण करता है, प्रकृति का पृथक्करण करता है। अंदर गुण होते हैं, उन्हें भी ढूँढ निकालता है।

फिर यों हर एक की प्रकृति होती है न और उस प्रकृति को खपाए तो भगवान बन जाए। अगर उस प्रकृति को खपा दे, उस प्रकृति को जाने तो भगवान बनने की शुरुआत करता है। अगर खुद की प्रकृति को खुद जाने तो भगवान बनने की शुरुआत हो गई और फिर उसे खपा दे, जानने के बाद समभाव से *निकाल* करके। प्रकृति को देखे, क्या-क्या किसके साथ, चंदूभाई दूसरों के साथ क्या कर रहे हैं? उसे खुद देखता है। लड़ रहा हो तो लड़ते हुए भी देखता है।

प्रश्नकर्ता : फिर दादा, उसे खपाएँ किस तरह?

दादाश्री : प्रकृति को देखता रहे, उसी को खपाना कहते हैं। व्यवहार में खपाना अर्थात् समभाव से खपाना। मन को विचलित नहीं होने देना। कषायों को मंद करके बैठे रहना और खपाते रहना, उसी को खपाना कहते हैं। यों अंतिम प्रकार का खपाते हैं। यह तो निबेड़ा ही आ गया, देखते रहे उसे। भगवान महावीर एक ही *पुद्गल* को देखते रहते थे। *पुद्गल* किस तरफ जा रहा है, बार-बार कहाँ जा रहा है? उसी को देखते रहते थे। इसलिए हम कहते हैं कि 'खुद की प्रकृति को देखो, निहारो!'

किसी भी मनुष्य में, तीर्थंकरों में भी प्र्रकृति होती है। उसका निबेड़ा लाए बगैर चारा ही नहीं है।

प्रश्नकर्ता : सिद्ध दशा हो जाने के बाद, वहाँ प्रकृति नहीं रहती?

दादाश्री : वहाँ नहीं मिलती। निर्वाण होने पर प्रकृति चली जाती है। निर्वाण अर्थात् क्या? प्रकृति को देखा और जाना, उसके बाद फिर प्रकृति नहीं रहती। फिर सिद्ध दशा उत्पन्न हुई, वहाँ पर निर्वाण कहलाता है। लोग इस निर्वाण शब्द का उपयोग कहीं भी कर लेते हैं। इस निर्वाण शब्द का जो अर्थ है, उसका घात करते हैं। जिन्होंने निर्वाण प्राप्त किया है न, उन्हीं लोगों के मुँह से निकला हुआ शब्द है और वे ही इसे समझ सके हैं जबकि दूसरे लोग बोलते ज़रूर हैं, लेकिन समझे तो सिर्फ वही लोग हैं कि निर्वाण क्या है?

प्रश्नकर्ता : तब तक भरत क्षेत्र में एक और जन्म लेना पड़ेगा। ऐसा होगा न?

दादाश्री : ऐसा सब नहीं सोचना है। इन सब विचारों में नहीं पड़ना है। इससे आगे जाकर प्रकृति को निहारो, प्रकृति क्या कर रही है उसे देखो, उसे निहारो।

खरा पुरुषार्थ तो, खुद पुरुष हो जाने के बाद प्रकृति को देखता रहे, तो वह खरा पुरुषार्थ है। प्रकृति को देखता ही रहे, बस। एक जन्म में मोक्ष में चला जाएगा, अगर इस तरह निहारना आ गया तो।

वह है अंतिम प्रकार की स्वरूप भक्ति

प्रश्नकर्ता : खुद की प्रकृति अब अच्छी नहीं लगती, प्रकृति दिखती है और अब वह प्रकृति ऐसी हो गई है कि जो गिननेवाला था, वही अब भूल जाता है।

दादाश्री : पहले प्रकृति दिखाई देती थी?

प्रश्नकर्ता : बिल्कुल नहीं दादा।

दादाश्री : कैसा आत्मा प्राप्त हुआ है! ओहोहो! जो प्रकृति को निहारता है। प्रकृति को निहारता है। जो खुद प्रकृतिरूप में रहकर भटका है, वही खुद की प्रकृति को निहारता है। अब क्या है? जो ज्ञाता थी, वही ज्ञेय बन गई। जो दृष्टा थी, वह दृश्य बन गई।

चंदूभाई जो करते हैं, उस प्रकृति को निहारना, उसे स्वरूप भक्ति कहते हैं। प्रकृति को निहारना! इसमें करना क्या है? जो निहारता है, वह प्रकृति के लिए रिस्पोन्सिबल नहीं है, जो नहीं निहारते हैं वे रिस्पोन्सिबल हैं।

प्रश्नकर्ता : हम जो विधियाँ करते हैं, नमस्कार विधि, चरणविधि बोलते हैं, वह स्व की भक्ति कहलाती है या हम प्रकृति को देखें, वह?

दादाश्री : नहीं-नहीं! जो ये विधियाँ बोलते हैं, वे तो चंदूभाई बोलते हैं। चंदूभाई मुक्त होने के लिए बोलते हैं लेकिन उसे आप जानते हो कि चंदूभाई क्या बोले और क्या कच्चा रह गया, वह आप हो। चंदूभाई का क्या कच्चा रह गया, गलती कहाँ पर हुई, जो यह सब जानता है, वह आप हो। आप और चंदूभाई दोनों साथ में ही हो, लेकिन दोनों का व्यापार अलग है।

प्रश्नकर्ता : वह तो अलग ही है।

दादाश्री : हाँ, बस, बस। दोनों के व्यापार को एक कर देते हो इसलिए मार पड़ती है। प्रकृति को निहारना। उसे स्वरूप भक्ति या स्व-रमणता जो कहो वह। स्वरूप भक्ति अर्थात् भक्ति करने में कोई हर्ज नहीं है। रमणता को ही भक्ति कहते हैं। अभी *पुद्गल* रमणता है। अरे, आम को देखकर अंदर लार टपकने लगती है। उस रमणता को देखो न, कैसा मज़ा आता है! लेकिन चित्त चिपक जाता है वहाँ पर। अगर दादा याद रहें न तो वह आत्मरमणता कहलाती है। ज्ञानीपुरुष खुद का आत्मा है यानी कि मूल आत्मा को पकड़ने में तो अभी देर लगेगी उसे, लेकिन ज्ञानीपुरुष की रमणता करें न, यों आँखों के सामने दिखें चलते-फिरते, तो फिर और क्या चाहिए? इससे ज़्यादा क्या चाहिए?

प्रकृति को निहारना, स्व-रमणता है। प्रकृति के अंदर क्या-क्या आया? तो वह है, मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार, इन्द्रियाँ वगैरह सबकुछ प्रकृति में आ गया। और अगर कोई चंदूभाई से कहे, 'चंदूभाई, आप में अक्ल नहीं है, कॉन्ट्रैक्ट का धंधा ठीक से नहीं करते हो,' और अगर चेहरा बिगड़ जाए और उसे वह खुद निहारे तो बस, हो गया। आपको खुद

को पता चलता है कि चेहरा बिगड़ गया उसमें हर्ज नहीं है, उन लोगों को हर्ज है अगर चेहरा बिगड़ जाए तो। आपको हर्ज नहीं है लेकिन आप निहारो उसे।

प्रश्नकर्ता : पहले आपने एक वाक्य ऐसा कहा था कि 'तू विकल्प मत करना, लेकिन यदि विकल्प हो जाए तो विकल्प और विकल्पी दोनों को देखना। तो फिर तू मुक्त हो जाएगा।

दादाश्री : देखना! ठीक है यही है स्व-रमणता!

जो प्रकृति को निहार चुके, वे बने परमात्मा

'प्रकृति' पराधीन है, आत्माधीन नहीं है। जो 'प्रकृति' को पहचाने वह परमात्मा बन जाए। 'पुरुष' को पहचान ले तो 'प्रकृति' को पहचाना जा सकता है। ज्ञानी हो जाने के बाद पुरुष हो जाता है। पुरुष हो जाने पर पुरुषार्थ शुरू हो जाता है और पुरुष का पुरुषार्थ क्या होता है? तो वह यह कि 'प्रकृति को ही निहारते रहना।'

जो प्रकृति को निहारे वह पुरुष है। प्रकृति को निहार चुका, वह परमात्मा है। तो फिर प्रकृति में क्या-क्या निहारना है? तो वह यह कि 'मन क्या विचार कर रहा है उसे निहारे, बुद्धि क्या-क्या निर्णय लेती है उसे भी निहारे, अहंकार क्या-क्या पागलपन करता है उसे भी निहारे। कहाँ पर टकराता है वह भी निहारे क्योंकि अहंकार अंधा है। धृतराष्ट्र जैसा है। वह तो बुद्धि की आँखों से चलता है। अरे, बुद्धि के अलावा तो इसे कोई रखेगा ही नहीं। यह तो बुद्धि है इसलिए यह सारा रौब पड़ता है। बड़े प्रेसिडेन्ट बन बैठे हैं। बुद्धि प्रधानमंत्री बनती है। जो अहंकार को, इन सब को निहारे, वह है शुद्धात्मा। सिर्फ निहारना ही है इन्हें।

प्रश्नकर्ता : कोई व्यक्ति चोरी कर रहा हो, तब उसे पता रहता है कि यह गलत है। अब, चोरी करता है वह भी परिणाम है, यानी कि *निर्जरा* हो रही है। मन में भाव करता है कि यह गलत है तो वह भी *निर्जरा* है?

दादाश्री : संसारी लोगों ने, जिन्होंने आत्मा प्राप्त नहीं किया है उनके लिए भाव में पुरुषार्थ है। और अपने यहाँ पर तो भाव का पुरुषार्थ नहीं है। अपने यहाँ भाव को खत्म कर दिया है। इसलिए शुद्ध उपयोग ही अपना पुरुषार्थ है।

प्रश्नकर्ता : वही अपना पुरुषार्थ है। अर्थात् जितने समय तक ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं, वही पुरुषार्थ है!

दादाश्री : या फिर दूसरों में शुद्धात्मा देखो या फिर आज्ञा पालन करो तो पुरुषार्थ है। मेरी जो पाँच आज्ञा हैं न, उन्हें पालो तो उस घड़ी पुरुषार्थ है ही। अर्थात् पाँच आज्ञा में रहे न तो वह शुद्ध उपयोग ही है। वर्ना प्रकृति को निहारना है। अभी अगर चंदूभाई किसी से किच-किच कर रहे हों, तो उस पल वह खुद चंदूभाई को देखे कि ओहोहो, कहना पड़ेगा! अभी भी वैसे के वैसे ही हो आप, कुछ भी फर्क नहीं पड़ा। इस तरह देखे तो वह शुद्ध उपयोग कहलाएगा!

प्रश्नकर्ता : 'प्रकृति को निहारे वह पुरुष और जो प्रकृति को निहार चुका है वह परमात्मा है।' यह ज़रा अच्छी तरह समझाइए।

दादाश्री : अर्थात् चंदूभाई की प्रकृति, चंदूभाई क्या कर रहे हैं, इन सब को जो निहारे, वह पुरुष कहलाता है और जो निहार चुका है वह परमात्मा है।

प्रश्नकर्ता : पुरुष और परमात्मा में क्या फर्क हैं?

दादाश्री : पुरुष जो है, वह अभी परमात्मा हो रहा है। जबकि परमात्मा के लिए फिर कोई भी क्रिया नहीं रही, खुद ज्ञाता-दृष्टा और परमानंदी हैं, जबकि आपको फाइलों का *निकाल* करना बाकी है, बस।

अर्थात् पुरुष अभी तक देखने का अभ्यास कर रहा है कि यह प्रकृति कर रही है, यह वह खुद नहीं कर रहा है, वह सब यह प्रकृति कर रही है। ऐसा जो समझे वह पुरुष कहलाता है। सामनेवाला गालियाँ दें तब मन में ऐसा रहे कि 'ओहोहो! यह कर्ता नहीं है। यह तो प्रकृति कर रही है।' तब वह पुरुष कहा जाएगा लेकिन अभी तक स्थिरता नहीं

आई है पुरुष जैसी, इसलिए विचलित हो जाता है। बाकी है पुरुष ही। अब जिसे निहारने का काम नहीं रहा, तुरंत ही, यों सुनते ही प्रकृति दिख जाती है, वह परमात्मा हो गया।

अगर गलतियाँ निकालता है, तो प्रकृति को निहार नहीं रहा है। बाद में उसे पता चलता है कि यह भूल हो गई। भूल है ही नहीं इस जगत् में किसी की और जो भी भूल होती है वह भूल प्रकृति की है। और प्रकृति की भूल को हम 'वह भूलवाला है' ऐसा कहें तो वह भयंकर गुनाह है। अर्थात् हमने क्या कहा है? जब प्रकृति के साथ प्रकृति लड़ रही हो तो उसे देखो!

प्रश्नकर्ता : वह निहारता रहता है।

दादाश्री : तो फिर कोई परेशानी नहीं है लेकिन दूसरी प्रकृति लड़ रही हो, उसे अपने से दु:ख हो रहा हो तो वह अपनी भूल है क्योंकि सामनेवाला प्रकृति को जानता नहीं है। वह तो ऐसा ही जानता है कि 'यह मैं ही हूँ' अत: उसे कुछ भी नहीं कह सकते। किसी को भी दु:ख नहीं हो, ऐसा ही होना चाहिए और कोई परिवर्तन भी होनेवाला नहीं है, चाहे आप कलह करो या न करो। अनंत जन्मों से कलह ही लगा रखी है। दूसरा कुछ किया ही नहीं और खुद ऐसा मानता है कि इससे कुछ परिवर्तन हो जाएगा। कोई भी परिवर्तन नहीं होता।

प्रश्नकर्ता : लेकिन दादा, प्रकृति के सामने हम जो प्रतिक्रमण करते हैं, उससे थोड़ा परिवर्तन तो हो सकता है न?

दादाश्री : उसमें परिवर्तन लाने के लिए हमने ज्ञान दिया है। वह ज्ञान जब परिणामित होगा तब परिवर्तन होगा।

ऐसे विलय होता है *पोतापणुं*

प्रश्नकर्ता : *पोतापणुं* प्रकृति के गुणों से उत्पन्न होता है?

दादाश्री : प्रकृति गुणों से ही *पोतापणुं* उत्पन्न हुआ है लेकिन वह जो *पोतापणां* हो गया है, उसका नाश हो जाना चाहिए। *पोतापणां* को तो चला ही जाना चाहिए धीरे-धीरे।

प्रश्नकर्ता : इस ज्ञान में रहने से यह धीरे–धीरे चला जाएगा न, दादा?

दादाश्री : *पोतापणां* को निहारने से *पोतापणां* धीरे–धीरे कम होता जाता है। उसके लिए बहुत जल्दबाजी करने जैसा नहीं है। इस *पोतापणां* का निकल जाना कोई ऐसी–वैसी बात नहीं है। *पोतापणां* गया तो खुद भगवान ही हो गया।

प्रश्नकर्ता : *पोतापणे* में क्या–क्या निहारना है?

दादाश्री : पूरी प्रकृति को ही निहारना है। पूरी प्रकृति *पोतापणां* ही है। वहीं पर मानता था न कि 'यह मैं हूँ।' 'जो' प्राकृत भाग से मुक्त है, ऐसा 'जिसे' 'ज्ञान' है, वह 'ज्ञानी' है।

खुला प्रकृति का विज्ञान आर–पार

ये सभी खोजें नई हैं और अक्रम विज्ञान की हैं।

प्रश्नकर्ता : दादा, आपके द्वारा आत्मा का साइन्स तो पूरी तरह से निकला ही है, दूसरी तरफ प्रकृति का साइन्स भी आर–पार पूर्णाहुति तक का है।

दादाश्री : हाँ, ठीक बात है।

प्रश्नकर्ता : प्रकृति का विज्ञान कहीं भी नहीं बताया गया है, दादा। कोई भी वर्णन नहीं कर सका है।

दादाश्री : लेकिन कैसे करेगा? इसे जानना ही मुश्किल है।

प्रश्नकर्ता : किसी भी शास्त्र में प्रकृति का ज्ञान नहीं है, दादा।

दादाश्री : शास्त्र कहनेवाले कौन है? प्रकृति में रहनेवाले। प्रकृति में रहकर, प्रकृति को जाननेवाले। लेकिन वे प्रकृति को पूरा नहीं देख सकते। केवलज्ञानियों ने यह सब नहीं बताया है। केवलज्ञानियों ने तो कुछ भाग ही बताया है।

प्रश्नकर्ता : उन्हें तो फिर कुछ रहा ही नहीं न दादा। आत्मा के अलावा प्रकृति का कुछ भी नहीं। इसीलिए वह वर्णन बंद ही रहा है।

दादाश्री : हाँ, बाहर नहीं आया है। ओपन नहीं हुआ है।

प्रश्नकर्ता : इसीलिए दादा की वाणी में सभी लोगों के लिए क्रियाकारी हो जाता है कि इसमें सबकुछ खुल्लमखुल्ला है। एक तरफ आत्मा का खुल्लमखुल्ला है और दूसरी तरफ प्रकृति का भी खुल्लमखुल्ला है। अर्थात् कहीं भी उलझन नहीं होती। और अंत में 'मैं, बावा और मंगलदास,' वह तो हद ही कर दी।

दादाश्री : हाँ, हद कर दी वह तो! मुझे खुद को भी लगता है कि यह तो हद कर दी!!

[2.1] द्रव्यकर्म

त्रिकर्म से बंधे हुए हैं जीव

प्रश्नकर्ता : एक चीज़ पर हमारा सत्संग हो रहा था कि द्रव्यकर्म का अर्थ क्या है? भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म की हम जो बात करते हैं, वह ज़रा समझाइए न हमें! द्रव्यकर्म किसे कहते हैं? भावकर्म किसे कहते हैं? नोकर्म किसे कहते हैं?

दादाश्री : हाँ, समझाते हैं, अभी समझाते हैं।

द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म। चौथे प्रकार का कोई कर्म है नहीं। इन तीन कर्मों को लेकर ही पूरे जगत् के जीव बंधे हुए हैं। ये तीन ही गाँठें हैं, इसी कारण से ये जीव जीवात्मा के रूप में रहे हुए हैं। ये तीन गाँठें टूट जाएँ तो परमात्मा हो जाए।

अब तीन जनों को पहचानना है। जैसे कि हम तीन लोगों को पहचान लें, उसके बाद भूलते नहीं हैं, उसी प्रकार ये कर्म तीन प्रकार के हैं। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म।

अन्य कोई कर्म नहीं होते। सभी कर्मों का समावेश इन तीनों में हो जाता है। इन्हें पहचान लेना है।

कितने ही लोग क्या समझते हैं कि ये जो भावकर्म कर रहे हैं, उनके फल स्वरूप ये सब द्रव्यकर्म आएँगे। खाने का भाव किया, वह भावकर्म है और खाना खाया, उसे द्रव्यकर्म कहते हैं। वास्तव में ऐसा नहीं है।

द्रव्यकर्म विभक्त हुए आठ प्रकार में....

पूरी ज़िंदगी ये जो सब कर्म किए हैं, उनका सार आठ भागों में विभाजित हो जाता है। वे सभी द्रव्यकर्म कहलाते हैं। अर्थात् इस जन्म में द्रव्यकर्म में उल्टे चश्मे और देह, दो चीज़ें मिलती हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय, ये चारों पट्टियों के रूप में हैं और नाम, गोत्र, आयुष्य और वेदनीय जो हैं वे बॉडी (शरीर) के रूप में हैं, ये आठ प्रकार के द्रव्यकर्म हैं। जब से 'इसका' जन्म हुआ तभी से ये आठों आठ कर्म हैं ही।

प्रश्नकर्ता : तो फिर यह द्रव्यकर्म आया कहाँ से?

दादाश्री : वह पहले के कर्मों का हिसाब है, सार है। गत जन्म का सार अर्थात् पूँजी लेकर आया है। उसी में द्रव्यकर्म आ गए। अब द्रव्यकर्म तो मुफ्त में मिले हुए हैं। पुरुषार्थ नहीं करना पड़ा।

ये हर एक कर्म निरंतर एक-एक समय में बंध रहे हैं, उन्हें आठ भागों में विभक्त किया लेकिन जब कर्म बंधन होता है, उसमें तो आठों कर्म होते हैं। उनका फिर विभाजन होता है। कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनसे देह बन जाता है। कुछ कर्मों की वजह से उसे कड़वा-मीठा स्वाद आता है। कुछ कर्मों की वजह से वह लोकपूज्य या लोकनिंद्य माना जाता है, ऐसा सब है। और कुछ कर्म उसके जन्म-मरण..... कोई जल्दी मर जाता है, कोई देर से मरता है। चार कर्म ये हैं और चार कर्म ऐसे हैं जो आँखों पर पट्टियाँ बाँध देते हैं। ज्ञान आवृत हो गया इसलिए ज्ञानावरणीय है, दर्शन आवृत हो गया, सूझ नहीं पड़ती इसलिए दर्शनावरण। उससे उल्टा ही दिखता है। जैसे 'आपके' चश्मे होते हैं वैसा ही

दिखेगा न?! उसे द्रव्यकर्म कहते हैं। फिर आगे जाकर मूल वस्तु पर आवरण आ जाते हैं, इस वजह से सभी कई प्रकार से उल्टे चलते रहते हैं।

अब द्रव्यकर्म के बारे में बताता हूँ। जैसे किसी व्यक्ति को आगे की सूझ नहीं पड़ रही हो तो अंधे की तरह टकराता रहता है, तो वह दर्शनावरण कर्म है। ठीक से जान नहीं पाता है, वह ज्ञानावरण कर्म है। फिर, यह मोह भी द्रव्यकर्म है। फिर विघ्नकर्म, अंतराय कर्म, वह द्रव्यकर्म है। यह जो बॉडी है न, वह द्रव्यकर्म का भाग है। यह बॉडी है तभी नाम और रूप हैं न? यह बॉडी है तभी *शाता* (सुख–परिणाम), *अशाता* (दु:ख–परिणाम) वेदनीय हैं न? यह बॉडी है तभी उच्च गोत्र और नीच गोत्र हैं न? और यह बॉडी है तभी मृत्यु है न! अर्थात् आठों प्रकार के कर्म, शरीर है तो सभी उत्पन्न होते हैं। अत: यह जो बॉडी है, वह द्रव्यकर्म है।

चश्मे से खड़ी हो गई भ्रांति

आत्मा और देह दोनों जुदा ही हैं, फिर भी कौन ऐसा दिखाता है कि एक हैं? तो वह यह कि चश्मे उल्टे हैं, वही द्रव्यकर्म है। अर्थात् हर एक जीव चश्मे लेकर आता है। हर एक के अलग–अलग चश्मे। किसी को ऐसा दिखता है, किसी को ऐसा दिखता है, ये सब द्रव्यकर्म हैं। उल्टे चश्मे हैं उसी से यह सब उल्टा चल रहा है। फिर कभी अगर दूसरा जन्म मिले तब चश्मे बदल जाते हैं। लेकिन जितना जानता है, उस अनुसार चश्मे बदलते जाते हैं।

अर्थात् द्रव्यकर्म तो मूल वस्तु है। संसार उत्पन्न होने का मुख्य कारण द्रव्यकर्म है। जैसी द्रव्यकर्म की पट्टियाँ होती हैं, वैसा ही दिखता है। 'खुद को' खुद का ही दर्शन खत्म हो गया है। पट्टियाँ बंध जाती हैं, चश्मे लग जाते हैं और चश्मे के माध्यम से देखना पड़ता है। जैसा दिखाई देता है वही सही!

अर्थात् ऐसा है न कि द्रव्यकर्म सबकुछ उल्टा ही दिखाते हैं। जैसे कि किसी व्यक्ति की आँखों की पुतली उल्टी हो तो उसे उल्टा दिखता है उसी तरह से यह द्रव्यकर्म हरा, पीला ऐसे तरह–तरह का दिखाता है और इसलिए इस संसार में भ्रांति उत्पन्न हुई हैं। जैसा है वैसा यथार्थ नहीं देखने दें और भ्रांति उत्पन्न करवाएँ, वे चश्मे हैं, द्रव्यकर्म हैं। इन

द्रव्यकर्मों से ही शुरुआत हुई है इस जगत् की। इन चश्मों की वजह से फिर से उसके भाव बदलने लगते हैं, वह है भावकर्म। उसके बाद तरह–तरह की इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं।

चश्मे की वजह से दिखता है सबकुछ उल्टा

द्रव्यकर्म अर्थात् किसी को प्याज़ बहुत भाती है और किसी को प्याज़ देखते ही चिढ़ मचती है। यह दृष्टिरोग है। ये चश्मे गलत हैं। इसलिए किसी को सबकुछ पीला दिखता है और किसी को हरा दिखता है। हरेवाला कहता है कि पीला नहीं है, हरा है। तब हमें समझना चाहिए कि बाहर ऐसा नहीं है लेकिन 'इसे' ऐसा दिख रहा है। इसलिए 'हाँ' कह दो, नहीं तो अभी झगड़ा हो जाएगा। हमें समझ जाना चाहिए कि यह बेचारा कह रहा है, लेकिन खुद की शक्ति से नहीं है, खुद के साधन से नहीं है बल्कि खुद के अवलंबन से कह रहा है। जो भी अवलंबन प्राप्त हुआ, जो चश्मे लगाए हैं न, अर्थात् यह जो द्रव्यकर्म हैं वे चश्मारूपी बन गए हैं। 'उसे' सबकुछ उल्टा ही दिखता है कि 'ये मेरे ससुर आए।' वास्तव में ऐसा है नहीं। आत्मा को ससुर दिखेंगे? आत्मा को आत्मा ही दिखता है लेकिन चश्मे ऐसे हैं कि आत्मा भी ससुर ही दिखता है। ये मेरे जमाई आए। लो! है आत्मा और ये जो ससुर दिख रहा है वह द्रव्यकर्म है। ससुर होता होगा कभी कहीं? और अगर है तो कितने टाइम तक? कुछ टाइम के लिए ही, पच्चीस साल या फिर डिवॉर्स न ले तब तक। डिवॉर्स ले ले तो फिर दूसरे दिन कौन उसे ससुर कहेगा? ये मेरे फादर हैं, ये मेरी मदर हैं, ऐसा सब जो दिखाता है, वह सारा द्रव्यकर्म है।

द्रव्यकर्म अर्थात् क्या कि ये उल्टे चश्मे लग गए हैं इसीलिए 'हम' जो हैं उसे जानते नहीं हैं, इस उल्टे चश्मे की वजह से नहीं जानते हैं। उल्टा ज्ञान, उल्टा दर्शन।

हरे चश्मे पहनकर आए हों तो हरा दिखता है। अर्थात् भ्रांतिवाले को जगत् भ्रांतिवाला ही दिखता है। इसका निबेड़ा कब आएगा फिर? किसी भी चीज़ का निबेड़ा लाना पड़ता है या नहीं लाना पड़ता?

अत: जो द्रव्यकर्म बंधते हैं न, उनकी वजह से 'दृष्टि' उल्टी हो जाने से यह सब चल रहा है, उल्टे–सीधे भाव दिखाई देते हैं। भगवान को क्या भीख माँगने का भाव होता

होगा? तो समझ नहीं जाना चाहिए कि कुछ उल्टा–सीधा हो गया है? शादी करने का भाव आए, वैधव्य का भाव आए, तो क्या वह अच्छा लगता है?

द्रव्यकर्म अर्थात् क्या? आँख से कम दिखता है, ज़्यादा दिखता है, चश्मे लाने पड़ते हैं। कान होने के बावजूद भी मुझे क्यों बहरा रहना पड़ता है? मुझे क्यों सुनाई नहीं देता? तो वह इसलिए कि द्रव्यकर्म बिगड़े हुए हैं।

भावकर्म बिगाड़े थे इसीलिए, ये द्रव्यकर्म बिगड़ गए। उसी का यह फल है।

आठ कर्म क्या हैं?

आठ द्रव्यकर्म हैं। यह सारा ज्ञान अनंत है। जो आवरण आ गया है, वह ज्ञानावरण है। अपार दर्शन है लेकिन आवरण आ गया है। वह दर्शनावरण है। दर्शनावरण और ज्ञानावरण की वजह से मोहनीय उत्पन्न हो गया है और उसकी वजह से विघ्न उत्पन्न हुए हैं। वे हैं विघ्नकर्म। अंतराय अर्थात् 'आपको' इच्छित चीज़ें नहीं मिल पातीं। भटकते रहो तो भी कोई ठिकाना न पड़े। नहीं तो यों सोचते ही चीज़ें सामने आ जाएँ, उसी को कहते हैं कि 'अतराय कर्म टूट गए।' बहुत गर्मी पड़े तो परेशान हो जाते हैं, सर्दी पड़े तो ठंड लगती है, वह वेदनीय है। फिर हैं, नाम-रूप। नाम रखा है न यह! चंदू! तो फिर नाम-रूप यानी कि 'मैं ऐसा हूँ, वैसा हूँ, जैन हूँ और फलाना हूँ'। फिर आता है गोत्र। 'बहुत अच्छा इंसान है और खराब इंसान है', ये सब गोत्र कहलाते हैं। उसके बाद में आता है आयुष्य! यहाँ जन्म हुआ है इसलिए मरनेवाला तो है ही।

दाढ़ दु:खे, वह भी द्रव्यकर्म है। पढ़ाई-वढ़ाई, बुद्धि वगैरह सब द्रव्यकर्म में आ गया लेकिन वह सब स्थावर है (बदल नहीं सकता)। फिर इनमें से भावकर्म उत्पन्न होते हैं। द्रव्यकर्म तो, क्या भोजन लेंगे वह सबकुछ अंदर है।

प्रश्नकर्ता : लिखा हुआ है?

दादाश्री : लिखा हुआ नहीं है, अंदर है ही। उपवास भी है। उपवास करने का होगा तो वह ससुर के गाँव में भी भूखा मरेगा। अब इस साइन्स को डॉक्टर कैसे समझेंगे? किसी शास्त्र में नहीं मिलेगा। यह तो अक्रम विज्ञान का रहस्य है।

द्रव्यकर्म अर्थात् संचितकर्म

प्रश्नकर्ता : तो सारा द्रव्यकर्म प्रारब्ध जैसा हो गया न! मुझे कहाँ जन्म लेना है, क्या नाम रखना है, ऐसा सब?

दादाश्री : नहीं। द्रव्यकर्म को संचितकर्म कहते हैं, जो पूँजी है उसमें से एक-एक संचितकर्म उदय में आता जाता है। जब फल देने के लिए सम्मुख होता है तब प्रारब्ध कर्म बन जाता है। उस फल को चखते समय समता रही या विषमता रही, उससे फिर नया हिसाब बाँधा। अगर फल चखते समय समता रही तो आपको कोई भी परेशानी नहीं आएगी।

प्रश्नकर्ता : द्रव्यकर्म और उदयकर्म में क्या फर्क हैं?

दादाश्री : जब द्रव्यकर्म फल देने को तैयार हो जाता है तब वह उदयकर्म कहलाता है। उदयकर्म के माध्यम से द्रव्यकर्म खत्म हो जाएगा। जब तक फल देने को तैयार नहीं हुआ है, तब तक द्रव्यकर्म है।

प्रश्नकर्ता : अच्छा द्रव्यकर्म लाना हो तो क्या करना चाहिए?

दादाश्री : फल चखने में समता रखनी चाहिए। फल चखने में अर्थात्, हमने समभाव से *निकाल* करने का कहा है न सारा। कढ़ी फीकी हो या खारी लेकिन समभाव से *निकाल* कर डाल।

द्रव्यकर्म, तो इंसान क्यों ऐसा उल्टा करता है? तो वह इसीलिए कि दर्शन पर, ज्ञान पर उल्टी पट्टियाँ बंधी हुई हैं, इसलिए तो ऐसा उल्टा करता है न! यदि इन पट्टियों को शुद्ध कर दो तो कुछ नहीं करेगा। तो हम आपकी इन पट्टियों को शुद्ध कर देते हैं, ज्ञान देकर, दर्शन देकर।

इस ज्ञान के मिलने के बाद कुछ प्रकार के द्रव्य खत्म हो जाते हैं। जो उल्टे चश्मे हैं, वे। बाकी के चार कर्म तो भोगने ही पड़ते हैं। नाम, वेदनीय, गोत्र और आयुष्य वगैरह सब।

[2.2] ज्ञानावरण कर्म

द्रव्यकर्म का उदाहरण

प्रश्नकर्ता : हर एक कर्म को डिटेल में समझाइए। द्रव्यकर्म उदाहरण सहित समझाइए।

दादाश्री : मोमबत्ती देखी है, मोमबत्ती।

प्रश्नकर्ता : हाँ जी, मोमबत्ती देखी है।

दादाश्री : मोमबत्ती में क्या-क्या चीज़ें होती हैं? उसके अंदर?

प्रश्नकर्ता : मोम होता है और बत्ती होती है।

दादाश्री : ये सब साधन हैं और फिर जब उसे जलाते हैं, तब पूरी मोमबत्ती कहलाती है। प्रकाश देती है। उसी प्रकार यह प्रकाश देनेवाली मोमबत्ती है। यह जो पूरी मोमबत्ती है, वे ये सारे द्रव्यकर्म हैं, निरंतर पिघलते ही रहते हैं और नया द्रव्यकर्म उत्पन्न होता है। जैसे-जैसे यह मोमबत्ती जलती है, वैसे-वैसे पिघलती ही रहती है निरंतर।

तो इस द्रव्यकर्म में इस मोमबत्ती में क्या-क्या चीज़ें हैं, वह बताता हूँ। फिर उस मोमबत्ती में आप ऐसा समझें हैं कि धागा है न, और वह है, उसी प्रकार इसमें ज्ञानावरण कर्म है।

जो ज्ञान को प्रकट न होने दे, वह ज्ञानावरण कर्म

किसी व्यक्ति को आँखों पर पट्टियाँ बाँधकर भेजें, तो उस व्यक्ति को कैसा-कैसा दिखेगा? क्या दिखेगा?

प्रश्नकर्ता : कुछ भी नहीं दिखेगा।

दादाश्री : इस आत्मा पर (व्यवहार आत्मा पर) ऐसे पट्टियाँ बंध जाती हैं। जैसे-जैसे कर्म आपने किए वैसी पट्टियाँ बंध जाती हैं। उन पट्टियों की वजह से हरा दिखता है।

ज्ञानावरणीय कर्म अर्थात् जिनसे हमें आगे वस्तु (आत्मा) ज्ञान में नहीं आती। यह जो ज्ञान अपने पास है, वह उसके (वस्तु के) लिए आवरण रूपी है, प्रकाश नहीं होने देता है। है, फिर भी प्रकट नहीं होने देता। अर्थात् परदा है ज्ञान पर। अब यदि परदा हट जाए तो अपने पास माल तो है, बाहर से लेने नहीं जाना है। वह ज्ञानावरण कर्म है।

प्रश्नकर्ता : जो हमें रहता है वह ज्ञानावरण है?

दादाश्री : सिर्फ आप अकेले को नहीं, पूरे जगत् को यही है न! ज्ञानावरण अर्थात् आँखों पर पट्टियाँ बाँधी हुई हैं न! वह देखता है कि यह मकान पीला क्यों दिख रहा है? अरे, मकान सफेद है। तेरी पट्टियाँ ही तुझे दिखा रही हैं, उसमें हम क्या करें? यानी यह तेरा ज्ञान का आवरण है।

ज्ञानावरण बाधक है ऐसे

प्रश्नकर्ता : आत्मा के बारे में ज्ञानावरण कर्म क्या है?

दादाश्री : 'मैं शुद्धात्मा हूँ,' अब 'शुद्धात्मा' ही विज्ञान है और उस पर आवरण आ गया है। अर्थात् हमें उजाला नहीं आता, इसलिए ज्ञान का हमें पता नहीं चलता। वह आवरण खिसके तो ज्ञान उत्पन्न होता है।

प्रश्नकर्ता : जो ज्ञानावरण होता है, वह एक्ज़ेक्ट किस तरह का होता है? यह उदाहरण देकर समझाइए।

दादाश्री : अब कितनी ही चीज़ें, दो-चार लौकी पड़ी हैं, अब आप तो क्या समझते हो कि ये सब लौकी हैं, लेकिन इनमें से कौन सी कड़वी है और कौन सी मीठी, ऐसा कैसे जानोगे आप?

प्रश्नकर्ता : चखेंगे तभी पता चलेगा।

दादाश्री : चखेंगे तब तो... वह तो फिर बुद्धि है। यों ही (बिना चखे) जान पाओ, तब। लेकिन यह ज्ञानावरण बाधा डालता है, ज्ञान पर आवरण है। अपना आवरण हटता है न, अगर चखें तो?

प्रश्नकर्ता : हाँ।

दादाश्री : उसे कहते हैं ज्ञानावरण हटाना। जानकारी पता नहीं चलती, वह कहलाता है ज्ञानावरण। कड़वा हो तो सूँघता है। सूँघकर जो ज्ञान होता है, वह इन्द्रिय ज्ञान कहलाता है जबकि वह (आत्मा का) है डायरेक्ट ज्ञान। ज्ञान डायरेक्ट होना चाहिए।

ज्ञानावरण की पट्टियों की वजह से ही तो सही चीज़ अनुभव में ही नहीं आती कि सच्चा सुख क्या है? 'मैं कौन हूँ?' उसका भान ही नहीं होता, वह सब ज्ञानावरण है। वही अज्ञान है। इसी सारे अज्ञान में रहता है पूरा जगत्। इसीलिए जब आगे जाकर फिर ज्ञान मिलता है तब ज्ञानावरण से मुक्त हो जाता है।

उल्टी समझ से चल रहा है यह तो....

प्रश्नकर्ता : किसी जगह पर एक प्रवचन में सुना था कि खाना खाते समय अगर हम बातें करें तो ज्ञानावरणीय कर्म बंधता है। क्या ऐसा है?

दादाश्री : पूरे दिन ज्ञानावरण ही बंधते हैं न! सिर्फ बोलने से ही नहीं, पूरे दिन कर्म ही बंधते रहते हैं। सिर्फ ज्ञानावरण ही नहीं, ऐसे सारे भयंकर मोहनीय कर्म बंधते हैं।

धर्मस्थान पर बल्कि बढ़े आवरण

धर्म का व्याख्यान सुनने जाए, उस समय ज्ञानावरण कर्म का बंधन होता है। ऐसी बात कोई मानेगा क्या? सभी प्रतिरोध करेंगे न? मारो इन दादा को!! दादा ही बेकार है। अरे, दादा की बात को समझो न! मेरे ऐसे शब्द यों ही नहीं निकल जाते। बात को समझो तो सही! व्याख्यान में गुरुजी बोलते रहते हैं, और वह सुनता रहता है। इस कान से सुनता है और उस कान से निकाल देता है। बिल्कुल भी नहीं सुधरा। पच्चीस साल तक

धर्मस्थान पर गया लेकिन जैसा था उससे भी ज़्यादा बिगड़ गया, लबाड़ (झूठा) हो गया। सुधर गए हों, ऐसे तो बहुत कम लोग होंगे! हज़ार में से दो–पाँच लोग ही ऐसे निकलेंगे।

प्रश्नकर्ता : लेकिन वहाँ पर ज्ञानावरण कर्म कैसे बंधता है?

दादाश्री : जहाँ पर ज्ञान दे रहे हों, वहाँ पर अगर प्रमाद रहे तो ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म दोनों बंधते हैं। वह कोई सब्ज़ी-भाजी की दुकान नहीं है! सब्ज़ी-भाजी की दुकान में प्रमाद रखो तो चलेगा।

प्रश्नकर्ता : धर्म का व्याख्यान सुनने जाएँ तो उससे बंध पड़ता है?

दादाश्री : हाँ, सबकुछ उल्टा ही हो गया है। इसलिए उल्टा हो गया यह सब और वहाँ से नीचे उतरकर फिर 'सेठ, झाड़ क्यों दिया? लेकर जाना था न घर पर!' अरे, ये ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय बढ़ गए। कौन से जन्म में भोगोगे? ज़रा तो समझो! भगवान की बात तो समझो! एकाध अक्षर समझो न!

वही सब से बड़ा ज्ञानावरण

सामनेवाला उम्र में बड़ा हो तो भी कहेगा 'आप समझते नहीं हो, आप में अक़्ल नहीं है।' इनकी अक़्ल नापने निकले! ऐसा तो कहीं बोला जाता होगा? फिर झगड़े ही होंगे न! लेकिन ऐसा नहीं बोलना चाहिए, सामनेवाले को दु:ख हो ऐसा, कि 'आप में अक़्ल नहीं है।' सामान्य लोग तो नासमझी के मारे ऐसा बोलकर ज़िम्मेदारी उठाता है लेकिन जो समझदार होता है, वह तो खुद ऐसी ज़िम्मेदारी उठाएगा ही नहीं न! सामनेवाला उल्टा बोले लेकिन खुद सीधा बोलेगा। सामनेवाला नासमझी में भले ही कुछ भी पूछे लेकिन वे खुद उल्टा नहीं बोल सकते। ज़िम्मेदार हैं खुद।

'आप समझते नहीं हैं' ऐसा भी नहीं कह सकते। हमें तो ऐसा कहना चाहिए कि 'भाई, ज़रा सोचो तो सही! आप ज़रा सोचो तो सही!' बाकी किसी को 'समझते ही नहीं हो,' ऐसा कहें तो फिर क्या ये सब बेवकूफ ही हैं? ऐसा कहते हैं या नहीं कहते लोग?

प्रश्नकर्ता : कहते हैं, ये बुद्धिवाले लोग ऐसे ही कहते हैं कि 'ये समझता नहीं है।'

दादाश्री : हाँ, ऐसे कहता है सामनेवाले को कि 'आप नहीं समझोगे'। ऐसा कहना, वह सब से बड़ा ज्ञानावरण कर्म है। 'आप नहीं समझोगे' ऐसा नहीं कहना चाहिए, लेकिन 'आपको समझाऊँगा' ऐसे कहना चाहिए। 'आप नहीं समझोगे' कहने से तो सामनेवाले के दिल पर घाव लगता है!

प्रश्नकर्ता : ज्ञानी मिल जाएँ तब भी ज्ञानावरण कर्म न टूटें, क्या ऐसा हो सकता है?

दादाश्री : टूट जाता है। वह खुद टेढ़ा हो तो नहीं टूटता।

प्रश्नकर्ता : अगर उसका ज्ञाानावरण कर्म बहुत पक्का (भारी) हो, तो वह ज्ञानी से मिलने पर भी कोई मेल नहीं बैठता न?

दादाश्री : अगर उसमें टेढ़ापन हो तो फिर सब टेढ़ा ही रहेगा। मालिक टेढ़ा नहीं हो तो कुछ भी नहीं होगा।

फर्क, अज्ञान और ज्ञानावरण में

प्रश्नकर्ता : ज्ञान का आवरण कैसे हट सकता है?

दादाश्री : 'मैं चंदूभाई हूँ, इनका पति हूँ, मैं डॉक्टर हूँ।' आप ऐसा कह रहे थे न, वही ज्ञानावरण है। इस ज्ञान के मिलने के बाद उतना ज्ञानावरण टूट गया। अब जैसे-जैसे आज्ञा का पालन करोगे वैसे-वैसे आगे का भी टूटता जाएगा। अब इगोइज़म नहीं कूदेगा। खुद के वश में रहा जा सके, इतना ज्ञानावरण टूट गया है लेकिन समाधि तो, जितना आज्ञा का पालन करेंगे उतनी ही रहेगी।

प्रश्नकर्ता : अज्ञान और ज्ञानावरणीय कर्म, इन दोनों में क्या फर्क है?

दादाश्री : ज्ञानावरण तो आवरण है और अज्ञान का मतलब तो खुद का भान ही नहीं है। ज्ञानावरण तो कम-ज़्यादा भी हो सकता है लेकिन अज्ञान तो अज्ञान ही रहता है। आपका अज्ञान तो निकाल लिया है लेकिन ज्ञानावरणीय पूरा नहीं निकल सकता। यह आपका अज्ञान तोड़ दिया है लेकिन ज्ञानावरणीय का कुछ भाग टूट गया लेकिन बाकी का

जो बचा है वह तो धीरे–धीरे खत्म हो जाएगा। पहले अज्ञान जाता है उसके बाद, ज्ञानावरणीय आवरण धीरे–धीरे खत्म हो जाए तो पूर्णिमा! पूनम का चाँद। तब तक बीज का चाँद रहेगा।

[2.3] दर्शनावरण कर्म

ऐसे बने ये दोनों (कर्म)

इस मोमबत्ती में क्या–क्या चीज़ें हैं? वह बताता हूँ आपको। एक ज्ञानावरण कर्म है और दूसरा दर्शनावरण कर्म है। दर्शनावरण कर्म पूरी श्रद्धा ही बन चुकी है, 'दर्शन' ही हुआ है। दर्शन उल्टा हो गया है। आप हो तो सनातन और 'दर्शन' में जीवात्मा हो इसलिए ऐसा डर बैठ गया कि मर जाऊँगा। दर्शन बदल गया है। वह दर्शन का आवरण है, इसी वजह से तो हम इन आँखों से देखते हैं।

प्रश्नकर्ता : दर्शनावरण का उदाहरण दीजिए न!

दादाश्री : ऐसा है न, अगर चेहरे पर कपड़ा ढक दिया तो क्या आपको दादा दिख रहे हैं?

प्रश्नकर्ता : नहीं दिख रहे हैं अब।

दादाश्री : इसे दर्शनावरण कहते हैं। आँखें हैं फिर भी आवरण आ गया। यह आवरण हट जाएगा तो दिखेगा। इसे कहते हैं 'दर्शनावरण गया।'

दर्शन आवरित हो गया। अब आँखों पर भी जब चक्षु आवरण आ जाए तब मोतियाबिंद हो जाता है, कुछ और हो जाता है। तरह तरह के आवरण हैं। ये आवरण ऐसे नहीं हैं कि इनका पता चले, लेकिन दर्शनावरण तो है ही।

बाकी और सब देखने की अनंत शक्ति है अंदर, दर्शन की, लेकिन आवरण है तो फिर क्या करे? इन आँखों से जितना दिखाई देता है, उतना देख सकता है बेचारा। अन्य कुछ नहीं दिखता। अत: जितना आँखों से दिखता है उसी को कबूल कर लेता है। इस

ज्ञान को वह उतना ही समझ सकता है जितना बुद्धि से समझ में आता है। बाकी, अंदर तो अपार ज्ञान है लेकिन अपने पास जो सत्ता है, सामान, उसके आधार पर कुछ कह सकते हैं।

प्रश्नकर्ता : दादा, यह ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय (कर्मों का बंधन) कैसे हुआ होगा? उदाहरण देकर समझाइए न!

दादाश्री : मतलब वह अपने आप ही मान लेता है कि 'मैं बच्चा हूँ,' तो उससे ज्ञानावरण कर्म बंध जाता है।

पिछले जन्म में हमने शुद्धात्मा सिखाया हो न, तब भी इस जन्म में लोगों के संग से उसे वापस ज्ञानावरण आ जाता है, लेकिन अपना ज्ञान ऐसा है कि उस पर ज्ञानावरण आ तो जाता है लेकिन जब समझने लगता है न, तब छूट जाता है अपने आप ही। यों ही थोड़ा भी, अगर कोई भी निमित्त मिले न, तो पूरा छूट जाता है। लेकिन ज्ञानावरण तो लोग जो अज्ञान देते हैं न, उसी को कहना पड़ता है न! और फिर नाम रखते हैं 'चंदू'। हमें कहना पड़ता है न 'चंदू'! 'मैं चंदू हूँ,' फिर यह बताते हैं कि ये तेरे पापा हैं, ये तेरी मम्मी हैं और फिर पापा को 'पापा' कहना पड़ता है। हैं सभी आत्मा और हम समझते हैं कि 'ये पापा आए।' अर्थात् इन सब से ज्ञानावरण और दर्शनावरण बनते हैं। 'मैं चंदू हूँ' पहले उसकी श्रद्धा बैठती है। उससे फिर दर्शनावरण तैयार होता है। फिर ज्ञान में आ जाए, अनुभव में आ जाए तब ज्ञानावरण हो जाता है। ऐसा होने के बाद अंतराय पड़ने लगते हैं सभी प्रकार के और फिर मोह उत्पन्न होता है। मोहनीय उत्पन्न होता है। मोहनीय (कर्म) बंधता है। चारों ओर का व्यापार शुरूहो जाता है ऐसे।

तो ये मेरे ससुर आए, मेरे मामा आए, मेरे चाचा आए ऐसा सब कौन दिखाता है? उल्टी पट्टियाँ हैं इसलिए। उल्टा दर्शन है, मिथ्यात्व दर्शन है। मिथ्यात्व दर्शन अर्थात् उल्टी पट्टियाँ और वही द्रव्यकर्म है।

और आवरण तो ज्ञान-आवरण व दर्शन-आवरण। बस और किसी प्रकार के आवरण नहीं होते। आवरण अर्थात् आँखों पर पट्टियाँ बाँधकर स्टेशन तक जाना। ऐसा अच्छा है या पट्टियाँ बाँधे बिना जाना अच्छा?

प्रश्नकर्ता : पट्टियाँ बाँधे बिना जाना ज़्यादा अच्छा है।

दादाश्री : ये सब पट्टियाँ बाँधकर घूम रहे हैं और पट्टियाँ बाँधकर व्यापार शुरू किया है और फिर नहीं दिखने की वजह से ये टकराते रहते हैं। तब कहते हैं, आँखों से तो दिख रहा है! अरे, यह देखना नहीं है! यों जो टकरा जाता है, वह नहीं दिखने की वजह से है। कोई भी टकराव होता है तो वह नहीं दिखने की वजह से है, नहीं जानने की वजह से है।

प्रश्नकर्ता : उसे आपने दर्शनावरण कहा है न?

दादाश्री : दर्शन और ज्ञान-आवरण। दर्शन-आवरण से सूझ नहीं पड़ती। कई लोग कहते हैं न कि सूझ नहीं पड़ती।

प्रश्नकर्ता : हाँ, हाँ ठीक है।

दादाश्री : वह दर्शन का आवरण है और कुछ देर तप करने से वह आवरण हट जाता है। तब कहता, 'मुझे सूझ पड़ी।'

सूझ, ही दर्शन है

अंदर सूझ पड़ना या न पड़ना, उसे दर्शनावरण कर्म कहा जाता है। कुछ लोग उलझते (कन्फ्यूज़) ही रहते हैं। एक बहन जी से कहा हो कि 'दाल-चावल-कढ़ी-पूड़ियाँ-खीर वगैरह बना दो।' पकौड़े वगैरह सबकुछ डेढ़ घंटे में तैयार कर देती है और दूसरी कोई बहन जी तीन घंटे तक उलझन में पड़ जाती है। वह क्यों उलझन में पड़ जाती है? सूझ नहीं पड़ती है। देखो कोई बुरा मत मानना, हं!

प्रश्नकर्ता : सूझ पड़ने को द्रव्यकर्म कहा है आपने?

दादाश्री : सूझ पड़ना भी द्रव्यकर्म है और नहीं पड़ना, वह भी द्रव्यकर्म है क्योंकि यदि नापसंद मेहमान आएँ और उसमें आप सहमत हो जाएँ कि 'बहुत अच्छा हुआ,' तो आपको ज़्यादा सूझ पड़ेगी। और अगर आप कहो कि 'अरे, अभी कहाँ से आ गए,' तो

सूझ कम हो जाएगी। अर्थात् हमने खुद अपने आप ही पट्टियाँ बाँधी हैं। पट्टियाँ बाँधनेवाला अन्य कोई है ही नहीं। आपकी खुद की ही पट्टियों की वजह से आप भटक रहे हो।

प्रश्नकर्ता : समझ और सूझ में क्या फर्क है?

दादाश्री : समझ को सूझ कहते हैं। समझ दर्शन है, वही आगे बढ़ते-बढ़ते ठेठ केवलदर्शन तक पहुँचता है।

अंत में होता है दर्शन निरावरण

प्रश्नकर्ता : सूझ और दर्शन एक ही हैं?

दादाश्री : एक ज़रूर हैं लेकिन लोग दर्शन को बहुत निम्न भाषा में ले जाते हैं। दर्शन तो बहुत उच्च वस्तु है। वीतरागों ने सूझ को दर्शन कहा है। ग्यारहवें मील से चलते-चलते आगे पहुँचे तो वहाँ का दर्शन होता है। जैसे-जैसे आगे चले, वैसे-वैसे उसका 'डेवेलपमेन्ट' बढ़ता जाता है और वैसे-वैसे उसका दर्शन और भी बढ़ता जाता है और एक दिन अंदर लाइट हो जाए कि 'मैं यह नहीं हूँ, लेकिन मैं आत्मा हूँ' तो दर्शन निरावरण हो जाता है!

प्रश्नकर्ता : सूझ कहाँ से आती है?

दादाश्री : जैसे-जैसे आवरण खुलता जाता है, वैसे-वैसे आगे की सूझ पड़ती जाती है। इस तरह जैसे-जैसे प्रवाह में बहता हुआ आता है, वैसे-वैसे आवरण खुलता जाता है और वैसे-वैसे उसे सूझ पड़ती जाती है। सूझ निरंतर बढ़ती ही है।

प्रश्नकर्ता : यह जो सूझ है, वह क्या आत्मा प्रेरित होगी? आत्मा प्रेरित सूझ होनी चाहिए न, तभी हो पाएगा न?

दादाश्री : वह आत्मा प्रेरित सूझ नहीं है। वह आत्मा का एक भाग है कि जो आवृत है और वह आवरण में से निकला है, उदय में आ चुका भाग है सूझ नाम का! और वही

दर्शनावरण की तरह माना जाता है और इसमें से सूझ बढ़ते–बढ़ते अंत में वह सर्वदर्शी हो जाता है।

ज्ञानविधि से खत्म दर्शनावरणीय

प्रश्नकर्ता : ये ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय जीवन में किस तरह से हैं?

दादाश्री : ये भाई साहब हैं, ये क्यों उलझे हुए (कन्फ्यूज़्ड) रहते हैं, आत्मा है फिर भी? सूझ नहीं पड़ती न? सभी बातें समझ में नहीं आएँ तो उलझन में पड़ जाता है बेचारा। तब वह दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है। कई लोग कहते नहीं हैं कि मुझे किसी चीज़ में सूझ नहीं पड़ रही है। वह दर्शनावरणीय कर्म का फल है। सूझ भी नहीं पड़ती। कई लोग कहते हैं कि 'मेरा व्यापार तो ऐसा हो गया है, कोई सूझ नहीं पड़ती।' वह दर्शनावरणीय कर्म है अगर सूझ पड़े लेकिन जानकारी नहीं है कि मैं व्यापार कैसे चलाऊँ, तो वह ज्ञानावरणीय कर्म है।

'कुछ है' ऐसी सूझ पड़ी, हमें समझ में आया कि 'मैं शुद्धात्मा हूँ' वह सूझ पड़ी लेकिन अब उसकी जानकारी नहीं है कि 'क्या है,' वह ज्ञानावरणीय कर्म है। इसके लिए हम यहाँ मिलते रहते हैं। अब इन ज्ञानावरणीय कर्मों को तोड़ना चाहते हैं। दर्शनावरणीय कर्म तो टूट गए। दर्शनावरणीय ही पहले टूटता है, उसके बाद धीरे–धीरे ज्ञानावरणीय टूटता है।

प्रश्नकर्ता : 'मैं चंदूभाई हूँ,' क्या यह ज्ञानावरणीय कर्म कहलाता है?

दादाश्री : नहीं, ज्ञानावरण अलग चीज़ है। 'मैं चंदूभाई हूँ,' वही दर्शनावरण है। वह रोंग बिलीफ, वही दर्शनावरण है।

प्रश्नकर्ता : और ज्ञानावरण?

दादाश्री : रोंग ज्ञान को ज्ञानावरण कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : रोंग ज्ञान और रोंग बिलीफ का कर्ता अहंकार है न? चंदूभाई ही न? वही संपूर्ण आवरण है न?

दादाश्री : हाँ, वही आवरण है।

प्रश्नकर्ता : वह कब टूटेगा?

दादाश्री : वह तो जब हम ज्ञान देते हैं तब छूट ही जाता है न! दर्शनावरण तो छूट जाता है। उसके बाद उसमें उसके भावक रह जाते हैं। उसके जो भावक रह जाते हैं, वे करवाते हैं। उस घड़ी हमें अलग रहना चाहिए।

दर्शनावरण अर्थात् जो कॉज़ेज़ को उत्पन्न करता है। नासमझी से कॉज़ेज़ उत्पन्न करता है। 'मैं चंदूभाई हूँ,' यह जो रोंग बिलीफ है, वही दर्शनावरण।

प्रश्नकर्ता : आप जो ज्ञानविधि करवाते हैं न, उसमें क्या दर्शनावरणीय टूटने से हमें दर्शन होता है?

दादाश्री : जब हम ज्ञान देते हैं तब उसे ऐसा भान होता है कि 'कुछ हैं,' मतलब दर्शनावरण गया। उसके बाद 'क्या है' वह डिसाइड हो जाता है, अनुभव होने लगता है तो इसका मतलब ज्ञानावरण गया। दर्शनावरण तो टूट ही चुका है न! पूरा ही टूट गया है। तो हम जो देते हैं, वह केवलदर्शन है। वह क्षायक दर्शन है। दर्शनावरण टूट जाने के बाद क्षायक दर्शन कहा जाता है।

प्रश्नकर्ता : उसी प्रकार से दर्शनावरण और मिथ्यादर्शन में क्या फर्क है।

दादाश्री : मिथ्यादर्शन भी चला गया है और दर्शनावरण भी चला गया है। ज्ञानावरणीय नहीं गया है।

[2.4] मोहनीय कर्म

पोतापणां मानना, वही मोहनीय कर्म

कितने गुण बताए इस मोमबत्ती के?

प्रश्नकर्ता : दो गुण बताए।

दादाश्री : और द्रव्यकर्म किसे कहते हैं कि इस मोह से जो दिखता है, जो द्रव्यकर्म हैं, वे चश्मे हैं। मोहरूपी चश्मे। 'यह मेरी वाइफ आई' कहेगा और हम इनके पति हैं।' ओहोहो! बड़े आए पति बनकर!

मोहनीय अर्थात् जहाँ पर खुद नहीं है वहाँ पर *पोतापणां* मानना और उसके जो भी रिलेशन हैं, उन्हें खुद के मानना। यह जो अपना है ही नहीं उसे तो खुद का मानते ही हैं लेकिन इसके जो बच्चे हैं, उन्हें 'मेरे बच्चे हैं' और इसके जमाई 'मेरे ही जमाई हैं।' अरे, कब तक इन जमाईयों को सिर पर बिठाएगा? इसीलिए ही हैं भव के बीज, घनघाती कर्म, मोहनीय!

मोहनीय कर्म से भूला खुद को

मोहनीय अर्थात् क्या है कि मान लो एक नगीनदास पूरे गाँव में सेठ की तरह पहचाने जाते हैं। वे रात को सोते समय, खाने से पहले इतनी शराब पीते हों और खाकर सो जाते हों, नियमपूर्वक लेते हों तो उसका भी आवरण तो आता ही है, लेकिन उस आवरण का पता नहीं चलता। अब एक दिन मित्र आए, तब वे दो-तीन पेग ज़्यादा पी ले तो फिर क्या वे नगीनदास रहेंगे? ऐसा अक़्लमंद इंसान तब उनके वहाँ जाएँ तो कहने लगता है, 'मैं हिंदुस्तान का प्रेसिडेन्ट हूँ।' तो हम नहीं समझ जाएँगे कि यह किस चीज़ का असर है इन पर?

'अरे भाई, आप अक़्लमंद इंसान हो, यह क्या कह रहे हो आप!' अर्थात् जो शराब पी थी, उसकी सत्ता आ गई। खुद की सत्ता चली गई। खुद की सत्ता चली गई। तो फिर सत्ता किसकी है? हुकूमत किसकी है? तो फिर वे सेठ क्या कहते हैं कि 'मैं तो प्रेसिडेन्ट ऑफ इन्डिया हूँ,' इसे मोह कहते हैं। खुद जो नहीं है, खुद अपने आपको वही मानता है। अर्थात् दूसरी प्रकार से बोलना, वह सारा मोह कहलाता है। 'मैं इनका पति हूँ, मैं इनका बाप हूँ, मैं इनका बेटा हूँ,' यह सारा मोह है!

ऐसा कब तक रहता है? जब तक शराब का असर है तब तक और साइकोलॉजिकल इफेक्ट, अगर कोई कहे न कि 'तू तो पति है, पति है, पति है,' तो उसे ऐसा लगने लगता है कि 'मैं पति हूँ।' यही है मोह!

यह जो मोह है उससे, 'मैं कौन हूँ', पर आवरण आ जाता है और फिर दूसरी तरह से 'मैं इनका पति हूँ, इनका मामा हूँ, इनका चाचा हूँ,' इस तरह ज्ञानावरण आ जाता है। पहले दर्शनावरण आता है, यानी कि अपनी सारी श्रद्धा बदल जाती है। 'मैं शुद्धात्मा हूँ,' वह श्रद्धा चली जाए और 'मैं चंदूभाई हूँ वही सच है,' ऐसा माने तो उससे फिर ज्ञानावरण आ जाता है। वही अनुभव में भी आ जाता है। उसके बाद मोह से पहली शुरुआत होती है। शुरुआत मोहनीय, फिर नया दर्शनावरण, फिर नया ज्ञानावरण आता रहता है।

शराब के नशे की वजह से बोलता है। उसे ऐसी भ्रांति उत्पन्न हो गई इसीलिए फिर खुद का स्वरूप भूल गया। इस प्रकार इन लौकिक लोगों ने जहाँ पर सुख माना है, उसी प्रकार हमने भी उस संज्ञा से सुख माना कि इसी में सुख है। ज्ञानी की संज्ञा से सुख माना होता तो निबेड़ा आ जाता लेकिन लोगों ने जहाँ माना हम भी वहीं पर सुख ढूँढने गए। इससे मोहनीय आवरण आ गया। फिर हम जो भोजन करते हैं उस भोजन से नशा चढ़ता है। और उससे पूरे दिन 'ये मेरे ससुर हैं, ये चाचा हैं, मामा हैं, फूफा हैं,' ऐसा बोलता रहता है। क्या सचमुच में हैं? क्या कोई ससुर रहता है हमेशा के लिए? कब तक ससुर है वह? जब तक पत्नी डायवॉर्स न ले ले, तभी तक ससुर है। अर्थात् इस प्रकार ऑल दीज़ रिलेटिव्स आर टेम्परेरी एडजस्टमेन्ट्स एन्ड यू आर परमानेन्ट। और टेम्परेरी में एडजस्टमेन्ट की प्राप्ति के लिए आप गए इसलिए आप भी टेम्परेरी हो गए।

और फिर डॉक्टर से कहते हो, 'साहब, मुझे बचाइए।' अरे भाई, साहब की बहन मर गई तो वह तुझे क्या बचाएगा! डॉक्टर साहब की बहन नहीं मर जाती होंगी? लेकिन फिर भी यह गिड़गिड़ाता है, 'साहब, मुझे बचाइए।' इसका क्या कारण है? उसमें भय घुस गया है कि अब मैं मर जाऊँगा। जैसा वे नगीनदास सेठ कहते हैं न, 'मैं प्रेसिडेन्ट हूँ,' ऐसा ही इसमें हुआ है। इसी को कहते हैं मोह। अन्य कोई भी सत्ता पराई है, खुद की सत्ता नहीं है। आत्मा की सत्ता चली गई और उस पराई चीज़ की सत्ता आ गई। अर्थात् परसत्ता में आ गया। और फिर परसत्ता को खुद की सत्ता मानने लगा कि 'मैं ही कर रहा हूँ यह।' तो फिर शुरू हो गया तूफान।

मूल कारण है मोह

और मोहनीय तो 'मैं चंदूभाई हूँ,' वही मोह है। और कौन सा मोह? यह हो तो सभी मोह खड़े होंगे, वर्ना अगर ऐसा नहीं होगा तो कोई भी मोह खड़ा नहीं होगा। मूल कारण 'मैं चंदूभाई,' वही मोह है। अब इस मोह को अगर तोड़ने जाएँ तो वह लाख जन्मों में भी कैसे छूट पाएगा? 'मैं चंदूभाई हूँ,' वह मोह नहीं छूट सकता। वही मोह की जड़ है। फिर मोह का पेड़ तो रहेगा ही न! देखो आप में जड़ खत्म हो गई तो सबकुछ सूखने लगा है न झटपट! और फिर कहेगा, 'मैं गुरुजी हूँ।' आत्मा जाना नहीं, फिर भी कहता है। इसका कारण यह है कि पट्टियाँ बाँधी हुई हैं अर्थात् खुद आत्मा है फिर भी बोलता है कुछ अलग।

प्रश्नकर्ता : आत्मा पर परतें चढ़ गई हैं।

दादाश्री : परतें चढ़ गई हैं, पट्टियाँ, चश्मे। काले चश्मे पहने तो काला दिखता है, पीले पहने तो पीला दिखता है। जैसे चश्मे पहने वैसा ही दिखता है।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण दो ही हैं। इसका मूल कारण मोह है। 'मैं चंदूभाई हूँ' यही मोह है।

प्रश्नकर्ता : ऐसे तीन शब्द हैं – मोह, महामोह और व्यामोह।

दादाश्री : व्यामोह अर्थात् विशेष मोह यानी कि मूर्छित हो जाता है। फिर उसे भान नहीं रहता। व्यामोह में भान नहीं रहता, मोह में भान रहता है।

प्रश्नकर्ता : और तीसरा है महामोह।

दादाश्री : महामोह में भी भान रहता है उसे।

जो मूर्छित करे, वह मोह

लेकिन मोहनीय कर्म का मतलब क्या है कि मोह करने जैसी चीज़ नहीं है फिर भी हमें उसके प्रति आकर्षण होता है। चश्मों के खराब होने की वजह से। द्रव्यकर्म चश्मे जैसे हैं। जिसके जैसे चश्मे हैं, वैसा ही उसका स्वरूप।

अब ज्ञानावरण और दर्शनावरण, ये दोनों द्रव्यकर्म हैं। इन दोनों की वजह से मोहनीय उत्पन्न हुआ है, दिखना बंद हो गया है, अनुभव होना बंद हो गया है अर्थात् यही मोह है। उसी में कुछ अच्छा दिखा तो वहीं पर चिपक पड़ता है। जैसे कि कीट-पतंगे हैं न, वे लाइट पर चिपक जाते हैं, उसी प्रकार यह भी हर किसी जगह पर चिपक पड़ता है। यह मोहनीय कर्म तीसरे प्रकार का द्रव्यकर्म है। वह कोई चीज़ देखते ही क्यों उसके प्रति एकदम से आकर्षित हो जाता है? वह इसलिए क्योंकि मोहनीय कर्म है।

बाज़ार में जाए तो पटाखे लिए बगैर नहीं रहता। नहीं गया होता तो कुछ भी नहीं लेता। नहीं देखता तो कुछ भी नहीं था। देखते ही मोह उत्पन्न हो जाए, वह मोहनीय कर्म है। मूर्छित हो जाता है, खुद अपने आप को भूल जाता है। 'मेरे पास क्या सुविधा है या फिर यह उधार हो गया है या नहीं,' वह भी भूल जाता है। ऐसे जो मूर्छित हो जाता है, वह द्रव्यकर्म की वजह से है। द्रव्यकर्म खत्म हो जाएँ, तो मूर्छा नहीं होगी।

ये ज्ञानावरण और दर्शनावरण, इन दो आवरणों की वजह से इंसान न जाने कैसी-कैसी पहाड़ियों पर चढ़ेंगे और कैसे-कैसे गड्ढों में गिरेंगे, यही मोहनीय! इन दोनों का परिणाम है मोहनीय। इसीलिए मोह है न! नहीं तो बेचारे को कहीं मोह होता होगा! अंधे इंसान को उल्टा दिखता है, इसमें उसका क्या दोष!

वे तो विनाशी सुख हैं जबकि यह तो अविनाशी सुख है। मोह कितने प्रकार के हैं? अनेक प्रकार के हैं न? और उसमें भी 'मैं अनंत सुख का धाम हूँ' ऐसा कहता है, 'मुझे अन्य किसी मोह की ज़रूरत नहीं है।' यह तो फँस गया है। उसमें से निकल जाना है अब। इसीलिए हम बोलते हैं कि 'मोहनीय अनेक प्रकार की होने से, उनके सामने मैं अनंत सुख का धाम हूँ।'

भरे हुए भारी मोहनीय कर्म

प्रश्नकर्ता : तो ये जो आठ कर्म हैं, इनमें से कौन सा कर्म सब से कठिन और बाधक है?

दादाश्री : मोहनीय कर्म। और क्या?

प्रश्नकर्ता : मोहनीय कर्म से मुक्त होना है, फिर भी अपने परिबल ही ऐसे हैं कि मोहदशा में से ज़रा सा भी मुक्त नहीं हो सकते।

दादाश्री : मोहनीय से कोई छूट ही नहीं सकता न! ज्ञानीपुरुष की कृपा हुए बिना मोहनीय नहीं छूट सकता। फिर चाहे यहाँ गिरे या कहीं भी गिरे, समुद्र में गिरे या कुछ भी करे लेकिन कृपा के बिना मोहनीय नहीं छूट सकता। सिर्फ मोहनीय ही ऐसा है जो कृपा से छूट सकता है। बाकी का सबकुछ अपने आप थोड़ा बहुत छोड़ा जा सकता है लेकिन मोहनीय नहीं छूटता। मोहनीय अर्थात् मूर्छा, मूर्छित हो गया है। उसे तो जब ज्ञानीपुरुष भान में ले आएँ, तभी न! ज्ञानी के बिना तो कोई भी काम नहीं हो सकता।

वह है अनंत कर्मों में, अफसर के रूप में

इसलिए श्रीमद् राजचंद्र ने कहा है न–

''कर्म अनंत प्रकार ना, तेमां मुख्ये आठ,

तेमां मुख्ये मोहनीय, हणाय ते कहुं पाठ''

'कर्म अनंत प्रकार के हैं; उनमें से मुख्य हैं आठ

उनमें मुख्य मोहनीय; जिससे नष्ट हों, बताऊँ वह पाठ।'

कर्म अनंत प्रकार के होते हैं। उन्हें तरतीब से रखकर विभाजित कर दिया, जिनका इन आठ विभागों में समावेश होता है। उतना करने के बाद भी आखिर में आठ विभाग बने। आठ से कम नहीं हो सकेंगे, ऐसा लगा इसलिए आठ रहने दिए। कम से कम विभाजन कर दिए।

इनमें से इन सब का मुख्य अफसर कौन है? राजा कौन है? तो वह है, मोहनीय। जिसके आधार पर सब खड़ा हो गया है। आठ कर्म उत्पन्न किस आधार पर हुए? इसकी जड़ क्या है? तो वह है, मोह। अब यह मोह, वह मूल में से खत्म हो जाए, उसके लिए पाठ बता रहा हूँ तुझे, कहते हैं। जिससे मोहनीय का नाश हो जाए, वह पाठ बताता हूँ। जड़ है इसमें, वह जड़ यदि नष्ट हो जाए तो सबकुछ नष्ट हो जाएगा।

''कर्म मोहनीय भेद बे, दर्शन चारित्र नाम,

हणे बोध वीतरागता, अचूक उपाय आम।''

''कर्म मोहनीय के भेद दो, दर्शन चारित्र हैं नाम,

नष्ट (हरे) करे बोध वीतरागता, अचूक उपाय ऐसा।''

श्रीमद् राजचंद्र

मोहनीय कर्म के दो भेद हैं। एक दर्शन मोहनीय और दूसरा चारित्र मोहनीय। क्रमिक मार्ग में दर्शन मोहनीय ज्ञान से जाता है, वह बोध से जाता है और अक्रम में भेद विज्ञान से जाता है। दर्शन मोहनीय गया तो अब बचा क्या? तो वह है चारित्र मोहनीय। चारित्र मोहनीय डिस्चार्ज मोह है, परिणामी मोह। कॉज़ेज़ मोह और परिणामी मोह। कॉज़ेज़ मोह चला गया है। अब भले ही यह मोह आपको अच्छा नहीं लगता फिर भी परिणाम तो आए बगैर रहेगा नहीं। पहले के कॉज़ेज़ का रिएक्शन है अर्थात् यह चारित्र मोह है। अब क्रमिक

मार्ग में कॉज़ेज़ मोह को नष्ट करता है बोध जबकि यहाँ पर उसे नष्ट करता है, भेदविज्ञान। और चारित्र मोह को नष्ट करती है वीतरागता। क्रमिक में अगर किसी के गाली देने पर वह उस पर राग–द्वेष नहीं करे, तो वह खुद का चारित्र मोहनीय नष्ट करता है। अपने यहाँ पर आर्तध्यान–रौद्रध्यान बंद हो जाते हैं इसलिए वीतरागता उत्पन्न हो जाती है। पाँच आज्ञा का पालन करता है और समभाव से *निकाल* कर देता है।

इस ज्ञान के मिलने के बाद मोह तो पूरा ही चला गया है आपका। मोह नाम मात्र को भी नहीं रहा। सिर्फ कितना रहा है? वर्तन मोह। व्यवहार में यों कसी को ऐसा दिखता है कि 'इसे कितना मोह है!' वर्तन आपका पूरा ही मोहवाला होता है। वर्तन मोह कहते हैं उसे। ऐसा वर्तन मोह तो मुझे भी है। मैं यह सब खाने नहीं बैठता? अगर भाए तो कढ़ी ज़्यादा नहीं लेता? ऐसा जो वर्तन मोह है, वह वास्तविक मोह नहीं है। यह *निकाली* मोह है। जाता हुआ मोह, वह अपने घर जा रहा है। हमें कहकर जाता है कि 'अब मैं जा रहा हूँ।' और वास्तविक मोह तो वह है कि जिससे बीज डलते हैं। इसी से पूरा जगत् चल रहा है। यह मोह एक घंटे में ही खत्म हो जाता है सारा। सर्वांश नष्ट हो जाता है मोह। मोह का नाश हो जाएगा, तभी यह सब जाएगा न? वह मोह भी द्रव्यकर्म है। हमने सबकुछ खत्म कर दिया, एकदम से।

पूरे जैनधर्म का, तमाम धर्मों का तत्व दे दिया है सारा और वह भी क्रियाकारी, अपने आप ही काम करता रहता है और अपने आप ही मोक्ष में ले जाता है। जब तक मोक्ष में नहीं ले जाए, तब तक छोड़ता नहीं है। ऐसा है यह तो।

भेद, दर्शनावरण और दर्शन मोहनीय के बीच

आत्मा प्राप्त होने से मोहनीय कर्म खत्म हो गया। मोहनीय कब तक है? 'मैं चंदूभाई हूँ' तभी तक। उसके बाद फिर 'मैं शुद्धात्मा हूँ' हो गया तो फिर मोहनीय नहीं है। शुद्धात्मा भी *लक्ष* (जागृति) के रूप में रहना चाहिए। इसे सिर्फ बोलते रहने से कुछ नहीं बदलेगा। मोहनीय पूरा चला गया है, मोहनीय ही अंतराय का कारण है क्योंकि मोहनीय का फल है अंतराय लेकिन भगवान ने दोनों को अलग बताया हैं। मोहनीय और अंतराय को पहचानने के लिए। यानी कि दोनों चले गए। मोहनीय किसका फल है? दर्शनावरण का फल है। अब दर्शनावरण खत्म हो जाए तो उसके बाद ये चारों ही खत्म हो जाएँगे। अपना दर्शनावरण खत्म हो चुका है।

प्रश्नकर्ता : दर्शनावरण को अलग किया और दर्शन मोहनीय को अलग किया।

दादाश्री : हाँ, मोह अर्थात् क्या? अदर्शन। जो अदर्शन है वह नहीं दिखता और यह जो दर्शन है, वह दिखाई देता है। इसी को दर्शनावरण खत्म होना कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : दर्शनावरणीय और दर्शन मोहनीय में क्या भेद है?

दादाश्री : वह आवरण, वह तो ढकी हुई चीज़ है। पूरा ही दर्शन ढका हुआ है। ज्ञान ढका हुआ है। जिस हद तक खुल गया है, उस हद तक ही खुला है, बाकी सारा ढका हुआ ही है।

मोहनीय ने उसे ढका है। अत: जो भाव होना चाहिए, वह नहीं हो पाता। मोहभाव होता है, सम्मोहन होता है। ढका हुआ होने की वजह से। खुद के स्वरूप का भान नहीं हो पाता इसलिए सम्मोहन होता है। अत: वह मोहनीय कर्म है और वह मोहनीय अंतराय डालता है। वह खुद आत्मा से अलग हो गया, अंतर पड़ा। तभी से कहो न, सारे अंतराय हैं! खुद के स्वरूप के अंतराय पड़े, तभी से सारे अंतराय पड़ते ही जाते हैं।

अब वह जो दर्शन मोहनीय है, वह तो स्थूल चीज़ है। दर्शन मोहनीय को मिथ्यात्व कहते हैं। मोहनीय, अंतराय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण ये चार प्रकार की प्रबलता, इसी को मिथ्यात्व कहते हैं। मिथ्यात्व से आगे बढ़े तो तीन पीसेज़ हो जाते हैं। समकित प्राप्त होने से पहले आगे बढ़े तो उसके फल स्वरूप, तीन पीसेज़ हो जाते हैं। उसमें से मिथ्यात्व मोह बनता है, मिश्रमोह बनता है और सम्यक्त्व मोह बनता है। इस तरह मोहनीय के तीन टुकड़े हो जाते हैं। अब मिथ्यात्व मोहनीय जब मंद हो जाता है, तब मिश्र मोहनीय में आता है। यह भी सच है और वह भी सच है। मोक्ष में जाने का रास्ता, ये सब भगवान के मंदिर वगैरह जो मार्ग हैं न, वह भी सच है और यह संसार भी सच है। शास्त्र भी सच हैं और अपना घर, बीवी-बच्चे, व्यापार भी सच हैं। दोनों जगह पर मोह के परिणाम। वहाँ जाए तब वहाँ के मोह में रहता है और यहाँ पर आए तब यहाँ के मोह में रहता है। एक तरफ के मोह में हो तो मिथ्यात्व मोह कहलाता है। जबकि ये लोग दोनों मोह में रहते हैं। मंदिर में जाए तो वहाँ पर उतने समय तक आनंद में रहता है और उपाश्रय में जाए तो वहाँ पर जितनी वाणी सुनने को मिलती है, उतने समय उठने का मन नहीं करता और काम-धंधे पर जाए तो वहाँ पर भी मोह उत्पन्न होता है। यह मिश्र मोहनीय, दर्शन मोहनीय कहलाता है। मिथ्यात्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय के जाने के बाद उसे समकित होता है। जब क्रोध-

मान–माया–लोभ, चारों ही चले जाते हैं, तब उसे समकित होता है। उपशम समकित। और फिर उपशम समकित का मतलब *अर्धपुद्गल परावर्तन काल* (ब्रह्मांड के सारे *पुद्गलों* को स्पर्श करके, भोगकर खत्म करने में जो समय (काल) व्यतीत होता है, उससे आधा काल) तक भटकता रहता है। उसके बाद बहुत समय बीत जाने पर क्षयोपक्षम में आता है। यह उपशम हो गया है, उसके क्षयोपक्षम का क्षायक होते–होते तो अर्ध *पुद्गल* परावर्तन अर्थात् तो बहुत काल की भटकन हो जाती है। क्षायक कब होता है कि जब सम्यक्त्व मोहनीय जाए तब। सम्यक्त्व मोहनीय को तो, हिंदुस्तान में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है कि जिसे सम्यक्त्व मोहनीय हो। अगर वह हो जाए तब तो बहुत अच्छा काम हो जाता। सम्यक्त्व मोहनीय अर्थात् अन्य कोई चीज़ याद नहीं आती। 'आत्मा कैसा होगा? आत्मा क्या होगा? किस तरह से जाना जा सकता है? किस तरह से प्राप्ति हो सकती है?' सारा मोह आत्मा जानने के लिए ही। ऐसे कौन हैं यहाँ पर? पूरे दिन यही! अन्य कोई परिणाम ही नहीं। निरंतर उसी में। आत्मा कैसा होगा और कैसा नहीं? उसे कैसे जाना जा सकता है वगैरह इसी सोच में रहनेवाले कितने लोग होंगे? लोगों को तो एक घंटे भी नहीं रहता। जबकि यह तो निरंतर रहता है, निरंतर।

और जिसे ऐसा नक्की हो गया कि आत्मा 'यही' है और शंका उत्पन्न नहीं हुई तो सम्यक्त्व मोह नष्ट हो जाता है, उसे क्षायक समकित हो जाता है।

अपना यह सम्यक्त्व मोह चला गया है। 'यह आत्मा है,' ऐसा तय हो जाता है, नि:शंक भाव से। बिल्कुल भी शंका नहीं रहती। 'दादाजी जो बता रहे हैं, वही आत्मा है। अपना आत्मा प्रकट हो गया है।' उसके बाद शंका का कोई स्थान नहीं रहता। वर्ना इस जगत् में किसी का भी संदेह गया नहीं है।

अब तो संदेह गया, शंका गई, सबकुछ गया और आत्मा हाज़िर हो गया। फिर और क्या चाहिए? प्रकट चैतन्य हाज़िर हो गया। हम याद न करें, फिर भी अपने आप आ जाता है। फिर और क्या चाहिए? जिस दिन ज्ञान मिलता है, उस पहली रात का आनंद अभी भी याद आता है न! उस समय डिस्चार्ज तुरंत नहीं निकलते न? फिर डिस्चार्ज का उदय आया या डिस्चार्ज हुआ तब फिर वह वापस उलझने लगता है। वह पद तो देखा है न! अर्थात् पहले घंटे में, जीतेन्द्रिय जिन बन गया। उसके बाद के एक घंटे में वह जित

मोह जिन बन जाता है। जब तक वह मोह क्षय नहीं हो जाता, तब तक यह जित मोह जिन। उसके बाद क्षीण मोह जिन।

जहाँ पर नकद है, जहाँ पर खुद ही हाज़िर हो जाता है, आत्मा खुद ही हाज़िर हो जाता है। इस जगत् में कोई ऐसी चीज़ नहीं है कि जो निरंतर हाज़िर रह सके।

तीर्थंकरों ने पूरे प्रमाण दिए हैं न? आपको अनुभव होता है न मैं कह रहा हूँ उस अनुसार? ज्ञानावरण, दर्शनावरण कैसा पद्धतिपूर्वक, क्रमपूर्वक कहा है। इसका क्या कारण है? सभी का मूल कारण, आठों कर्मों का मूल कारण दर्शनावरण है। पहले इस मूल कारण का छेदन होता है। उससे आपका पूरा ही दर्शनावरण छूट (चला) गया।

प्रश्नकर्ता : दर्शन मोहनीय पहले टूटा या दर्शनावरण पहले टूटा?

दादाश्री : वह मोह और वह आवरण, दोनों साथ में ही टूटते हैं यानी कि पहले या बाद में नहीं, दोनों साथ में ही फ्रेक्चर होते हैं। एट ए टाइम सारा ही फ्रेक्चर हो जाता है, एक घंटे में।

दर्शनावरण पूरा टूट गया लेकिन अब क्या होता है? पहलेवाले जो कर्म आते हैं न, वे परेशान करते हैं उसे। इस दर्शन का लाभ नहीं लेने देते। वर्ना मेरी तरह आप भी देखकर बोलते लेकिन ये (आवरण) लाभ नहीं लेने देते। ये सब उलझा देते हैं।

प्रश्नकर्ता : अभी भी यह माल बहुत भरा हुआ लगता है।

दादाश्री : भरा हुआ ही है न, यह किस तरह काहै कि किसी को ज्ञान दिया जाए और अगर उसे कहा जाए कि 'तू ज्ञान में रहना' तब कहता है, 'हाँ कल से ज्ञान में रहूँगा' और फिर बाहर जाकर हज़ारों लोगों से कुछ न कुछ पूछने के लिए भेजें तो फिर कितना ज्ञान में रहेगा? इन सब को भेजते रहें कि 'जाओ ऐसा पूछकर आओ, वैसा पूछकर आओ, फलाना पूछकर आओ,' तो फिर कितने समय तक रहेगा? इसी तरह ये सारे संयोग आपको परेशान (उलझाते) करते हैं। हमारे संयोग बहुत नहीं हैं और हमारे सभी संयोग ज्ञेय स्वरूप से हैं। आप में भी वे ज्ञेय स्वरूप से ही हैं लेकिन आपको ज्ञेय रहने ही नहीं देते न, ये सभी (कर्म) बारी-बारी से आते हैं इसलिए। क्योंकि अक्रम है न! क्रमिक

होता तब तो ये दिखते ही नहीं। क्रमिक अर्थात् सारा माल खपा चुके होते हैं। करोड़ों–करोड़ों जन्मों में भी यह माल नहीं खप सकता, इसका ठिकाना नहीं पड़ सकता। कब खप सकेगा यहाँ पर माल? कब ये लोग घर छोड़ेंगे और वहाँ पर दीक्षा लेंगे और कब ठिकाना पड़ेगा? 'नहीं–नहीं, गुरु जी, यह मेरा काम नहीं है। मेरी परिस्थिति ऐसी नहीं है कि मैं घर छोड़ सकूँ।' तो फिर क्या होगा? ऐसा कहते ही उसने दीक्षा के लिए अंतराय बाँध लिए। ज्ञानांतराय, दर्शनावरण बढ़ गया। यानी कि यह सारा जोखिम है।

यह तो अक्रम ज्ञान की बलिहारी है कि ऐसा कुछ उदय आया है। ऐसी अद्भुत बात तो सुनी ही नहीं होगी न! दर्शनावरण का एक अंश भी कम होना बहुत मुश्किल है। इस काल में बल्कि बढ़ता ही रहता है, वहाँ पर कम कैसे हो सकता है? दो प्रतिशत कम होता है और चालीस प्रतिशत उत्पन्न होता है।

अक्रम में चार्ज कर्म कितना?

प्रश्नकर्ता : द्रव्यकर्म बंधन का सब से बड़ा कारण मोहनीय है?

दादाश्री : मोहनीय ही है, और क्या? द्रव्यकर्म का बाँधनेवाला आपका वह मोह चला गया। अब आपमें कौन सा मोह बचा है? डिस्चार्ज मोह। साड़ियाँ पहनते हो लेकिन मन में अब भाव नहीं है। यह सारा डिस्चार्ज मोह बचा है और पूरी दुनिया को नया मोह बंधता रहता है, रूट कॉज़! आपका रूट कॉज़ तोड़ दिया है। अब आपका डिस्चार्ज मोह बचा है, चार्ज मोह चला गया है। क्रमिक मार्ग में चार्ज मोह और डिस्चार्ज मोह दोनों ही साथ में चलते हैं।

प्रश्नकर्ता : तो फिर हममें अब नया द्रव्यकर्म उत्पन्न नहीं होगा?

दादाश्री : होगा, लेकिन वह कितना? हमारी आज्ञा पालन करोगे उतना, बाकी कुछ नहीं। एक-दो जन्म होंगे और वे भी पुण्य के। ऐसी सब मुश्किलें नहीं होंगी। आज्ञा पालन से तो ज़बरदस्त, सब से बड़ा पुण्य बंधता है। उससे सीमंधर स्वामी के पास ही बैठे रहने को मिलेगा!

[2.5] अंतराय कर्म

चीज़ें हैं फिर भी नहीं भोगी जा सकें, वह अंतराय

चौथा है अंतराय कर्म। अंतराय अर्थात् क्या कि कोई चीज़ आपके पास है फिर भी आपको उसका उपयोग करने में परेशानी आती है। हाँ, यानी कि ये सब चीज़ें पास में हैं, इसके बावजूद भी हम उसका कोई लाभ नहीं ले सकते। अभी खाना खाने बैठने लगें, थाली रखी हो, खाने की तैयारी हो, थाली में हाथ डालने जा रहे हों, तभी कमिश्नर आ जाते हैं, 'चंदूभाई उठ जाओ, उठ जाओ अभी एक मिनट में, आप जल्दी उठ जाओ।' आप कहते हो कि 'ज़रा खाना खाकर उठूँ तो?' 'नहीं, नहीं, एक मिनट भी नहीं, खड़े हो जाओ।' इसे अंतराय कर्म कहते हैं। थाली थी, फिर भी खा नहीं पाए। इसी प्रकार अंदर

ज्ञान है, दर्शन है, शक्ति है, निर्भयता है, सभी गुण हैं फिर भी उन्हें भोग नहीं पाते क्योंकि अंतराय बाँधे हुए हैं, ऐसी दीवारें बनाई हैं। हमने जान-बूझकर बनाई हैं और अब कहते हैं कि 'मैं फँस गया।' ऐसे हैं अंतराय कर्म।

ऐसे डाले अंतराय

प्रश्नकर्ता : अंतराय कर्म क्या हैं? वह मुझे ज़रा ज़्यादा समझना है।

दादाश्री : अंतराय कर्म तो, ऐसा है न कि अगर आप कहो कि मुझे सत्संग में आने की इच्छा नहीं है तो फिर वहाँ पर अंतराय डाले और अगर आप कहो कि मेरी इच्छा है, तो अंतराय छूट जाएँगे। खुद ने ही डाले हुए हैं अंतराय। अंतराय अर्थात् रुकावट।

अंतराय कर्म क्या है? आपका बेटा ब्राह्मणों को भोजन करवा रहा हो, तब अगर आप उससे कहो कि 'इससे क्या फायदा? इन लोगों को क्यों भोजन करवा रहा है? इसके बजाय इन दादा के महात्माओं को खिला न!' आपने उधर पुण्य बाँधा लेकिन यहाँ बहुत बड़ा अंतराय डाला। आप थाली लगाकर खाना खाने बैठोगे, फिर भी खाना नहीं खा पाओगे! हाथ में आया हुआ भी चला जाएगा। यह है अंतराय! आपने जितने अतराय डाले हुए हैं, उतने ही आपके अंतराय हैं!

लोगों को जो प्राप्त हो रहा हो, उसमें आप बुद्धि से रुकावट डालते हो, कि इसमें देने जैसा क्या है? कोई दे रहा हो तो हमें बोलना नहीं चाहिए। बोलना तो बुद्धि की अक़्लमंदी है। मार डालती है हमें। कोई दे रहा हो तब आप क्यों बोलते हो? मैंने बुद्धि से ऐसा ही सब किया था। उससे अंतराय ही डल रहे थे सारे।

सामने चीज़ हो फिर भी खाने नहीं दे, भोग है फिर भी भोगने न दे, वे सभी अंतराय हैं। ऐसे बहुत से अंतराय हैं। लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोग अंतराय, दानांतराय, वीर्यांतराय, ऐसे सभी तरह-तरह के अंतराय डाले हैं मनुष्य ने। खुद परमात्मा होने के बावजूद भी जानवर जैसे दु:ख उठा रहा है। है परमात्मा, उसमें दो मत नहीं हैं। मेरी दृष्टि में तो सभी दिखते हैं न, परमात्मा। है परमात्मा, लेकिन अब क्या हो सकता है? इसीलिए

यह ज्ञान देता हूँ कि जो जकड़ा हुआ है, जो फँसा हुआ है, जो बंधन में आ गया है, उसकी मुक्ति हो जाए।

ये सारे अंतराय खुद के ही डाले हुए हैं पिछले जन्म में। पिछले जन्म में आम मिलें न, तो उनके लिए कहा हो कि 'इनमें क्या खाने जैसा है? यह कोई खाने जैसी चीज़ नहीं है! वगैरह वगैरह।' ऐसा सब किया होता है इसलिए उस जन्म में तो ठीक है लेकिन इस जन्म में भी नहीं मिल पाते! मिल नहीं पाते और इस जन्म में लोगों के कहने से हमें पता चला कि आम बहुत अच्छी चीज़ है, विटामिनवाला है। इसके बाद हम ढूँढते हैं लेकिन मिलता नहीं है क्योंकि उसे *तरछोड़* (तिरस्कार सहित दुतकारना) मारी थी। यानी कि इस तरह अंतराय डाले हुए होते हैं।

अंतराय डालते ही करो प्रतिक्रमण

अब कोई व्यक्ति ब्राह्मण को दान में सौ रूपये का कपड़ा दे रहा हो और आप कहो कि, 'भाई, यह वापस वहाँ बेच खाएगा' तो वह आपने अंतराय डाला। वह उसे दे रहा था, उसमें आपने रुकावट डाली अत: उसके फल स्वरूप आपको अंतराय कर्म भोगना पड़ेगा। इसे अंतराय कहा जाता है कि 'भाई, अगर कोई किसी के लिए कुछ कर रहा है तो आप क्यों अंतराय डाल रहे हो?' वह बुद्धि का उपयोग करता है कि 'यह सब गलत रास्ते पर जा रहा है।' आपको वह देखने की ज़रूरत नहीं है। देनेवाला यह है और वह है लेनेवाला।

बेटा दो बार कपड़े बदलता हो, तब अगर हम उसे कहें कि 'क्यों बेकार में पैसे बिगाड़ रहा है, सभी कपड़ों को खत्म कर देता है, बिगाड़ देता है' ऐसा कहकर उसमें अंतराय डाला। अपने को नहीं मिलेगा, किसी के बीच में रुकावट मत डालना।

प्रश्नकर्ता : लेकिन अपने कितने ही ऐसे फर्ज़ आ जाते हैं तो तब तो थोड़ा अंतराय डालना पड़ता है न! परिवार के बुज़ुर्ग हैं, इसलिए कई बार तो आवश्यक रूप से बोलना ही पड़ता है।

दादाश्री : उसका भी फल तो अवश्य मिलेगा। नहीं तो फिर हमें उसे धो देना चाहिए। कर्म करो लेकिन उसे धो देना चाहिए। धोने का हथियार है ही न। घरवालों को नहीं करना पड़ता सबकुछ? लेकिन यह ज्ञान लेने के बाद, प्रतिक्रमण का हथियार दिया है न! उस हथियारवाले धो देते हैं जल्दी से।

हमें ज़रूरत की चीज़ मिलती ही नहीं और अपना इच्छित नहीं हो पाता तो वे सब अंतराय कर्म हैं।

अंतराय अर्थात् बहुत पढ़े लिखे हों लेकिन वे जहाँ भी जाएँ, वहाँ पर नौकरी का ठिकाना नहीं पड़ता और जिसके अंतराय टूट चुके हों, वह तो यहाँ से बाहर गया कि तुरंत ही यों अरज़ी देते ही नौकरी मिल जाती है।

अंतराय कर्म क्या काम करता होगा? कई लोग साधन संपन्न होते हैं। उन्होंने अपने घर खाने पर बुलाया हो, उनके घर खाना खाने जाएँ और वह हमारे साथ खाना खाने बैठे हों तो हमारे लिए श्रीखंड–पूड़ी परोसते हैं जबकि वह खुद रोटी लेकर बैठता है। तो हम समझ नहीं जाएँगे कि कुछ अंतराय हैं इसके? रोटी और दही लेकर बैठा होता है। 'मज़दूरों जैसा खाना लेकर बैठा है और हमें ऐसा खिला रहा है?' कुछ न कुछ अंतराय होंगे न? क्या अंतराय? डॉक्टर ने कहा होता है, 'तू खाएगा तो मर जाएगा' अंतराय हैं बेचारे के! खाने में अंतराय, पीने में अंतराय, सभी चीज़ों में अंतराय हैं अभी तो। ऐसा नहीं होता क्या? ऐसा देखा है? श्रीखंड वगैरह सभी कुछ है लेकिन खाने नहीं देते। अंतराय डाले हुए हैं इसलिए चीज़ होते हुए भी खाने नहीं देते। भोग है फिर भी भोगने न दें, वे सभी अंतराय हैं। ऐसे बहुत सारे अंतराय हैं।

आवरण और अंतराय

प्रश्नकर्ता : ऐसे दो शब्द आए हैं, आवरण और अंतराय। तो आवरण अर्थात् फिज़िकल और अंतराय अर्थात् मेन्टल?

दादाश्री : आवरण सूक्ष्म चीज़ है, अंतराय इतना अधिक सूक्ष्म नहीं है। अभी कोई गरीब आए और कोई पाँच रूपए का अनाज देने लगे या ऐसा और कुछ देने लगे तो आप

कहते हो कि 'अरे, इसे क्यों दे रहे हो?' अगर आप ऐसा कहते हो तो आपको अंतराय कर्म बंधता है। आप ऐसा जानते हो कि गलत रास्ते पर जा रहे हैं ये लोग, फिर यह भी जानते हो कि ये अनाज बेचकर शराब पीते हैं, इसके बावजूद भी अगर आप ऐसा कहते हो तो भी आपको अंतराय पड़ेगा। वह दे रहा था तो उसमें क्यों रुकावट डाली? यह बुद्धि की दखलंदाज़ी है न? तो इस प्रकार अंतराय कर्म नहीं डालने चाहिए। बहुत तरह के अंतराय कर्म बाँधते हैं लोग।

खाने के अंतराय पड़ते हैं इससे

एक व्यक्ति तो अपनी वाइफ से कह रहा था, उन दिनों कंट्रोल (रेशनिंग) था, चावल-वावल वगैरह कम मिलते थे कंट्रोल से और उसकी वाइफ इतने सारे चावल लेती थी थाली में। 'अब वह बेचारी थोड़ी मोटी है तो, चावल खाने दे न बेचारी को! उसे रोटी कम भाती है।' उसका पति रोज़ किच-किच करता था। तो एक दिन उनकी पत्नी मुझ से कहती है, 'रोज़ जब खाती हूँ न, तो चैन से खाने नहीं देते।' 'अरे भाई, किस तरह के हो? ये तो अंतराय कर्म कहलाते हैं। आपको चावल नहीं मिलेंगे। क्यों ऐसा करते हो? चुपचाप बैठो न!' उसे इतनी समझ नहीं है न, वह तो समझता है कि 'ऐसा करेंगे तो अच्छा हो जाएगा।' मान लो कि कभी ऐसा हो भी जाए, दूसरे दिन कुछ कम खाए लेकिन रुकावट तो आपको आएगी न!

प्रश्नकर्ता : लेकिन ऐसा तो पता ही नहीं था। ऐसी तो बहुत रुकावटें डालते हैं हम। आज पहली बार जाना।

दादाश्री : यह सिर्फ आपको ही पता नहीं है ऐसा नहीं है, इन सभी को, किसी को भी पता नहीं है। इन सब शास्त्रों में जो शब्द लिखे हुए हैं इनका सही अर्थ सिर्फ ज्ञानीपुरुष ही जानते हैं, बाकी सब तो सिर्फ बातें करते हैं उतना ही है! मेरे अंतराय कर्म हैं, मेरे अंतराय कर्म हैं लेकिन वे अंतराय क्या हैं? व्हॉट इज़ इट? आप जानते नहीं हो। ये तो मोटी-मोटी, बड़ी-बड़ी बातें हैं सिर्फ। शास्त्रों में मोटे-मोटे शब्द आते हैं लेकिन अगर आप उनसे पूछो कि 'यह है क्या? मुझे समझा दीजिए, छोटा बच्चा भी समझ जाए उस तरीके से।' तब वे कहते हैं, 'नहीं, वह नहीं आता।' खुद समझेंगे तब समझा सकेंगे न! और मैं तो बच्चे से भी कहता हूँ कि 'अरे, इतना सा देने में क्यों रुकावट डाल रहा है, तुझे नहीं मिलेगा।' यह अंतराय कर्म है! इसी को कहते हैं विघ्नकर्म। यदि विघ्न डाला तो वही विघ्न खुद को आएगा। इसे विघ्नकर्म कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् ऐसे संयोग, उदाहरण के तौर पर डाइबिटीज़ होने के बावजूद भी इतना सारा चावल ले ले तो हमें ज्ञाता-दृष्टा बनकर देखते रहना चाहिए?

दादाश्री : तो और क्या कर सकते हो? नहीं कहोगे तो भी क्या होगा? वह कुछ भी करे, घी की पूरी कटोरी डालकर खाए, तो भी आपको क्या फर्क पड़ेगा? वह तो आपकी हाज़िरी में खाती है इसलिए आपको दु:ख होता है न! हाज़िर होते हुए भी गैरहाज़िर मानना अपने आप को। यह मैं नहीं हूँ, मैं नहीं हूँ, ऐसा मानना। हम नहीं होते तो भी ऐसा ही करती न? हम हैं उसी का ज़हर है न यह तो, उस ज़हर को खत्म कर दो। देखा उसी का यह ज़हर है न!

प्रश्नकर्ता : आज यह जो समझाया है, उससे तो कईयों के सोल्युशन निकल जाएँगे। सभी अंतराय ही डालते रहते हैं।

हमें अगर ऐसा दिखे कि इससे इनका अहित हो रहा है तो फिर उस चीज़ के लिए तो हमें सामनेवाले को मना कर देना चाहिए न!

दादाश्री : खाने–पीने से जो अहित होता है उसके लिए?

प्रश्नकर्ता : खाने–पीने से, कोई चीज़ खाने से......

दादाश्री : हमें मना करने की ज़रूरत नहीं है। हमें उसे यह समझाने की ज़रूरत है कि 'भाई, ऐसा करने से शरीर को ऐसा नुकसान होता है वगैरह वगैरह।' 'चल यह नहीं खाना है,' ऐसा पुलिस एक्शन नहीं लेना है। विस्तार से समझाकर कहना कि 'इसका फल ऐसा आएगा। इससे क्या फायदा मिलेगा?'

प्रश्नकर्ता : ऐसे बहुत सारे संयोग आते हैं, कदम–कदम पर होता है।

दादाश्री : वही बताया है न यह। ऐसा सामान्य ज्ञान बाहर नहीं मिलता। इसलिए तो मैं बता रहा हूँ न! सभी लोग मिलकर कुछ बातचीत करो तो ये सामान्य ज्ञान की बातें निकलेंगी। आपने अंतराय बोला, उस पर से यह बात निकली! यानी कि अच्छा है, पूछो, कुछ बात–चीत करो।

प्रश्नकर्ता : अब ये जो अंतराय हैं, क्या इनमें से कुछ पॉज़िटिव अंतराय होते हैं और कुछ नेगेटिव होते हैं? खाने में उसने ठीक मात्रा में लिया और हम अगर कहें कि तू ज़रा ज़्यादा ले, आग्रह करें, उस पर दबाव डालें तो वह भी अंतराय है क्या?

दादाश्री : उससे अंतराय टूटा। खाना खाते हुऐ उठा दिया तो अंतराय डाला। अगर मैं लोगों से कहूँ कि 'भिखारियों को कुछ नहीं देना चाहिए।' तो फिर मैं दे ही नहीं पाऊँगा। देना हो फिर भी नहीं देपाऊँगा। किसी को रोका, वही अंतराय है। किसी को खाते–खाते उठा दिया, 'उठो, तुम दूसरी जाति के लोग यहाँ पर क्यों आए हो!' तो बहुत बड़ा अंतराय, ज़बरदस्त! दूसरी जाति के होते थे न तो पुराने ज़माने में लोग उन्हें उठा देते थे। मैंने देखा है यह सब। इन लोगों ने अंतराय डालने में कुछ बाकी रखा है?! और देखो कैसे दु:खी हुए हैं। दु:खी हुए हैं? अंतराय! खुद ही रुकावट डालते हैं जान–बूझकर।

अक़्ल के अहंकार से पड़ें अंतराय

प्रश्नकर्ता : अपने खेत में उगी हुई फसल को कोई जानवर अंदर घुसकर खा रहा हो और हम उसे हाँककर बाहर निकालें तो उसे अंतराय डालना कहा जाएगा?

दादाश्री : अपने खेत में कोई जानवर घुस जाए तो उसे हाँककर निकालने को अंतराय कर्म नहीं कहते। वह नहीं जा रहा हो तो पैर पर दो–चार बार लकड़ी मारकर भी उसे निकाल देना। पेट पर नहीं मारना। पेट पर या सिर पर नहीं मारना। अगर फसल की ज़रूरत है तो, ज़रूरत नहीं हो तो उसे सम्मान से रखना। लेकिन इससे अंतराय कर्म नहीं बंधेंगे। अंतराय कर्म अलग चीज़ है। घबराने की ज़रूरत नहीं है।

अंतराय का मतलब क्या है? तो वह यह है कि ये भाई दान दे रहे थे तब अगर मैं कहूँ कि 'ज़रा देखो तो सही कि सामनेवाला इस दान का अधिकारी है या नहीं। ऐसे ही दे दोगे तो बंधन में पड़ोगे।' अब उस बेचारे को मिलनेवाला है, वह दु:खी है, उसे कुछ मिल रहा है, यह दे रहा है, उसमें मैं अपनी अक़्ल लगाने जाता हूँ।

प्रश्नकर्ता : अंतराय डालता है।

दादाश्री : नहीं, अगर वह अंतराय डाल रहा होता तो सावधान हो जाता। लेकिन वह अक़्ल लगाता है कि 'देखो मैं कैसा समझा देता हूँ। मैं अक़्लवाला हूँ और वह बेअक़्ल है।' अर्थात् उसे अक़्ल का अहंकार है। उससे अंतराय कर्म डलते हैं क्योंकि उसे जो यह लाभ होनेवाला था न, तो लाभ में अंतराय आएगा। और फिर यहाँ पर कहता है 'मैं कोई भी व्यापार करूँ लेकिन चलता ही नहीं है, लाभ ही नहीं मिलता।' अरे भाई अंतराय कर्म लेकर आया है, तो फिर कैसे लाभ मिलेगा!

जहाँ जाए वहाँ अंतराय, जहाँ जाए वहाँ अंतराय। लोगों ने ऐसे अंतराय डाले होंगे या नहीं? जहाँ गया वहाँ। अक़्ल का बारदान है न! कोई दे रहा हो तो, उसमें यह बीच में पड़ता है। 'अरे भाई, तुझे वह सब देखने की ज़रूरत कहाँ है।' वह दे रहा है, उसमें हाथ नहीं डालना चाहिए। लेकिन वह अक़्लवाला उसे सलाह देता है, 'तुझ में अक़्ल नहीं है, ऐसा तो कहीं दिया जाता होगा'? इस तरह अंतराय डाले। उसी के अंतराय हैं सभी लोगों को क्योंकि आत्मा है। भले ही प्रकृतिमय है। प्रकृति भले ही रही लेकिन जिसने अंतराय नहीं डाले हैं न, उसे तो जिस चीज़ की इच्छा होती है, वह सामने आ जाती है।

जबकि इसने तो खुद ने उधार दिया हो, उसने दस हज़ार उधार दिए हों, तो जब इच्छा होती है तब वापस मिल जाते हैं अर्थात् उधार दिए हुए भी वापस आ जाते हैं अपने घर। जब इच्छा होती है न कि 'अब यह सब बंद कर देना है,' तो रुपये वापस आने लगते हैं। जिसने अंतराय नहीं डाले हैं, उसे।

और अगर अंतराय डाले हों न, तो उसे बारह महीनों तक वहाँ पर वसूली के लिए जाना पड़ता है। वह वहाँ पहुँचकर पूछे, 'सेठ कहाँ गए हैं?' तो कहेंगे 'अभी-अभी बाहर गए हैं,' तब वह पूछता है 'कितने बजे मिलेंगे?' 'साढ़े तीन बजे और उसके बाद चार-साढ़े चार बजे निकल जाएँगे, साढ़े तीन बजे आना' तो खुद के घर लौटने के बाद भी उसे पूरे दिन उसी काध्यान रहता है बेचारे को। खाते समय भी उसी काध्यान रहता है। जो साधना की, वही साधना चलती रहती है न! यह साधना की है तो उसी का ध्यान रहा करता है। स्त्रियों को ऐसा ध्यान नहीं रहता। वे तो वसूली के लिए जाकर वापस आएँ तो कुछ भी नहीं और ये तो अक़्लवाले हैं न? इमोशनल। वे मोशनवाली हैं। बाद में फिर से साढ़े तीन बजे जल्दी-जल्दी निकलता है। 'अब साढ़े तीन होने को आए हैं, अब दस मिनट में मैं वहाँ पहुँच जाऊँगा।' यानी कि वह उसी जागृति में रहता है। और वहाँ पर उस आदमी की पत्नी ने उसे कहा होता है कि 'वसूलीवाले आए थे।' तब वह कहता है, 'ठीक है। भले ही आए, कोई परेशानी नहीं है। आज तो मुझे बहुत जल्दी है और उनसे कहना कि 'वे कह रहे थे, कल फिर आना।' और वह सवा तीन बजे निकल जाता है। तब फिर देखो तो यह सेठ चिढ़ता रहता है। 'अरे, मैंने इसे क्यों उधार दिए? मैंने इसे क्यों उधार दिए?' तब अगर कोई पूछे कि 'भाई, क्या उसका दोष है?' तो 'नहीं भाई, तूने जो अंतराय डाले हैं न, उसी का यह दोष है। तूने लोगों के काम में अंतराय डाले हैं, यह दोष है। उस आदमी का दोष नहीं है। जब तेरे अंतराय खत्म हो जाएँगे, तब वह सीधा हो जाएगा।'

हमें इच्छापूर्वक खाने-पीने का सभी कुछ..... अंदर आत्मा है, जिस चीज़ की इच्छा हो वह सामने आए, ऐसा है। उसके बजाय देखो प्रयत्न करता है फिर भी काम नहीं होता और ऊपर से कभी वह झगड़ा कर लेता है, वह अलग। 'क्या चक्कर लगाते रहते हो रोज़-रोज़, तुम्हारे पैसे कहीं चले जाएँगे क्या?' तो वह चिढ़ जाता है। फिर कहता है, 'अब ऐसा कह रहा है ऊपर से। एक तो पैसे दिए हैं और फिर!' यह तेरा ही दोष है। उसका

दोष नहीं है। वह जो कह रहा है न, वह तेरा ही प्रतिस्पदंन है। यह तूने जो प्रोजेक्ट किया है, वही प्रोजेक्ट है यह। आपको कभी ऐसा कोई अनुभव हुआ है?

खुद ब्रह्मांड का मालिक है फिर भी.....

यह तो, ये सारे अंतराय हैं, वर्ना आप पूरे ब्रह्मांड के मालिक हो। तब कहता है, 'अनुभव क्यों नहीं होता?' सभी अंतराय छूट गए तो आप मालिक तो हो ही। अंतराय किसने खड़े किए हैं? भगवान महावीर ने? 'नहीं, तूने खुद ने ही।' 'यू आर होल एन्ड सोल रिस्पोन्सिबल फॉर यॉर लाइफ।' खुद ही खुद ने खड़े किए हैं। ज़रा बारीकी से नहीं चलेंगे तो फिर अपनी गाड़ी कैसे चलेगी? यहाँ पर अंतराय कहते हैं कि 'बारीकी से हिसाब सेट कर लो। इन भाई को मोटा रास नहीं आएगा,' कहेगा। 'हाँ! अरे, अनंत शक्तिवाला है तो तुझे ऐसा सोचने की ज़रूरत ही कहाँ रही?' जिस तरह से चल रहा है उसे ईज़िली (सरलता से) देखता रह न चुपचाप! 'मैं क्या करूँ,' कहता है। 'वहाँ पर किराया कम पड़ जाएगा तो लॉज में कैसे जाऊँगा?' अरे, घनचक्कर! ऐसा नहीं कहते। सबकुछ तैयार ही है वहाँ पर। ऐसा कहना, वही उसके अंतराय हैं और फिर क्या वे उसे फल नहीं देंगे? अंतराय डालनेवाला खुद ही है।

हम ऐसा एक भी अक्षर नहीं बोलते। हमें अंतराय हैं ही नहीं। निर्अंतराय पद में हैं हम। सभी चीज़ें यों जहाँ बैठे हों, वहाँ पर हाज़िर हो जाती हैं। उस चीज़ के बारे में सोचा तक नहीं हमने, फिर भी हाज़िर हो जाती है। आपके साथ ऐसा क्यों नहीं होता? क्योंकि अंतराय डाले हैं। 'यह मुझे मालूम नहीं है, यह मुझ से नहीं होगा,' कहा तो फिर वह चीज़ क्या कहती है? 'तुझे मालूम नहीं है तो बेवकूफ यों ही बैठा रह। मेरा अपमान क्यों कर रहा है?' ये सब जो चीज़ें हैं न, वे मिश्रचेतन हैं। यह जो लकड़ी है वह मिश्रचेतन से बनी हुई है। यह भी *पुद्गल* है। ये परमाणु नहीं हैं। यह तो *पुद्गल* है। उस पर भी यदि कभी आप द्वेष करोगे तो उसका आपको फल मिलेगा। अगर कहोगे कि 'यह फर्नीचर मुझे अच्छा नहीं लगा' तब फर्नीचर कहेगा 'तेरे और मेरे बीच अंतराय।' दोबारा वह फर्नीचर नहीं मिलेगा, ऐसा नियम है। लोगों ने ही ये अंतराय डाले हैं।

सभी जगह ये खुद के ही खड़े किए हुए अंतराय हैं। एक-एक शब्द पर अंतराय डालता है। बिल्कुल नेगेटिव बोलने से अंतराय पड़ते हैं लेकिन पॉज़िटिव से अंतराय नहीं पड़ते।

अंतराय, इलाज करने में या सोचने में?

प्रश्नकर्ता : अब अगर कोई रोग हो जाए फिर उस रोग को मिटाने के लिए जो इलाज करवाते हैं, तो वह जो उदयकर्म आया है उसी को खपाना है, उसका इलाज करवानेसे क्या हम अंतराय डालते हैं?

दादाश्री : नहीं-नहीं। इलाज के बारे में सोचते हैं तो वह अंतराय है। दवाई लेना अंतराय नहीं है।

प्रश्नकर्ता : तो अगर रोग मिटनेवाला होगा तो वह दवाई उसे मिल जाएगी?

दादाश्री : नहीं, वह तो शायद न भी मिटे, शायद बढ़े भी सही। हाँ, लेकिन यह तो ऐसा है कि जो दवाई ली है, वह इसलिए कि वही परमाणु अंदर हैं लेकिन अगर नहीं ली

और सिर्फ सोचते रहे, 'ऐसा करें और वैसा करें' तो वह अंतराय है! 'डॉक्टर अच्छा नहीं है, वैद्य अच्छा है, फलाना अच्छा है,' अगर ऐसा सोचा तो वह सब अंतराय है।

प्रश्नकर्ता : तो ऐसे समय में कोई पुरुषार्थ करना ही नहीं है? देखते ही रहना है?

दादाश्री : पुरुषार्थ किसे कहते हैं? देखते रहना ही पुरुषार्थ है। ज्ञाता-दृष्टा रहना ही पुरुषार्थ है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन डॉक्टर के पास जाना, जाँच करवाना, ऐसा सब नहीं करना है?

दादाश्री : तब क्या होता है, उसे देखो। जाना, जाँच करवाना, उसे अंतराय नहीं कहा जाता। 'चंदूभाई' जा रहे हों तब पूछना 'क्यों आपको ऐसा लग रहा है कि जाना ज़रूरी है?' तब अगर वह कहे, 'हाँ' तो हमें कहना है 'तो फिर जाओ।' उससे कुछ भी अंतराय नहीं पड़ेंगे। आपके हाथ में सत्ता है ही कहाँ कि डॉक्टर के पास नहीं जाएँ तो चलेगा। ऐसा कैसे कह सकते हो! डॉक्टर के पास जानेवाला अलग है, आप अलग हो या फिर यों ही?

प्रश्नकर्ता : तो फिर दादा, अगर ज्ञाता-दृष्टा के पुरुषार्थ में रहें, 'जो हो रहा है वही करेक्ट है,' इस तरह से देखते रहें, जो होना है उसे, तो प्रकृति को फुल स्कोप मिल जाएगा, उसे जो करना है वही होगा।

दादाश्री : प्रकृति में अंतराय नहीं डालने हैं। ऐसा करना या नहीं करना, ऐसा बोले कि वहीं पर अंतराय डाले! उसे अंहकार करना कहते हैं! प्रकृति क्या कर रही है, वह देखो न! महावीर एक ही *पुद्गल* को देखते रहते थे, वे अपनी प्रकृति को ही देखते रहते थे। अंबालाल भाई शॉल पहनकर बैठे हैं, वह सब मुझे यहाँ बैठे दिखता है और बात कर रहे हैं, वह भी मुझे दिखता है। उस समय हाथ कैसे नचाते हैं, वह भी दिखता है। उनके सभी क्रिया कलाप दिखाई देते हैं।

दादा के बहरेपन का रहस्य

वे डॉक्टर वापस मुझे कान में मशीन रखने को कह रहे थे। हम से कह रहे थे, 'दादा कुछ रिपेयर करवा लीजिए।' मैंने कहा 'नहीं–नहीं भाई, नहीं करवाना है।' तब कहने लगे, 'वह सेवा हमें मिलेगी न!' डॉक्टर तो अच्छे इंसान थे, भावना ऐसी थी कि सेवा करनी है। डॉक्टर को तो लाभ होता। क्योंकि ज्ञानीपुरुष का इलाज किया इसलिए उन्हें पूरा लाभ मिल जाता, उनकी पूरी भावना थी इसलिए। तब मैंने कहा, 'लेकिन आप मेरा नुकसान नहीं देख रहे हो।' तब कहने लगे, 'आपको क्या नुकसान है?' तब मैंने कहा, 'यह मेरे कर्म का फल है, इस कर्म को खपाना है। हमें अभी इसे पूरी तरह से खपा देना है। अन्य कोई उपाय नहीं करेंगे हम। हम उपाय नहीं करते।'

अर्थात् अगर हम मशीन लगवा दें तो हमारे अंतराय कैसे पूरे होंगे? अंतराय को धक्का देना कहा जाएगा इसे। तब कोई पूछे कि 'दादा ने कौन से अंतराय डाले होंगे?' तो वह यह है कि, 'दादा ने ऐसे अंतराय डाले हैं कि किसी ने कुछ कहा, तो हट, हट, हट, हट!' अर्थात् किसी की सही बात भी नहीं सुनी इसीलिए बहरापन आ गया। आपकी सही बात हो फिर भी अगर नहीं सुनूँ तो कितनी बड़ी अक़्लमंदी है! सही बात को भी न सुने। उससे फिर बहरापन नहीं आएगा तो और क्या आएगा? जब मैं डॉक्टरों को समझाता हूँ, तब डॉक्टर कहते हैं, 'हाँ।' मैंने कहा, 'इसे भोग लेना पड़ेगा अब। कोई व्यक्ति सहीबात कहे, उसे भी नहीं सुने, बस खुद की ही अक़्ल के गुमान में रहना? बस–बस, समझ गया, समझ गया, समझ गया। सामनेवाले को पूरा बोलने भी नहीं देते बेचारे को! ऐसा नहीं होता क्या कहीं पर? आपके साथ कभी ऐसा कुछ नहीं हुआ है?

प्रश्नकर्ता : होता है।

दादाश्री : अर्थात् सही बात भी नहीं सुनी है लोगों की। उससे अंतराय पड़े। भगवान ने क्या कहा है कि सही बातें तो सुनो। ऐसे इतना अहंकार क्यों कर रहे हो?

तो इससे बहरे हो जाते हैं। जिस विषय का सदुपयोग नहीं हुआ है, उस विषय पर आघात हुए बगैर रहेगा ही नहीं। हाँ! आँखों का सदुपयोग नहीं हुआ हो तो चश्मे मंगवाने पड़ते हैं।

प्रश्नकर्ता : कई बार ऐसा लगता है कि वास्तव में यदि ज़्यादा अंतराय आते हैं तो इस शरीर को आते हैं। ऐसा ज़्यादा लगता है कि सभी अंतराय इस शरीर के हैं।

दादाश्री: हाँ, ज़्यादा। शरीर के ही तो, और कौन से? मन के तो बहुत नहीं होते।

भोग–उपभोग के अंतराय

प्रश्नकर्ता : भोग अंतराय, उपभोग–अंतराय वगैरह समझाइए।

दादाश्री : भोग के अंतराय पड़े होते हैं, उपभोग के अंतराय पड़े होते हैं। तीर्थंकर भगवान भोग किसे कहते होंगे? और उपभोग किसे कहते होंगे? एक बार भोग लिए जाने के बाद दूसरी बार नहीं भोगा जा सके, जैसे कि आम खा लिया तो एक बार भोग लिया तो उसे भोग कहते हैं। पेट में से निकालकर फिर से खाया नहीं जा सकता। फिर से स्वाद नहीं आता न?

प्रश्नकर्ता : नहीं आता।

दादाश्री : ऐसा! ये भोग और उपभोग क्या हैं? यह कमीज़ फिर से पहनी जा सकती है, ये चश्मे फिर से लगाए जा सकते हैं, यह देह दूसरे दिन काम आती है, आँखें दूसरे दिन काम आती हैं अत: ये उपभोग हैं। जो बार–बार भोगे जा सकें उन्हें उपभोग कहते हैं।

और ये जो कपड़े हैं, इन्हें रोज़–रोज़ पहनते हैं इसलिए उपभोग कहलाते हैं। स्त्री–पुरुष वगैरह उपभोग कहलाते हैं। बार–बार जिनका उपयोग हो सके वे उपभोग कहलाते हैं।

प्रश्नकर्ता : सही कह रहे हैं आप, जैसे कि तीर्थंकर बोल रहे हों। इतनी बारीकी से डिमार्केशन किया है।

लाभांतराय

प्रश्नकर्ता : अब लाभांतराय क्या है?

दादाश्री : ज्ञानांतराय की वजह से सभी अंतराय पड़ जाते हैं। लाभांतराय अर्थात् किसी को किसी भी प्रकार का लाभ हो रहा हो, और उसमें हम रुकावट डालें, तो उससे हमें लाभांतराय पड़ जाता है। कोई अच्छे कपड़े पहने और हम कहें कि 'अरे, बेकार ही पैसे पानी में मत डालना' तो वह उपभोग अंतराय है और जलेबी-लड्डू वगैरह खा रहा हो, तब कहें, 'अरे, रोज़-रोज़ ये सब क्या खाता रहता है? यह तो कोई बात है! भीख माँगनी है या क्या है?' तो इससे भोग अंतराय डाले। ये तरह-तरह के अंतराय डालकर ही तो यह जगत् उत्पन्न हो गया है और फिर कहेगा, 'भगवान देता नहीं है।' अरे भाई, तेरे ही डाले हुए अंतराय हैं, तो भगवान क्यों इसमें बीच में हाथ डालें!

दानांतराय, वीर्यांतराय

प्रश्नकर्ता : अनंत वीर्य का मतलब क्या है? अनंत वीर्य, किस तरह से बनता है?

दादाश्री : हाँ। यही है अनंत वीर्य की दशा। पूरे दिन हमारा यह आत्मवीर्य नहीं देखते? तीर्थंकरों में इससे कुछ खास प्रकार का ज़्यादा बढ़ा हुआ होता है, बस इतना ही। उसी को वीर्य कहते हैं। अन्य कोई वीर्य वगैरह कुछ नहीं होता, आत्मवीर्य। अनंत लाभ-लब्धि होती है।

अनंत भोग, अनंत उपभोग, अनंत वीर्य और अनंत दान, ये सभी होते हैं। अब अनंत भोग का मतलब क्या है? तो वह ऐसा है कि वे खुद तो कोई चीज़ भोगते ही नहीं हैं। वे खाते तो हैं सिर्फ दो-तीन चीज़ें और सौ चीज़ें हाज़िर हो जाती हैं टेबल पर। जिस समय में आम सुना ही नहीं हो, उस समय उनके टेबल पर आम रखे होते हैं। सबकुछ हाज़िर हो जाता है अपने आप ही, प्रयत्न किए बगैर, सोचे बगैर।' उसे क्या कहेंगे? अनंत भोग।

प्रश्नकर्ता : स्व–लब्धि का उपयोग करते हैं?

दादाश्री : जो स्व–लब्धि का उपयोग करे, वह ज्ञानी नहीं है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् खुद के आत्मा के गुणों में रम जाए। आत्मा के गुणों में निरंतर रमा हुआ रहे, तो उसे अनंत वीर्य माना जाएगा? उसे अनंत उपयोग कहा जाएगा?

दादाश्री : इस प्रकार से ज्ञानी भी रह सकते हैं। अनंत वीर्य ऐसा नहीं होता। अनंत वीर्य तो, यों हाथ रखे तो भी कुछ का कुछ हो जाता है। अनंत वीर्य!

अनंत दान! देखो न हम रोज़ मोक्ष का दान देते ही हैं न! कितने लोग मोक्ष प्राप्ति करते हैं। मोक्ष प्राप्ति के बाद फिर जाते नहीं हैं। है न!

फिर है अनंत दान–लब्धि! उसकी इच्छा हो, उसके पूर्व कर्म हों, तो अरबों रूपये का दान दे देता है और जिसके पूर्व कर्म नहीं हों, वह चार आने ही देता है। पहले का जो हिसाब है न, वही तेरे बहीखाते के अनुसार देना होता है। तुझे पूरी छूट है। अनंत दान की छूट है। अगर आप नोबल हो तो पिछले जन्म में आपने लाखों रूपये देने का, सभी को देने का तय किया होता है। अगर कोई नोबल नहीं है तो कहेगा, 'आठ–आठ आने ही देना न सभी को।' तो कोई आठ आने देता है, जबकि कोई लाख भी देता है। दोनों की शक्ति एक सरीखी ही है लेकिन स्वभाव छोड़ता नहीं है न!

प्रश्नकर्ता : वहाँ पर भी उसे स्वभाव नहीं छोड़ता?

दादाश्री : हाँ, भोग में भी स्वभाव नहीं छोड़ता। भोग में भी कहता है, 'हमें करेले नहीं खाने हैं।' और कोई कहता है, 'मुझे करेले ही खाने हैं।' हाँ, स्वभाव। लेकिन फिर उसकी इच्छा के अनुसार ही सबकुछ होता है। इच्छा के अनुसार ही भोग, इच्छा के अनुसार ही उपभोग और इच्छा के अनुसार ही दान।

फिर आता है लाभ, इच्छा के अनुसार लाभ किसे होता है? उसे, जिसने कोई उल्टी रकम इकट्ठी नहीं की हो। किसके लाभ के लिए यह सब करता है? कि इन लोगों

का इतना काम हो जाए। उससे उसके लाभ अंतराय टूटते हैं। जबकि दूसरा कोई ऐसा हो जिसने ऐसी भावना की होती है 'दूसरों को अलाभ हो जाए' तो उसे लाभांतराय पड़ता है। किसी को लाभालाभ होता है। पलभर में अलाभ होता है और पलभर में लाभ होता है। लाभ होता है और अलाभ होता है लेकिन जब लाभ का अंतराय चला जाता है, तब वह अनंत लाभ की प्राप्ति करता है।

अत: भगवान क्या कहते हैं कि 'जब अंतराय टूट जाएँ, तब अनंत लाभ होता है।' अनंत भोग, अनंत उपभोग, अनंत वीर्य प्रकट होता है। नहीं तो यह वीर्य अंतराय किस कारण से है कि 'मैं कर रहा हूँ लेकिन हो नहीं पाता।' वह किसलिए? क्योंकि वीर्य अंतराय हैं। अत: ऐसे अंतराय डाल दिए हैं, हर किसी बात में अंतराय डाले हैं। अब अगर उसे समझ होती तो अंतराय नहीं डालता लेकिन अब समझाए कौन?

फिर आता है अनंत वीर्य! अनंत शक्ति, अपार शक्ति! यों हाथ लगाते ही काम हो जाए, सामनेवाले का काम कर दे। ये अच्छे इंसान हैं न, वे या फिर ये लोग अच्छे हैं? कौन से अच्छे हैं?

प्रश्नकर्ता : तीर्थंकर।

दादाश्री : उन लोगों ने अनुभव में देखा है यह सब। देखकर कहा है। उसके बाद लिखा गया है। अनंत जन्मों से यही रास्ता चला आया है। आपको अच्छा लगा यह रास्ता?

प्रश्नकर्ता : हाँ, दादा, अच्छा ही लगा है न!

दादाश्री : नहीं! लेकिन बात कैसी, समझदारीवाली!

किससे टूटते हैं अंतराय कर्म?

प्रश्नकर्ता : जो अंतराय पड़ रहे थे, वे सभी पुण्यानुबंधी पुण्य से हट जाते हैं?

लाभांतराय, दानांतराय वगैरह जो अंतराय आते थे। भोजन तैयार होने के बावजूद भी खा नहीं पाते थे।

दादाश्री : नहीं, वह तो जितना पुण्य होता है न, उतना ही फल देता है। चला नहीं जाता। उसमें हटाने का गुण नहीं है, उसमें फल देने का गुण है।

अंतराय कर्म का नाश कैसे हो सकता है? जो अंतराय कर्म हैं, उन कर्मों को तोड़ने से, उनके विरोधी स्वभाव से, वे सब चले जाते हैं। जिस वजह से अंतराय कर्म उत्पन्न हुए हैं, अगर अपनी वह दशा न हो, तो वे चले जाएँगे।

ऐसे ही अंतराय डालते रहे हैं। अंतराय अर्थात् खुद की इच्छानुसार सफलता न मिलना। वर्ना ऐसा है कि इच्छानुसार अर्थात् इच्छा होते ही हाज़िर हो जाए। तब क्या कोई भी पुरुषार्थ नहीं करना पड़ेगा? नहीं, सिर्फ इच्छारूपी पुरुषार्थ या इच्छा होनी चाहिए। हमारा काफी कुछ भाग, 80त्न हमारी इच्छा होते ही तुरंत सबकुछ हाज़िर हो जाता है इच्छा न हो फिर भी आती ही रहती हैं सारी चीज़ें।

अत: मैं आपसे क्या कह रहा हूँ कि सभी अंतराय टूट जाएँ, ऐसा रास्ता बना दिया है मैंने आपके लिए। ये सारी आज्ञाएँ दी हैं न, उनसे सभी अंतराय टूट जाएँगे। समभाव से *निकाल* करो।

प्रश्नकर्ता : आपने कहा है कि हमारा एटी परसेन्ट इच्छानुसार होता है, तो बाकी के बीस प्रतिशत का क्या?

दादाश्री : उस बीस प्रतिशत की हमें पड़ी ही नहीं है। इच्छा होने पर भी अगर कभी न मिले तो देर से मिलता है। देर से यानी कि दो-तीन दिन बाद मिलता है लेकिन उसका निबेड़ा आ जाता है। और वह जो तुरंत मिल जाता है, ऐसे इच्छा होते ही कि 'अब जाना है,' उससे पहले ही किसी की गाड़ी आकर खड़ी हो चुकी होती है। हम गाड़ी नहीं रखते, कुछ भी नहीं रखते।

प्रश्नकर्ता : नहीं, यानी मुझे यह जानना था कि सेन्ट परसेन्ट क्यों नहीं? आपने एटी परसेन्ट क्यों कहा?

दादाश्री : सेन्ट परसेन्ट नहीं है। इतने तो हमने भी अंतराय डाले हुए हैं, थोड़े हल्के। नहीं तो हमारे लिए भी वैसे कुछ अंतराय नहीं रहते, बीस प्रतिशत जितना नहीं है इतना, लेकिन है थोड़ा बहुत। लेकिन उसके बजाय अगर हम बीस प्रतिशत कहें तो अच्छा लगेगा, ताकि पीछे से मन में ऐसा नहीं हो कि गलती हो गई। इसके बजाय पाँच-दस प्रतिशत पहले से ही ज़्यादा डाल दें तो परेशानी तो नहीं। अस्सी प्रतिशत क्या कम है इस काल में? अस्सी प्रतिशत मार्क्स आते हैं। क्या आपने ये सब नहीं देखा है? हमारी ज़रूरत की सभी चीज़ें सामने आ जाती हैं।

प्रश्नकर्ता : हाँ सामने से आती हैं। दौड़ती हुई आती हैं।

दादाश्री : सभी चीज़ें सामने से आ मिलती हैं। हमे ज़रूरत नहीं हैं इनमें से किसी भी चीज़ की।

अंतराय कर्म की करके पूजा, बाँधे ज्ञानांतराय

प्रश्नकर्ता : धर्म में एक ऐसी पद्धति चली है कि घर-संसार कुछ ठीक से नहीं चल रहा हो तो अंतराय कर्म के लिए पूजा करवा देते हैं।

दादाश्री : अंतराय कर्म क्या है, वही नहीं समझते हैं। कैसे पड़ते हैं, वह भी नहीं समझते। अंतराय डालता जाता है और फिर विधि बोलता जाता है। भान ही नहीं है वहाँ पर! अब विधि बोलने से क्या फायदा हुआ? उसने ज्ञानांतराय बाँधा।

प्रश्नकर्ता : विधि करने से ज्ञानांतराय किस तरह पड़ते हैं?

दादाश्री : हाँ, लेकिन जहाँ पर ज्ञान की विधि करनी है, वहाँ पर अज्ञान की विधि करते हैं, इसलिए ज्ञानांतराय पड़ा।

कृपालुदेव ने कहा है कि *अभिनिवेष* (अपने मत को सही मानकर पकड़े रखना) मत करना। तो सभी जगह *अभिनिवेष* ही हो रहे हैं और वहाँ पर जड़ दशा है। ऐसा मत करना। आत्मा के संबंध में जड़ दशा और वह ज्ञान कौन सा है? शुष्कज्ञान। तो जिसके लिए कृपालुदेव ने सावधान किया है, वही सब चल रहा है। अब बोलो, तो ये लोग कृपालुदेव के

विरुद्ध जाकर कर रहे हैं, यानी कि कृपालुदेव की आज्ञा का उल्लंघन किया। उससे जो दोष लगा है, वह कौन छुड़वाएगा अब? भले ही अज्ञान से हुआ, नासमझी से हुआ। उसे समझ नहीं है इसलिए कर रहा है। नासमझी से अंगारों में हाथ डाले तो?

प्रश्नकर्ता : जल जाएगा।

दादाश्री : इसलिए हैं कि यह सब समझकर करो नहीं तो मत करो। आपको किसने ऊपर लटकाया था कि ऐसा कर रहे हो? खा-पीकर मौज करो न आराम से। और अगर बात करो तो समझकर करो।

आयुष्य के अंतराय

लोग सिर्फ मृत्यु के अंतराय कम डालते हैं।

प्रश्नकर्ता : मृत्यु के?

दादाश्री : हाँ, कोई अंतिम अवस्था में हो तो कोई ऐसा नहीं कहता कि 'यह जाए तो अच्छा।' वह अंतराय नहीं डालता। और कितने ही लोग तो, 'बच जाए तो अच्छा,' तो वे खुद अंतराय के विरुद्ध चलते हैं। अत: खुद बचेंगे। यह तो न्याय है। यह जगत् अर्थात् न्याय स्वरूप है। तेरे ही एक्शन और तेरी बातें, तेरी ही समझ, और तेरा उसी से चलेगा।

प्रश्नकर्ता : लेकिन दादा, जगत् न्याय स्वरूप है, यह बात तो ठीक से समझ में आ गई लेकिन ऐसे उदाहरणों से और ज़्यादा स्पष्ट हो जाता है।

दादाश्री : स्पष्ट हो जाता है। विस्तार से समझ लें न तो स्पष्ट हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : दादा, कई बार ऐसा होता है कि कोई व्यक्ति बहुत कष्ट पा रहा हो और कोई ऐसा कहे कि, 'भाई, मेरी एकादशी का पुण्य मैं इन्हें देता हूँ, यदि इनका छुटकारा हो जाए तो!' गाँव में ऐसा कहते हैं, तो वह क्या कहलाता है?

दादाश्री : हाँ, वह निमित्त है। नैमित्तिक ऐसा हो सकता है और न भी हो। साइन्टिफिक लॉ नहीं है ऐसा कि ऐसा होने पर होगा ही।

देखो न, इस काल में कई महान पुरुष कम उम्र में ही चले गए। उन्होंने आयुष्य के कितने अधिक अंतराय डाले होंगे!

प्रश्नकर्ता : वे कैसे डाले थे?

दादाश्री : उसका विरुद्ध प्रकार, समझ जाओ न! कई महान पुरुष जो थे न, वे काफी कुछ इस तरह के थे। तीर्थंकरों को ऐसा नहीं होता। भगवान महावीर की आयु बहत्तर साल की थी। बहत्तर साल का आयुष्य फुल (पूरा) माना जाता है। बहत्तर साल से ज़्यादा के सभी फुल माने जाते हैं, इस काल में!

शुभ आयुष्य नहीं, अशुभ आयुष्य। तो उससे आयुष्य कर्म टूट जाता है। शुभ आयुष्य हो तो भोग लेता है।

कृष्ण भगवान साढ़े नो सौ साल तक जीए थे। साढ़े नो सौ साल फिर भी पचास कम पड़े थे। आयु पूरी नहीं हुई थी। वह बाण लगा था न! आयु एक्ज़ेक्टली पूरी नहीं हुई लेकिन फिर भी नौ सौ पचास यानी वह पूरा ही कहलाएगा! एकावन सौ साल पहले हज़ार साल की आयु होती थी। भगवान महावीर के समय से सौ साल की आयु। पहले ज़्यादा थी, अब आयु वगैरह सब कम होती जा रही है न!

धर्म में अंतराय

हन्ड्रेड परसेन्ट दर्शन है अपना। अर्थात् तीन सौ साठ डिग्री का दर्शन है अपना और अभी ये सभी धर्म एक-दूसरे के विराधक हैं। किसी धर्मवाले आपसे क्या कहते हैं, 'अरे,

माताजी के पास जाओगे तो मिथ्यात्वी हो जाओगे। महादेव जी के वहाँ नहीं जाना चाहिए, मिथ्यात्वी हो जाओगे।' अरे भाई, अंतराय डाल रहे हो। दर्शन में अंतराय डाल रहे हो। दर्शन व ज्ञान दोनों में अंतराय, आपको ऐसा नहीं बोलना चाहिए। आपको नहीं जाना हो तो मत जाओ और दूसरों को ऐसा नहीं बोलना चाहिए कि 'जिनालय में गए, इससे अच्छा तो हाथी के नीचे आकर मर जाओ।' ऐसे सारे अंतराय डालते हैं। इसमें जो बात है वह आपको समझ में आई? ये सूक्ष्म बातें समझने जैसी हैं।

मोक्ष जाते हुए अंतराय कौन डालता है? मत! मत की वजह से अज्ञान भी समझ में नहीं आता, ज्ञान की बात तो जाने दो।

इन्हें धर्म लाभ प्राप्त नहीं हुआ अर्थात् धर्म का अंतराय है। आपकी लाभ की इच्छा हो, धर्म लाभ की लेकिन प्राप्त ही नहीं होता, तो वह आपका खुला अंतराय है।

प्रश्नकर्ता : वह तो पहले से लाया हुआ अंतराय ही आया है न?

दादाश्री : नहीं, लेकिन पुराना छूटता है और नया बाँधता है। जब तक ज्ञान नहीं हो जाता न, तब तक बाँधता ही रहता है नियम से। गेहूँ उगे हों और गेहूँ के दाने गिरें तो फिर दूसरे उगते ही रहते हैं।

सच्चे ज्ञान के प्रति दुर्लक्ष्य, वह भी डाले अंतराय

प्रश्नकर्ता : 'किसी का हिसाब नहीं हो तो उससे ज्ञान नहीं लिया जा सकता,' क्या यह बात सही है?

दादाश्री : वह हिसाब नहीं बल्कि अंतराय होता है। हिसाब का प्रश्न नहीं है। लेन-देन तो परिवारवालों में होता है। ये सब तो अंतराय हैं। ज्ञान के सही रास्ते को सही न कहो तो अंतराय पड़ जाता है। ये सारे अंतराय डालने के साधन हैं। या फिर सही ज्ञान के प्रति दुर्लक्ष्य रखना, वह अंतराय है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन वह कैसे जानेगा कि सही है या कैसा है यह?

दादाश्री : पता न भी चले।

प्रश्नकर्ता : उसे सही लगे, उसके लिए हमें क्या करना चाहिए?

दादाश्री : दूसरे लोगों को उनका उल्टा नहीं लगता? यह तो ऐसा है न, जो मेरे पड़ोस में रहते हैं, उन्हें यह सत्य नहीं लगता। वे उनके अंतराय कर्म हैं। उनके भाग्य में नहीं है, इसलिए उन्हे ऐसा उल्टा ही दिखेगा।

प्रश्नकर्ता : तो ये सब अंतराय अन्जाने में पड़ गए?

दादाश्री : कितने ही अन्जाने में, कितने ही जान-बूझकर, अहंकार से, अहंकार और बुद्धि के पागलपन से डाले हैं।

अंतराय, परेशान करते हैं ऐसे

अगर इनसे पूछा होता तो ये बताते आपको, दिखाते कि ये रहे मुक्त पुरुष, यहाँ पर! पूछा ही नहीं आपने कभी?

प्रश्नकर्ता : नहीं-नहीं, बात तो कई बार हुई है।

दादाश्री : लेकिन तुरंत स्वीकार नहीं होती न! अभी ऐसा है न, कि 'अभी है ऐसा हो ही नहीं सकता, अभी क्या ऐसा संभव है? मोक्ष का मार्ग कहाँ से मिलेगा? अभी तो अगर धर्म मिल जाए तो भी बहुत अच्छा।' अत: ऐसा स्वीकार नहीं हो पाता कि यह मोक्ष का मार्ग है, लेकिन अगर आप उनसे पूछो कि 'आप मोक्ष सुख का अनुभव कर रहे हो?' तब अगर वह कहे, 'हाँ,' तब अगर आपको उन पर विश्वास आए तो आ पाओगे और वह भी अगर अंतराय टूट गए होंगे, तभी। अगर अंतराय होंगे न, तो 'आप यहाँ पर बैठे हुए होंगे,' तब 'चाचा उठो उठो' कहकर उठाएँगे। तब आप कहो कि, 'भाई, बस थोड़ा ही, दो मिनट बाद आऊँ?' तब वे कहेंगे, 'नहीं, दो मिनट भी नहीं।' अंतराय छोड़ देंगे क्या? ऐसे सारे अंतराय बाधक हैं।

प्रश्नकर्ता : अंतराय तोड़ने के लिए क्या करना चाहिए?

दादाश्री : अब पूछे उपाय? लेकिन अब तो मैं सामने हूँ। अब उपाय कैसे? आपको जो माँगना हो वह माँगो न चुपचाप! अरे, इतना है कि माँगना भूल जाओगे, जो चाहिए वह माँगो न! आपको निर्विकल्प समाधि चाहिए, मुक्ति चाहिए, दिव्यचक्षु, जो भी चाहिए वह माँगो न! आप माँगो और मैं दूँगा। उसमें वास्तव में 'मैं' देनेवाला नहीं हूँ। मैं तो इसमें निमित्त हूँ। आपका ही माल देना है, सिर्फ ऐसा है कि चाबी मेरे पास है। इसलिए अब माँग लो जो भी माँगना है, वह। अभी नहीं माँगना है तो दो महीने बाद माँगना। बाद में देंगे तो फिर! तब क्या फिर वापस यहाँ पर आनेवाले हो?

प्रश्नकर्ता : नहीं-नहीं, तो फिर कल पर इसे बाकी क्यों रखें?

दादाश्री : यह तो ऐसा है न, अभी अगर अंतराय हों न तो मन अंदर से ऐसा कहेगा, 'हो जाएगा, हमें क्या जल्दी है?' मन ऐसा कहेगा अंदर से। अभी भी अगर अंतराय पड़े हुए होंगे तो क्या हो सकता है?

सत्संग में, 'दादा' के परम सत्संग में जाने का मन होता रहे, तो वह अंतराय टूटने की शुरुआत है, लेकिन अगर वहाँ जाने में परेशानी या रुकावट न आए तो उसे कहेंगे, 'अंतराय टूट गए।' वे अंतराय टूट जाएँगे। दादा भगवान का नाम लोगे न, तो अंतराय टूट जाएँगे। 'दादा भगवान को नमस्कार करता हूँ' बोलोगे न तो टूट जाएँगे। इसलिए बोलना।

वह सब कृपा से होता है। हाँ, कृपा से क्या नहीं हो सकता? शब्दों की क्या क़ीमत है? लोगों को अंतराय पड़े हुए हैं। नकद मोक्ष है फिर भी हमसे मिल नहीं पाते। यह भी आश्चर्य है न!

प्रश्नकर्ता : पड़ोस में होते हैं, फिर भी नहीं हो पाता न!

दादाश्री : यही सारे अंतराय हैं न। साल भर से लगे हुए थे? साल दो साल से पीछे पड़े होंगे, नहीं?

प्रश्नकर्ता : लेकिन मैंने आपसे कहा ज़रूर था कि 'आऊँगा'। लेकिन फिर योग नहीं बैठा।

दादाश्री : नहीं, लेकिन वही अंतराय है न! दूसरे लोगों को अंतराय कम होते हैं और आपके तो ज़्यादा हैं क्योंकि दूसरे लोग वाइज़ हैं और सिर्फ ये ही वाइज़ नहीं हैं, ओवर वाइज़ हैं। आप ओवर वाइज़ हुए हैं कभी? अरे, कितने ही *वांधा – वचका* (आपत्ति उठाते हैं और बुरा लग जाता है) भी डालते हैं। क्योंकि ओवर वाइज़ हो गया है न? सीधा इंसान *वांधा–वचका* नहीं डालता, अवरोध नहीं डालता।

ऐसा एक साधु ने कहा था कि 'अक्रम मार्ग तो अकर्मियों का मार्ग है।'

प्रश्नकर्ता : यह तो पाप बाँधा न!

दादाश्री : नहीं, पाप होता तो फल भोगना पड़ता। यह तो अंतराय डाल दिए। अंतराय का अंत नहीं आता। गैर ज़िम्मेदारीवाला एक भी वाक्य नहीं बोलना चाहिए। इससे क्या होता है? सही बात के लिए अंतराय पड़ जाते हैं और गलत बात प्रकट होती है या फिर किसी को ज्ञान प्राप्ति हो रही हो तो उसमें बाधा डाली जाए तो उससे अंतराय पड़ते हैं। वे ज्ञानांतराय और दर्शनांतराय कहलाते हैं।

कोई यहाँ सत्संग में आ रहा हो और मतार्थ की वजह से ऐसा कहे कि 'दादा भगवान के सत्संग में तो जाने जैसा नहीं है।' तो फिर उससे वापस यहाँ नहीं आया जा सकेगा। देखो नौ–नौ सालों से आने का सोच रहे हैं फिर भी अभी तक आ नहीं पाते, क्योंकि अंतराय डालते रहे हैं। आपसे उन साहब ने पूछा कि 'मैं आऊँ?' तब आपने कहा, 'हाँ' तो आपके हाँ कहते ही वे आ गए न तुरंत?

प्रश्नकर्ता : हाँ।

दादाश्री : अंतराय नहीं डाले हुए थे। अगर अंतराय नहीं डाले हुए होंगे तो कुछ भी नहीं है। अंतराय डाले हुए होंगे तो बीस सालों तक भी नहीं आ सकेंगे।

मोक्षमार्ग में अंतराय इस तरह

प्रश्नकर्ता : अंतराय के बारे में ज़रा समझाइए न कि कई लोग दादा के पास आते हैं लेकिन उन्हें जो पहले का, मान लीजिए कि कोई किसी संत के पास जाता है, तो उसे

ऐसा लगता है कि 'अब हमें यह मिल गया है।' कोई किसी और का कुछ फॉलो कर रहा हो, और कहे कि 'हमें जो मिल गया है, उसमें क्या बुराई है?' सामने से यह सही चीज़ मिलने का मौका आया लेकिन फिर भी वह उसे ले नहीं पाता।

दादाश्री : ऐसा है न, चाहे कुछ भी मिल गया हो लेकिन अगर वह मन खुला रखे, ओपन, कि 'भाई मोक्ष का मार्ग मिल जाए तब तो हमें वही पकड़ लेना है।' लेकिन अगर ओपन नहीं रखा हो और कहे 'बस इसके अलावा और हमें किसी भी चीज़ की ज़रूरत नहीं है,' तो वह अंतराय है। खुद ने ही दीवार बना दी और अब वह दीवार खुद के लिए ही बाधक हो जाती है। फिर अगर उसे वह तोड़ना हो, तब वह खुद आकर हमसे कहे कि 'कि मेरे जो अंतराय हैं, उन्हें तोड़ना है और वह तोड़ने का निश्चय करे तो हम कृपा कर देते हैं और वे टूट जाते हैं। लेकिन खुद के ही डाले हुए अंतराय हैं ये, किसी और के नहीं हैं।

प्रश्नकर्ता : कितने ही लोगों को तो ऐसी समझ भी नहीं होती कि ये अंतराय मेरे ही हैं!

दादाश्री : समझ ही नहीं होती कि यह मैं अंतराय डाल रहा हूँ या क्या कर रहा हूँ!

प्रश्नकर्ता : उसे तो ऐसा ही लगता है कि मैंने जो किया, वही ठीक है।

दादाश्री : ठीक ही है, ऐसा मानता है न!

प्रश्नकर्ता : यदि ऐसा रहे कि 'मैं जो कर रहा हूँ वह ठीक ही है,' तो वहाँ पर और कोई उपाय है क्या?

दादाश्री : उपाय तो अपने आप ही, जब क्रोध-मान-माया-लोभ चुभते हैं तब अपने आप ही उपाय हो जाता है न! वे जब चुभने लगें तब वापस कुछ अच्छा करना तो पड़ेगा ही। कहेगा 'ऐसा नहीं चलेगा।' इन सब को, किसी को भी बुलाने नहीं जाना पड़ा। अपने आप ही, वह चुभन ही भेज देती है। निरंतर शकरकंद भट्ठी में भुन रहा हो, सभी वैसे भुन रहे हैं। अंतरदाह तो निरंतर चलता ही रहता है। वह चाहे अमरीका में हो या कहीं ओर, लेकिन अंतरदाह तो निरंतर चलता ही रहता है। साधु हो या आचार्य हो, सभी में अंतरदाह तो चलता ही रहता है क्योंकि जैसे ही उसे ऐसा हुआ कि 'मैं साधु हूँ, आचार्य हूँ,' तो बस, यह शुरू हो जाता है। जो नहीं है, उसी का आरोप करके चलते हैं। अनंत जन्मों से ये भटक रहे हैं। खुद हैं अनामी और नाम धारण करके रौब जमाते हैं।

प्रश्नकर्ता : मान लीजिए कि कोई यहाँ प्राप्ति न कर सके, अंतराय डाले हुए हों, तो उन लोगों में श्रद्धा लाने के लिए क्या करना चाहिए?

दादाश्री : श्रद्धा लाने के लिए तो एक बार उसे पटाकर यहाँ मेरे पास ले आना चाहिए। रास्ता मैं निकाल दूँगा। अगर कुत्ते को भी ऐसे-ऐसे करें, तब कई बार हम जहाँ चाहे वहाँ आ जाता है। इस तरह उसे भी ज़रा पटाकर ले आओ तो आ जाएगा। फिर मैं उससे बात करूँगा न तो उसे मन में स्पष्ट समझ में आ जाएगा। क्योंकि हमारी बात वीतरागी है, आग्रही नहीं है कि 'ऐसा कर'। यह रिलेटिव सारा आग्रहवाला होता है।

हम अगर बात न करें न तो ये बहन बात भी न करें। आखिर तक बैठी ही रहें। गुत्थियोंवाली हैं न? अब इनकी इच्छा नहीं है गुत्थियों की, लेकिन अंदर अंतराय कर्म ऐसे हैं कि निरी गुत्थियाँ ही बनती रहती हैं। इसलिए फिर हमें बात करनी थी। मैंने कहा, 'ये बहन यहाँ पर आई हैं बेचारी, इनका चक्कर लगाना बेकार जाएगा। उनके अंदर जो आत्मा है न, उनके साथ सीधा तार जोड़ा, कि 'ऐसा कुछ करो कि इन बहन से ज़रा बात हो सके।' अंदर भगवान के साथ सेटिंग करके मशीनरी घुमाई तब इतनी बातचीत हुई। नहीं तो क्या ये कभी बातचीत करतीं? अंदर गुत्थियाँ हैं, बेहद! अब, इनका दोष नहीं है। इसमें तो, अंतराय कर्म उलझाते हैं। आपको समझ में आई यह बात?

वर्ना यहाँ तो इंसान आते ही शुद्ध हो जाता है, अंदर घुसते ही शुद्ध हो जाता है। यहाँ पर माया के परमाणु हैं ही नहीं न! इसलिए माया यहाँ से दूर खड़ी रहती है। यहाँ पर ज्ञानीपुरुष के पास माया से नहीं आया जा सकता। गुत्थियाँ क्या हैं, आपको समझ में आया न बहन?

प्रश्नकर्ता : हाँ।

दादाश्री : बोलते ही ज़रा मुँह फटने लगे, जबान फटने लगे न, मन में इच्छा होती है कि चलो थोड़ी बातचीत करें लेकिन फिर भी नहीं करने देती। हाँ उसी को कहते हैं अंतराय कर्म। अंतराय कर्म के बारे में समझ में आया न बहन? ये अंतराय कर्म बहुत सारे हैं, तरह-तरह के।

करुणाभाव जगत् कल्याण का

प्रश्नकर्ता : यह विज्ञान बुद्धि की सुनता ही नहीं है। क्या इसीलिए यहाँ पर सभी नहीं आते? ऐसा है?

दादाश्री : हमें बहुत सारे लोग क्यों लाने हैं? यह भावना है न, यह एक तरह की करुणा है। वह करुणा अपने में है। उसी की हमें बहुत ज़रूरत है, बस! बाकी कुछ हुआ या नहीं, वह नहीं देखना है हमें। करुणा रखना, यह अपना फर्ज़ है। हुआ या नहीं, वह अपने हाथ में नहीं है। व्यवस्थित के ताबे में है। करुणा रखना आपका फर्ज है और अभी तो यहाँ पर बहुत लोग आएँगे, सभी आएँगे!

अक्रम विज्ञान किसी भी काल में हुआ ही नहीं है। यह तो लाखों लोगों का कल्याण करने को आया है। कितने ही लोग काम निकाल लेंगे और वह भी सभी का निष्पक्षपाती रूप से। जैन, वैष्णव, स्वामी नारायण सभी।

ज्ञानी से मिलने के भारी अंतराय

सुबह सब्ज़ी लेने जाते हैं, तो किसी को सड़ी हुई, किसी को ताज़ी मिल जाती है न! क्योंकि कि सब्ज़ी के अंतराय नहीं होते। अभी अगर गेहूँ लेने जाए तो अंतरायवाला होता है और हीरे वगैरह लेने जाना हो, तो भी लेने कैसे जाए? हाथ में रूपए आए बिना लेने कैसे जाए? निरे, बेहद अंतराय हैं। ऐसा है न, इस चीज़ (ज्ञान) के अंतराय बहुत होते हैं। यहाँ पर तो दस लोग आएँ तो भी बहुत कहा जाएगा। इसके अंतराय बहुत ज़्यादा, अपार होते हैं। यहाँ पर तो, यह तो सर्वोच्च चीज़ है। यहाँ पर सभी का ऐसा पुण्य कैसे हो सकता है? सब्ज़ी-भाजी लेने के लिए लोगों की भीड़ होती है मार्केट में, भीड़ नहीं होती? और जौहरी की दुकान पर कितने लोग होते हैं?

प्रश्नकर्ता : कम।

दादाश्री : बहुत अंतराय कर्म होते हैं। हिन्दुस्तान में अरबोंपति कितने हैं? और गरीब? निरे गरीब ही हैं न? इसी प्रकार 'यह' चीज़ सभी के लिए नहीं है। हम बता सकते

हैं, बस इतना ही। हमें अपनी भावना प्रदर्शित करनी है कि 'भाई, ऐसा है।'

इस की प्राप्ति के इतने सारे अंतराय होते हैं! बहुत अंतराय होते हैं, ज़बरदस्त! लोगों के अंतराय टूटते नहीं हैं। लोगों के लक्ष्मी के अंतराय टूट जाते हैं, लाभांतराय टूट जाते हैं, दानांतराय टूट जाते हैं लेकिन ये ज्ञानांतराय और दर्शनांतराय नहीं टूटते। इन दो अंतरायों का टूटना बहुत मुश्किल है।

इसीलिए तो वे यहाँ पर नहीं आते हैं न! आएँ तो काम हो जाए न! अर्थात् जोखिमवाला है। और जो सच्चे होंगे वे प्राप्ति कर लेंगे। जो सच्चे ग्राहक हैं, वे तो कहीं से भी आकर खड़े हो जाएँगे। इसलिए इसमें जल्दबाज़ी नहीं करनी है। इसमें भीड़ नहीं होती।

वह यहाँ से सीढ़ियाँ उतरकर वापस जा रहा था, तो उसका क्या कारण है? मैंने सभी से कहा भी कि 'अरे, वह जो व्यक्ति यहाँ आने के लिए सीढ़ियाँ चढ़ रहा है, पंप मार-मारकर चढ़ा होता है लेकिन अभी उतर जाएगा,' ऐसा भी कहा था। ऐसा मुक्ति का मार्ग शायद ही कभी प्रकट होता है, लेकिन तरह-तरह के अंतराय होते हैं। यह जो हो रहा है, वह सब करेक्ट ही है। कैसा है? देखो न, वह व्यक्ति उठकर गया न। नकद देने की बात की फिर भी उठकर चले गए, लेकिन करेक्ट है न! इनकरेक्ट नहीं है न! हमें तुरंत ही समझ में आ जाता है कि यह करेक्टनेस आई। ये अंतराय कर्म खड़े हो गए। मुझे पहले तो ऐसा लगा था कि, 'यह अंतराय कर्म कहाँ से आया?' अर्थात् जब तक वे बैठे रहें, तब तक तो हम ज्ञान नहीं दे सकते थे न! वे कहें कि, 'मुझे इस तरह का चाहिए, मुक्त होना है,' तो दिया जा सकता था। बंधने के कामी को मोक्ष का ज्ञान नहीं दिया जा सकता न?

प्रश्नकर्ता : समर्पित भाव आना चाहिए न!

दादाश्री : इसे कहते हैं अंतराय कर्म। इन ज्ञानीपुरुष से भेंट नहीं हो सकती। *जेनी कोटी जन्मों नी पुण्यई जागे रे, त्यारे दादा ना दर्शन थाय।* (जिसके कोटि जन्मों के पुण्य जागृत हों, तभी दादा के दर्शन होते हैं।) अब बोलो, तैयार मोक्ष का निवाला दिया, सब सावधान भी करते हैं। भोजन के निवाले तो फिर भी मिलेंगे या न भी मिलें लेकिन यह मोक्ष का निवाला? फिर से ज्ञानीपुरुष नहीं दिखेंगे!

प्रश्नकर्ता : अनंत अवतार में भी नहीं मिलते।

दादाश्री : यह अक्रम ज्ञान तो हज़ारों सालों में, लाखों सालों में, भी प्रकट नहीं होता! दृढ़ विश्वासी, हमारे कहे शब्द के अनुसार अंदर तैयार हो जाता है। और अगर आप कहो कि, 'ये दादा तो रोज़ कहते ही हैं न, ऐसा का ऐसा ही कहते हैं! और घर के ही दादा हैं न?! तो नुकसान उठाओगे।

कुछ लोगों के परोक्ष के अंतराय टूट चुके होते हैं और कुछ लोगों के प्रत्यक्ष के अंतराय टूट चुके होते हैं। जिसके परोक्ष के अंतराय टूट चुके हों, उन्हें प्रत्यक्ष के अंतराय रहते ही हैं हमेशा के लिए, इसलिए परोक्ष ही मिलते हैं। प्रत्यक्ष के बहुत बड़े अंतराय पड़े हुए होते हैं। वह मैंने देखा है, बड़े-बड़े अंतराय पड़े हुए हैं। उसकी मेहनत बेकार जाती है, अपनी मेहनत बेकार जाती है। आप चिट्ठी लिख-लिखकर थक जाते हो।

प्रश्नकर्ता : आपसे मिलने के लिए बीच में इतना अधिक अंतराय क्यों आया? क्योंकि मैं तो बहुत समय से आपको जानता हूँ।

दादाश्री : हर एक के अंतराय होते हैं। जानकार को अंतराय होते हैं, अन्जान को अंतराय नहीं होते। जानकार को अंतराय होते हैं। एक बार बोले न कि 'ऐसे हैं, वैसे हैं,' तो तुरंत अंतराय पड़ जाते हैं वापस। किसी के कहने से बोले तो भी अंतराय पड़ जाते हैं। जानकार को अंतराय। अन्जान को अंतराय नहीं होते। उनकी और हमारी जान-पहचान नहीं है इसलिए अंतराय ही नहीं हैं न! तो है कोई झंझट?

सही बात हो या न भी हो लेकिन पाँच टीका-टिप्पणी करनेवाले हों तो वहाँ पर खुद भी टीका-टिप्पणी करने लगता है। ऐसा नहीं कि 'एक ध्येय और एक नियम।' ऐसा कुछ नहीं है। इस ओर भी चलता है और उस ओर भी चलता है! इसलिए, बेहद ऐसे सारे अंतराय पड़ जाते हैं।

जिसका निश्चय है, वहाँ अंतराय टूट जाते हैं। ऐसे टूटे हैं कई दिनों में। एक व्यक्ति ने तो मुझसे कहा कि, 'छः साल से मिलना था, लेकिन आप आज मिले हैं।' तब फिर कितने अंतराय रहे होंगे? बोलो! और फॉरेनवाले एक ही बार याद करें और मिल जाते हैं। अंतराय नहीं हैं और ज़रूरत से ज़्यादा अक़्लमंदी भी नहीं है न? वाईज़ की क़ीमत है या ओवर वाइज़ की?

प्रश्नकर्ता : वाइज़ की क़ीमत ज़्यादा है। ओवर वाइज़ तो बिगाड़ता है खुद का! जिस दिन ज्ञान दिया न, उस दिन मुझे ऐसा लगा कि 'प्रत्यक्ष ज्ञानी मिल गए।'

दादाश्री : प्रत्यक्ष ज्ञानी ही नहीं लेकिन भगवान मिल गए, प्रत्यक्ष परमात्मा ही मिल गए। जिनके लिए कृपालुदेव ने कहा है न, 'देहधारी रूप में परमात्मा।'

प्रतिक्रमण, अंतराय के....

प्रश्नकर्ता : मेरे तो बहुत अंतराय हैं। पढऩे की किताब लूँ तो नींद आ जाती है।

दादाश्री : ऐसे सारे अंतराय कर्म लेकर आए हैं न, लेकिन उसके लिए हमें रोज़ प्रतिक्रमण करना है कि 'हे भगवान! मेरे ऐसे अंतराय कर्म दूर कीजिए। अब मेरी ऐसी इच्छा नहीं है।' 'पहले कोई गलती की होगी, तो उससे ये अंतराय आए हैं लेकिन अब गलती नहीं करनी है' ऐसा करके रोज़ भगवान से प्रार्थना करनी चाहिए।

डलते हैं ऐसे अंतराय ज्ञान-दर्शन के लिए

प्रश्नकर्ता : दर्शनांतराय और ज्ञानांतराय किससे डलते हैं?

दादाश्री : हर एक बात में टेढ़ा बोलता है न! ये साधु महाराज व्याख्यान में जो सब समझाते हैं, वहाँ पर व्याख्यान में खुद समझता तो कुछ है नहीं और बहुत टेढ़ा बोलता है, वही है दर्शनांतराय और ज्ञानांतराय डालने का रास्ता। ऐसा नहीं बोलना चाहिए। वे भले ही कैसे भी आचार्य हों, महाराज हों, उन्हें जैसा भी समझ में आए वैसा बोल रहे हों लेकिन

उनके बारे में टेढ़ा नहीं बोलना चाहिए। दर्शनांतराय और ज्ञानांतराय डालनेवाली चीज़ें यही हैं न! वहाँ पर तो बहुत कम अंतराय पड़ते हैं लेकिन यहाँ पर तो बहुत ही बड़ा अंतराय पड़ जाता है। यहाँ पर तो ऐसे अंतराय पड़ जाते हैं कि 'न जाने कितनी ही चौरासी (चौरासी लाख योनियाँ) घूमनी पड़ें।'

जो ज्ञानीपुरुष मोक्षदाता हैं, मोक्ष का दान देने आए हैं, ज्ञान-व्यान नहीं, लेकिन मोक्ष का दान, तो फिर ऐसा ज्ञान देनेवाले और लेनेवाले अगर मिल जाएँ तो क्या फिर रहेगा कोई अंतराय? किसी तरह का कोई अंतराय रहेगा क्या?

अंतराय कर्म टूट जाएँ तब देर ही नहीं लगती। आत्मा और मोक्ष में कितनी दूरी है? कोई भी दूरी नहीं है। जितने अंतराय पड़े हुए हैं, बस उतनी ही दूरी है!

प्रश्नकर्ता : ज्ञानांतराय और दर्शनांतराय टूटेंगे कैसे?

दादाश्री : वे अंतराय ज्ञानीपुरुष तोड़ देते हैं। अज्ञानता तो ज्ञानीपुरुष निकाल देते हैं, और अंतराय भी ज्ञानीपुरुष निकाल देते हैं। लेकिन कुछ प्रकार के अंतराय नहीं टूट सकते, जो ज्ञानी के भी वश के बाहर के अंतराय हैं। जिनसे विनय धर्म खंडित होता है, वे। विनय धर्म तो मोक्षमार्ग में मुख्य चीज़ है। परम विनय! ज्ञानीपुरुष के लिए एक भी उल्टा विचार, एक भी उल्टी कल्पना नहीं आनी चाहिए। एक भी उल्टी कल्पना क्या कर सकती है? खुद की माँ के लिए कल्पना नहीं आती, तो ज्ञानीपुरुष के लिए तो? इसके बजाय कम टच (संपर्क) में रहना अच्छा है। टच में नहीं रहेगा तो विचार ही नहीं आएँगे न?

वर्तन के अंतराय

प्रश्नकर्ता : दर्शन में बहुत सारा आ जाता है लेकिन वर्तन में नहीं आता।

दादाश्री : दर्शन में आ जाएगा। कुछ लोगों को तो दर्शन में ज़्यादा आ जाता है लेकिन वर्तन में आने के भारी अंतराय होते हैं। बाकी दर्शन बहुत ऊँचा है। समझने में कुछ भी बाकी नहीं रखा।

प्रश्नकर्ता : वह तो मनोबल की कमी है या सिर्फ अंतराय ही हैं?

दादाश्री : वे भारी अंतराय डाले हुए हैं, दर्शन से गुत्थियाँ सुलझ गई हैं।

अंतराय टूटने से प्राप्ति ज्ञान की

प्रश्नकर्ता : लेकिन दादा, ज्ञान की प्रतीति के लिए कई बार अंतराय बहुत ज़रूरी होते हैं। अंतराय हों, तभी अपनी परीक्षा हो सकती है।

दादाश्री : हाँ, अपनी पूरी परीक्षा हो जाती है कि अपना क्या हिसाब है? हमने कहाँ–कहाँ दु:ख दिए थे। यह दु:ख देने का फल है न! जो अंतराय डाले हैं, उसी का फल आया है! ज्ञान प्राप्ति के अंतराय पड़ते हैं, इसीलिए ज्ञान नहीं मिल पाता न!

बाकी, (अंतराय) उपकारक तो कैसे हो सकता है? ज्ञान प्राप्त करने की की ज़रूरत है। हमें भोजन करना हो और उस भोजन की ज़रूरत है तो भोजन में अंतराय डालने से हमें क्या मिलता है? लेकिन भूख लगती है न हमें? अर्थात् अंतराय नहीं आएँगे तभी प्राप्ति होगी।

नहीं तोड़नी चाहिए मूर्ति या फोटो

अपनी पुस्तकें फ्री ऑफ कॉस्ट ले और फिर उन्हें बेच दे या फिर अगर कोई ऐसा क्रोधी हो तो वह पत्नी से कहता है, 'कैसी किताबें हैं ये दादा की! तुझे मना किया था न!' लेकर जला देता है, ऐसा हो सकता है। उससे इतना बड़ा ज्ञानांतराय पड़ता है कि हज़ारों जन्मों के बाद भी ठिकाना नहीं पड़ेगा। और ज्ञानांतराय पड़ता है तब उसके साथ ही दर्शनांतराय पड़े बगैर रहते ही नहीं। ये दोनों साथ में ही होते हैं। ज्ञानांतराय के साथ में, आठों अंतराय पड़ जाते हैं।

प्रश्नकर्ता : ज्ञानांतराय के साथ?

दादाश्री : हाँ, अंतराय कर्म एक ही पड़ता है और ज्ञानांतराय के साथ में सभी प्रकार के पड़ते जाते हैं। पुस्तक बेच देता है, जला देता है, क्रोध में आकर न जाने क्या कर देता है। उसे समझ नहीं है बेचारे को! उसे मालूम नहीं है न कि किसी का फोटो नहीं जलाना चाहिए। फोटो जलाना तो इंसान को मारने के बराबर है। हाँ, कुछ लोग गुस्से में फोटो जला देते हैं। नहीं जलाना चाहिए, वह स्थापना है।

स्थापना नाम सहित होती है। भले ही वह जीवित व्यक्ति नहीं है, उसमें द्रव्य-भाव नहीं है, लकिन नाम स्थापना तो है न! भगवान की मूर्ति को भी कुछ नहीं करना चाहिए। तो लोग कहते हैं, 'कुछ लोग भगवान की मूर्तियों को तोड़ देते हैं तो उन्हें क्यों कुछ नहीं होता?' उन्हें भी फल मिले बगैर तो रहेगा ही नहीं न! मूर्ति कभी भी कुछ नहीं करती, शासन देव करते हैं। लेकिन लोगों का मन दु:खाया तो उसका फल मिलेगा। आप अगर किसी जाति का धर्म स्थान जला दो, तो उससे कितने ही लोगों का मन दु:खता है। आपको उसका फल अवश्य मिलेगा। किसी को दु:ख देकर आप कभी भी सुखी नहीं हो सकते, इसलिए हो सके उतना सुख दो। न हो सके तो दु:ख तो देना ही नहीं चाहिए और दु:ख नासमझी से दिए जाते हैं। लोग मन में क्या समझते हैं कि 'मैं नहीं देता हूँ, लेकिन सभी मुझे ऐसा कहते हैं। हमें ऐसा गलत नहीं करना है, किसी को भी दु:ख नहीं देना है।' मैंने कहा, 'लेकिन तू समझता क्या है? अरे, पूरे दिन दु:ख ही देता है तू! क्या समझता है तू इससे' वह तो अपनी भाषा में बात करता है, खुद की लेंग्वेज में। तू मेरी लेंग्वेज सुन। पूरे दिन तू दु:ख ही देता रहता है। सर्टिफाइड लेंग्वेज है ज्ञानी की। उससे आगे कुछ भी समझने या सोचने को नहीं रहता। यह समझना तो पड़ेगा ही न, कभी न कभी!

निश्चय से टूटें धागे अंतराय के

जिसे यह 'ज्ञान' मिल जाए न, उसके तो सभी अंतराय टूट जाते हैं। यहाँ पर मैं आपसे क्या कहता हूँ कि सभी अंतराय टूटने का रास्ता बना दिया है। मैंने आपको यह ज्ञान दिया है न और साथ-साथ ये सब आज्ञाएँ दी हैं न, तो इनसे सभी अंतराय टूट जाएँगे।

प्रश्नकर्ता : दादा, जब ऐसा निश्चय होता है न कि सत्संग में आना ही है, तब सभी प्रकार से अनुकूलता हो जाती है।

दादाश्री : निश्चय सभी अंतराय के धागे तोड़कर निकाल देता है। निश्चय की ही ज़रूरत है। जब तक निश्चय नहीं करता, तब तक अंतराय वगैरह आते रहते हैं। अभी रोड पर बहुत ट्राफिक हो, लेकिन अगर प्रधानमंत्री आएँ, तो सारा ट्राफिक हट जाता है। यों ही हट जाता है एक घंटे में, कोई खड़ा ही नहीं रहता! ऐसा है यह तो! और यह क्या कोई प्रधानमंत्री का पद है! यह तो परमात्मा का पद है!!! यह ज्ञान देकर आपको मैंने जो पद दिया है, वह परमात्मा का पद है। भले ही आप इसमें तन्मयाकार नहीं रह पाते हों, तो वह अभी आपकी एडजस्ट होने में कमी है। बाकी है तो परमात्मा पद!

'अंतर छूटे त्यां खुले छे अंतर आँखड़ी रे लोल।'

'अंतर छूटे वहाँ खुलते हैं अंतर चक्षु।'

अपने जो अंतर चक्षु खुले हैं न, जो दिव्यचक्षु हैं, यह अंतर छूट जाता है, उसी से दिनोंदिन इस प्रकार दिव्यचक्षु खुलते जाते हैं। अंतर अर्थात् ज्ञानांतराय! जैसे-जैसे बाकी के सभी अंतराय टूटते जाएँगे वैसे-वैसे दिव्यचक्षु खुलते जाएँगे। यह अंतराय पड़ा हुआ है न, वह इन सभी कर्मों की वजह से पड़ा हुआ है न!

ये अंतराय जैसे-जैसे छूटेंगे, वैसे-वैसे सबकुछ खुलता जाएगा। अंतराय की वजह से यह दूर है। नहीं तो आत्मा और आप दूर नहीं हो। सिर्फ अंतराय कर्म ही रुकावट डालते हैं। अब सारी (संपूर्ण) प्राप्ति हो गई है। प्राप्त हो गया है फिर भी क्यों अपनी इच्छा अनुसार लाभ नहीं देता है? तो वह इसलिए कि अंतराय कर्म हैं। जैसे-जैसे वे छूटते जाएँगे, वैसे-वैसे निबेड़ा आता जाएगा।

सत्संग के अंतराय

प्रश्नकर्ता : दादा का सत्संग चल रहा हो, फिर भी अंतराय की वजह से आ नहीं पाते, तो वे अंतराय कैसे पड़े?

दादाश्री : अगर नहीं आ पाते हैं तो वह अंतराय नहीं है। वह अंतराय का फल है। अगर नहीं आ पाते हैं, तो वह पहले के पड़े हुए अंतरायों का फल है। उन्हें तो भोगना ही पड़ेगा न!

प्रश्नकर्ता : वे अंतराय किस तरह पड़ गए?

दादाश्री : खुद ने ही डाले हुए हैं। रोज़-रोज़ जाकर क्या करना है! अब अंदर ऐसा होता है कि 'दो दिन नहीं गए तो क्या है?' इसी से अंतराय पड़ा!

प्रश्नकर्ता : कोई दादा के सत्संग में आ रहे हों, उन्हें अगर कोई ऐसा कहे कि, 'आप रोज़-रोज़ वहाँ क्या काटने जाते हो, एक ही बात सुनने के लिए। तो फिर उसे अंतराय पड़ेंगे न?'

दादाश्री : हाँ, तो उससे वह अंतराय डालता है। इस तरह से रोका, वही अंतराय है। सीधी बात ही करो न आप, छोटा बच्चा समझे ऐसी! रोकना अर्थात् अंतराय। आपने जितने रुकावटें डाली हैं, उतनी ही आपकी रुकावटें हैं।

परमात्म ऐश्वर्य रुका है इच्छा से

प्रश्नकर्ता : हमें जिस चीज़ की बहुत ही इच्छा हो, वह चीज़ नहीं मिलती। फिर उसका दुःख रहा करता है।

दादाश्री : जिस चीज़ की बहुत इच्छा हो न, तो वह चीज़ मिलेगी तो सही लेकिन अत्यंत इच्छा होने की वजह से देर से मिलती है और अगर इच्छा कम हो जाए तो जल्दी मिल जाती है। इच्छा बल्कि अंतराय डालती है।

प्रश्नकर्ता : जिस चीज़ की हमें इच्छा हो, तो क्या वह चीज़ हमें मिलेगी ही नहीं?

दादाश्री : मिलेगी, लेकिन जब इच्छा कम हो जाएगी तब मिलेगी। इच्छावाली चीज़ मिलेगी तो सही। इच्छा करने से ही अंतराय हैं। जैसे-जैसे इच्छाएँ कम होती जाती हैं,

वैसे–वैसे अंतराय टूटते जाते हैं। उसके बाद सभी चीज़ें प्राप्त हो जाती हैं। जो होना होता है, उसकी पहले इच्छा उत्पन्न होती है। अंतराय टूटने से खुद की इच्छानुसार मिलता है। हमें क्यों एक भी अंतराय नहीं है? क्योंकि हमारी संपूर्ण निरीच्छक दशा है।

मनुष्य तो परमात्मा ही है। अनंत ऐश्वर्य प्रकट हो सके, ऐसा है। इच्छा की कि मनुष्य हो गया। नहीं तो ऐसा है कि 'खुद' जो चाहे वह प्राप्त कर सकता है लेकिन अंतरायों की वजह से प्राप्त नहीं कर सकता। भगवत् शक्ति में जितने अंतराय पड़ते हैं, वह शक्ति उतनी ही रुक जाती है, आवृत हो जाती है। वर्ना भगवत् शक्ति अर्थात् जो भी इच्छा की जाए, वह हर एक चीज़ सामने आ जाए। उसमें जितने अंतराय डालता है, शक्ति उतनी ही आवृत हो जाती है।

हममें इच्छा जैसी चीज़ है ही नहीं। इच्छाएँ दो प्रकार की होती हैं, एक डिस्चार्ज इच्छा और एक चार्ज इच्छा। चार्ज इच्छा, जिससे कि नया हिसाब बंधता है। डिस्चार्ज अर्थात्, अगर अभी भूख लगी हो तब अगर वह व्यक्ति ऐसे देखे तो हम जान जाते हैं कि इस भाई को इच्छा हो रही है लेकिन यह डिस्चार्ज इच्छा कहलाती है। हमें अगर कोई ऐसी डिस्चार्ज इच्छा हो जाए, तब वह चीज़ सामने से आ जाती है। हमें प्रयत्न नहीं करना पड़ता। अंतराय इतने टूट गए हैं कि हर एक चीज़ आ मिलती हैं। हर एक चीज़ इच्छा होते ही आ मिलती है। यह निरअंतराय कर्म कहलाता है।

अनिश्चय से अंतराय, निश्चय से निरंतराय

मोक्षमार्ग में तो, जब अंतराय आते हैं तब खुद की शक्तियाँ और भी अधिक प्रकट होती जाती हैं। अत: अगर उसमें अंतराय आएँ, तब भी हमें अपना निश्चय दृढ़ रखना चाहिए कि 'किसी की ताकत नहीं है जो मुझे रोक सके,' ऐसा भाव रखना है। मुँह पर नहीं बोलना है, बोलना तो अंहकार है। अंतराय अहंकार की वजह से डलते हैं कि 'मैं कुछ हूँ।'

प्रश्नकर्ता : अंतराय अपने आप ही टूट जाते हैं या पुरुषार्थ से टूटते हैं?

दादाश्री : अतंराय अर्थात् अनिश्चय। इंसान का पुरुषार्थ कहाँ गया? पुरुषार्थ धर्म खुल्ला है।

प्रश्नकर्ता : निश्चय ही पुरुषार्थ है न?

दादाश्री : हाँ निश्चय, कि मुझे ऐसा करना ही है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन सभी के निश्चय नहीं फलते। U

दादाश्री : वह फले या न फले, वह हमें नहीं देखना है। हमें तो निश्चय करना है! अगर निश्चय नहीं करोगे तो कोई काम होगा ही नहीं। खुद का अनिश्चय ही अंतराय है। निश्चय करने से अंतराय टूट जाते हैं। आत्मा का निश्चय हो जाए तो सभी अंतराय टूट ही जाएँगे न!

फर्क, निश्चय और इच्छा में

प्रश्नकर्ता : आपने आप्तवाणी में ऐसा कहा है कि 'विल पावर से अंतराय टूटते हैं' और दूसरी तरफ हम जानते हैं कि इच्छा करने से तो अंतराय पड़ते हैं।

दादाश्री : इच्छा नहीं करनी है, निश्चय करने को कहा है। निश्चय किया तो चाहे कैसा भी अंतराय हो, टूट ही जाएगा।

प्रश्नकर्ता : हम किसी चीज़ की सतत इच्छा करें, निश्चय करें कि यह चीज़ मुझे प्राप्त करनी ही है, तो फिर क्या ऐसा नहीं होगा कि इस इच्छा से अंतराय पड़ेंगे?

दादाश्री : निश्चय होना चाहिए, इच्छा का प्रश्न ही कहाँ आया?

प्रश्नकर्ता : निश्चय और इच्छा में क्या फर्क है? वह ज़रा समझाइए न!

दादाश्री : बहुत फर्क है। इच्छा का मतलब तो खुद की मनचाही चीज़ और निश्चय तो एक्ज़ेक्टनेस है। अनिच्छा अर्थात् अच्छी न लगनेवाली (नापसंद) चीज़। इच्छा अर्थात् अच्छी लगनेवाली (पसंदीदा) चीज़। और निश्चय का और इसका कुछ लेना-देना नहीं है। निश्चय का मतलब तो निर्धार किया हमने।

प्रश्नकर्ता : निश्चय और इच्छा के बारे में उदाहरण देकर समझाइए न!

दादाश्री : इसमें कैसा उदाहरण भला? मनचाही चीज़ यानी हमें केले लेने जाना हो तो इच्छा करनी पड़ती है। कोई कार्य करना हो तो निश्चय करना पड़ता है। अनिच्छावाली चीज़ लेने जाते समय कितनी स्पीडिली (तेज़ी से) चलता है कोई इंसान?

प्रश्नकर्ता : बैठ ही जाएगा।

दादाश्री : और इच्छावाली चीज़?

प्रश्नकर्ता : दौड़ेगा।

दादाश्री : और निश्चय इन दोनों से परे होता है।

प्रश्नकर्ता : दादा, इसका मतलब आप जो कहते हैं कि पाँच आज्ञा पालन करने का निश्चय करना चाहिए।

दादाश्री : बस, निश्चय करना चाहिए। तो फिर अपने आप पालन हो पाएगा। आपका निश्चय होना चाहिए और अगर ढीला रखा तो फिर ढीला। आप कहो कि भाई, 'हमें दादा के पास जाना है।' अगर निश्चय किया तो फिर चाहे कितने भी अंतराय होंगे, वे टूट जाएँगे, और अगर ऐसा कहोगे कि 'व्यवस्थित है न' तो फिर बिगड़ जाएगा।

प्रश्नकर्ता : हाँ, ऐसा अनुभव हुआ है।

दादाश्री : इस तरह से 'व्यवस्थित' नहीं कहना चाहिए। व्यवस्थित हो तो फिर बंद आँखों से मोटर चलाओ न सभी! तो सही है। रोड पर बंद आँखों से मोटर चलाने में क्या परेशानी है? व्यवस्थित है न?

प्रश्नकर्ता : तो एक्सिडेन्ट हो जाएगा।

दादाश्री : तो फिर इसमें, यहाँ एक्सिडेन्ट नहीं होगा? व्यवस्थित कब कहना है कि खुली आँखों से गाड़ी चलानी है और फिर भी अगर टकरा जाए, और कोई नुकसान हो जाए तब कहना है, व्यवस्थित। बात को समझना तो पड़ेगा न! यों ही कहीं चलता होगा?

प्रश्नकर्ता : यह तो हर एक चीज़ में आ सकता है कि निश्चय बल हो, तो अंतराय टूट ही जाते हैं।

दादाश्री : (हँसकर) निश्चय बल मोक्ष में ले जाता है और अनिश्चय से ही यह सब रुका हुआ है।

प्रश्नकर्ता : अनिश्चय और अनिर्णय, दोनों एक ही चीज़ हैं न?

दादाश्री : एक ही हैं। लेकिन अनिश्चय का ज़ोर अधिक है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् यह ऐसा है जैसे, 'टू बी और नोट टू बी' (होना या न होना)। द्विधा ही होती रहती है।

दादाश्री : द्विधा होती रहेगी तो इसमें बरकत ही नहीं आएगी। यह तो, ऐसा निश्चय रहना चाहिए कि मुझे जाना ही है सुबह, तो समझो न कि वह चला!

प्रश्नकर्ता : तो ऐसे निश्चय किया तो उसे अहंकार करना नहीं कहा जाएगा?

दादाश्री : अहंकार रहा ही नहीं, फिर करने को कहाँ रहा? और जो रहेगा, वह डिस्चार्ज अहंकार है। यानी कि अहंकार जब *सिलक* (जमापूँजी) में है ही नहीं तो फिर उसका उपयोग कहाँ से होगा?

प्रश्नकर्ता : निश्चय करना आवश्यक है?

दादाश्री : नहीं, आवश्यक नहीं है। आवश्यक तो अलग ही चीज़ है। निश्चय का मतलब तो अपना ध्येय है, ध्येय की तरफ ले जानेवाली चीज़।

भोजन में अंतराय पड़ा है कभी?

प्रश्नकर्ता : कोई सत्संग करने का निश्चय करके निकले और दादा के सत्संग में न जा पाए, तो उस व्यक्ति को कैसा लाभ मिलता है? सत्संग हुआ हो वैसा लाभ या उससे कम या ज़्यादा?

दादाश्री : सिर्फ भाव का फल मिलेगा। कोई हमसे कहे कि 'लीजिए, खाना खा लीजिए। तो भी फल मिलेगा।

प्रश्नकर्ता : सामान्य रूप से, इंसान अगर निश्चय करके निकले तो उस बारे में उसका कोई अंतराय रहता ही नहीं।

दादाश्री : लगभग नहीं रहता। हाँ, कभी ऐसा हो सकता है। हमेशा के लिए ऐसा नहीं रहता। अपना निश्चय हो तो कोई रोकनेवाला है ही नहीं। ढुलमुल रखने की ज़रूरत नहीं है। अगर एक मील तक फिसलनवाली जगह हो और लगे कि 'फिसल पडूँगा तो?' तो फिर उसका उपाय नहीं है। फिसलना ही नहीं है, कैसे फिसल जाऊँगा?' अगर ऐसा रखेगा तो उसी तरह व्यवस्था करेगा। पैर, मन-वन वगैरह सीधे रहेंगे। और अगर हम कहें कि 'फिसल जाएँगे' तो मन-वन सब ढीले पड़ जाएँगे कि 'कैसे जाऊँ?' लेकिन अगर ऐसा कहें, 'फिसलेंगे क्यों?' ऐसा निश्चय किया कि सबकुछ साफ! इसके बावजूद भी अगर फिसल पड़े तो व्यवस्थित!

प्रश्नकर्ता : तो क्या निश्चय में अंतराय तोड़ने की शक्ति है?

दादाश्री : सभी अंतराय तोड़ देता है। कोई अंतराय नहीं रहने देता।

प्रश्नकर्ता : इसका मतलब जब अंतराय बाधा डालते हैं तो वह निश्चय की कमी है?

दादाश्री : निश्चय की ही कमी है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् कमी खुद की है और अंतरायों को दोष देता है।

दादाश्री : और कोई नहीं, खुद के ही खड़े किए हुए अंतराय हैं। खुद के खड़े किए हुए निश्चय से खत्म हो जाएँगे। भोजन में अंतराय क्यों नहीं पड़ते कभी? चाय के लिए अतंराय क्यों नहीं पड़ने देते? जान-बूझकर ही डाले हैं ये सभी। अंतराय अगर अन्जाने में पड़ते तब तो चाय वगैरह सभी में अंतराय आते। कुछ नहीं पड़ते! बहुत पक्के लोग हैं न! इस पक्केपन ने ही इन्हें मारा है। कच्चा होता तो अच्छा था।

प्रश्नकर्ता : पक्के हैं नहीं। खुद अपने आपको पक्का मान बैठते हैं।

दादाश्री : मान लिया है। खुद अपने आप को स्वतंत्र मान बैठा है।

ज्ञानी का निर्अंतराय पद

शास्त्र में ढूँढने जाएँ तो भी नहीं मिलेगा अंतराय का सही अर्थ! अनुभवियों ने वह सब नहीं लिखा है, मूल आत्मा को अंतराय हैं ही नहीं। जिस-जिस चीज़ की ज़रूरत हो, वे सब वहाँ घर बैठे हाज़िर हो जाती हैं। अंतराय हैं ही नहीं न! और अंतराय अगर हैं तो 'हमने' खड़े किए हैं अपनी अक़्ल से, बुद्धि से। यह बुद्धि का प्रदर्शन है।

एक व्यक्ति मुझसे पूछ रहा था, 'दादा, आपके संयोग कैसे हैं और हमारे संयोग तो.... आप तो यहाँ से उतरते हैं, तो वहाँ पर कुर्सी तैयार ही रहती है। उसमें किसी भी तरह की अड़चन नहीं आती। 'नो' (नहीं) अंतराय।' अगर हमारे दिमाग में कभी खाने की इच्छा हो, हालांकि ज़्यादातर इच्छा होती नहीं है, लेकिन अगर इच्छा हो तो अंतराय नहीं पड़ते। लोग तो, ऐसी आशा रखकर बैठे होते हैं कि 'दादा क्या खाएँगे!' फिर अंतराय रहेंगे ही नहीं न! तो वह इसलिए कि 'मूल आत्मा को अंतराय आते ही नहीं न!' जिस चीज़ की इच्छा हो सबकुछ तुरंत वैसा ही हो जाता है। 'तो फिर अतंराय क्यों हुए?' दर्शनावरण और ज्ञानावरण से हो गए हैं। वे अंतराय मोह से चार भागों में विभाजित हो गए। अत: आत्मा के रूप में 'खुद' परमात्मा है। जिस चीज़ का विचार आए, वे सभी चीज़ें प्राप्त हो जाएँ, ऐसा है। लेकिन अगर प्राप्त नहीं हो रही है तो क्या रुकावटें डाली हैं? मोह की वजह से रुकावटें आ जाती हैं। मूर्च्छा की वजह से ये अंतराय कर्म और विघ्नकर्म हैं।

वैसे-वैसे आत्मवीर्य प्रकट होता है

आत्म शक्तियों को आत्मवीर्य कहते हैं। जिसमें आत्मवीर्य कम हो, उसमें कमज़ोरी उत्पन्न हो जाती हैं। क्रोध-मान-माया-लोभ उत्पन्न हो जाते हैं। अहंकार की वजह से आत्मवीर्य टूट जाता है। जैसे-जैसे वह अहंकार विलय होगा, वैसे-वैसे आत्मवीर्य उत्पन्न होता जाएगा। जब-जब आत्मवीर्य कम होता हुआ लगे, तब पाँच-पच्चीस बार ज़ोर से बोलना कि 'मैं अनंत शक्तिवाला हूँ' तो फिर शक्ति उत्पन्न हो जाएगी। मोक्ष में जाते हुए अनंत अंतराय हैं इसलिए उसके सामने मोक्ष में जाने के लिए अनंत शक्तियाँ हैं।

इन उल्टी शक्तियों से संसार खड़ा हो गया। अब सीधी शक्तियाँ इतनी ज़्यादा हैं कि सभी विघ्नों को तोड़ दें। इसीलिए तो हम वह वाक्य बुलवाते हैं, 'मोक्ष में जाते हुए विघ्न अनेक प्रकार के होने से उनके सामने मैं अनंत शक्तिवाला हूँ।' ज्ञाता-दृष्टा रहने से तमाम विघ्नों का नाश हो जाता है। वर्ना मोक्ष तो यह रहा, आपके पास ही पड़ा है। मोक्ष कहाँ दूर है! अंतराय पड़े हैं बीच में।

प्रश्नकर्ता : 'आत्मा2 अनंत शक्तिवाला' है, तो फिर उस पर अंतराय किस आधार पर आ गए हैं?

दादाश्री : 'हम' ही हैं उन अंतरायों को खड़े करनेवाले, हम ही हैं डालनेवाले। अन्य किसी की दखलंदाज़ी नहीं है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन कौन सी रोंग प्रोसीजर से आत्मा की अनंत शक्ति पर अंतराय आ गए?

दादाश्री : इन सभी रोंग बिलीफों से। क्या रोंग बिलीफ एक ही तरह की है? 'मैं मोटा हूँ' वह भी रोंग बिलीफ है, 'मैं पतला हूँ' वह भी रोंग बिलीफ है, 'मैं लंबा हूँ, काला हूँ, गोरा हूँ' कितनी तरह की रोंग बिलीफें हैं! जितने शब्द, उतनी ही रोंग बिलीफें हैं। हाँ! इतनी रोंग बिलीफें हैं। इन सब को जब पार कर लेंगे उसके बाद राइट बिलीफ खड़ी होगी।

आत्मा की चैतन्य शक्ति किस से आवृत हो जाती है? यह चाहिए और वह चाहिए। लोगों की ज़रूरतें देखकर 'हम' भी सीख गए उनका ज्ञान। इसके बिना नहीं चलेगा। मेथी की भाजी के बगैर तो चलेगा ही नहीं। ऐसे करते-करते फँस गए! आत्मा अनंत शक्तिवाला है, उस पर बार-बार पत्थर डालते गए!

ऐसा है न, नाली बह रही हो तो, उसमें पानी जाने की शक्ति तो बहुत है। नाली भी अच्छी है, लेकिन अगर किसी ने बीच में एक भी पत्थर डाल दिया तो हम समझ जाएँगे कि यह स्पीड से क्यों नहीं बह रहा है? उसे अंतराय पड़ना कहा जाता है। इस तरह अगर दो जगह पर डाल दिए जाएँ तो और ज़्यादा पानी रुकेगा। तीन जगह पर डालें तो और भी ज़्यादा रुकेगा और अगर बहुत सारे डालें तो पूरा ही रुक जाएगा। और ज्ञानीपुरुष तो खुद

निर्अंतराय पद में रहते हैं। कोई अंतराय ही नहीं। उनके पास बैठने से सभी अंतराय टूट जाते हैं, सिर्फ बैठने से ही। उनके साथ गप्प मारें तो भी!

[2.6] वेदनीय कर्म

शाता-अशाता वेदनीय

कितने हुए?

प्रश्नकर्ता : चार

दादाश्री : द्रव्यक्र्म रूपी मोमबत्ती के चार आवरण हर एक जीव में होते हैं, किसी एकाध जीव में नहीं। जीव मात्र में।

और पाँचवा है वेदनीय। अगर अपनी इच्छा न हो, तब भी अगर एकदम से ठंड हो जाए तो शरीर काँपने लगता है लेकिन फिर भी ठंड भोगनी पड़ती है। और अगर कोई हम पर अंगारा डाल दे तो वेदनीय भोगनी पड़ती है न! क्योंकि जल जाते हैं। इन अस्पतालों में लोग वेदनीय भोगते हैं, देखी है आपने लोगों की वेदनीय?

प्रश्नकर्ता : हाँ, हाँ।

दादाश्री : कितनी? एक ही प्रकार की होती है या अनेक प्रकार की होती है?

प्रश्नकर्ता : कई प्रकार की होती हैं।

दादाश्री : कई प्रकार की और कितनी ही जगह पर कुछ लोग *शाता* वेदनीय भोगते हैं। जो दु:ख देती है, वह *अशाता* वेदनीय कहलाती है। शरीर में किसी भी प्रकार की तकलीफ न हो, आम का रस खा-पीकर फिर सो गए। तब सेठ किसमें हैं? तो कहते हैं '*शाता* वेदनीय' में हैं। अभी तक रस से गेस नहीं हुई है इसलिए *शाता* वेदनीय में हैं सेठ तो, जब गेस होगी तब तुरंत ही सेठ क्या कहेंगे, 'यहाँ पर वायु हो गई।' लेकिन तब तक जो *शाता* वेदनीय भोगता है, वह हिसाब में लिखवाकर लाया है। अत: *शाता* वेदनीय और

अशाता वेदनीय, दो प्रकार की वेदनीय लेकर आते हैं। कितनी ही बार कुछ समय तक *शाता* रहती है और उसके बाद वापस *अशाता* आ जाती है। इस प्रकार पूरे दिन *शाता*–*अशाता* चलती ही रहती है। कोई गालियाँ दे तो *अशाता* वेदनीय, कोई फूलों का हार चढ़ाए तो फिर *शाता* वेदनीय। शरीर मिला है, इसी वजह से जब गर्मी पड़ने लगे तो सहन नहीं होती। पंखा चलाए कि *शाता* वेदनीय और सर्दी में अगर पंखा चलाए तो ठंड लगने लगती है, वह भी सहन नहीं होती। वह है *अशाता* वेदनीय। *अशाता* वेदनीय समझ गए न? पलभर में ऐसा हो जाता है कि चैन नहीं पड़ता, वेदनीय!

दांत दु:खा या दाढ़ दु:खी कि *अशाता* वेदनीय हो गई। कोई पूछे कि 'क्यों आज चेहरा ऐसा लग रहा है?' तब कहेगा 'यह दाढ़ दु:ख रही है।' वह कुछ भी उपाय करता है, ताकि दर्द मिट जाए। अंत में अगर कोई भी उपाय नहीं मिले तो लौंग का अर्क लगाकर सुन्न कर देता है। सुन्न करने से अंदर वेदना तो रहती है, लेकिन 'हमें' पता नहीं चलता, वर्ना वेदना सहन नहीं होगी न!

एक तो, इस शरीर को जितनी वेदना भोगनी है, 'आपकी' वह वेदना द्रव्यकर्म है। वेदना! फिर चाहे वह सुख की वेदना हो या दु:ख की वेदना, कड़वे की हो या मीठे की, लेकिन वह सब इन द्रव्यकर्मों में से उत्पन्न होता है।

दो दु:ख का इन्टरवल, वही सुख है

प्रश्नकर्ता : हाँ, वह जो वेदनीय बताया है, ज़रा उसके विवरण की आवश्यकता है।

दादाश्री : पूरी दुनिया दो प्रकार की वेदनीय में रहती है। पलभर में *शाता* और पलभर में *अशाता*। थाली में अगर सबकुछ नॉर्मल आए तो *शाता* रहती है, लेकिन यदि सब्ज़ी ज़रा तीखी आ जाए कि *अशाता* उत्पन्न हो जाती है।

प्रश्नकर्ता : *शाता* को भी वेदनीय कहा है?

दादाश्री : *शाता* को वेदनीय ही कहते हैं न! ये लोग जिसे सुख और जिसे दु:ख कहते हैं, उसे भगवान ने वेदनीय कहा है। सिर्फ असर ही है। वेदना है एक प्रकार की।

प्रश्नकर्ता : हम तो ऐसा मानते हैं कि जब दु:ख कम हो जाए तो वह सुख है। आप कहते हैं कि 'सुख वेदना है,' तो यह समझ में नहीं आया।

दादाश्री : जो दु:ख कम हो जाए, वह सुख नहीं है। दो दु:खों के इन्टरवल को लोग सुख कहते हैं। दो दु:खों के बीच, एक दु:ख का अंत आया और दूसरा दु:ख अभी तक शुरू नहीं हुआ है, तब तक उसे सुख कहते हैं। लिख लेना ये शब्द। यह इन्टरवल किसमें होता है? नाटक में। अत: वास्तव में यह सुख नहीं है, यह वेदना है।

प्रश्नकर्ता : तो वास्तव में सुख किसे कहते हैं?

दादाश्री : खरा सुख तो जो आनंद है, आत्मा का आनंद होता है, वह है।

वेदना किसलिए कहते हैं क्योंकि जिस-जिस चीज़ से सुख होता है, वह जब ऐब्नॉर्मल हो जाए तब दु:ख रूप हो जाती हे। अभी खीर खाने में मज़ा आता है लेकिन अगर पेट में ज़्यादा डाल दे तो?

प्रश्नकर्ता : हाँ, तो दु:ख हो जाता है।

दादाश्री : अत: जो ऐब्नॉर्मल हो जाए, वह सारा वेदनीय कहलाता है और जो बिल्कुल भी ऐब्नॉर्मल नहीं होता, वह सब सुख कहलाता है। आत्मा का सनातन सुख कभी भी नहीं जाता, किसी भी संयोग में नहीं जाता। निरंतर परमानंद रहता है। स्वाभाविक सुख आपने चखा है किसी भी जन्म में? क्या वह चखना नहीं चाहिए?

प्रश्नकर्ता : लेकिन ज्ञानी तो *अशाता* को भी दु:ख नहीं मानते।

दादाश्री : *अशाता* को दु:ख मानते ही नहीं न! *शाता* को सुख नहीं मानते इसलिए *अशाता* को दु:ख नहीं मानते लेकिन जिसने *शाता* में सुख माना, उसे *अशाता* में दु:ख नहीं मानना हो तो भी मानना पड़ेगा, अनिवार्य है। लेकिन ज्ञानी तो *शाता* में सुख लेना छोड़ ही देते हैं।

वेदनीय कर्म अंदर *शाता* देता है, *अशाता* भी देता है। अत: कर्म ही ये सब करते हैं। 'हमें' कुछ भी नहीं करना होता।

वेदन नहीं करना है, जानना है

प्रश्नकर्ता : दादा, ऐसा है न कि इन ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय का चिंतवन कर-करके इन्हें जल्दी खपाया जा सकता है जबकि *शाता-अशाता* वेदनीय और नाम-गोत्र-आयुष्य इन सब को तो भोगना ही पड़ता है।

दादाश्री : ऐसा नहीं है कि भोगना ही पड़ता है। इसमें भी यदि कभी अगर ज्ञान पक्का हो, तो नहीं भोगता। तीर्थंकर नहीं भोगते हैं, कभी भी। उन्हें *शाता-अशाता* वेदनीय होती हैं, वे भोगते नहीं हैं। वे बस जानते ही हैं, इतना ही।

लेकिन यह ज्ञान कैसा है? 'आप' क्या कहते हो, 'यह तो कुछ भी नहीं है।' क्योंकि आपने इतना ही जाना है लेकिन अगर आप कहो, 'मुझे सहन नहीं हो रहा है' तो दु:ख होगा। कितने ही छोटे दु:ख आप जानकर ही निकाल देते हो, उसके भोक्ता बनते ही नहीं। और जितने दु:खों को आप ऐसा कहते हो कि 'मुझ पर यह दु:ख आया है,' तो अपने आप ही, आपके बोलते ही आ जाता है। आप कहो कि, 'मैंने जाना।' 'जाना' कहते ही हल्का हो जाता है और फिर उसे सिर्फ जानता ही रहता है।

बिलीफ वेदना है, ज्ञान वेदना नहीं

प्रश्नकर्ता : अब कहे कि, 'मेरा सिर दु:ख रहा है,' उस समय उसे जानता कौन है और सिर की वेदना का वेदन कौन करता है?

दादाश्री : अहंकार उसका वेदन करता है। अहंकार वेदता है । क्योंकि सिर आपका है इसलिए आपका अहंकार वेदता है और आम का रस और पूड़ी खाता है, उसे भी अहंकार वेदता है। *शाता* और *अशाता* दोनों को अहंकार वेदता है।

प्रश्नकर्ता : आत्मा नहीं वेदता?

दादाश्री : आत्मा को स्पर्श ही नहीं होता यह।

प्रश्नकर्ता : लेकिन उस वेदना को हम अनुभव करते हैं।

दादाश्री : वह अनुभव, अहंकार का अनुभव है न! यह बिलीफ वेदना है, यह ज्ञान वेदना नहीं है। नहीं तो अगर ज्ञान वेदना होती तो रात को नींद ही नहीं आती। पूरी रात की रात, कितने ही दिनों तक नींद ही नहीं आती। यह तो बिलीफ वेदना है, इसलिए फिर नींद आ जाती है। रोंग बिलीफ ही है सिर्फ। उसे अहंकार, इगोइज़म वेदता है।

प्रश्नकर्ता : वेदना किस वजह से होती है?

दादाश्री : हम लोगों को वेदना देते हैं न, उसी का फल है यह। अगर किसी को भी वेदना देंगे तो वेदना देने से पहले इतना अवश्य मान लेना कि वह वेदना अपने ऊपर ही आनेवाली है। भगवान ने वह ढूँढ निकाला कि यह बहुत ही उल्टा रास्ता है। उसके बाद शुद्ध हो गए।

दादा का अंतर निरीक्षण

हम सुबह नहा रहे थे। यह पानी डाल रहा था पीठ पर। तो जहाँ खुजली चल रही हो, वहाँ पर अगर गरम पानी ज़्यादा डाला जाए तो क्या होता है?

प्रश्नकर्ता : अच्छा लगता है।

दादाश्री : अच्छा लगता है। फिर मैंने वह देखा। मैंने कहा कि 'अरे, यह क्या है?' तो जवाब मिला कि इस शरीर पर जब गरम पानी डालते हैं, तब इस जगह पर खुजली के जो परमाणु भरे हुए हैं वायु के। वह वात (वायु) होता है न, वह 'वात' जब ज़रा ज़ोर पकड़ लेता है तब खुजली चलती है। लोग कहते हैं कि, 'वायु है एक तरह की।' कुत्ते पूरे दिन यों करते रहते हैं न, जब ऐसा होता है तब। तब फिर शरीर हम सभी के एक जैसे ही हैं न! तो पानी डालने से अच्छा लगता है, मीठा लगता है। तब मैंने सोचा, 'यह गुनाह तो नहीं है? यह मीठा किसे लग रहा है?' पता लगाया। तब पता चला कि अहंकार को मीठा लग रहा था। किसे लग रहा था?

प्रश्नकर्ता : अहंकार को लग रहा था।

दादाश्री : हाँ, और 'मैं' जान रहा था कि 'अहंकार' को ऐसा लग रहा है। तो यह मीठा क्यों लगा? उसकी शोध की कि इसका रूट कॉज़ कब घुस गया था? इंसान को कई बार जब खूब ठंड लगती है न, तब उसे अंदर कंपकंपी आ जाती है। जिसे कंपकंपी कहते हैं न, उस समय हवा अंदर घुस जाती है। तो वही वायु निकलती है पककर। अत: जब सर्दी में कंपकंपी भोगता है, उस घड़ी वापस अहंकार ही भोगता है और उसके फल

स्वरूप यह अहंकार इसमें सुख मानता है। अत: यह गुनाह नहीं है। मेरा क्या कहना है? और फिर आत्मा तो फिर दोनों ही बार जानकार है, वह भोगता ही नहीं है। अज्ञानी भोगता है। 'मुझे यह टेस्ट (रस) आया, मैं ही चंदूभाई हूँ न!' तो फिर वह भोगता है या नहीं भोगता? उससे कर्म बंधन होता है। वह (अज्ञानी) कर्म बाँधता है और यह (ज्ञानी) कर्म छोड़ता है। आपने कभी गरम पानी नहीं डाला है?

प्रश्नकर्ता : नहाते समय, नहाते हैं बस उतना ही। नहाते समय चित्त न जाने कहाँ घूमता रहता है, इसलिए पता नहीं चलता।

दादाश्री : ओहोहो! बाहर घूमने चला जाता है! हमारा तो अभी भी अंदर प्रतिक्षण हाज़िर है। अंदर सारा पृथक्करण होता रहता है और तभी दिया जा सकता है न! खुद के अनुभव की दवाई होनी चाहिए! मुझे जो माफिक आई उस अनुभव की दवाई आपको माफिक आएगी, नहीं तो आएगी नहीं न!

भगवान महावीर को भी *अशाता* वेदनीय

भगवान महावीर को *शाता* वेदनीय और *अशाता* वेदनीय होती थी। कान में *बरु* (जंगली पौधे की नुकीली डंडी) डाले थे। उन्होंने कीलें नहीं ठोकी थीं लेकिन *बरु* डाले थे। तो वे उन्हें कितनी ज़्यादा *अशाता* वेदनीय देते होंगे? भगवान वेदक तो थे ही।

प्रश्नकर्ता : भगवान वेदक या भगवान का शरीर वेदक, दादा?

दादाश्री : भगवान भी वेदक। लेकिन डॉक्टर जिसे शरीर कहते हैं न, जितना भाग डॉक्टर देख सकते हैं न, फिज़िकल बॉडी, उसके लिए भी ज़िम्मेदार थे भगवान। उस वजह से वेदना होती थी।

प्रश्नकर्ता : हाँ, वेदना होती है, इसका उन्हें पता भी चलता था लेकिन हम ऐसा तो नहीं कह सकते न कि उन्हें खुद को वेदना होती थी?

दादाश्री : असर होता था लेकिन उस घड़ी उन्हें ज़बरदस्त तप रहता था। मानसिक वेदना नहीं होती थी उन्हें। वाणी की वेदना नहीं होती थी उन्हें।

प्रश्नकर्ता : यह जो शारीरिक वेदना है उसमें और मानसिक वेदना में क्या फर्क हैं?

दादाश्री : मानसिक वेदना ऐसी चीज़ है जो ज्ञान से खत्म हो सकती है और शारीरिक वेदना ऐसी नहीं है कि ज्ञान से खत्म हो जाए। दाढ़ दु:खने लगे तो उसका असर पहुँचता है अंत तक।

प्रश्नकर्ता : तो यह मानसिक वेदना किस तरह की वेदना होती है?

दादाश्री : पूरा जगत् मानसिक दु:खों में ही है न! इन लोगों को शारीरिक वेदना है ही नहीं। लोगों को मानसिक वेदना ही है और शारीरिक वेदना तो, अगर दाढ़ दु:खने लगे तो भगवान को भी पता चल जाता है लेकिन वे तप करते हैं। अंदर हृदय लाल-लाल हो जाता है। वह भी उन्हें खुद को दिखाई देता है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन शरीर तो कष्ट भोगता है न?

दादाश्री : शरीर भोगता है लेकिन भोक्ता वहीं पर है। तब अहंकार भोगता है। उसे भी वे खुद जानते ही थे। उस *शाता* वेदनीय में वे रस (रुचि) नहीं लेते थे इसलिए *अशाता* में भी उन्हें कोई रुचि नहीं रहती। वह तो सिर्फ उनके ज्ञान में ही रहता है। वेद अर्थात् वेदन

करना, दु:ख भोगना और जानना। वेद अर्थात् 'टू नो,' जानना। वेद का अर्थ है दु:ख को भोगने से लेकर जानने तक। जितने–जितने ग्रेडेशन (सोपान) होते हैं, उतने ग्रेडेशन।

उस घड़ी तप रहता है उन्हें, ज्ञान–दर्शन–चारित्र और तप, लेकिन वह भी सिर्फ केवलज्ञान होने तक। केवलज्ञान होने के बाद तो कुछ भी नहीं रहता। एब्सोल्यूट हो गया। एब्सोल्यूट को कुछ स्पर्श ही नहीं करता। महावीर भगवान को जब तक केवलज्ञान नहीं हुआ था, तभी तक उन पर वेदना पड़ी।

प्रश्नकर्ता : लेकिन ऐसा कहते हैं न कि केवलज्ञान होने के बाद भी उन्होंने वेदना और कष्ट तो कईं सहन किए थे!

दादाश्री : वे सभी कष्ट शरीर को हुए थे, शरीर को *शाता–अशाता* रहती थी लेकिन उन्हें स्पर्श नहीं होता था। उन्हें तप नहीं करना पड़ता था। उन्हें सहज ही ज्ञान–दर्शन व चारित्र रहते थे।

अभी तो आपके मानसिक दु:ख भी मिट गए हैं लेकिन देह के दु:ख तो आपको स्पर्श करते हैं। दाढ़ दु:खने लगे या सिर दु:खने लगे तब, आपको असुख हुए बगैर नहीं रहता क्योंकि फिज़िकल बॉडी है। जब तक केवलज्ञान नहीं हो जाता, तब तक एब्सोल्यूट हो ही नहीं सकता।

प्रश्नकर्ता : जो भोगवली कर्म (भोगने ही पड़े ऐसे अनिवार्य कर्म) हैं वे तीर्थंकरों को भी नहीं छोड़ते, तो वे कैसे कर्म हैं?

दादाश्री : किसी को भी नहीं छोड़ते।

प्रश्नकर्ता : तीर्थंकर गोत्र बाँधते हैं और साथ में भोगवली कर्म भी बाँधते हैं?

दादाश्री : हाँ, उसमें तो कुछ चलेगा ही नहीं न! या तो *शाता*, या *अशाता*। तीर्थंकरों को *शाता* और *अशाता* दोनों ही होते हैं। दोनों ही उदय में रहते हैं। उसके *भोगवटे* (सुख या दु:ख का असर, भुगतना) में फर्क होता है। लोगों को ऐसा लगता है कि इन्हें दु:ख है। लोग मुझे देखते हैं कि 'दादा को बुखार आया है,' लेकिन मैं सिर्फ उदय को जान रहा

होता हूँ, *भोगवटे* को भी मैं जान रहा होता हूँ। अत: *शाता–अशाता* तो तीर्थंकरों के उदय में भी रहते हैं।

प्रश्नकर्ता : *शाता–अशाता* को कब तक वेदते हैं?

दादाश्री : केवलज्ञान हो जाए तब तक। केवलज्ञान होने के बाद *शाता–अशाता* वेदनीय का असर नहीं होता, बिल्कुल भी नहीं। शरीर को *शाता–अशाता* वेदनीय तो रहती है। सर्दी हो तो देह को ठंड भी लगती है न, लेकिन खुद उसे नहीं वेदते। कितने ही मामलों में तो हम भी नहीं वेदते।

दादा, वेदनीय के उदय के समय

इसीलिए हमें डॉक्टर ने कहा था न, यह जो फ्रेक्चर हुआ तब सभी डॉक्टर इकट्ठे हो गए थे। डॉक्टर कह रहे थे, 'इतना बड़ा फ्रेक्चर हुआ है फिर भी इस व्यक्ति के चेहरे पर यह हास्य क्यों दिख रहा है?' तब दूसरे डॉक्टरों ने (महात्माओं) कहा कि 'ये ज्ञानीपुरुष हैं! ऐसा मत बोलना। ज्ञानीपुरुष हैं इसलिए हास्य दिख रहा है!' नहीं तो इनका चेहरा लटक जाता या फिर रो रहे होते या तो रोनी सूरत दिखती। यह हास्य तो देखो! पचास–सौ लोग तो आसपास रहते थे। तब मुझे पूछा, 'यह क्या है? इतना सब आप सहन कैसे कर सकते हैं?' मैंने कहा, 'हमें सहन नहीं करना होता।'

दोनों ही प्रकार की वेदनीय रहती हैं, किसी को भी सिर्फ *शाता* वेदनीय नहीं रहा है लेकिन हमें वेदनीय वेद के रूप में होता है, जानने के रूप में होता है। फिर भी हमने दु:ख नहीं देखा है, एक सेकन्ड भी नहीं। चाहे कभी भी देह छूट जाएगी, ऐसा हो गया हो या भले ही कुछ भी हुआ हो लेकिन हमने *अशाता* वेदनीय बहुत नहीं देखी है! वेद के रूप में रहे हैं। उसे जानते ज़रूर हैं कि अब ऐसा हो रहा है। हालांकि कुदरती ऐसा है कि *अशाता* वेदनीय बहुत आती ही नहीं हैं। बहुत हुआ तो दांत की *अशाता* वेदनीय आ जाती है।

प्रश्नकर्ता : खाँसी वगैरह आती है।

दादाश्री : खाँसी को तो मैं उपकारी मानता हूँ। अच्छा हुआ, रात को जगाती है न! ऐसी हमारी इच्छा है कि हमें रात को जागना है। जैसे भी हो सके वैसे जागृत रहना है, ऐसी इच्छा है। वह तो बल्कि जगाए रखती है, इसलिए मैंने इसे गुणकारी माना हुआ है। जिसे गुणकारी मानें उसकी वजह से दु:ख होता ही नहीं है न! हाँ, जब दाढ़ दु:खती है तब ऐसा होता है। और अभी तीन दिन के लिए कच्छ गया था तब लिवर का दर्द शुरू हो गया था। तब *अशाता*–वेदनीय उत्पन्न हो गई थी लेकिन वेदनीय को 'मैं' बस जान रहा था, बस इतना ही।

प्रश्नकर्ता : दर्द नहीं होता?

दादाश्री : दर्द होता है लेकिन 'आत्मा' को कुछ नहीं होता। अत: जब तक 'हम' 'आत्म स्वभाव' में रहें, तब तक कोई असर नहीं होता। दर्द तो होता है। तीन दिनों तक रहा था, रात को नींद भी नहीं आई थी तीन दिनों तक। अंदर से जगते रहते थे, पलभर को सो जाते थे। 'दादा बैठे हुए हैं,' ऐसा 'हम' जाना करते थे।

वेदनीय तो तीर्थंकरों को भी रहती है, तो फिर और किसे नहीं होगी? लेकिन उनमें *अशाता* कम रहती है। हमारा देखो न, यह महीना ऐसा आया कि दादा का एक्सिडेन्ट का टाइम आया। फिर यह आ गया! जैसे दीया बुझनेवाला हो न, ऐसा हो गया।

प्रश्नकर्ता : ऐसा कुछ नहीं होगा दादा।

दादाश्री : नहीं, ऐसा नहीं है। हीरा बा चले गए तो क्या ये नहीं जाएँगे? यह तो कौन सा वेदनीय आया?

प्रश्नकर्ता : *अशाता* वेदनीय।

दादाश्री : लोग समझते हैं कि हमें *अशाता* वेदनीय है लेकिन वेदनीय हमें स्पर्श नहीं करता, तीर्थंकरों को भी स्पर्श नहीं करता। हमें तो हीरा बा के जाने का खेद नहीं है, हम पर असर ही नहीं होता न! कई लोगों को ऐसा लगता है कि हम पर वेदनीय आई, हमें तो *अशाता* वेदनीय ने एक मिनट, एक सेकन्ड के लिए भी स्पर्श नहीं किया है इन तीस सालों से! और वही विज्ञान मैंने आपको दिया है और आप अगर कच्चे पड़ो तो वह आपका।

समझ में कच्चे नहीं पड़ना चाहिए न कभी भी? एक मिनट के लिए भी नहीं? तब तू सही है!

तेरे *भोगवटे* को 'तू' जान

यह तो तय ही है कि इस भाई को इतनी *अशाता* होगी और *शाता* इतनी ही होगी, यह डिसाइडेड रहता है। फिर भी फिर भी *अशाता* किए बगैर रहता नहीं है वह। इधर से उधर लोट लगाता है, इधर से उधर लोट लगाता है लेकिन *अशाता* करता है।

प्रश्नकर्ता : दादा, वह तो अगर ज्ञान नहीं हुआ हो, तभी न? आपके ज्ञान देने के बाद तो चला गया न सबकुछ?

दादाश्री : हाँ, वह तो सब चला गया। यह तो बात कर रहे हैं।

वह रोए, चिढ़े, वह ऐसे करे, लेकिन यदि ऐसा भान रहे कि 'आत्मा के तौर पर मैं जुदा हूँ,' तो बस हो गया। 'मैं चंदू नहीं हूँ।' किसी भी प्रकार से 'मैं चंदू नहीं हूँ।' अगर *शाता* वेदना हो तो *शाता* में तो लोगों को ऐसा ही रहता है कि 'मैं चंदू हूँ,' लेकिन 'वह' 'चंदू' नहीं है ऐसा कब पक्का होता है? *अशाता* होती है तब। अत: वास्तव में 'चंदू' नहीं है, वह बात पक्की हो जाती है।

प्रश्नकर्ता : उसके बाद वह स्थिति रहती ही नहीं।

दादाश्री : फिर झंझट ही नहीं रहता न!

निरालंब को नहीं छूती वेदनीय

जैसे-जैसे आत्मा का अनुभव बढ़ता जाता है, तब फिर वेदनीय को भी वह जानता है, 'यह कड़वा है, यह मीठा है।' वेद अर्थात् क्या? कड़वे की वेदनीय उसे नहीं होती। इसका मतलब कड़वा, लगता तो कड़वा ही है लेकिन उससे *अशाता* नहीं होती। मीठा,

मीठा ही लगता है लेकिन *शाता* नहीं लगती। कड़वे को कड़वा जानता है और मीठे को मीठा जानता है बस! उसी को कहते हैं वेद।

प्रश्नकर्ता : हाँ, लेकिन वह तो, जब स्वरूप में लीनता हो जाए तब न? एकदम निरंतर उपयोग स्वरूप में रहे, तब होता है न? अब जब तक संपूर्ण सुख स्वभाव का आलंबन नहीं है, तब तक *शाता-अशाता* में थोड़ा बहुत *भोगवटा* रहेगा ही न?

दादाश्री : 'मैं शुद्धात्मा हूँ,' यह शब्दावलंबन है। तभी से 'उसे' प्रतीति, *लक्ष* (जागृति) और अनुभव की शुरुआत हो जाती है। और वहाँ से बढ़ते, बढ़ते, बढ़ते, बढ़ते, बढ़ते, बढ़ते संपूर्ण निरालंब होने तक जाता है। तब तक का जो आत्मानुभव है, उसमें फर्क नहीं है। वेदनीय का वेदन करने में फर्क है। उसके अनुभव में फर्क नहीं है।

'मैं शुद्धात्मा ही हूँ,' यही है प्रतीति। लेकिन उससे वेदनीय में फर्क पड़ता है। जैसे-जैसे अंदर अवलंबन कम होते जाएँगे, निरालंब होता जाएगा न, तब फिर वेदनीय स्पर्श नहीं करेगा। जब तक अवलंबन है, तभी तक वेदनीय स्पर्श करता है!

[2.7] नामकर्म

चित्रगुप्त नहीं, लेकिन नामकर्म का गुप्त चित्र

अब छठा बता रहा हूँ। अब यह जो 'मैं चंदू, मैं चंदू' नाम है, यह नामकर्म है। नाम चंदूभाई, मैं इन्जीनियर, मैं गोरा, मैं काला, मैं साँवला, मैं भैंगा, मैं मोटा, मैं पतला, मैं यह हूँ, वह हूँ, ये सब नामकर्म हैं।

अब, द्रव्यकर्म एक ही है लेकिन उसके आठ भाग हैं। तो यह है नामरूप कर्म। अर्थात् रूप-रंग दिखता है, यह जो डिज़ाइन-विज़ाइन वगैरह सब दिखता है, वह नामकर्म है। फिर नामरूप उसका नाम है और यह सारा स्वरूप, यह जो देह का आकार है वह।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् हिंदुओं में जो चित्रगुप्त की बही कहलाती है कि उनके पास इतनी सारी बहियाँ होती हैं?

दादाश्री : नहीं, पर वह तो, चित्रगुप्त ही हैं न सभी!

प्रश्नकर्ता : सारा गुप्त रूप से चित्रित किया है।

दादाश्री : व्यक्ति नहीं। यह तो जो शरीर गढ़ता है न, वह कौन है? चित्रकार है, नामकर्म रूपी चित्रकार है वह। इस प्रकार यह एक तरह का हिसाब है। नामकर्म रूपी चित्रकार। वह जैसी डिज़ाइन गढ़ता है, उसी अनुसार शरीर बनता है। गढऩे के लिए किसी और को नहीं आना पड़ता। अपने आप ही। इस जगत् में किसी को कुछ करना पड़े, ऐसा नहीं है। जगत् किससे चल रहा है? तो कहते हैं कि स्वभाव से चल रहा है।

कितने ही लोगों ने कल्पनाएँ की हैं कि ब्रह्मा गढ़ते हैं यह सब। कोई बाप भी गढऩे नहीं जाता। अपने आप ही चित्रण हो जाता है। भाव में से चित्रण। नामकर्म है न, वह चित्रण ही करता रहता है। रूप वगैरह, सबकुछ नामकर्म करता रहता है।

अब फिर इस नाम कर्म में भी बहुत कर्म हैं। ऐसा शरीर, ऐसी हड्डियाँ, ऐसा सिर, ऐसी आँखें, ऐसी पर्सनालिटी वगैरह बहुत तरह के हैं। यह सभी कुछ जो है, वह इस मोमबत्ती में है। सब मिलाकर इसे नामकर्म कहा है, नाम द्रव्यकर्म!

शरीर मिला, वह भी नामकर्म से

प्रश्नकर्ता : हाँ। तो क्या इसमें कुछ पूर्व संचित होता है?

दादाश्री : हाँ, पूर्व संचित। नामकर्म का मतलब जो सेटल हो चुका है। नामकर्म अर्थात् *चितारा* (चित्रित किया हुआ) कर्म कहलाता है। यानी कि डिज़ाइन वगैरह सबकुछ उसी का। अन्य किसी कर्म का नहीं है यह। कपाल इतना बड़ा, कान ऐसे इतने बड़े, नाक बड़ा, अंग-उपांग वगैरह, सारी डिज़ाइन उसके हाथ में है। अत: डिज़ाइनर कहते हैं इसे, नामकर्म को। आपको समझ में आया न कि नामकर्म क्या करता होगा? इन सभी के नाक अलग-अलग होते हैं या एक ही तरह के होते हैं?

प्रश्नकर्ता : अलग-अलग।

दादाश्री : तो क्या ये साँचे में से निकाली हुई नहीं हैं। क्या बाप जैसी ही नाक होती है? यदि सभी की बाप जैसी होती तो ऐसा लगता कि एक ही साँचे में ढाली गई है। लेकिन

ऐसा नहीं है। यह जो नामकर्म है, वह साँचे को गढ़ता है। अलग–अलग नामकर्म और अलग–अलग साँचे। यदि एक ही तरह के लोग होते न, तो न जाने कौन किस के घर में घुस जाता और कौन किस के घर में घुस जाता है, कोई ठिकाना ही नहीं रहता। एक ही तरह के नहीं हैं न? खुद के माँ–बाप तुरंत ढूँढ लेता है न? वाइफ को तुरंत ढूँढ लेता है न, हज़बेन्ड को तुरंत ही ढूँढ लेती है न?

यह चेहरा–वेहरा वगैरह सब, यह शरीर द्रव्यकर्म ही है। नहीं तो फिर और क्या है? ये नामकर्म वगैरह सब द्रव्यकर्म कहलाते हैं। नाम–रूप वगैरह सब द्रव्यकर्म कहलाते हैं। फिर ये यश नामकर्म, अपयश नामकर्म, आदेय नामकर्म वगैरह ये सभी द्रव्यकर्म हैं और कोई यश मिले या अपयश मिले तो वह नोकर्म नहीं है। कोई मान मिले, अपमान मिले वह नोकर्म नहीं है। वे सभी द्रव्यकर्म हैं।

आत्महत्या करता है न, वह भी नामकर्म है। खुद आत्महत्या करता है न, वह भी नामकर्म के आधार पर करता है।

कितनी सैद्धांतिक बात है। नहीं? आघात नामकर्म, पराघात नामकर्म। और किस–किसको मारेगा, वह हिसाब लेकर आया है। खुद आत्महत्या कर लेगा, वह भी। ऐसे सब नामकर्म वगैरह बहुत सारी चीज़ें लेकर आया है।

और ये नामकर्म तो बहुत तरह के हैं। इस शरीर को जो नाम मिला वह भी नामकर्म है। यह शरीर लंबा हो तो भी नामकर्म, ठिगना हो तो भी नामकर्म। ठिगना हो तब लोग क्या कहते हैं कि 'ढाई हाथ का है।' लंबा हो तब कहते हैं, 'बहुत लंबा है, बहुत बेवकूफ है।' अगर लंबा हो तो बेवकूफ कहते हैं, ठिगना हो तो ढाई हाथ का कहते हैं। तो भाई, मैं रहूँ कहाँ? तो कहते हैं, 'कम टू द नॉर्मल। नॉर्मल होगा तो हम कुछ नहीं कहेंगे। साढ़े पाँच फुट की हाइट होगी तो हमें परेशानी नहीं है।'

प्रश्नकर्ता : लेकिन ढाई हाथवाले के लक्षण?

दादाश्री : ढाई हाथवाले का लक्षण ये लोग क्या बताते हैं कि ढाई हत्था, ढाई का डेढ़ गुना, पौने चार फुट लंबा है। चार फुटवाले को भी हम ढाई हाथवाला कहते हैं, लेकिन

और क्या? तो कहते हैं, डेढ़ फुट ज़मीन के नीचे है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् खुद की हाइट उसने इस तरह से पूरी की।

दादाश्री : वह मुआ सब के साथ छल-कपट करके अपनी जेब में डाल दे, ऐसा होता है। इसीलिए ढाई हत्थे की लोगों ने निंदा की है न! यह ढाई हत्था है मुआ, वहाँ मत जाना।

प्रश्नकर्ता : अत: लंबे आदमी को मूर्ख कहा और इसे लुच्चा कहा।

दादाश्री : लंबा व्यक्ति मूर्ख बना, इसीलिए यह लुच्चा बना।

प्रश्नकर्ता : हाँ, यों वापस है रिलेटिविटी।

दादाश्री : हाँ, रिलेटिविटी है न! अबव नॉर्मल हो जाए तो ठिगना होता जाता है और बिलो नॉर्मल लंबा होता जाता है। ढाई हत्था बहुत ठोस होता है। लोग पहले ढाई हत्थे से घबराते थे। अभी तो यह काल अच्छा है। बेचारे ढाई हत्थेवाले होते ही नहीं न! अरे, सभी लंबे, लंबे, लंबे बल्कि साढ़े पाँच फुट से ज़्यादा, पौने छ: वगैरह, सब ऐसी हाइटवाले। हैं ज़रा बेवकूफ हैं, लेकिन कहने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि यह अच्छा है, बेवकूफ अच्छा। बहुत पक्का इंसान हो न, तो मकान वगैरह सबकुछ पक्का रखता है। वहाँ पर इतना पक्का किया होता है कि वहाँ मोक्ष उस तक न पहुँच पाएँ। ये बेवकूफ छोड़ देते हैं, इन्हें अगर रास्ता मिल जाए तो देर ही नहीं लगेगी।

फिर, ये जो पैर की उँगलियाँ हैं न, वे कुछ लोगों की तो ऐसी भेड़-बकरियों जैसी होती हैं, जानवर जैसी होती हैं, ऐसा सब होता है। यों अंग-उपांग सभी एक सरीखे नहीं होते। कुछ लोगों के तो ऐसे चिपके हुए होते हैं। अरे भाई, क्यों चिपक गए? अपने इन्डियनों की कान की लोलकियाँ (कान का वह हिस्सा जिसमें बूटियाँ पहनी जाती हैं) लंबी होती हैं क्योंकि वे मोक्ष में जानेवाले हैं। जो लोग मोक्ष जानेवाले नहीं हैं और हृदयमार्गी हैं, उनकी भी लोलकियाँ लंबी होती हैं। जैसी आपकी हैं, हिल रही हैं, ऐसी होनी चाहिए। फॉरेन में तो मिनिस्टर की भी यों चिपकी हुई होती हैं।

प्रश्नकर्ता : लेकिन दादाजी, किसी के कान बड़े होते हैं, हाथ बड़े होते हैं, ऐसा भी होता है न?

दादाश्री : यदि कान बड़े हैं तो इसका मतलब क्या है कि जिनके बड़े कान हैं, वे साधु हों तो साधुपने में ज़बरदस्त आकांक्षावाला और संसार में हो तो संसार में आकांक्षा लेकिन उसके लिए इतने-इतने बड़े-बड़े कान होते हैं उसके और अपने तीर्थंकरों के इतने बड़े-बड़े कान होते हैं। ऐसे लोग मिलेंगे ही कहाँ? आजकल तो इतने छोटे-छोटे होते हैं।

महत्वकांक्षा पूरी करने के लिए तो उसकी फाउन्डेशन बनाता है। बहुत पक्का होता है वह। जिस लाइन में हो उस लाइन में महत्वाकांक्षी। धर्म में हो तो धर्म में महत्वाकांक्षी और संसार में हो तो संसार में महत्वाकांक्षी।

प्रश्नकर्ता : यह समझाइए न। फाउन्डेशन किस तरह मज़बूत करता है?

दादाश्री : हाँ, लेकिन धर्म में हो तो धर्म में करता है और संसार में हो तो संसार का करता है। धर्म में हो तो, अरे! वह ,सुबह–सुबह पाँच–सात साधुओं के दर्शन कर आता है, फलाना कर आता है, पाँच–दस जगह पर मंदिरों में दर्शन कर आता है, ऐसा कर आता है, वैसा कर आता है। ऐसा सब कर आता है। हर प्रकार से बहुत पक्का होता है वह तो। सभी फाउन्डेशन मज़बूत कर देता है। फिर चिनाई होती रहती है दिनों–दिन और अंत में वह तैयार कर देता है।

और कुछ लोगों के कान मोटे होते हैं न, वे सभी व्यवहार में बहुत सतर्क रहते हैं। मौज–मज़े करना और आनंद करना और मज़े करना, बस इसके लिए पैसे इकट्ठे करते हैं, संसार सुख भोगने के लिए। अंदर कितनी ही प्रकार की इच्छाएँ रहती हैं।

इस काल में कान और नाक देखने योग्य नहीं हैं। कान भी इतने–इतने चिपके हुए होते हैं और नाक भी इतने–इतने चिपके हुए होते हैं। ज़रा समझदार हो जाएँ और इस तरफ मुड़ें तो हमें समझना चाहिए कि बहुत अच्छा हुआ भाई।

प्रश्नकर्ता : किसी का चेहरा देखकर आप उसकी पूरी–पूरी स्टडी करें तो पता चल जाता है?

दादाश्री : ना, हम कहाँ देखने जाएँ ऐसा सब। इस काल के लोगों के चेहरे देखने जैसे हैं ही नहीं।

अंग–उपांग सब बहुत यों एक्ज़ेक्ट फिटनेस लाएँ, ऐसे। गप्प नहीं होती। कहीं गप्प होती होगी? यह वीतरागों की कैसी बात है! अक़्लमंदीवाली बात!!

उसके बाद यह जो शरीर है, नाम रूप वह भी द्रव्यकर्म है लेकिन इससे कोई परेशानी नहीं है, शरीर से। वह (उल्टी दृष्टि) खत्म हो जानी चाहिए। जो उल्टा देखता है न, उसके आधार पर यह सब खड़ा होता है इसलिए रूट कॉज़ खत्म हो जाना चाहिए।

प्रश्नकर्ता : इस भ्रांति की शुरुआत क्या नामकर्म से होती है, दादा?

दादाश्री : नामकर्म से भ्रांति की शुरुआत होती है। नाम पड़ते ही भ्रांति की शुरुआत हो गई। कोई भी नाम पड़ा जैसे काई या गुलाब, तभी से भ्रांति की शुरुआत हो गई।

महावीर भगवान का कैसा नामकर्म

प्रश्नकर्ता : बहुत स्ट्रोंगली(ज़ोर देकर) ऐसा कहते हैं कि अच्छा गोत्र मिलना, अच्छी कीर्ति मिलना, अच्छा शरीर मिलना व वेदनीय भी पूर्वजन्म के कर्म हों, तभी मिलती है। पूर्वजन्म के नामकर्म हों तभी मिलता है, उसके बिना नहीं मिल सकता।

दादाश्री : नहीं मिल सकता। यदि अंदर नाम, गोत्र वगैरह के लक्षण अच्छे हों, तभी मिलते हैं। छप्पन प्रकार के लक्षण, वे सभी प्रकार के लक्षण अच्छे हैं, और तीर्थंकरों की तो बात ही अलग है और ऊपर से तीर्थंकर नामकर्म। तीर्थंकर पद नामकर्म और गोत्रकर्म दोनों में आता है।

महावीर भगवान का नामकर्म कैसा होगा! थे बहुत ही रूपवान। देखते ही दिल में ठंडक हो जाए? सिर्फ देखने से ही दिल को ठंडक हो जाए। वे क्या हीरे के बने हुए थे? हीरे से भी दिल को ठंडक नहीं होती। इतना बड़ा हीरा देखें तो थोड़ी देर के लिए देखने का मन होता है। बाद में कुछ भी नहीं। इसमें तो अपना मन टूटता ही नहीं कभी भी। देखते ही रहने का मन होता है, उनकी लावण्यता इतनी अधिक, सुंदरता! तीर्थंकर क्या यों ही बन जाता है कोई? पूरी दुनिया का नूर आ जाता है एक व्यक्ति में! और अभी तो सभी नूरवालों को देखो न, हर जगह कितने ही घूमते हैं न! नहीं? मना कर रहा है न?

दो गुण, एक नामकर्म अच्छा होना चाहिए और दूसरा भाव अच्छे होने चाहिए, तो हम जान जाएँगे कि असल खानदानी हैं। किसी में दोनों ही (गुण) हों तो उसका

खानदानीपन पहचाना जाता है। बगैर नामकर्म का सारा ही भाव बेकार है। नामकर्म की तो भगवान ने भी तारीफ की है। उन्हें नामकर्म कब मिलता है? कितने उच्च प्रकार के कर्म बाँधे हों, तब ऐसा नामकर्म उत्पन्न होता है।

आदेय-अनादेय नामकर्म

नामकर्म के तो बहुत प्रकार हैं। आदेय नामकर्म। अगर आदेय नामकर्म हो तो जब ये साहब कहीं जाएँ तो घर में घुसने से पहले तो घर के सभी लोग कहते हैं, 'अरे! पधारिए, पधारिए, पधारिए, पधारिए।' अभी तो घर में घुसे भी नहीं है और सीढ़ियाँ चढ़ रहे हैं, उससे पहले तो घर के सभी लोग 'पधारो, पधारो' कहते हैं। अरे, ऐसा क्या है लेकिन? आदेय नामकर्म लेकर आए हैं। हमारे पास यह सामान भी है। उसके सामने अनादेय नामकर्म भी होता है वापस। अर्थात् अगर कोई सेठ हो, और उनका साला आए न, अब तीन महीने बाद आया है बेचारा, फिर भी सीढ़ियाँ चढ़ते समय कोई ऐसा नहीं कहता कि 'आइए'। वह अपने आप ही घर में आ जाता है। पचास साल की उम्र, कहना तो चाहिए न कि 'भाई, आओ?' पच्चीस साल का हो तो भी कहना पड़ता है 'भाई, आओ।' लेकिन ऐसा बोलते नहीं हैं। भाई वहाँ सीधे जाते हैं। तो इसके पीछे क्या इस सेठ का रोग है? तो कहते हैं, 'नहीं भाई! तो कहते हैं तेरा ही अनादेय रोग है, यह सेठ टेढ़ा नहीं है। इनका क्यों आदेय किया?' सेठ को स्वार्थी कहो या चाहे कुछ भी कहो लेकिन मूल रोग तो तेरा है, यह अनादेय। अर्थात् इस द्रव्यकर्म में जो है, उसमें अपना कुल-जाति वगैरह सबकुछ आ गया।

हम जहाँ भी जाएँ, वहाँ आदेय। हम किसी भी जगह पर, बचपन में भी आदेय नामकर्म के बिना नहीं रहे हैं क्योंकि पहले से ही निस्पृह! किसी भी चीज़ की ज़रूरत नहीं, परोपकारी। सभी प्रकार के गुण ऐसे ही थे न इसलिए। इस जन्म के गुण नहीं हैं, पिछले जन्म के गुणों से यह आदेय नामकर्म छप चुका है।

आदेय नामकर्म, अर्थात् वह जहाँ जाए, वहाँ लोग उसे 'आइए पधारिए, आइए पधारिए, आइए पधारिए' कहते हैं। अन्जान जगह पर जाए, वहाँ पर भी 'आइए पधारिए' कहते हैं।

हम जंगल में गए हों तो हमारे साथवाले तो सभी दंग रह जाते हैं। अरे, इसे क्या कहेंगे? यह व्यक्ति आपके लिए यहाँ पर गद्दी ले आया? भले ही वह कितनी भी फटी-टूटी हो लेकिन ऐसी जगह पर जहाँ कुछ भी न मिले, पत्ता भी न मिले ऐसा हो। मैंने कहा, 'यही आदेय नामकर्म है।' जहाँ देखो वहाँ सत्ता होती है, आगे से आगे।

हालांकि अगर मुझे नहीं बुलाएँ तो मुझे कोई परेशानी नहीं है। लेकिन दूसरे सब पाटीदारों को तो बुखार चढ़ जाता है। जाएँगे ही नहीं न वे।

प्रश्नकर्ता : लेकिन सब को ऐसा ही है। 'आइए' कहें तो सभी को अच्छा लगता है न!

दादाश्री : कहीं पर आव-भगत नहीं, आदर नहीं तो वहाँ फिर हमें तो लोग अवश्य ही 'आइए, आइए' कहते हैं, क्योंकि हम आदेयमान कहलाते हैं। आदेयमान अर्थात् क्या कि हम चाहे कहीं भी जाएँ, इंदिरा गांधी के वहाँ जाएँ और बाहर बिठाया हो लेकिन जब अंदर उनके सामने जाएँ और वे हमें देखें तो देखते ही, 'आइए पधारिए, पधारिए, पधारिए' कहेंगी। पहले नाम सुने तब मन में ऐसा होता है कि 'पधारिए'। फिर तो 'आइए पधारिए, आइए पधारिए।' इतनी गदगद हो जाएँ और अगर उनके परिवार के कोई पारसी आएँ, तो उन्हें ऐसे नहीं बुलाएँगी। दो तीन साल में आया हो, फिर भी यहाँ अंदर आए तो नहीं बुलाएँगी। वह अनादेय नामकर्म लेकर आया है। हम कहें कि, 'ये सेठ आए हैं।' तब भी वे उन्हें न बुलाएँ।

यह तो, कर्मों के खेल देखने में मज़ा आता है। कर्म क्या-क्या करते हैं, उसके बारे में क्या कह सकते हैं? ऐसे कई तरह-तरह के कर्म होते हैं।

यश-अपयश नामकर्म

फिर नामकर्म के साथ यशनाम कर्म होता है। यशनाम कर्म अर्थात् कोई भले ही कितने भी चक्कर लगाए और फिर हम से कहेगा 'मैं उनके लिए इतना करता हूँ, फिर भी मुझे अपयश देते हैं।' अरे भाई, तू लेकर आया है अपयश इसलिए अपयश ही देंगे न! तू भले ही कितने भी चक्कर लगा, फिर भी अपयश ही मिलेगा तुझे। तुझे यश नहीं मिलेगा।

और यदि कोई यशनाम कर्म लेकर आया होगा न, तो कुछ भी नहीं किया होगा, फिर भी उसे यश मिलता रहेगा। अत: वह जो लेकर आया है, वही मिलेगा न!

प्रश्नकर्ता : दूसरे संतों की तरह आपके पास भी कितने ही चमत्कारों की घटनाएँ मैंने देखी हैं। कुछ का तो मुझे खुद को भी अनुभव हुआ है। जिन्होंने आपको कभी देखा भी नहीं होता, फिर भी उन लोगों को आपकी फोटो पर से ऐसे कई चमत्कारों का अनुभव होता है। तो ऐसा क्या है आपके पास?

दादाश्री : मेरे पास चमत्कार है ही नहीं। मैं कोई जादूगर नहीं हूँ। मैं तो ऐसे चमत्कार करता ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : तो ऐसा कैसे होता है?

दादाश्री : ज्ञानीपुरुष हैं, इसलिए हमारा यशनाम कर्म बहुत बड़ा है। सिर्फ हाथ लगा दें, तब भी सामनेवाले का काम हो जाता है और कहता है 'दादा ने यह कर दिया।' मैंने नहीं किया होता, सिर्फ हाथ लगाने से काम हो जाता है।

और अपयश नामकर्म का मतलब क्या है? आप काम करो तो भी अपयश मिलता है, और मैं कुछ भी नहीं करूँ फिर भी यश मिलता रहता है। मैं कुछ करता नहीं हूँ। बिना बात के लोग यश देते रहते हैं, वह एक तरह का यशनाम कर्म है और लोग इसे चमत्कार मानते हैं। चमत्कार जैसी चीज़ इस दुनिया में है ही नहीं। उसकी मैं हंड्रेड परसेन्ट गारन्टी देता हूँ।

प्रश्नकर्ता : आप ऐसा कहते हैं, वही सब से बड़ा चमत्कार है। बाकी सब तो पूरा श्रेय ले लेते हैं कि हाँ हमने.....

दादाश्री : ऐसे सब लोगों में कुछ स्वार्थ रहा हुआ है, कोई न कोई स्वार्थ रहा हुआ है। मैं तो प्योर, जो है वही फेक्ट बात कहने आया हूँ। मैं तो जो 'है' उसे 'नहीं है' ऐसा नहीं कहता। जो 'नहीं है' उसे 'है,' ऐसा कभी भी मेरे मुँह से नहीं बोलता।

प्रश्नकर्ता : लेकिन दादा, जो संतपुरुष होते हैं और उनके पास ऐसी सिद्धि होती है कि किसी को यों ही कृपा से ठीक कर देते हैं तो वह क्या अहंकार से है?

दादाश्री : नहीं, वह तो ऐसा है न कि संतपुरुषों में हमेशा यश रेखा होती है। वो यश बहुत बड़ा होता है। हर किसी की क्षमता के अनुसार यह यश काम करता रहता है। किसी में अपयश होता है और किसी में यश होता है। वह यश इतना अधिक काम करता है, कि उनके हाथ लगाते ही काम हो जाता है सामनेवाले का। उसे यशनाम कर्म कहते हैं। बाकी तो इंसान कुछ कर सके ऐसा है ही नहीं, ज्ञानियों से कुछ भी नहीं हो सकता न!

प्रश्नकर्ता : नहीं, लेकिन कई संतपुरुष ऐसे होते हैं कि वे खुद की कृपा से दूसरों का रोग मिटा देते हैं।

दादाश्री : वह जो कृपा है, वही यशनाम कर्म है। वह जिसके पास है, उसी के पास है, सब के पास नहीं होती।

प्रश्नकर्ता : जिसे उपलब्ध हुआ हो, उसी के पास होती है।

दादाश्री : हाँ, हमारे पास ऐसा कुछ नहीं है। हमें तो सिर्फ इतना ही है कि सभी प्रकार का यश है ही। इसलिए तू अपनी तरह से लेता रहना नाम, तो तेरा हो जाएगा काम! हमें इसमें कोई लेना-देना नहीं है और यशनाम कर्म पूरा-पूरा है। कुछ भी नहीं किया हो तो भी यश यहाँ आकर खड़ा रहता है। मुझे यश नहीं चाहिए फिर भी यश तो आ जाता है। क्योंकि नामकर्म बहुत उच्च लाया हूँ। आदेय नामकर्म, यश नामकर्म वगैरह सभी प्रकार के नामकर्म उच्च लेकर आया हूँ।

अत: अपने लोग कहते हैं, 'दादा, आप तो बहुत तरह के चमत्कार करते हैं। हमारा ऐसा हो गया और आपने वह किया उसके बाद से हमारा वैसा हो गया है न!' मैंने कहा,

'अरे भाई, यदि मैं चमत्कार कर सकता, तो मुझे खुद को ही श्वास चढ़ता है, तो क्या मैं उसे नहीं मिटा देता?'

एक बार हमारे भादरण गाँव में गया था तो एक बयासी साल के चाचा थे, वे बहुत भक्ति भाववाले थे। तो वे मुझे देखते ही उल्लास में आ जाते थे, बयासी साल की उम्र में भी। फिर ऐसा पता चला कि 'मैं गाँव में आया हूँ' तो उनके मन में हुआ कि 'मैं घर में बैठा रहूँगा तो मुझे उनका चेहरा देखने में देर लगेगी' इसलिए रास्ते के बीच में बैठे रहे। ताकि हमारे गली में पहुँचते ही उन्हें दर्शन हो जाएँ न! इतने अधिक भाववाले तो फिर मैं वहाँ पर गया तो मेरे पैर पकड़ लिए, 'दादा भगवान, दादा भगवान!' तब मैंने ऐसे किया, ऐसे। पीठ थपकाने से क्या हुआ कि जैसे एक कहावत है, हवा चलने से खपरैल गिरी और उसे देखकर कुत्ता भोंका। लेकिन उन्हें क्या हुआ कि बारह साल से उन्हें पीठ का जो दर्द था, वह दूसरे दिन से ही मिट गया। तो उन्होंने पूरे गाँव में बता दिया कि 'दादा ने मेरा बारह साल का दर्द मिटा दिया, एक थपकी लगाते ही।' इससे फिर गाँव के लोग मेरे यहाँ आने लगे। और खास तौर पर जो दबाव डाल सकते थे, वे जल्दी आ गए। मुझे कहने लगे कि 'मेरा इतना तो कर ही दीजिए। मैंने कहा, 'आप समझो तो सही। जब मेरा जुलाब अटक जाता है, तब मैं फाकी लेता हूँ। तब जाकर उतरता है। इसलिए यह तो वह.....

प्रश्नकर्ता : कौए का बैठना और डाल का गिरना....

दादाश्री : हाँ, हाँ, बस। हमने तो एक बार थपकी लगाई और उसका ऐसा होना था, वह हो गया। यशनाम कर्म अर्थात् यश मिलता है। कुछ भी न करे, फिर भी इन्हें यश मिलता है। और फिर कितने ही लोगों का अपयश नामकर्म होता है। तो वे आपका सौ बार काम करें, तब भी आप कहते हो कि 'नहीं, वह कुछ भी नहीं करता है मेरे लिए।' ऐसा होता है या नहीं होता?

आपके सर्वस्व दु:ख मुझे सौंप जाओ, फिर अगर याद नहीं करोगे तो आपके पास नहीं आएँगे, उसकी मैं गारन्टी देता हूँ। आप याद करोगे तो वे वापस आ जाएँगे क्योंकि यशनाम कर्म लेकर आया हूँ। हाथ लगाते ही काम हो जाता है। निबेड़ा आ जाता है सभी का। यशनाम कर्म नहीं हों तो लोगों को उलझन हो जाए, बेचारों को!

प्रश्नकर्ता : यशनाम कर्म तो आप बहुत लेकर आए हैं।

दादाश्री : मैं भी देखता हूँ न और तभी तो इन लोगों को शांति रहती है, वर्ना कैसे रहे ऐसे दुषमकाल में, दु:ख–मुख्य काल!

अर्थात् एक बार यह ज्ञान होने से पहले एक व्यक्ति मुझसे कहने आया कि 'आपकीवजह से मेरा सारा काम हो गया।' तब मैंने कहा, 'भाई, मैं तो नहीं जानता। कौन सा काम हो गया? तब मुझसे कहने लगे 'वह तो आप यों ही कह रहे हैं। आप थे, तभी यह काम हुआ। आपने ही किया है यह।' 'भाई, मैंने नहीं किया, मैं कुछ नहीं जानता इसमें।' तब कहने लगे कि 'मेरी बेटी का कोई मेल नहीं बैठ रहा था, तो आपने फूँक मारकर बिठा दिया। आपने सिफारिश की।' तब मुझे विचार आया कि किसी व्यक्ति ने इसका काम किया होगा, तो यह पोटली उसे देने की बजाय, यहाँ पर देने आ गया। यह भूल हो गई है, इस व्यक्ति से। यह यश की पोटली, जिसने काम किया है, उसे देने के बजाय यहाँ देने आ गया वह। मैंने उसे कहा, 'भाई, यह मेरी पोटली नहीं है। यह काम किसी और ने किया है तो तू वहाँ जाकर दे आ।' तब कहने लगा 'मैं तो यह रखकर चला, आपने ही किया है।' दूसरे दिन उसका काम करनेवाला व्यक्ति मुझसे मिला, तब कहने लगा कि 'मैंने इसका कितना–कितना किया, फिर भी अपयश दे रहा है। वह पोटली मेरे पास से ले ली।' ऐसा तूफान चलता रहता है।

बचपन से ही, मेरे कुछ किए बिना भी लोग आकर मुझे दे जाते हैं और कैसे भी करके पोटली डाल ही जाते हैं। डालकर चले जाते हैं। तो उसमें क्या हो सकता है? इसलिए मैं समझ गया कि यह यशनाम कर्म है।

प्रश्नकर्ता : फिर उस पोटली का आप क्या करते हैं?

दादाश्री : कुछ भी नहीं, हम उसकी विधि करके वापस उसे सौंप देते हैं क्योंकि उसे हम रखते नहीं हैं। और हमने किया हो फिर भी हम नहीं रखते न! क्योंकि हम कर्ता हैं ही नहीं। सिर्फ निमित्त हैं बस! निमित्त, सिर्फ हाथ लगा इसलिए, वर्ना 'मैं' कोई हाथ भी नहीं हूँ और पैर भी नहीं हूँ। यह तेरे कर्म का उदय आया है और मेरा हाथ लगा। तुझे ठीक होना था और मेरा हाथ लगा। क्योंकि इतना ही है, मुझे यश मिलना था कि 'दादा ने ठीक कर

दिया यह।' ऐसा सब यश मिलता है, तब मुझसे कहते हैं कि 'आप कर रहे हैं।' मैंने कहा, 'ये सब, मैं कुछ नहीं करता हूँ, यश नामकर्म है।' ऐसा मैंने ज़ाहिर किया। अभी तक लोग ज़ाहिर नहीं करते थे। लोग ऐसा नहीं कहते कि 'हमारे यशनाम कर्म से है।' उस घड़ी जब लोग कहते हैं कि, 'आपने मुझे ठीक कर दिया।' तब उन्हें मज़ा आता है। वे मज़ा लेना छोड़ते नही हैं। इस मज़े को नहीं छोड़ते, इसलिए मोक्ष रह जाता है। यहाँ रास्ते में ही मुकाम किया, फिर मोक्ष रह जाएगा न! ध्येय?

प्रश्नकर्ता : रिलेटिव के कई प्रोब्लम होते हैं तो आपसे विधियाँ करवा जाते हैं और फिर वे फलती भी हैं।

दादाश्री : हाँ, मैं निमित्त हूँ। वे ये विधियाँ करवा जाते हैं न और ऐसा है न कि जिन देवों की वजह से यह काम होता है, उन्हें मैं पहचानता हूँ। जो निमित्त हैं, उन्हें फोन से खबर पहुँचा देता हूँ कि 'भाई, इनका यह दु:ख है तो मिटा दो,' बस। मेरे घर पर कोई बहीखाता नहीं है और दलाली भी नहीं हैं लेकिन मुझे ऐसा अंदर से संकेत हुआ था कि 'आप यह ज्ञान देंगे।' लेकिन इस काल में तो लोगों को बहुत दु:ख रहते हैं, उन दु:खों से वापस यह ज्ञान चला जाएगा न सभी का। तो इस संकेत के आधार पर यह मेरा यशनाम कर्म खिला होगा और उसी आधार पर मैं करता हूँ। वर्ना ज्ञानी कभी भी ऐसा नहीं करते। ज्ञानी ऐसी दखल नहीं करते, 'तुझे यदि मोक्ष में जाना हो तो सीधी बात कर, दूसरी कोई संसारी बात मत करना,' ऐसा ही कहते हैं। और अगर अभी ऐसा कहेंगे तो दूसरे दिन ही चला जाएगा बेचारा। लोग भी कहते हैं, 'नौकरी नहीं है और फिर ऊपर से आप ऐसा कह रहे हैं। लो हम तो चले अपने घर।' इसलिए मैं कहता हूँ, 'तेरे लिए विधि कर देता हूँ, इस ज्ञान को सँभालकर रखना'।

एक भाई का केन्सर ठीक हो गया। ठीक नहीं होता ऐसा भी नहीं है, ठीक हो भी जाता है लेकिन ठीक हो ही जाए, उसकी श्योरिटी नहीं है। यह क्या है, उसका मेरे साथ का हिसाब और मेरा यशनाम कर्म। नहीं तो भला केन्सर कहीं ठीक होता होगा?! केन्सर का मतलब ही है केन्सल। अब उनमें से पाँच प्रतिशत बच जाते हैं तो वह बात अलग है।

इसलिए हम कहते हैं न, यह हमारा यशनाम कर्म है। यह भारी नामकर्मवाला है, इसीलिए लोगों को ठीक हो जाता है। चमत्कार होता है न, क्योंकि भारी यशनाम कर्म है!

यश–अपयश किस आधार पर?

प्रश्नकर्ता : यशकर्म किसे मिलता है और अपयश कर्म किसे मिलता है, कैसा कुछ किया हो तब?

दादाश्री : हाँ। यशकर्म किसे मिलता है कि जिसे 'मेरा' करने की इच्छा नहीं है। कैसे सब लोगों का भला हो, कैसे सब लोगों को लाभ हो, इस प्रकार सब लोगों के लिए ही जीवन जीए न, तब यशनाम कर्म मिलता है और खुद के लिए जीवन जीए तो उसे अपयश नामकर्म। काम करने पर भी यश नहीं मिलता। जगत् तो काफी कुछ खुद के लिए ही जीता है न? वह तो, शायद ही कोई औरों के लिए जीता है न!

हमें यशनाम कर्म क्यों मिला है? सभी को हम संतोष देते हैं, उसी की वजह से इतना बड़ा यशनाम कर्म है, ज़बरदस्त यशनाम कर्म है। (ऐसा तो) होता ही नहीं है न! बहुत बारीकी से देखने की चीज़ है। अमरीका में जिनके यहाँ रहें न, उन्हें मेरी वजह से चार आने का भी नुकसान नहीं हों उसका ध्यान रखता हूँ और दूसरा कोई नुकसान कर रहा हो तो उसे कहता हूँ, मैं टोकता हूँ।

प्रश्नकर्ता : यशनाम कर्म है, उसमें और पुण्य के बीच तात्विक फर्क क्या है?

दादाश्री : बहुत फर्क है। पुण्य तो चाहे कितना भी हो फिर भी उन्हें यश नहीं मिलता। यशनाम कर्म तो, हम किसी के यहाँ अमरीका में घर–घर नहाते–धोते हैं लेकिन उनका ज़रा सा भी, दो आने का भी नुकसान न हो, वह हमारी *लक्ष* (जागृति) में रहता है। ऐसा कुछ हो तो वहाँ पर रुक जाते हैं हम। चाहे मालिक हाज़िर हो या न हो। हम खुद ही मालिक हों, उस तरह से रहते हैं सब जगह और आपको अगर थोड़ा सा भी दु:ख हुआ तो वह मुझे दु:ख होने के बराबर है। यह यशनाम कर्म उसी का फल है।

आपको दु:ख न हो, ऐसा निरंतर हमारे ध्यान में रहता है। पिछले जन्म में ऐसा सब रहा होगा उसी की वजह से यह सारा यशनाम कर्म है। उसके लिए कोई पुण्य नहीं करना पड़ता। पुण्य के लिए तो मेहनत करनी पड़ती है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन पुण्य के लिए ऐसा कहा गया है न कि सामनेवाले को सुख हो तब पुण्य का बंधन होता है।

दादाश्री : सामनेवाले को सुख हो या न भी हो लेकिन अगर सुख का भाव भी किया हो कि 'मुझे इन्हें सुख देना ही है,' ऐसा भाव किया, तभी से पुण्य की शुरुआत हो जाती है। फिर उस क्रिया के होने तक पुण्य बंधन होता है।

प्रश्नकर्ता : हाँ, तो यश नामकर्म का भी यही बताया है कि सामनेवाले को दु:ख न हो।

दादाश्री : नहीं, वह नहीं। सामनेवाले को दु:ख हो या न हो, उसके लिए तो थोड़ा बहुत यश तो मिलेगा लेकिन साथ में दूसरे अपयश लाया है न। किसी के यहाँ नहाने जाए और अंदर कुछ किसी चीज़ का अपव्यय हो तब वह कहता है 'हमें क्या? अपना क्या है?' जबकि मेरी दृष्टि में 'हमें क्या' शब्द है ही नहीं। आप सब तो 'हमें क्या' वाले हैं। हमारी दृष्टि में 'हमें क्या,' ऐसा नहीं है। एक-दो आने का भी अगर सामनेवाले को नुकसान हो तो मुझसे वह चीज़ देखी नहीं जाती। 'मुझे क्या' ऐसा नहीं रहता। 'सब मेरा ही है,' ऐसा रहे, तब लोग यश देते हैं, नहीं तो नहीं देते। वर्ना अपयश तो देते ही हैं। तेरा काम करूँ न, तब भी कहेगा 'जाने दो न! यों ही मेरा बिगाड़ रहे हैं। दादा ऐसे हैं कि बहका दें।' ऐसी तो है यह दुनिया! लोग मुझ से कहते हैं न, 'मुझे यश ही नहीं देते।' मैंने कहा, 'तुझे क्या दें?' बड़े आए यशवाले! यशवाले तो कितनी सँभाल रखते हैं! यश क्या यों ही मिल जाता है कहीं? सभी तीर्थंकर यशवाले थे, बहुत ही यशवाले थे वे तो! क्योंकि अगर सामनेवाले को दु:ख हो, तो वह दु:ख खुद को होने के बराबर था, इतना जागृतिपूर्वक का जीवन। और तू तो ऐसा कहता है कि वह तो अपने कर्म भोग रहा है। नहीं? पहले कहता था न?

प्रश्नकर्ता : ऐसा ही चल रहा था।

दादाश्री : लेकिन नियम ऐसा है कि जिसे अपयश मिलना हो, उसे यश नहीं मिलता। एक व्यक्ति ने पूछा कि 'यश कैसे मिलता है?' तब मैंने कहा कि ''कैसे किसी का भला हो, कैसे किसी का भला हो?' पूरा दिन लोगों का भला करने के भाव में ही बीते।'' वह भावना क्या थी कि इस जगत् में किसी का कुछ काम करो, किसी के काम आओ, ओब्लाइज़ करो वगैरह। अंत में अगर रुपए न हों तो पैर तो हैं न! किसी के लिए चक्कर नहीं लगा सकते? पैर हैं, और भी चीज़ें हैं, बुद्धि हो तो बुद्धि से 'ला, मैं तेरे लिए लिख दूँ,' ऐसा कह सकते हैं। इस भावना का फल है। उससे यशनाम कर्म बंधता है और अगर बुरा करने की भावना हो तो काम करने पर भी अपयश मिलेगा। फिर वह कहता है कि 'मैंने काम किया फिर भी मुझे अपयश दे रहे हैं।' अरे, तेरा अपयश लेकर आया है, इसलिए यह अपयश मिल रहा है। तुझे काम करना है और अपयश लेना है। समझने जैसी बात है न यह! कितनी नियनवाली बात है न! यानी कि उसकी मोमबत्ती में अपयश नाम का कर्म है।

जगत् कल्याण की भावना से उच्च कर्म

नामकर्म तो बहुत बड़ी चीज़ है। ऐसे तरह-तरह के नामकर्म हैं। ऐसे कितने ही प्रकार के कर्म होते हैं कि जिन कर्मों से उच्च नामकर्म बंधता है और ऐसे कर्म भी कि जिनसे नीच नामकर्म बंधता है।

प्रश्नकर्ता : उच्च नामकर्मवाले कौन से कर्म हैं?

दादाश्री : जगत् का कल्याण करना है वगैरह ऐसे उच्च विचार हों न, खुद के दुश्मन का भी कल्याण करने की भावना हो, ऐसा सब हो, तब उच्च नामकर्म मिलता है।

जगत् कल्याण की भावना बहुत काल से, बहुत जन्मों से करते आए हों, तो यशनाम कर्म बहुत बड़ा होता है। जगत् कल्याण की भावना में से ही यशनाम कर्म उत्पन्न होता है। जितनी उसे ऐसी इच्छा हो कि जगत् का कल्याण हो, लोगों को सुख हो तो उससे यशनाम कर्म बंधता है और जब दुनिया को परेशान करे, तब अपयश नामकर्म बंधता है।

वह था दादा का नामकर्म

हमारे पैर में फ्रेक्चर हुआ तो मैंने खोज की कि यह वेदनीय कर्म है या क्या है? वेदनीय कर्म होता तो उसी दिन से रोना आता और परेशानी हो जाती न? फिर मैंने पता लगाया, तब समझ में आया कि यह भूल नामकर्म में है।

नामकर्म में क्या–क्या आया कि शरीर के अंग–उपांग, हाइट वगैरह बहुत लंबे नहीं, बहुत ठिगने भी नहीं, नोर्मेलिटी। नामकर्म में अंग–उपांग सभी सुडौल होने चाहिए न, उसमें इतनी कमी ला दी है। वेदनीय नहीं है यह। मैंने खोज की तो वह मैंने आपसे कहा नहीं था? यह नामकर्म है। लोग समझते कि यह तो वेदना नहीं आई, न ही और कुछ हुआ तो यह क्या हुआ? नामकर्म में कुछ भूल हो गई है। अब यह मेरे कौन से कर्म का हिसाब है, ऐसा ढूँढ निकालना पड़ेगा न? ऐसी क्या भूल रह गई कि यह हिसाब आया?

डॉक्टर के कहे अनुसार ऐसे में लाचार हो जाते हैं। इसमें तो कुछ हुआ ही नहीं न! सभी डॉक्टरों ने हमें हँसता हुआ ही पाया। और डॉक्टर ने दूसरे डॉक्टरों को भेजा कि 'जाओ, देखकर आओ निरावृत(खुला) आत्मा।' इससे आपको समझ में आया कि यह वेदनीय कर्म नहीं है, नामकर्म है। गोत्रकर्म भी नहीं है। गोत्रकर्म में कुछ कमी होती न, तो दर्शन करने में कितने ही महात्माओं का मन पीछे हट जाता, लोकपूज्यता कम हो जाती। इससे तो बल्कि लोकपूज्यता बढ़ी।

[2.8] गोत्रकर्म

लोकपूज्य, लोकनिंद्य गोत्र

कितने हुए?

प्रश्नकर्ता : छ:

दादाश्री : अब सातवाँ है गोत्रकर्म, वह भी मोमबत्ती में लेकर आए है।

यहाँ पर जो सब लोग आते हैं, वे मुझे नमस्कार करके बैठते हैं न? मुझे क्या कहने जाना पड़ता है? वह कौन करवाता है? गोत्रकर्म करवाता है। यह उच्च गोत्र होता है। और

कोई आया तो, 'तू क्यों आया है? तू चला जा यहाँ से।' वहाँ पर नीच गोत्र है। गोत्रकर्म, वह तो द्रव्यकर्म कहलाता है।

अब उच्च गोत्र हो, तो वह लोकपूज्य होता है। लोग तारीफ करें, ऐसा गोत्र होता है। और नीच गोत्र का मतलब क्या है? लोग निंदा करते हैं उसकी। उस गोत्र की निंदा करते हैं। लोग नहीं कहते हैं कि 'अरे भाई, हलके लोगों के साथ खड़े मत रहना।' और दूसरा है, अगर अच्छे परिवार में जन्म हुआ हो तो उसे उसका अहंकार रहता है। खराब परिवार में जन्म हुआ हो तो उसके मन में ऐसा होता रहता है कि 'हम हल्के हैं।' ये सभी द्रव्यकर्म हैं।

अब इस शरीर में गोत्रकर्म हैं। लोग कहते हैं ये 'रणछोड़ हरगोविंद के बेटे के बेटे हैं,'तो लोग समझते हैं कि 'ओहोहो! लोकपूज्य हैं।' लोग समझते हैं कि 'ये कोई बहुत बड़े आदमी आए हैं।' इसे लोकपूज्य कहते हैं। अब लोकपूज्य गोत्र यहाँ पर है ही नहीं। लोकपूज्य गोत्र तो किसे कहते हैं कि, वे संसार व्यवहार में बड़े माने जाएँ। ये सब द्रव्यकर्म हैं। यह शरीर बना, वह द्रव्यकर्म है।

अब आज-कल तो गोत्र का अर्थ रहा ही नहीं। फिर भी लोग कहते हैं, हम इस गोत्र के, इस गोत्र के। उच्च गोत्र का अर्थ भगवान ने कुछ और बताया है जबकि लोग खुद की भाषा में ले गए। उच्च गोत्र का अर्थ है लोकपूज्य। वह आप में भी है कुछ अंशों तक। आपके सगे-संबंधियों में भी थोड़े बहुत अंशों में होता है। संपूर्ण लोकपूज्य तो ज्ञानीपुरुष होते हैं, तीर्थंकर होते हैं। उनके अलावा कोई भी संपूर्ण लोकपूज्य नहीं होता। ज्ञानीपुरुष और तीर्थंकर जब जा रहे हों न, तो लोग पीछे से भी नमस्कार करते रहते हैं।

और फिर गोत्रकर्म में या तो प्रख्यात होता है या फिर निंदित होता है। कोई अगर इन साहब के बारे में ऐसी कुछ बात करने लगे तो दूसरा व्यक्ति कहता है, 'नहीं, उससे दोष लगेगा, ऐसा नहीं बोलना चाहिए।' उनके पीठ पीछे भी ऐसा कहता है। लोकपूज्य की अनुपस्थिति में भी लोग क्या कहते हैं? 'ऐसा मत कहना, मत कहना, बुरा दिखेगा, गलत है।' ऐसे लोकपूज्य बनो। लोग निंदा करना बंद कर दें। और अपना ज्ञान है, तो ऐसा बना जा सकता है। नहीं तो नहीं बना जा सकता। यह ज्ञान ही ऐसा है। आपको लगता है कि इस ज्ञान से इस स्थिति तक पहुँच पाएँगे?

दो–पाँच लोग अगर कुछ उल्टा बोलें तो वे तो उनके राग–द्वेष के परिणाम हैं। निंद्य को तो सभी लोग कहते हैं 'जाने दो न!' वह लोकनिंद्य है। अच्छे कर्म करने पर भी कहेंगे, 'जाने दो न, नाम ही मत लो।' ऐसे लोग लोकिनिंद्य कहलाते हैं। लोग निंदा करते हैं बेचारे की। कोई अच्छा काम करने जाएँ, फिर भी वे निंदा के घेरे में आ जाते हैं। 'अरे, इसी ने बिगाड़ा होगा और कोई बिगाड़ ही नहीं सकता' कहते हैं। 'अरे भाई, इसने कुछ नहीं किया है।' फिर भी कहते हैं 'नहीं'। सबकुछ उसी के सिर।

अर्थात् लोकपूज्य और दूसरे लोकनिंद्य, यहाँ पर अहमदाबाद में क्या कोई लोकनिंद्य इंसान नहीं होगा? कोई निंदा करनी पड़े ऐसे लोग नहीं होंगे?

प्रश्नकर्ता : होंगे तो सही।

दादाश्री : कितने? पाँच-दस प्रतिशत?

प्रश्नकर्ता : ज़्यादा होंगे।

दादाश्री : बारह प्रतिशत? वर्ना लोग बेकार नहीं है निंदा करने के लिए लेकिन अगर वह शराब पीता हो, मांसाहार करता हो, जुआ खेलता हो, ऐसा सब करता हो, तो लोग निंदा करेंगे या नहीं करेंगे? इसे लोकनिंद्य पुरुष कहते हैं।

गोत्र का अंहकार होते ही भावकर्म चार्ज

उच्च गोत्र, नीच गोत्र वगैरह सब द्रव्यकर्म हैं। अत: यह सब उसे फ्री ऑफ कॉस्ट मिला है, द्रव्यकर्म के आधार पर। उच्च गोत्र के कारण वह वापस ऐसे अकड़ जाता है। उसे वापस इगोइज़म चढ़ जाता है और नीच गोत्रवाले में नीच गोत्र की इन्फिरियारिटी घुस जाती है। नीच गोत्रवाले को इन्फिरियारिटी में रहने की ज़रूरत नहीं है, इसे इगोइज़म करने की ज़रूरत नहीं है लेकिन फिर ये दोनों ही भावकर्म कहलाते हैं।

अभी तक कहते थे न, 'हम कैसे कुलवान, हम लोकपूज्य!' तब फिर कुछ लोग तो मानते हैं कि 'हम हल्की जाति के हैं' वे लोकिनिंद्य इंसान, वे हम नहीं हैं। ये सारे देहाध्यास हैं। इनमें से कुछ भी अपना नहीं है। अत: पूर्व के घमंड-वमंड उतार दो और यदि हल्की जात का है तो उसका हल्कापन छोड़ दे तू। इन्फिरियारिटी कॉम्पलेक्स छोड़ दे और सुपीरियारिटी, दोनों ही छोड़ दे। ये तेरी नहीं हैं। अब वे गोत्रकर्म लेकर आए हैं इसीलिए उसमें से 'उन्हें' भावकर्म उत्पन्न होते हैं।

ये दादा लोकपूज्य माने जाते हैं क्योंकि वे उच्च गोत्रकर्म बाँधकर लाए हैं। वे भी यहीं पर खपा देने पड़ेंगे। वे भी कहीं साथ में आनेवाले नहीं है। यश-अपयश भी साथ में नहीं

आनेवाला। अगर पूज्यता और लोकपूज्यता में फँस गया तो फिर मोक्ष नहीं होगा कभी भी।

लोकपूज्य यानी क्या कि हम जा रहे हों न, तो पीछे से लोग ऐसे जय-जय करते हैं। ओढ़कर सो गए हों न, तो भी लोग ऐसे-ऐसे करके दर्शन करके जाते हैं। उनसे पूछो 'भाई, किसने नोट किया?' तब कहते हैं, 'वह देखने की ज़रूरत नहीं है। ये तो लोकपूज्य हैं!' यानी कि ऐसा लोकपूज्यपना लेकर आया हुआ हूँ कि अन्जान इंसान के साथ भी अगर गाड़ी में दो-चार घंटें सत्संग हो गया कि उसे पूज्यता उत्पन्न हो जाती है। उसे लोकपूज्यपना कहते हैं। यह उच्च गोत्रकर्म कहलाता है। कदाचित ही जगत् में लोकपूज्य लोग होते हैं। जगत् में लोकपूज्य लोग नहीं होते, बाकी सबकुछ होता है। कदाचित ही होते हैं और यदि मिल जाएँ तो काम निकल जाए अपना।

किसी बड़े मंत्री की लोकपूज्यता नहीं है। कोई पुलिसवाला दिखे तो कहेगा, 'साहब, आइए, आइए।' तो वह कहाँ से बोल रहा है? जाने के बाद कहेगा, 'जाने दो, जाने दो यहाँ से।' भय के मारे पूजते हैं लोग। किसलिए? कहीं मुश्किल में फँस जाएँ, उसके बजाय इन्हें सलाम कर लो न! एक प्रकार का भय ही है न?

जो लोकनिंद्य नहीं है, वह लोकपूज्य है इस काल में

अभी यह काल विचित्र है अत: जो लोकपूज्य नहीं है और लोकिनिंद्य भी नहीं है उसे भगवान ने लोकपूज्य की तरह एक्सेप्ट किया है। यानी कि निंद्य नहीं होना चाहिए। निंद्य में आया कि खत्म हो गया।

अत: इस काल में हमने हमारे स्वतंत्र मत का उपयोग किया है। जो लोकनंद्य नहीं है, इस काल में वह लोकपूज्य है। तीर्थंकरों ने जिन्हें लोकपूज्य कहा है, वह तो किसी खास काल के आधार पर कहा है। इस काल में हम क्या कहते हैं कि जो लोकनिंद्य नहीं है, उसे हम लोकपूज्य कहते हैं। उसकी ज़िम्मेदारी हम अपने सिर पर ले लेते हैं। अत: लोकनिंद्य मत बनना। भले ही लोकपूज्य नहीं हुआ जा सके, नहीं हुआ जा सकेगा, बहुत मुश्किल होगी उसमें तो, लेकिन निंद्य नहीं हो जाए तो उत्तम बात है। लोकनिंद्य नहीं होना चाहिए।

तो चाहे लोकपूज्यता नहीं है आपकी लेकिन यह काल ऐसा है कि ऐसी कठिन परीक्षा ली जाती है। अत: आपके इतने मार्क्स बढ़ा दिए जाएँगे और भगवान भी बढ़ा देंगे, मैं कहता हूँ इसलिए। क्योंकि मैं निष्पक्षपाती रूप से कहता हूँ। मुझे इसमें कोई भी पक्षपात नहीं है। लेकिन अगर तुम्हारे लोकनिंद्य कार्य बंद हो जाएँगे, तो आपका लोकपूज्य में समावेश होगा। भले ही पूजे नहीं जाते फिर भी लोकपूज्य की श्रेणी में आ गए। क्योंकि परीक्षा कठिन है। इसलिए मैंने यह बीच का पद बताया है।

इस काल में लोकपूज्य कम होते हैं। इसलिए दूसरी श्रेणी बताई है कि जो लोकनिंद्य नहीं होंगे उन्हें इस प्रकार से लोकपूज्य मानेंगे। गलतियाँ हो गई हों तो वापस नए सिरे से शुरुआत करेंगे। तो आज अपने से ऐसे कार्य न हों कि जो लोकनिंद्य में आएँ तो बहुत अच्छा कहलाएगा न?

और लोगों में जो लोकपूज्य दिखाई देते हैं न, वे ठीक तरह से नहीं चलते इसलिए वे लोकपूज्य नहीं माने जाएँगे लेकिन उन्हें ऐसा कहा जा सकता है कि ये लोकनिंद्य नहीं हैं। लोकपूज्य कहने जाएँगे तो ये सब कहेंगे कि 'हम लोकपूज्य हैं, हम लोकपूज्य हैं।' सभी पकड़ लेंगे। लोकपूज्य तो हिंदुस्तान में दो या पाँच लोग ही हैं। लोकपूज्य तो होते होंगे? बाकी सब ऐसी क्वॉलिटी के हैं कि लोकनिंद्य हैं। तीसरे प्रकार के ऐसे लोग ज़्यादा हैं कि जो लोकनिंद्य नहीं हैं लेकिन पूज्य तो हैं ही नहीं। पूज्य तो, पत्नी भी नहीं पूजती, घर का कोई बच्चा भी नहीं सुनता तो बाहरवाले कौन पूजेंगे? शिष्य नहीं सुनते तो बाहरवाला कौन पूजेगा?

यह तीसरा वाक्य तुझे पसंद आया? यह खोज है दादा की। वर्ना अभी तो जगह-जगह पर लोकनिंद्य ही हैं न! कुछ न कुछ निंदा होती ही रहती है आज तो। आप को समझ में आया सब? नया शास्त्र निकला है यह।

प्रश्नकर्ता : नेगेटिव नहीं, पॉज़िटिव है सीधा।

दादाश्री : वह पॉज़िटिव में है इसलिए लोकपूज्य ही है। ऐसे पॉज़िटिव हैं न सभी। यह सब अपने सेठ वगैरह सब पॉज़िटिववाले हैं अत: वे निंद्य नहीं हैं। व्यसन से निंद्य हो गए हैं या फिर संग खराब होता है। जो लोगों को डराते हैं, वे विकारी इंसान की तरह........

प्रश्नकर्ता : पहचाने जाते हैं।

दादाश्री : हाँ, वे लोकपूज्य में नहीं आते। अत: मॉरल बाइन्डिंग होना चाहिए। अर्थात् वह है लोकपूज्य। अभी हमने लोकपूज्य का बड़ा अर्थ निकाला, वर्ना तो अभी कोई लोकपूज्य माना ही नहीं जाता न! है ही नहीं न कोई ऐसा इंसान! इसलिए आसान कर दिया। जो लोकनिंद्य नहीं माने जाते, वे ही लोकपूज्य हैं अभी।

दर्शन से ही बंध गया तीर्थंकर गोत्र

प्रश्नकर्ता : अभी कौन से कर्म ऐसे हैं कि जिनके लिए कह सकते हैं कि यह नामकर्म है या यह गोत्रकर्म है?

दादाश्री : हम यहाँ पर दान वगैरह देते हैं, ऐसे सब सतकर्म करते हैं न? वह सारा नामकर्म में आता है। भाव से लोगों का कल्याण करना हो तो गोत्रकर्म कहलाता है।

श्रेणिक राजा को महावीर भगवान के सिर्फ दर्शन करने से ही तीर्थंकर गोत्र बंध गया था और ऐसे भी जीव हैं जो उन्हीं भगवान महावीर के पास आकर अनंत अवतारी बने क्योंकि भगवान के दर्शन करते समय मशीन उल्टी घूमी तो उससे अनंत अवतार हो गए!

वे श्रेणिक राजा, अगली चौबीसी के पद्मनाभ नामक पहले तीर्थंकर बनेंगे! भगवान के दर्शन मात्र से ही! अब उस घड़ी दर्शन तो बहुत सारे लोगों ने किए थे न! लेकिन नहीं, श्रेणिक राजा को पहले किसी गुरु महाराज ने जो दृष्टि दी थी न, वह दृष्टि और यह दर्शन, दोनों एक साथ हुए तो तुरंत ही तीर्थंकर गोत्र बंध गया!

[2.9] आयुष्य कर्म

देह में बाँधे रखे, वह आयुष्य कर्म

मोमबत्ती में ये कौन से नंबर का हो गया?

प्रश्नकर्ता : सातवाँ।

दादाश्री : अब बचा आठवाँ। मोमबत्ती खत्म होनी है वह तय है, ऐसा आप जानते हो?! जलाने के बाद आप जानते हो न कि खत्म हो जाएगी!

प्रश्नकर्ता : हाँ, वह खत्म तो होगी ही।

दादाश्री : ऐसा आप कैसे जानते हो कि खत्म हो जाएगी?

प्रश्नकर्ता : यों धीरे-धीरे कम होती जाती है।

दादाश्री : धीरे-धीरे कम होती जाती है इसलिए यह खत्म हो जाएगी। इस तरह जवानी में जो आयुष्य था, वह धीरे-धीरे झुर्रियाँ पड़ते-पड़ते-पड़ते खत्म होने की तरफ जा रहा है। यह आयुष्य कर्म है।

अब द्रव्यकर्म किसे कहते हैं? इस शरीर में जो आयुष्य कर्म है, वह द्रव्यकर्म कहलाता है। यह सारे कर्मों को कुछ काल तक हिलने ही नहीं देता। इन सभी कर्मों को भोगने पर ही छुटकारा होता है। यह है आयुष्य कर्म। इसी तरह से कुछ सालों तक शरीर में बाँधकर रखता है। अगर छूटना हो तो भी नहीं छूटने देता। एक तरह की जेल है। वह भी हमें बाँधकर रखती है कि इसमें से छूटना नहीं है। टाइम होने पर छूट जाएँगे, उसे कहते हैं आयुष्य कर्म। केवलज्ञान होने पर भी नहीं छोड़ता।

प्रश्नकर्ता : केवलज्ञान होने के बाद भी कुछ समय तक शरीर रह सकता है?

दादाश्री : अच्छी तरह रहता है, कहाँ जाएगा? आयुष्य कर्म पूरा हो जाने पर शरीर छूट जाता है। भगवान महावीर को लगभग बयालीस साल की उम्र में केवलज्ञान हुआ था। बहत्तर साल तक जीए। वे तीस साल खुद का आयुष्य कर्म पूरा करने के लिए थे। कोई चारा ही नहीं न! वह छोड़ता ही नहीं है न! वह बंधन है एक तरह का। हम लंबे आयुष्य की भावना क्यों रखते हैं? लोगों के, जगत् कल्याण के लिए। आप सब के संसारी सुख के लिए नहीं, लोगों का कल्याण हो, अपना कल्याण हो ऐसा!

शरीर मरता है, 'खुद' नहीं

आयुष्य कर्म क्या काम करता होगा? 'हम' 'आत्मा' के रूप में अमर हैं। इसके बावजूद भी ऐसा भान है कि 'मैं चंदूभाई हूँ।' मूर्च्छित भाव है, इसलिए उसे ऐसा लगता है 'मैं मर जाऊँगा।' खुद का स्वरूप मरे ऐसा नहीं है। अमर है लेकिन उसका भान नहीं है, यानी कि ऐसा मानता है कि यह जो मर जाता है वैसे स्वरूप में 'मैं हूँ।' पूरा जगत् ऐसा ही मानता है और वह खुद भी ऐसा ही मानता है और साधु-साध्वी भी मानते हैं न और उनके आचार्य भी ऐसा मानते हैं कि मैं मर जाऊँगा, मैं मर जाऊँगा। अरे भाई, आप कैसे मर जाओगे? शरीर मरेगा। जिसकी अर्थी निकालेंगे, वह मरेगा। आप कैसे मर सकते हो? तो कहते हैं, 'नहीं, मैं मर जाऊँगा। डॉक्टर साहब, मुझे बचाना।' अरे, डॉक्टर की बहन मर गई और डॉक्टर के पिताजी भी मर गए हैं। डॉक्टर साहब कैसे बचाएँगे? डॉक्टर की बहन नहीं मर गई थीं? अत: यह जो है वह आयुष्य कर्म है।

पुण्य के आधार पर लंबा या छोटा आयुष्य

कोई पचास साल की उम्र में मर जाता है, कोई तीस साल की उम्र में मर जाता है और कोई नब्बे साल का भी हो जाता है। यह आयुष्य के आधार पर है। आयुष्य का छोटा या लंबा होना, यह सब द्रव्यकर्म है।

कितने ही प्रकार के पुण्य हों तब जाकर आयुष्य लंबा होता है उसका, नहीं तो आयुष्य कर्म छोटा होता है। जबकि लोग क्या कहते हैं कि जिनकी यहाँ पर ज़रूरत है, उनकी वहाँ पर भी ज़रूरत है। ऐसी सब बातें करते हैं।

यह है आयुष्य स्थिति। पुण्यशालियों का आयुष्य लंबा होता है। ज़रा कम पुण्य हो तो आयुष्य बीच रास्ते में टूट जाता है। अब अगर कोई व्यक्ति बहुत पापी हो और उसका आयुष्य लंबा हो तो हमें लगता है कि, 'ओहोहो! पापी इंसान और इतना लंबा आयुष्य!' हम अगर भगवान से पूछें कि 'पापी का आयुष्य कितना हो तो अच्छा माना जाएगा?' तब वे कहते हैं 'जितना कम जीए उतना अच्छा' क्योंकि वह पाप के ऐसे संयोगों में है। अगर वह कम जीएगा तो वे उसके संयोग बदलेंगे। लेकिन वह कम नहीं जीता है! यह तो लेवल निकालने के लिए हमसे पूछते हैं। सौ साल भी पूरे करे और इतने सारे पाप के दौने इकट्ठे करके कितनी ही गहराई में जाएगा, यह तो वही जाने और जो पुण्यशाली व्यक्ति है, वह ज़्यादा जीए तो बहुत अच्छा है।

कर्म के ताबे में है विल पावर

प्रश्नकर्ता : तो दादा, क्या आयुष्य के लिए विल पावर काम करती है?

दादाश्री : नहीं, विल पावर तो कर्म के साथ एडजस्ट (अनुकूल) हो जाती है। विल पावर के ताबे में नहीं है यह कर्म। कर्म के ताबे में विल पावर है। अत: सभी लोग कहते हैं कि मेरी विल पावर है। अरे, लेकिन कर्म के ताबे में है तेरी विल पावर। अत: अपने हाथ में सत्ता नहीं है। एक जन्म की सत्ता गई। दूसरे जन्म में बदली जा सकती है।

मृत्यु है कर्मों का सार

प्रश्नकर्ता : मृत्यु का स्थल और समय, वगैरह निश्चित होता है?

दादाश्री : निश्चित के बिना तो हो ही नहीं सकता। मुख्य तो इसमें समय निश्चित होता है और उस समय जो स्थान प्राप्त होता है उस स्थान को....

प्रश्नकर्ता : यह कौन तय करता है?

दादाश्री : तय करनेवाला, किसी के हाथ में है ही नहीं यह। यह परिणाम है। परिणाम में तय नहीं करना होता। रिज़ल्ट में तय करना होता है?

प्रश्नकर्ता : अत: जैसे हमारे पिछले कर्म होंगे, उसी अनुसार तय होकर आता है?

दादाश्री : अपने जो कर्म हैं न, उनका सार निकलता है।

प्रश्नकर्ता : शरीर के कितने द्रव्यकर्म भोगने बाकी रहे, वह जाना जा सकता है क्या?

दादाश्री : जितने काले बाल चले गए, वे फिर से नहीं आएँगे अब। वे सब भोग लिए गए। अब ये जो सफेद हैं, वे बाकी बचे हैं। वे जितने भोग लिए जाएँगे, उतने चले जाएँगे। ये दाँत धीरे-धीरे भोग लिए गए, आँखें भोग ली जाती हैं, कान भोग लिए जाते हैं, सबकुछ भोग लिया जाता है। शरीर को भोगता है धीरे-धीरे, त्वचा लटकने लगेगी। ऐसे करते-करते यह मोमबत्ती खत्म हो जाएगी।

आयुष्य श्वासोच्छ्वास के अधीन

यह सारा जो आयुष्य है वह वर्षों (सालों) के आधार पर नहीं है। आयुष्य श्वास के आधार पर है। इन लोगों ने तो ये वर्ष कैल्क्यूलेशन से निकाले हैं कि सामान्य व्यक्ति के इतने श्वासोच्छ्वास होते हैं, उस पर से कैल्क्यूलेशन करके ये सालों का हिसाब निकाला है। यह श्वासोच्छ्वास...आप जैसा दुरुपयोग करो, यदि चोरी करो तो श्वास अधिक खर्च हो जाएँगे और कुचारित्र में बहुत आयुष्य खर्च हो जाता है। यहाँ पर (सत्संग में) श्वासोच्छ्वास कम खर्च होते हैं न, तो यहाँ पर लंबे समय तक जीते हैं।

प्रश्नकर्ता : जीव आयुष्य बंध के साथ ही जन्म लेता है न? तो अगर आयुष्य ऐसा हो सकता है तो क्या पूर्वबंध का सिद्धांत खत्म हो जाता है?

दादाश्री : नहीं, आयुष्य का अर्थात् वर्षों का बंध नहीं है, इतने श्वासोच्छ्वास का नियम है। इन हिसाब लगानेवालों ने क्या खोज की? इतने करोड़, इतने अरब श्वासोच्छ्वास हैं,

वह इसका आयुष्य और उस पर से, हर रोज़ एक तंदरुस्त व्यक्ति के इतने श्वासोच्छ्वास खर्च हो जाते हैं। तंदरुस्त व्यक्ति के, अबव नॉर्मल नहीं, बिलो नॉर्मल नहीं, ऐसे व्यक्ति के इतने श्वासोच्छ्वास खर्च हो जाते हैं, उस हिसाब से इन्होंने वर्ष निकाले। यह श्वासोच्छ्वास रूपी आयुष्य तो तय ही है! इन श्वासोच्छ्वास को फ्रेक्चर करना उसके हाथ में है। साल कम–ज़्यादा हो सकते हैं। जिसमें यह श्वासोच्छ्वास ज़्यादा खर्च होते हैं, ऐसे कर्म करने से आयु के साल कम होते जाते हैं। और जिन कर्मों में श्वासोच्छ्वास कम खर्च हों तो ऐसे कर्म करने से ज़्यादा सालों तक जी सकता है।

प्रश्नकर्ता : ऐसा कहा गया है कि आयुष्य की लंबाई श्वसोच्छ्वास पर निर्भर है, तो एक सेकन्ड में इतने श्वासोच्छ्वास होते हैं तो क्या उन्हें कोईं कम–ज़्यादा कर सकता है?

दादाश्री : हाँ, सब से ज़्यादा श्वासोच्छ्वास खर्च हो जाते हैं परस्त्रीगमन में। एक ही बार के परस्त्रीगमन में तो साल भर की आयु खत्म हो जाती है।

जब से *अणहक्क* (बिना हक़ का, अवैध) का विषय भोगने का विचार मन में आए न, तभी से सब संजोग मिलने पर अंदर तड़फड़ाहट उत्पन्न होती है। उससे आयुष्य की डोरी एकदम तेज़ी से खुल जाती है। सेकन्ड नंबर पर हक्क का विषय, उसमें भी श्वासोच्छ्वास खर्च हो जाते हैं। फिर क्रोध में बहुत ज़बरदस्त खर्च होते हैं। उसके सामने जो निर्विषयी हो गया है या खुद की स्त्री के प्रति ही, एक ही हो और लिमिटेड हो और अगर क्रोध नहीं करता है और ठंडे स्वभाव का है तो आयु के साल बढ़ जाते हैं। लोभ से आयु कम नहीं होती। लोभ से बढ़ती है। लोभी व्यक्ति कम विषयी होता है! उसे पैसे की बात आई कि कान तैयार! आयु के सालों में कमी या बढ़ोतरी होती है, आयु में बदलाव नहीं होता। आयु तो श्वासोच्छ्वास पर आधारित है।

अच्छे लोगों का आयुष्य कम

अच्छा उपयोग हो और ज़्यादा साल जीए तो काम ही निकाल देगा न। उसे उच्च आयुष्य कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : मैंने ऐसा सुना है कि जो अच्छे लोग होते हैं, वे जल्दी मर जाते हैं और जो खराब लोग होते हैं, वे पाप करने के लिए बहुत सालों तक जीते हैं, तो क्या यह सही है?

दादाश्री : गलत बात है। जिसका आयुष्य कम होता है, वह मर जाता है। आयुष्य किसका कम होता है? जिसने पाप किए हों उसका। जिसने पुण्य किए हों, उसका आयुष्य लंबा होता है। सभी लोग जीने का प्रयत्न करते हैं लेकिन फिर उससे क्या हो सकता है!

प्रश्नकर्ता : यों तो संतों की दशा बहुत उच्च होती है फिर भी उनका आयुष्य कम! ऐसा कैसे?

दादाश्री : पिछले जन्म में जो कुछ भी कर्म किए थे, उस वजह से।

प्रश्नकर्ता : तो फिर उनके जीवन ऐसे उच्च प्रकार के कैसे थे?

दादाश्री : वह तो एक तरफ पुण्य भी होता है और दूसरी तरफ पाप भी रहता है। आयुष्य कर्म तो पूरा ही पिछले जन्म में बंध गया था। उसे अभी भोग रहे हैं। डिस्चार्ज होता रहता है।

जगत् का पुण्य कच्चा, इसलिए ज्ञानी अल्पायु

प्रश्नकर्ता : कृपालुदेव का आयुष्य तैंतीस साल का ही क्यों? ऐसे पुरुषों का आयुष्य तो लंबा होना चाहिए।

दादाश्री : वह तो, इस काल के आधार पर ये आयुष्य कर्म काफी कम ही होते हैं। इस काल का दबाव बहुत है, ज़बरदस्त! इसलिए आयुष्य ज़रूरत के मुताबिक नहीं होता, दूसरी सारी पुण्य प्रकृति होती है। लेकिन अन्य चीज़ों में बँट जाती है और सिर्फ आयुष्य में ही कम पड़ जाती है। कृपालुदेव तो ज्ञानीपुरुष कहलाते हैं।

और दूसरा, लोगों का पुण्य परिपक्व नहीं होता। दोनों अवसर मिलें तब ऐसा योग बैठता है। पुण्य जागृत हो तब! ज्ञानीपुरुष के लिए तो जीना या मरना, इससे कोई भी लेना-देना नहीं है। इन सभी महान पुरुषों में से कृपालुदेव ज्ञानीपुरुष कहलाते हैं। बाकी के सभी ज्ञानी नहीं कहलाते। बाकी के सभी शास्त्रज्ञानी कहलाते हैं और ये आत्मज्ञानी कहलाते हैं। उन्हें जीने-मरने जैसा कुछ रहता ही नहीं।

दादा का आयुष्य

हमारे चारों ही कर्म बहुत उच्च हैं। बहुत उच्च प्रकार के हैं। देखो न, जी रहे हैं न, अठहत्तर साल तक! यही तो प्रमाण है। अभी तो और भी जीएँगे, तब देख लेंगे। यह तो एक्ज़ेक्ट हो गया न अठहत्तरवाँ। उसमें कम नहीं करेंगे न या अभी भी कर सकते हैं कम? इस काल में पचास साल की उम्र के बाद जीना बोनस कहलाता है। डॉक्टर कहते हैं, 'अभी तो दस-पंद्रह साल निकालेंगे,' और ये तो और भी अधिक कह रहे हैं, उससे भी अधिक। नहीं?

आज-कल बढ़े हैं आयुष्य लोगों के

प्रश्नकर्ता : एक बहन हैं, वे दो महीनों से बेहोश हैं, कोमा में हैं। अब यों तो उनका आयुष्य इतना बाकी है इसलिए अभी तक जी रही हैं, साँसें चल रही हैं लेकिन उनका द्रव्यकर्म तो कुछ भी नहीं रहा। सिर्फ कोमा में ही, बेहोशी की अवस्था में ही है।

दादाश्री : नहीं, यह वेदना भोग रही हैं। यह वेदनीय कर्म है। द्रव्यकर्म का उदय हो, तभी वेदनीय हो सकता है न? वे द्रव्यकर्म के वेदनीय कर्म में हैं अभी। वेदनीय कर्म वेद ही रही हैं।

लोग कौन सी बुद्धि पर खेल रहे हैं। वहाँ पर जाना तय है। और वह भी फिर मुद्दत पूरी करके नहीं। पैंतालीस साल का, पचास साल का होने पर क्या होता है? तब कहते हैं कि 'भाई को हार्ट फेल हो गया है!' नहीं तो यहाँ पर पर टूट जाती हैं न नसें, हेमरेज हो जाता है। मैं तो हेमरेज को पहले ऐसा समझता था कि ऊपर से घन मारकर तोड़ देते हैं। ये तो हेमर (हथौड़ा) शब्द आया न इसमें, उस कारण से मुझे ऐसा लगा था कि इसीलिए ऐसा कहते होंगे कि सिर में हेमरेज हो गया।

इतने अधिक भय में जीने का ठिकाना नहीं है। आयुष्य बढ़ाने का नियम नहीं है। आयुष्य घटाने के नियम बहुत सारे हैं और उसमें भी ये सारे लोभ और लालच।

प्रश्नकर्ता : पहले की बजाय आयुष्य बढ़ा है क्या?

दादाश्री : पहले की बजाय, कुछ समय पहले की आप जो बात कर रहे हो, सौ–दौ सौ साल पहले की, तब वे लोग क्या कहते थे कि पहले आयुष्य ज़्यादा था और अब कम हो गया है। अभी लोग क्या कहते हैं, पहले आयुष्य कम था और अब बढ़ गया है। ऐसे कम–ज़्यादा, कम–ज़्यादा होता रहता है। इसमें आयुष्य सौ साल से ज़्यादा कभी गया ही नहीं है। सामान्य रूप से फिर दो–पाँच लोग सवा सौ साल तक जीते हैं, वह अलग बात है लेकिन सौ साल से आगे कोई नहीं गया है।

प्रश्नकर्ता : समाधि योग करने से आयुष्य बढ़ता है या कम होता है?

दादाश्री : हाँ, समाधि योग से तो आयुष्य बहुत बढ़ता है लेकिन समाधि किसे कहते हैं? व्यवहार में रहने के बावजूद समाधि रहनी चाहिए।

अपने एक महात्मा हैं, वे बिल्कुल ऐसे हो गए थे कि समझों अब गए, तब गए। मृत्यु भी देखी। आयुष्य डोर होती है न, उस पर लोड रखा हो फिर भी नहीं टूटती। टूट न जाए उतना लोड होना चाहिए और उस पर यदि एक आधा रतल (२२७ ग्राम) ज़्यादा रखने जाएँ तो टूट जाएगी। यह तो अंदर ज्ञान था, इसलिए बच गए। आत्म शक्ति वहाँ खड़ी रहती है न, इसलिए घर वापस आ गए आराम से! अज्ञानी के मन में ऐसा हो जाता है कि

अब खत्म! अब हो चुका। 'जो मर रहा है वह 'मैं ही हूँ' ऐसा भान है, इस वजह से खत्म हो जाता है।

आठों कर्मों का बंधन प्रतिक्षण

प्रश्नकर्ता : आयुष्य के अलावा बाकी के सात कर्म समय-समय पर बंधते हैं, तो आप समझाइए न कि वह किस तरह से है? आपकी भाषा में समझाइए।

दादाश्री : आयुष्य कर्म भी बंधता है, और सात कर्म ही क्यों, आठों कर्म बंधते हैं।

प्रश्नकर्ता : आयुष्य कर्म तो जीवन में तीन बार ही बंधता है न, हर एक समय पर नहीं न?

दादाश्री : एक-एक समय पर सभी कर्म बंधते हैं। वह तो नाम अलग रखे हुए हैं, बंध के तीन विभाग किए हैं।

प्रश्नकर्ता : वे किस तरह बंधते हैं? वह ज़रा स्पष्ट समझाइए न!

दादाश्री : दूसरे कर्मों का बंधन होता है न, उसके साथ आयुष्य कर्म बंधता ही है। उस कर्म के आयुष्य को भी आयुष्य कहते हैं। कर्म पूरा हो जाए तो उसे क्या कहते हैं? अर्थात् यह सब आयुष्य ही कहलाता है। आयुष्य कर्म ही बंधते हैं।

प्रश्नकर्ता : एक ही जन्म में देवता का आयुष्य बंध जाए उसके बाद वापस नर्क का आयुष्य भी बंध सकता है?

दादाश्री : नहीं, वह आयुष्य अलग है। वह तो उसका रूपक आया। वह तो फिर कुछ दो तिहाई ज़िंदगी बीतने के बाद, जब एक तिहाई बाकी रही, तो उस समय में उसे कितनी ही बार आयुष्य का बंध पड़ जाता है। पाँच-सात-दस बार बंध पड़कर अंत में उसका आयुष्य पूर्ण हो जाता है। साठ साल का आयुष्य हो तो चालीस साल में पहला आयुष्य बंधता है, तब तक नहीं बंधता। वह तो एक क्रम रखा हुआ है, अच्छा क्रम रखा हुआ है। वह किसलिए है कि भाई, 'अब चालीस साल का हो गया, अब सीधा रह न, नहीं

तो न जाने कहाँ जाएगा जानवर में! ताकि अंतिम बीस साल अच्छी तरह से बिताए। इसलिए लिखा है और बात सही है, बात गलत भी नहीं है, बनावट नहीं है। तीर्थंकरों की यह बात सही है। सावधान किया है कि अभी तक पड़े रहे हैं मोह में ही लेकिन अब ज़रा सीधा हो जा। वर्ना आयुष्य कर्म तो निरंतर बंधता ही रहता है।

नियम आयुष्य बंध का

प्रश्नकर्ता : आयुष्य का बंध पड़ने के बाद में ही अगले जन्म का अवतार तय होता है?

दादाश्री : आयुष्य का बंध तो ऐसा है न कि मान लो एक व्यक्ति का इक्यासी साल का आयुष्य है। सपोज़ (मान लीजिए) कोई व्यक्ति इक्यासी साल तक जीनेवाला है, तो वीतरागों के मत से क्या कहा जाता है? उसने चौवन साल तक चाहे कुछ भी किया हो, पागलपन किए हों, तब तक का समय भटकने में, उल्टे-सीधे कामों में गुज़ारा हो, तब भी उसका कोई हिसाब करनेवाला नहीं है। कुछ भी किया होगा लेकिन वह सब चला जाएगा। लेकिन यदि अंतिम सत्ताइस साल सीधी तरह से निकाल दिए तो काम हो जाएगा। क्योंकि वहाँ पर अंतिम सत्ताइस सालों का अधिक जमा होता है। उससे पहले का सबकुछ खत्म हो जाता है।

अत: चौवन साल के बाद उसे सावधान हो जाना चाहिए कि अब आयुष्य बंधन का समय हो गया है। चौवन साल की उम्र में आयुष्य बंधेगा ही। अभी तक भाई ने क्या किया? चौवन साल का सार आता है और उस घड़ी कोई बीमारी आ जाएगी और आयुष्य का बंध पड़ेगा। बीमारी नहीं होगी तो भी आयुष्य का बंध पड़ेगा और चौवन साल की उम्र में तो उसका पहला फोटो पड़ जाता है। यदि दुनिया में खराब व्यवहार करता है न, तो अंदर उस व्यक्ति का जानवर, भैंस या गाय या गधे का फोटो पड़ जाता है! अंदर उसके प्रतिस्पंदन महसूस होते हैं! अब पहली बार जानवर का आयुष्य बंध गया क्योंकि जवानी में कैसे भी खराब कर्म किए थे, आर्तध्यान-रौद्रध्यान किए इसलिए चौवन साल की उम्र में यह हुआ। आयुष्य कर्म भी बंध जाता है। अगर उस घड़ी वह मर जाए तो वह तिर्यंच योनि में जाता है। अत: आयुष्य बंधन की शुरुआत होने के बाद जो क्रिया होती है न, उस

क्रिया का सार आता है। इसलिए अंतिम सालों में इंसान को बहुत जागृत रहना चाहिए। अत: शास्त्र क्या कहते हैं कि चालीस साल तक आपका सबकुछ अज्ञानता में गया लेकिन चालीस साल के बाद आप अच्छे विचार रखो, नहीं तो फोटो खराब पड़ेगा क्योंकि उसके बाद आयुष्य कर्म बंधन की शुरुआत हो जाती है।

फिर बचे सत्ताइस साल! तब अगर किसी अच्छे सत्संग में जुड़ जाए तो फिर पूरा परिवर्तन हो जाता है। तो वह अठारह साल तक सत्संग में आने लगा और उसका गधेवाला फोटो मिट गया और अच्छा सा राजा का फोटो पड़ा। अर्थात् बहत्तरवें साल में फिर से बंधा। बहत्तर साल के बाद नौ साल बाकी रहे तब छ: साल बीतने के बाद फिर अठहत्तरवें साल में, छ: सालों में उसने क्या किया, फिर से वापस उसने खूब सत्संग जमाया, फिर से देवगति का फोटो पड़ गया। पिछला फोटो मिट गया। अब तीन साल बचे न? तो वापस जो उल्लासपूर्ण परिणाम थे न, वे मंद पड़ गए। शुरू-शुरू में बहुत उल्लास होता है न, उस घड़ी अच्छा आयुष्य बंध जाता है। उसके बाद वापस मंद हो जाता है, तब अस्सी साल की उम्र में वापस मनुष्य का आयुष्य बंधा।

अब एक साल बचा, आखिरी साल। उसके अस्सी साल और आठ महीने हुए कि वापस फिर से बंधता है। अब चार महीने बचे। शेष एक सौ बीस दिन बचे, उसमें से जब वापस चालीस दिन बाकी बचें तब फिर से बंधता है। जो चालीस दिन बचे, उसमें से छब्बीस दिन बीतने के बाद वापस तीसरा आयुष्य बंधता है, फिर बत्तीस घंटे बचे। बत्तीस घंटे में, बाईस घंटे बीतने पर वापस फिर से आयुष्य बंधन होता है, ऐसे करते-करते अंतिम तीन घंटे बचे। उसमें वापस दो घंटे बीत जाने पर फिर से बंधता है। चालीस मिनट के बाद फिर से बंधता है, तेरह मिनट के बाद फिर से बंधता है।

अब एक ही मिनट बचा है, उसके सिरहाने दीया जलाते हैं। अब एक ही मिनट बचा है, तो एक मिनट में तो साठ सेकन्ड हैं। चालीस सेकन्ड बीते कि वापस फिर से बंधता है। अभी भी बीस सेकन्ड बाकी हैं> उनमें से तेरह सेकन्ड बीते कि फिर से बंधता है। उसके बाद अंतिम एक बंध बंधता है, इस तरह से आयुष्य बंधता है। फोटो पड़ते ही रहते हैं। एक बार मनुष्य का होता है, एक बार देव का होता है, एक बार गधे का होता है, कुत्ते का होता है फोटो बदलते ही रहते हैं और जो अंत में पड़ा वही सही है। तो मरने से एक दिन पहले तो बहुत ही सारे फोटो पड़ते रहते हैं लेकिन वे सब फोटो तो गलत हैं, अंतिम फोटो कौन सा पड़ा, वही सच है। इस प्रकार से यह साइन्टिफिक है, एक्ज़ेक्ट सही है।

मातृ भाववाले का आयुष्य लंबा

प्रश्नकर्ता : दादा, आयुष्य कर्म के लिए कैसा भाव होना चाहिए ताकि आयुष्य लंबा हो? आयुष्य के लिए किस तरह के कर्म होते हैं जिनसे आयुष्य लंबा हो या छोटा होता है?

दादाश्री : आयुष्य कर्म के लिए तो अगर मातृभाव कम हो तो आयुष्य कर्म टूट जाता है। मातृभाव होना चाहिए सभी के लिए। किसी को दु:ख हो जाए तो वह उसे अच्छा न लगे, किसी को दु:ख हो जाए तो मदद करने को दौड़े।

प्रश्नकर्ता : पुरुषों में भी ऐसा वात्सल्य भाव होता है?

दादाश्री : हाँ, होता है, बहुत होता है।

प्रश्नकर्ता : और जितना वात्सल्य भाव अधिक उतना ही अगले जन्म में लंबा आयुष्य रहता है?

दादाश्री : हाँ।

प्रश्नकर्ता : लेकिन यह जो आयुष्य कर्म है, वह किस आधार पर फिक्स होता है?

दादाश्री : आयुष्य कर्म तो, आप लोगों के आयुष्य को जितना नुकसान पहुँचाते हो, जीवमात्र के आयुष्य का आप जितना नुकसान करते हो, वह आप खुद के ही आयुष्य का नुकसान कर रहे हो।

प्रश्नकर्ता : तो इन कसाइयों को तो तुरंत ही मर जाना चाहिए लेकिन कसाई तो बहुत लंबे समय तक जीते हैं।

दादाश्री : कसाई गुनहगार होते ही नहीं। कसाई के लिए तो वह उसका बाप का धंधा है। खानेवाले गुनहगार हैं।

प्रश्नकर्ता : लेकिन मेरा ऐसा मानना है कि आयुष्य ऋणानुबंध के अनुसार रहता है। फेमिली के साथ ऋणानुबंध पूरे हो जाएँ तो वहाँ से माया सिमट जाती है।

दादाश्री : वह बात तो दिए जैसी साफ ही है। लेकिन आयुष्य के ऋणानुबंध का मतलब क्या है कि आपने जितना दूसरे को दु:ख दिया होगा, उतना ही आपका आयुष्य कम होगा। सभी को सुख दोगे तो आयुष्य बढ़ेगा। फिर उसी अनुसार ऋणानुबंध बंध जाएगा। यों दिखने में ऋणानुबंध है लेकिन सूक्ष्म चीज़ अलग ही होती है।

[2.10] घाती-अघाती कर्म

निरंतर विलय रहते हैं द्रव्यकर्म

यह शरीर क्या है? यह किससे बना हुआ है? तो कहते हैं कि आठ कर्मों की पोटली है यह तो। जैसे मोमबत्ती में दो-तीन कर्म होते हैं, वैसे ये आठ कर्म हैं। मोमबत्ती में क्या-क्या कर्म हैं? तो एक तो धागा है। और वह धागा भी ऐसा, जो जले। फिर उस धागे को जो जलाए रखता है, वह है मोम। तीसरा-खुद जलकर खत्म हो जाता है, ऐसा आयुष्य लेकर आएँ हैं। यह मोमबत्ती भी आयुष्य लेकर आई हुई है। तो देखो, एक तो धागा, एक उजाला, मोम और आयुष्य। उसके चार हैं अपने आठ। उसमें घातीकर्म नहीं होते। उसके भी आघाती हैं और अपने भी अघाती हैं-चार। वह अगर जीवित होती तो घातीकर्म होते।

यानी कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय, ये सब घातीकर्म हैं। ये आत्मा का घात करते रहते हैं।

लेकिन इस मोमबत्ती का तो बहुत अच्छा उदाहरण दिया है। अभी तक ऐसा शास्त्र में किसी भी जगह पर नहीं दिया गया है। पहली बार, फर्स्ट टाइम कहा गया है यह!

द्रव्यकर्म, वह मोमबत्ती है और यह द्रव्यकर्म रूपी मोमबत्ती जलती ही रहती है निरंतर। अब इसमें तो किसी को कुछ करना नहीं पड़ता न? मोमबत्ती तो अपने आप कुदरती रूप से जल ही रही है। जब से जन्म हुआ तभी से जलने की शुरुआत हो ही गई है इसलिए आपको इसे जलाना नहीं पड़ेगा। अपने आप जलते-जलते-जलते खत्म हो जाएगी। अत: आयुष्य कर्म पूरा होने पर खत्म हो जाएगी। अत: आठों कर्म, वे द्रव्यकर्म खत्म हो जाएँगे और नए बाँधे हुए द्रव्यकर्म अगले जन्म के लिए साथ में ले जाएगा।

प्रश्नकर्ता : लेकिन द्रव्यकर्म तो उदयाधीन है न?

दादाश्री : वह उदयाधीन। द्रव्यकर्म तो दिनोंदिन उदय होकर खत्म ही हो रहा है, एक्ज़ोस्ट हो रहा है। निरंतर द्रव्यकर्म एक्ज़ोस्ट होते रहते हैं और एक दिन कहेंगे कि 'ये एक्ज़ोस्ट हो गए।'

प्रश्नकर्ता : जो प्रकृति गुथ चुकी है, उसमें जो द्रव्यकर्म हैं, क्या उन्हें एक्ज़ोस्ट होने में कुछ ज़्यादा देर लगती है?

दादाश्री : वे तो अपने टाइम पर एक्ज़ोस्ट हो ही जाएँगे। उसका टाइम के साथ लेना-देना है। सोते समय भी एक्ज़ोस्ट हो जाते हैं, जागते हुए भी हो जाते हैं।

घाती हैं पट्टियों के रूप में-अघाती देहरूपी

ये सभी आठ कर्म जो हैं, वे द्रव्यकर्म हैं। इन आठ कर्मों में से चार घाती और चार अघाती हैं। उनमें से जो चार घाती हैं, वे चश्मे हैं और जो चार अघाती हैं, वह देह का *भोगवटा* है। उन कर्मों के अधीन द्रव्यकर्म के चश्मे बनते हैं। अब यह आधार, उन चश्मों

को हमने खत्म कर दिया है, वर्ना उसका कब अंत आता? सभी योनियों में भटक आए तब जाकर अंत आता है उन चश्मों का।

उल्टे चश्मे और देह, दोनों अलग चीज़ें हैं। जब हम यह ज्ञान देते हैं न, तब उन उल्टे चश्मों को निकाल देते हैं लेकिन इस देह द्वारा भोगे जानेवाले कर्म नहीं निकलते, उन्हें भोगना ही पड़ता है। इनमें से जो उत्पन्न होनेवाले नोकर्म हैं, उन्हें भोगना ही पड़ता है।

प्रश्नकर्ता : 'ये जो चार कर्म हैं वे आत्मा का घात करते हैं,' इसका क्या मतलब है?

दादाश्री : पहला ज्ञानावरण है, उसके बाद दर्शनावरण है, उसके बाद मोहनीय और अंतराय। ये चारों घातीकर्म कहलाते हैं। जब तक ये चारों हैं, तब तक आत्मा का घात होता रहता है। उससे आवरण आता ही रहता है। और बाकी के चार अघाती हैं। अघाती अर्थात् उनसे आत्मा पर आवरण नहीं आता। फिर अगर आप तन्मयाकार नहीं होंगे तो वे डिस्चार्ज होकर खत्म हो जाएँगे। महावीर भगवान को ये अघाती कर्म केवलज्ञान के बाद में भी थे। ये चार घाती ही पूरी तरह से शुद्ध हुए थे। अघाती तो सारे थे ही न! अत: वेदनीय-नाम-गोत्र और आयुष्य, ये चारों अघाती कर्म कहलाते हैं। केवलज्ञान के बाद भी वे हर एक में रहते हैं। वे रहेंगे तो भी आत्मा को कोई नुकसान नहीं पहुँचाते।

प्रश्नकर्ता : तो इसका मतलब इनचार कर्मों को ही खपाना हैं?

दादाश्री : हाँ, बाकी के चार कर्मों का तो अपने आप *निकाल* हो ही जाएगा।

शाता वेदनीय आई, आराम से सो जाओ शांति से। *अशाता* वेदनीय आए तो फिर शोर-शराबा मत करना।

निकाल बाकी है अघाती कर्म का

प्रश्नकर्ता : ये जो आयुष्य, वेदनीय, गोत्र और नामकर्म हैं, ये तो देह को स्पर्श किए हुए दिखाई देते हैं। ये सभी देह के साथ संबंधवाले दिखाई देते हैं। वे ज्ञानावरण, दर्शनावरण.....

दादाश्री : वे भी देह के साथ संबंधवाले ही हैं लेकिन चश्मे के रूप में हैं। बाकी उत्पन्न तो सभी द्रव्यकर्मों में से ही हुए हैं। अगर ये घाती चले जाएँ, तो अघाती से तो कोई परेशानी ही नहीं है। अघाती तो, जब तक यह देह है, तब तक रहेंगे, अत: अगर अपयश मिले तो उसमें हर्ज नहीं है। ज्ञानावरणीय गया? तो कहते हैं हाँ, गया! तब पूछे कि 'लोग अपयश देते हैं वह?' 'भले ही रहे।' जब तक देह है तब तक टिकेगा और यश भी जब तक देह है तभी तक टिकेगा। यश भी मिलेगा और अपयश भी मिलेगा।

प्रश्नकर्ता : देह के साथ जुड़ा हुआ जो ज्ञानावरण कर्म है, वह देह होने के बावजूद भी जा सकता है? ज्ञानावरण, दर्शनावरण?

दादाश्री : हाँ, वे तो साथ में ही रहते हैं। इसी में मिले हुए हैं ये सब लेकिन ये चार घाती क्षय हो सकते हैं। अघाती क्षय नहीं हो सकते।

यह ज्ञान मिलने के बाद दर्शनावरणीय चला गया, मोहनीय चला गया, पूरी तरह से चला गया। अंतराय नहीं गए हैं। ज्ञानावरण नहीं गया है, ये जो चार हैं वे आत्मघाती हैं। घातीकर्म कहलाते हैं। तो इन दोनों घाती कर्मों का जैसे–जैसे समभाव से *निकाल* करोगे वैसे–वैसे आवरण कम होते जाएँगे, वैसे–वैसे अंतराय टूटते जाएँगे।

और जो चार अघाती कर्म बंधे हुए हैं, वे जब डिस्चार्ज होते हैं, तब वे *शाता–अशाता* वेदनीय देते हैं, इतना ही है। अंत तक देते हैं। भगवान को भी अंत तक *शाता–अशाता* वेदनीय थी, ठेठ निर्वाण होने तक *शाता–अशाता* दोनों ही वेदनीय रहते हैं।

प्रश्नकर्ता : शास्त्र ऐसा कहते हैं कि केवलज्ञानी को फिर *अशाता* नहीं रहती।

दादाश्री : सिर्फ *शाता–अशाता* वेदनीय रहती है। उनकी *शाता–अशाता* वेदनीय ऐसी नहीं होतीं, स्थूल नहीं होतीं, बहुत सूक्ष्म होती हैं। फिर भी भगवान को कान में *बरु* ठोके थे न! भारी आ*शाता* आई थी!

प्रश्नकर्ता : भगवान को जो *बरु* ठोके थे, वह केवलज्ञान से पहले या बाद में?

दादाश्री : वह तो केवलज्ञान से पहले। उसके बाद तो ये खटमल वगैरह बहुत काटते थे, बहुत *अशाता* वेदनीय उत्पन्न हुई थी। इसीलिए तो देवलोगों ने भगवान को महावीर कहा न। ज़बरदस्त *अशाता* वेदनीय!

तीर्थंकरों के द्रव्यकर्म

प्रश्नकर्ता : दादा, तीर्थंकरों के वे घाती–अघाती कर्म कैसे होते हैं?

दादाश्री : उनके चार अघाती अलग–अलग, डिफरेन्सवाले होते हैं। उनमें से एक वेदनीय है, नाम, गोत्र और आयुष्य वे सभी में डिफरेन्सवाले होते हैं और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ये चारों सभी में एक सरीखे टूट चुके होते हैं और एक सरीखे हों तभी केवलज्ञान कहलाता है। वर्ना तब तक वह केवलज्ञान नहीं कहा जा सकता। केवलज्ञान कब कहलाता है कि जब ये चारों सभी में एक सरीखे हो जाएँ।

कोई श्यामल होता है, कोई गोरा होता है, कोई सुनहरा होता है, सुनहरा कलर (रंग) यानी कि हमारे कलर को सुनहरा कलर कहते हैं। बिल्कुल एक्ज़ेक्ट सोने जैसा नहीं होता। यानी कि कलर सभी तरह-तरह होते हैं, उनमें फर्क होता है। फिर लंबाई में फर्क होता है। हाँ, सुंदर सभी होते हैं लेकिन आकार सभी के अलग-अलग होते हैं। अब वास्तव में तो वह आकार रूप नहीं कहलाता लेकिन सभी एक समान सुंदर दिखते हैं, इसका क्या कारण है? लावण्यता एक सरीखी। यों एक सरीखे सुंदर नहीं होते। अंग और उपांग देखने जाएँ तो रूप अलग-अलग रहता है, लेकिन लावण्यता तो एक सरीखी रहती है। कोई लंबे, कोई मोटे, कोई पतले। मल्लीनाथ भी सुंदर थे। देहकर्मी थे। कहीं यों ही तो, कहीं देहकर्मी के बिना तो वहाँ पर क्या पत्ते लगाने से होता है? नहीं हो सकता है। तीर्थंकर कहलाते हैं। उनकी वेदनीय में फर्क रहता है। भगवान महावीर को बहुत दु:ख पड़े थे और बाकी सब तीर्थंकरों को कम। बाकी सब तीर्थंकरों को बहुत सुख मिले। किसी का तीर्थंकर नामकर्म *शाता* वेदनीयवाला होता है और किसी का *अशाता* वेदनीयवाला होता है।

प्रश्नकर्ता : वह पुण्य के आधार पर होता होगा न?

दादाश्री : वही! पुण्य वगैरह सबकुछ। वह इसके अंदर साथ में आ गया। कोई तीर्थंकर नामकर्म सुनते ही पूरी पब्लिक ओहोहो हो जाती है और कुछ नामकर्म सुनते ही मुँह बिचकाकर वापस जाने लगते हैं। यह सब तो तरह-तरह का है। कुछ ऐसे होते हैं जो सभी जातियों में पूज्य बन जाते हैं, फिर भी पूरे हिंदुस्तान में शायद न भी हो और कुछ ऐसे हैं जिनकी पूज्यता कुछ ही जातियों में रहती है। कुछ का आयुष्य छोटा होता है, कुछ का लंबा होता हैं। ऐसा सब फर्क होता है।

सभी तरफ से मेल खाने पर मिले ज्ञानीपद

कोई भी ज़िम्मेदारीवाला पद प्राप्त हो, तो उसके कैल्क्यूलेशन्स (गिनती) होते हैं, तभी वह पद मिलता है। नहीं तो वह पद प्राप्त नहीं हो सकता। तो कौन-कौन से कैल्क्यूलेशन मिलने चाहिए? यह तो मुख्य लक्षण बता रहा हूँ कि ज़िम्मेदारीवाली पोस्ट पर कौन आता है?

नामकर्म उच्च होता है, जन्म से ही उच्च होता है। वह आदेय नामकर्म है। बचपन से ही लोग 'आओ भाई, आओ' कहते हैं। बड़ा होने के बाद भी आइए, आइए कहते हैं। ज़िंदगीभर वह आदेय नामकर्म रहता है। और फिर यशनाम कर्म होता है। यों ही हाथ लगाऊँ तो भी सामनेवाले का काम बन जाता है यानी कि कई तरह के नामकर्म होते हैं। और फिर अंग-उपांग नामकर्म होते हैं। अंग कुरूप नहीं होते। हाथ की उँगलियाँ, पैर की उँगलिया, कान, माथा वगैरह कुछ भी कुरूप नहीं होते। आकार बहुत सुंदर होता है।

फिर और क्या होता है? लोकपूज्य गोत्र होता है। और आयुष्य कर्म भी अच्छा लेकर आए होते हैं। और वेदनीय कर्म ऐसा लाए होते हैं कि कम से कम *अशाता* वेदनीय आती है। देखो न, इस पैर में फ्रैक्चर हुआ लेकिन हमें *अशाता* वेदनीय नहीं हुई। ऐसे सभी गुणाकार होते हैं, तब यह पद मिलता है। अत: मैं कहीं अपने आप ऐसा नहीं बन गया!

इस काल में तो हमारी *शाता* वेदनीय बहुत अच्छी कही जाएगी। सारा हिसाब लेकर आए हैं। दादा चार कर्म तीर्थंकर जैसे लेकर आए हैं और ये जो चार कर्म हैं न, वे इस काल की वजह से कच्चे पड़ गए। कच्चे पड़े तभी तो इन सब के साथ उठते-बैठते हैं। देखो न, नाश्ता करने जाते हैं न, नहीं तो नाश्ता करने कौन आए? तो अगर पूर्ण हो गए होते तो आपके हिस्से में कैसे आते? इसलिए अधूरे रहे तो अच्छा हुआ।

दादा को इसमें नुकसान है ही नहीं। दादा की इच्छा ऐसी है कि यह जगत् सही ज्ञान और सही मार्ग प्राप्त करे और शांति प्राप्त करे। कुछ मोक्ष पाएँ और कुछ शांति पाएँ, कुछ वीतराग मार्ग को पाएँ और कुछ सच्चे धर्म को पाएँ। यही दादा की इच्छा है, और कोई इच्छा नहीं है। उस इच्छा के लिए ही है यह सबकुछ। तीर्थंकरों की भी ऐसी ही इच्छा रहती है।

प्रश्नकर्ता : इस उम्र के बाद अब शक्ति घटती ही जानी चाहिए इसलिए सभी को आश्चर्य होता है कि दादा अठहत्तर साल की उम्र में भी इतना अच्छा काम कर सकते हैं, इतना अधिक घूम सकते हैं, ऐसा। इसके पीछे देवी-देवताओं की शक्ति नहीं है?

दादाश्री : कृपा तो है ही न! वह भी उदयकर्म के अधीन है। यह निमित्त पहले से ही सेट है, नया नहीं है। यशनाम कर्म, बाकी के सभी कर्मों के फल स्वरूप है। नामकर्म तो

बहुत बड़ा, अच्छा। लोकपूज्य गोत्र वगैरह बहुत उच्च हैं। आयुष्य अठहत्तर साल का हो जाए अर्थात् बहुत उच्च है।

प्रश्नकर्ता : हज़ारों लोग याद किया करते हैं, ख्याति फैलती है। यही नामकर्म है न?

दादाश्री : नामकर्म, ऐसे ख्याति फैलना, वह नामकर्म नहीं है। ख्याति फैलना तो आज के कर्म का फल है। और नामकर्म जो फल देता है वह अलग प्रकार का है, यानी कि जहाँ जाए वहाँ पर मान-तान सभी कुछ मिलता है।

अत: काम इन 'दादा भगवान' का है और यशफल मुझे मिलता रहता है। 'इन्हें' यश चाहिए नहीं और यशनाम कर्म तो 'मेरा' है न!

प्रश्नकर्ता : 'दादा भगवान' को तो कैसा यश? वे तो निर्लेप हैं न!

दादाश्री : 'उन्हें' ये आठों कर्म हैं ही नहीं। ये सारे आठ कर्म मेरे हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय, नाम, गोत्र, वेदनीय और आयुष्य। ये आठों कर्म मेरे हैं।

प्रश्नकर्ता : वे 'मेरे' यानी किसके?

दादाश्री : 'ज्ञानीपुरुष' के ही न!

ऐसे हिसाब लगाने जाएँ तो कहते हैं 'ज्ञानावरण?' नहीं, वह थोड़ा सा ही है, चार-चार डिग्री जितना ही। दर्शनावरण ज़रा सा भी नहीं, मोहनीय बिल्कुल नहीं, अंतराय नहीं किसी भी प्रकार के। अंतराय का मतलब क्या है कि खुद की इच्छा अनुसार चीज़ प्राप्त नहीं होना।

कोई कहे, 'इस संत के जितने हीरे क्यों नहीं है दादा के पास?' मैंने कहा, 'दादा को इच्छा ही नहीं होती न!' मेरी इच्छा हो और न मिले तो अंतराय कहलाएगा। वैसी इच्छा ही नहीं है न किसी प्रकार की। दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय के बाद वेदनीय में से खास तौर पर *अशाता* वेदनीय कभी कभार ही होती है, बाकी *अशाता* वेदनीय नहीं रहती। और वह भी फिर कुछ खास नहीं होती। खुद जान सकें, ऐसी होती है। नामकर्म बहुत

अच्छा, गोत्रकर्म भी अच्छा, आयुष्य भी अच्छा। सभी प्रकार से फुल, आठों कर्म उच्च प्रकार के!

केवलज्ञान का मतलब क्या है? चार घातीकर्म का बंद हो जाना, रुकजाना, उसे कहते हैं केवलज्ञान। और वे चार जो अघाती कर्म कहलाते हैं, जो बंधे हुए हैं, वे। अघाती से तो भगवान भी नहीं बच सके न! वैसे ही आपके भी अघाती हैं और उनके भी अघाती हैं लेकिन उनके अघाती में फर्क है कि वे उन सब को खपा–खपाकर गए और आपके अघाती खपाने बाकी हैं लेकिन दोनों ही अघाती माने जाते हैं। एक का सौ रुपये का क़र्ज़ और किसी का लाख का क़र्ज़ लेकिन दोनों क़र्ज़ ही माने जाएँगे। सौ वाले को एक–एक रुपया भरना पड़ता है और इसे हज़ार–हज़ार भरने पड़ते हैं क्योंकि रकम बड़ी है।

फिर भी इन सभी कर्मों को खपाना हैं। खपाना अर्थात् समतापूर्वक खपाने पड़ेंगे न! हम डिब्बे (भरा हुआ माल) लेकर आए हैं, वे सभी डिब्बे वापस दे देने पड़ेंगे। ये डिब्बे पराई चीज़ हैं। अपने नहीं हैं ये डिब्बे। पराया माल है यह सारा। दे नहीं देना पड़ेगा? दे दो यह सब झटपट। 'झटपट यहाँ से ले जाओ भाई। अपना माल अपने घर ले जाओ।'

प्रश्नकर्ता : अब जो डिस्चार्ज कर्म हैं, वे तो बचे हैं न?

दादाश्री : डिस्चार्ज अर्थात् चार घाती कर्मों का परिणाम और चार्ज अर्थात् घातीकर्म का कारण, यानी कि कॉज़। यानी कि कारण बंद हो गया है अब। जो अघाती कर्म बचे हैं, वे इन चार घातीकर्मों का परिणाम हैं। अब जब कारण था, तभी परिणाम उत्पन्न हुए थे। अब कारण बंद हो गए हैं, इसलिए परिणाम फल देकर चले जाएँगे, खत्म हो जाएँगे। उसके बाद निरंतर वेदनीय कर्म भोगता रहता है। निरंतर नामकर्म भोगता रहता है, निरंतर गोत्रकर्म भोगता रहता है, निरंतर आयुष्य कर्म भोगता रहता है।

प्रश्नकर्ता : आयुष्य, वेदनीय, नाम और गोत्र, आत्मज्ञान हो या नहीं हो तब भी ये सब भोगने ही पड़ते हैं?

दादाश्री : ठीक है, बात सही है। वह तो जिसे ज्ञान हो गया हो उसे भी भोगना है और नहीं हुआ हो उसे भी भोगना है। लेकिन ज्ञानवाले को जो भोगना है, उसे खुद को स्पर्श न करें, इस तरह कर्म भोगने हैं और ज्ञान नहीं लिया है उसे स्पर्श करें, इस तरह भोगना है। भोगना तो दोनों को ही है। फिर जितना स्पर्श होगा उतना ही *भोगवटा* रहेगा और यदि स्पर्श नहीं करे, ज्ञाता-दृष्टा रहे तो *भोगवटा* नहीं रहेगा। वहाँ पर जितनी जागृति रहेगी उतना ही लाभ होगा।

शुक्लध्यान से नष्ट होते हैं घातीकर्म

प्रश्नकर्ता : अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत शक्ति आत्मा के ये जो चार गुण हैं, उन्हें आवृत कर देते हैं इसलिए वे घातीकर्म कहलाते हैं। क्योंकि ये आत्मा के स्वभाव का घात कर रहे हैं, इसलिए वे बलवान हैं।

दादाश्री : ऐसा है न कि शब्दों पर से हमें बहुत नहीं समझ लेना है। अगर दोनों में लड़ाई होगी तो यह जीतेगा। बलवान कहने का मतलब हम ऐसा नहीं कहना चाहते। ये सूर्यनारायण हैं न, अब बादल आएँ तो सूर्यनारायण को ढक देते हैं तो क्या इसमें बादल बलवान हैं? लेकिन अभी बल दिख रहा है न उनका, बलवान नहीं है। वह लड़े तो कोई भी फायदा नहीं होगा। आत्मा अनंत शक्ति का धनी है। एक ठोकर मारे तो सबकुछ खत्म कर दे, लेकिन वह करता नहीं है। हाँ, यदि विशेष शक्ति का उपयोग करे तो कुछ का कुछ कर दे।

प्रश्नकर्ता : जो शुद्ध चिद्रूप (ज्ञान स्वरूप) के ध्यान में तत्पर हो जाए, एकाग्र हो जाए, वह सर्वोत्तम शुक्लध्यान है। ध्यान अग्नि को इतना बलवान कहा गया है कि सर्व घातीकर्मों को जलाकर भस्मीभूत कर देता है।

दादाश्री : हाँ, इसलिए इन सभी को, आपको यह ज्ञानाग्नि ही दी है न! आपको यह ध्यान, शुक्लध्यान दिया है इसीलिए वह आपके सभी घातीकर्मों का नाश कर देता है।

प्रश्नकर्ता : हाँ, वह घातीकर्मों का नाश कर देता है। यदि आप शुद्ध चिद्रूप के ध्यान में आ जाओ तो।

दादाश्री : शुक्लध्यान ही दिया हुआ है। सभी को शुक्लध्यान ही बरतता है और वह जो शुक्लध्यान है, वह इन घातीकर्मों का नाश कर देता है।

प्रश्नकर्ता : इसीलिए इन चार कर्मों को बलवान लिखा गया है न! यह शुक्लध्यान तो उन घातीकर्मों का नाश कर देता है।

दादाश्री : अगर ऐसा नहीं लिखेंगे तो फिर लोग ऐसा समझेंगे कि 'ओहो, इन्हें तो हम एक झटके में निकाल देंगे, यों पलभर में।' वह तो व्यवहार में ऐसा लिखना पड़ता है।

प्रश्नकर्ता : घातीकर्मों का नाश तो शुद्ध चिद्रूप खुद के शुक्लध्यान से, कर देता है। अब जो नाश करता है, वह प्रक्रिया कौन सी होगी? उदाहरण के तौर पर सूर्य की धूप में अनेक जीवाणुओं का नाश हो जाता है। ऐसा धूप के कारण होता है। उसी तरह इस शुद्ध चिद्रूप के ताप से, उसके प्रकाश से इन अघातीकर्मों का नाश हो जाता होगा न? यह ऐसा है या कैसा है?

दादाश्री : ऐसा नहीं है। खुद के स्वरूप की मूर्छा की वजह से इस विशेषभाव का असर हो गया है तो उससे अजागृति उत्पन्न हो गई। कैसे हुई? इन सभी के सानिध्य में, सामीप्य भाव की वजह से। जैसे कि अगर कोई एक व्यक्ति बड़ा सेठ हो, वह इतनी सी ब्रांडी पी ले, तो फिर? फिर खुद का सर्वस्व भान खो देता है, उसे फिर कुछ और ही उत्पन्न हो जाता है, 'मैं तो गायकवाड़ सरकार हूँ।' वह कुछ नई ही तरह का बोलता है। उस घड़ी शराब का नशा होता है। उसी प्रकार यहाँ पर अज्ञान का नशा हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : क्योंकि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय, ये चारों ही आवरण अज्ञानता का कारण हैं।

दादाश्री : नहीं, स्वरूप के अज्ञान (स्वरूप की अज्ञानता) की वजह से यह आवरण आया है और स्वरूप के भान की वजह से आवरण टूट जाता है।

डिस्चार्ज कर्म तो महावीर भगवान को भी थे। जब उनके ये चार घातीकर्म नष्ट हो गए, तब केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। कुछ अंशों तक नाश होने पर आत्मज्ञान होता है, संपूर्णत: नाश हो जाए तो केवलज्ञान हो जाता है। फिर भी बाकी के चार अघाती तो रहते हैं।

मूल में है मोहनीय

प्रश्नकर्ता : रोंग बिलीफ और इन चार घाती कर्मों के बीच संबंध तो है न?

दादाश्री : दर्शनावरण कर्म को ही रोंग बिलीफ कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : रोंग बिलीफ अर्थात् दर्शनावरण कर्म, तो ज्ञानावरण के लिए कौन सा है?

दादाश्री : दर्शनावरण की वजह से ज्ञानावरण उत्पन्न होता है।

प्रश्नकर्ता : दर्शनावरण में एक्चुअली क्या होता है? यानी कि मूल वस्तु का दर्शन आवृत हो गया है?

दादाश्री : दर्शन आवृत हो गया है, इसीलिए फिर रोंग बिलीफ बैठ गई। राइट बिलीफ थी, उसके बजाय रोंग बिलीफ बैठ गई।

प्रश्नकर्ता : और रोंग बिलीफ से वापस दर्शन आवृत होता जाता है, ऐसा भी है न?

दादाश्री : फिर आवरण बढ़ता जाता है।

प्रश्नकर्ता : ये जो चारों कर्म हैं, ये दर्शनावरण, ज्ञानावरण, मोहनीय और अंतराय, इनमें कोई लिंक होता है क्या? एक दूसरे के बीच कोई संबंध है?

दादाश्री : संबंध से ही है। ये सब एक ही हैं, लेकिन इसे तो लोगों को समझाने के लिए अलग बताया गया है।

प्रश्नकर्ता : ऐसा किस तरह से है यह? तो इनका संबंध किस प्रकार से है?

दादाश्री : यह सारा मोहनीय में ही है। आठों कर्म मोहनीय की वजह से ही बंधते हैं। सभी कुछ मोहनीय में, एक ही शब्द हो तो भी चलेगा।

प्रश्नकर्ता : इसका योग्य संबंध क्या होता है?

दादाश्री : सब से पहले मोहनीय आता है। मोहनीय में सबकुछ समा जाता है। यह सारा मोहनीय ही खड़ा हो गया है। मोहनीय अर्थात् सोने को सोने के रूप में नहीं देखकर, दूसरे प्रकार से देखना। मूल आत्मा को आत्मा के रूप में नहीं देखकर, अर्थात् जैसा है उसके बजाय उल्टा ही दिखाई देता है।

प्रश्नकर्ता : ये ज्ञानावरण-दर्शनावरण और वे चार कषाय, यों तो इनके बीच तो संबंध है न?

दादाश्री : वे तो यही कषाय हैं। ज़्यादा स्पष्टता के लिए समझाने के लिए नाम रखते हैं। बाकी क्या है? क्रोध-मान आदि सभी मोह के बच्चे हैं! इसीलिए हम दर्शनमोह को खत्म कर देते हैं, चारित्रमोह बचा है, बस।

प्रश्नकर्ता : उस दर्शनावरण-ज्ञानावरण से यह दर्शन गुण आवृत हो गया। ज्ञानगुण आवृत हो गया और अव्याबाध सुख आवृत हो गया। गुणों का आवृत हो जाना और आवरण, यह सब किस तरह से है?

दादाश्री : ये आठों कर्म मोहनीय के रूप में हैं। मोहनीय गया तो सभी कुछ गया।

प्रश्नकर्ता : क्या इन कर्मों की वजह से आत्मा के सभी गुण आवृत हुए हैं?

दादाश्री : हाँ, सभी आवृत हुए हैं।

प्रश्नकर्ता : अगर यह मोहनीय टूट जाएगा, दर्शनमोह टूट जाएगा तो फिर गुण प्रकट होते जाएँगे।

दादाश्री : गुण प्रकट होते जाएँगे। जब पूर्ण रूप से प्रकट हो गए तो, वही केवलज्ञान कहलाता हैं।

कषायों से ही कर्मबंधन

प्रश्नकर्ता : चारों घातीकर्मों और कषायों के बीच में क्या संबंध हैं? कषायों की वजह से घातीकर्म बंधते हैं या घातीकर्मों की वजह से कषाय होते हैं?

दादाश्री : अभी हमें क्या हो रहा है? घातीकर्म की वजह से कषाय उत्पन्न होते हैं। अब यदि हम इतना समझ जाएँ कि हम खुद कौन हैं तो फिर इन कषायों को दूर किया जा सकेगा।

प्रश्नकर्ता : दूर किया जा सकेगा या दूर हो जाएँगे?

दादाश्री : दूर हो जाएँगे। अब जब कषाय दूर हो जाएँगे तो घातीकर्म नहीं बंधेगे। अब जब कषाय दूर हो जाएँगे तो सिर्फ घातीकर्म ही नहीं, घाती और अघाती दोनों प्रकार के कर्म नहीं बधेंगे।

अक्रम ज्ञान से एकावतारी पद

प्रश्नकर्ता : चार घनघाती कर्म किस तरह टूट सकते हैं? इनमें से किस तरह से छूटा जा सकता है?

दादाश्री : छूट ही चुके हो न! फिर अब और क्या पूछना है? चार अघाती कर्म बचे हैं। घनघाती छूट चुके हैं। ये घनघाती थोड़े बहुत अंशों में बचे हैं, वे भी एकाध जन्म के बाकी बचे हैं। जो घाती थे, वे एकाध जन्म के बाकी हैं। छूट चुके हैं फिर भी ऐसा क्यों पूछ

रहे हो? हाँ, अघाती नहीं छूटे हैं। जिनसे घात नहीं होता वे नहीं छूटे हैं। वे अपने आप छूटते रहेंगे।

प्रश्नकर्ता : घातीकर्म पूरी तरह से तो नहीं छूटते न, दादा? क्योंकि घातीकर्म पूर्णरूप से छूट जाएँ तब तो केवलज्ञान हो जाएगा न?

दादाश्री : हाँ, तो केवलज्ञान हो जाएगा। यानी हमें एक जन्म मिले इतने कर्म हैं बाकी सब घट गए हैं न! छूट चुके हैं तभी तो अंदर निराकुलता रहती है, नहीं तो रहती ही नहीं न! एक जन्म जितना बाकी बचा है। फिर अगर किसी को चार जन्म करने हों तो? क्या हम उन्हें मना कर सकते हैं? यदि मेरे कहे अनुसार चले तो एक जन्म से ज़्यादा, दूसरा जन्म नहीं होगा।

अब रहा चारित्रमोह

प्रश्नकर्ता : ऐसा कब पता चलता है कि ज्ञानावरण कर्म चला गया है, दर्शनावरण कर्म चला गया है?

दादाश्री : जब हमें सभी सूझ पड़ने लगे तब समझना कि दर्शनावरण चला गया। अब पज़ल खड़ी नहीं होती है न? खड़ी हो तो अपने आप ही खत्म हो जाती है न?

प्रश्नकर्ता : हाँ।

दादाश्री : यानी कि दर्शनावरण पूरा ही चला गया। उसके बाद ज्ञानावरण कुछ अंशों तक बाकी बचा, यह वह है। मोहनीय पूरा ही चला गया है। इसीलिए सारी चिंताएँ बंद हो गई हैं। मोहनीय पूरा ही चला गया है। और फिर चारित्र मोहनीय बचा है।

कोई 'आइए साहब, आइए साहब' करे, फिर भी हमें उसमें रुचि नहीं है अब। पहले जो रुचि थी, वह रुचि खत्म हो गई है। या फिर अगर लोग अपमान करें तो उसमें भी रुचि नहीं है। लोकनिंद्य गोत्र हो तो क्या करें? लोग निंदा करें तो उसमें भी रुचि नहीं है। लोकपूज्य गोत्र, लोग तारीफ करते रहें, फिर भी आपको उसमें रुचि नहीं है। सभी इन्टरेस्ट चले गए है न अपने आप?

प्रश्नकर्ता : हाँ, इन्टरेस्ट चले गए।

दादाश्री : बता तुझे अब किसमें इन्टरेस्ट है? लोकपूज्य गोत्र में है? नहीं क्या?

जितना बुद्धि में से निकला उतना ही किताबों में लिखा गया है और जितनी उसे खुद को समझ होती है, लिखनेवाले की भी समझ होती है, उस अनुसार लिखा है। बाकी, जितना लिखा गया है, वैसा कुछ भी मोक्षमार्ग में है ही नहीं। उसके बजाय ज्ञान तो कुछ अलग ही तरह का निकलेगा!

रहा द्रव्यकर्म देह को

प्रश्नकर्ता : अपने यहाँ ऐसा बुलवाते हैं न कि 'द्रव्यकर्म से मुक्त, ऐसा मैं शुद्धात्मा हूँ,' वह किस अपेक्षा से बुलवाते हैं?

दादाश्री : वह तो रियल की अपेक्षा से।

प्रश्नकर्ता : रियल की अपेक्षा से, लेकिन जब तक यह देह है तब तक चार अघाती द्रव्यकर्म तो रहनेवाले ही हैं। द्रव्यकर्म तो रहेंगे ही न अंत तक?

दादाश्री : लेकिन वे चंदूभाई के साथ डिस्चार्ज में रहे हुए हैं।

प्रश्नकर्ता : और द्रव्यकर्म तो ठेठ मोक्ष में जाने तक रहेंगे न?

दादाश्री : हाँ।

प्रश्नकर्ता : हम ऐसा समझते थे कि इस ज्ञान के मिलने के बाद सभी कर्म नष्ट हो गए लेकिन वे चार घातीकर्म तो हर तरह से खत्म हो जाते हैं न?

दादाश्री : नहीं, बिल्कुल ही खत्म नहीं हो जाते, कुछ बाकी रहते हैं। एकाध दो जन्मों के लिए।

प्रश्नकर्ता : और जो चार अघाती हैं, वे अंत तक रहेंगे?

दादाश्री : वे तो, जब तक देह है तब तक रहेंगे।

तब होती है ज्ञानलब्धि

प्रश्नकर्ता : ज्ञानलब्धि किस तरह से उत्पन्न होती है?

दादाश्री : यशनाम कर्म होता है और सभी कुछ मिल जाता है।

प्रश्नकर्ता : सिर्फ यशनाम कर्म अकेले से ही?

दादाश्री : बाकी सब भी है न! बाकी सब भी मिलता है अंदर।

प्रश्नकर्ता : और क्या-क्या मिलता है?

दादाश्री : ज्ञानावरण हट जाए, दर्शनावरण हट जाए, मोहनीय हट जाए न और यह यशनाम कर्म मिले, तब ज्ञानलब्धि होती है।

बाकी लोगों के तो दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय कुछ भी नहीं छूटते। ये चार तो नहीं छूटते और बाकी के चार कर्म भी बंधते हैं। *शाता* वेदनीय बंधता है, उच्च नामकर्म बंधता है, गोत्र बंधता है और उच्च आयुष्य बंधन होता है, लेकिन वे अघाती नहीं छूटते। अतंराय नहीं टूटते, मोह भी नहीं टूटता उनका। इस संसार में से मोह छूट जाएगा, तब इसमें मोह आएगा।

दादा देते हैं संपूर्ण समाधान

दादाश्री : घातीकर्म खत्म हो जाएँ तभी प्रथम मोक्ष होता है – कारण मोक्ष होता है और जब अघाती भी खत्म हो जाएँ, तब आत्यंतिक मोक्ष होता है – निर्वाण काल के समय।

जब से सम्यक् दर्शन हो जाता है, तभी से निरंतर *संवरपूर्वक निर्जरा* (नया कर्म बीज नहीं डलें, बिना कर्मफल पूरा हो जाना) होती रहती है। जगत् के लोगों में बंधपूर्वक *निर्जरा* और यहाँ *संवरपूर्वक निर्जरा* है।

प्रश्नकर्ता : और क्या इन आठ कर्मों का क्षय होने के बाद ही 'सिद्ध' हुआ जा सकता है?

दादाश्री : ठीक है, हाँ। अब ये सारे आपके *निकाली* कर्म हैं। ये चार कर्म हमने कुछ हद तक क्षय कर दिए हैं, और दूसरे जो चार कर्म हैं, वे अब क्षय हो रहे हैं। आपको इस सारी पीड़ा में पड़ने जैसा नहीं है। आप के लिए तो, आप शुद्धात्मा हो, तो चंदूभाई जो करते हैं, उससे आठों कर्म की *निर्जरा* ही हो रही है।

उन आठ कर्मों से मुक्ति हो जाए न, तो मोक्ष हो जाएगा लेकिन प्रथम मोक्ष, एकदम से वर्तन में नहीं आता। पहले यह बिलीफ बैठती है। हम जो यह ज्ञान देते हैं न, तो उससे बिलीफ बैठती है यानी कि सम्यक् दर्शन होता है लेकिन एकदम से वीतराग चारित्र प्राप्त नहीं हो जाता। चारित्र के वर्तन में आने में टाइम लगता है फिर, लेकिन सब से पहले अगर श्रद्धा बदल जाए तो सबकुछ बदल जाता है। श्रद्धा ही नहीं बदलती। 'मैं चंदूभाई हूँ' अगर वह नहीं बदलेगा तो कब पार आएगा?

बार-बार ऐसे समाधान, शास्त्रों में नहीं होते या गुरु के पास भी नहीं होते। गुरु वगैरह सब यहाँ तक नहीं पहुँच सकते। जो कुछ भी सारा समाधान करते हो वह तो केवल दर्शन से है। मति से, बुद्धि से नहीं पहुँच सकते। बुद्धि नहीं हो तभी यह प्राप्त होता है। एक सेन्ट भी बुद्धि नहीं हो तब।

प्रश्नकर्ता : दादा ने द्रव्यकर्म का सब से अंतिम खुलासा दे दिया है। ऐसा कहीं भी किसी ने नहीं दिया है।

दादाश्री : हाँ, द्रव्यकर्म समझ में नहीं आ सकता! द्रव्यकर्म को यदि समझ जाए न, तो काम ही हो जाए!

[2.11] भावकर्म

द्रव्यकर्म की वजह से होते हैं भावकर्म

प्रश्नकर्ता : अब भावकर्म के बारे में विस्तारपूर्वक समझाइए।

दादाश्री : यदि भावकर्म को समझना हो संक्षेप में, शुरुआत समझनी हो तो 'मैं चंदूभाई हूँ,' वही सब से पहला भावकर्म है। फिर उससे आगे तो बहुत सारे हैं। उसने ज्ञानावरण और दर्शनावरण की जो पट्टियाँ बाँधी हैं, उस वजह से जो है वह दिखाई नहीं देता। इसलिए, 'मैं चंदूभाई हूँ,' ऐसा कहता है यह। अत: यह पहला भावकर्म है।

क्योंकि चश्मे बदल गए हैं, इसलिए 'उसे' ऐसे भाव उत्पन्न होते हैं कि यह मेरा दुश्मन है और यह मेरा मित्र है, वह भावकर्म है। भाव के आधार पर चश्मे नहीं हैं, चश्मे के आधार पर अभी भाव हो रहे हैं और वे भाव हो रहे हैं, इसलिए फिर से नए चश्मे बन जाते हैं, अगले जन्म के लिए द्रव्यकर्म।

भावकर्म का मूल अर्थ ऐसा है कि उससे भाव और अभाव होते हैं, इस कारण से जगत् के लोगों को कर्म बंधन होता है। भाव होते हैं और अभाव होते हैं। भाव अर्थात् राग और अभाव अर्थात् द्वेष। अभाव अर्थात् क्रोध व मान और भाव अर्थात् लोभ व कपट। इन भाव-अभाव के आधार पर भावकर्म का बंधन होता है।

प्रश्नकर्ता : यानी लाइक और डिसलाइक के आधार पर?

दादाश्री : लाइक और डिसलाइक तो बाद में आता है। इसे भाव-अभाव कब तक कहते हैं? अहंकार सहित हो, तब तक। और अंहकार रहित भाव-अभाव हों, तो वे लाइक-डिसलाइक हैं। डिस्चार्ज में लाइक-डिसलाइक रहता है। अत: भाव-अभाव से चार्ज होता है। लोगों को या तो भाव होता है या फिर अभाव होता है। इन दोनों में से एक ही होता है, फिर तीसरा नहीं होता।

कषाय अर्थात् भावकर्म

यानी कि 'मैं चंदूलाल हूँ, मैं बनिया' ये सब रोंग बिलीफें हैं, ये सब भावकर्म हैं। और जब 'मैं' चंदूभाई हो गया तो क्रोध-मान-माया-लोभ हो जाते हैं। उनसे कर्म बंधते हैं। अब क्रोध-मान-माया-लोभ, में 'मैं' और 'मेरा' आ गया क्योंकि मान अर्थात् 'मैं' आ गया और लोभ अर्थात् 'मेरा' यानी सभी कुछ आ गया। इनसे ये भावकर्म बंधते हैं और ये द्रव्यकर्म हैं, तो इस जगत् में हमें भावकर्म उत्पन्न होते हैं।

किसी पर क्रोध अपने आप ही हो जाता है न? कोई अपमान करे तो सहन नहीं होता और फिर वह क्रोध करता है। नहीं करता क्रोध? मान को संभालने के लिए क्रोध करता है, पैसों का ध्यान रखने के लिए क्रोध करता है, उसे भावकर्म कहते हैं।

फिर किसी शादी में गया हुआ हो और रिसेप्शनवाला 'ऐसे' करे तो अपने आप ही रोब में आ जाता है या फिर कोई लात मारनी पड़ती है? बिना लात मारे ही ऐसा हो जाता है न! वह मान नामक भावकर्म है। और किसी ने नमस्ते नहीं किया तो एकदम ठंडा पड़ जाता है वह अपमान नामक भावकर्म है, ठंडा पड़ जाता है या नहीं? अगर कोई बोले नहीं तो?!

अत: यह कपट करना, मोह करना ये सब भावकर्म कहलाते हैं। माया अर्थात् कपट करना। पैसों को सँभालने के लिए, मान सँभालने के लिए कपट करता है, वह भी भावकर्म है।

खाने-पीने का तो होता है, फिर भी लोभ नहीं जाता। पैसों का लोभ करना, घर में बेहद पैसे हैं और अच्छी तरह घर चल रहा है फिर भी पूरे दिन 'हाय पैसा, हाय पैसा' करे तो उसे क्या कहेंगे? लोभ। और जो अगले जन्म में मिलनेवाला था, उसे आज ही भुना लिया (एनकेश करवा लिया)। (कुदरत के) बैंक में से यहाँ आज ही निकालकर (ओवरड्राफ्ट) खर्च कर देता है और बेटे के लिए दो लाख इकट्ठे करके बेटे से कहता है, 'तू खर्च करना, हाँ।' अरे भाई, लेकिन अगले जन्म में क्या करेगा तू! अरे अभागे अपने

आप ही आने दे न, नैचुरल ही। बिना बात की जुताई क्यों कर रहा है, इतनी आमदनी है फिर भी? अत: यों आते हुए को बिगाड़ा। इसलिए यह लोभ भावकर्म कहलाता है।

भावकर्म तो, जो खुद की स्थिरता को तोड़ दें, खुद का भान तोड़ दें, वे सभी भावकर्म हैं। अत: ये क्रोध–मान–माया–लोभ खुद का भान गँवा देते हैं। लोभी लोभ के भान में रहता है, बाकी सभी भान उसके टूट चुके होते हैं, इसीलिए उसे लोभांध कहते हैं न! सिर्फ लोभ में ही दिखाई देता है और बाकी सभी जगह पर बिल्कुल अंध। बेटियाँ घूमती रहती हों तो उसमें उसे कोई आपत्ति नहीं होती, वह खुद लोभ में ही घूमता रहता है।

जो चार कषाय हैं, वही भावकर्म हैं। अन्य कुछ भी नहीं।

प्रश्नकर्ता : कोई भी चीज़ इन चारों में फिट हो जाए तो वह भावकर्म है?

दादाश्री : हाँ, जो चारों में फिट हो जाएँ वे सभी भावकर्म हैं। उनके अलावा अन्य कोई और भावकर्म है ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : ये क्रोध–मान–माया–लोभ के परमाणु इनमें मिल जाएँ, तभी भावकर्म उत्पन्न होता है न?

दादाश्री : नहीं, ये जो क्रोध–मान–माया–लोभ हैं, वही भावकर्म हैं। ये जो प्रकट दिखाई देते हैं, वे ही भावकर्म हैं, अगर हिंसक भाव सहित हों तो। और अगर हिंसक भाव नहीं होता तो क्रोध–मान–माया–लोभ भावकर्म नहीं कहलाते हैं। डिस्चार्ज भाव भावकर्म नहीं कहलाते। भावकर्म जीवंत होते हैं यानी कि मिश्रचेतन होते हैं। यह वैज्ञानिक प्रयोग है न, इसमें और कुछ भी नहीं चलेगा। और कुछ एडजस्ट भी नहीं होगा न! जहाँ पर विज्ञान ही हो, वहाँ पर विरोधाभास नहीं होता। विरोधाभास क्रमिक मार्ग में होता है क्योंकि एक को ऐसा कहते हैं, और दूसरे को ऐसा कहते हैं। यहाँ पर तो एक ही तरह का कहते हैं।

क्रोध–मान–माया–लोभ जो पहले होते थे, उनसे तो भावकर्म था। अब आप चंदूभाई नहीं रहे, इसलिए भावकर्म खत्म हो गया। भावकर्म हमने निकाल दिया है। भावकर्म क्रमिकमार्ग में होता है, स्टेप बाइ स्टेप में होता है।

प्रश्नकर्ता : आपने ऐसा कहा है कि कषाय होने की वजह से भावकर्म होते हैं तो चार में से अगर एकाध प्रकार का कषाय हो, तब भी उतना ही दोषित कहलाएगा?

दादाश्री : चार में से एक होता ही नहीं है न, वे चारों साथ में ही होते हैं। लेकिन कोई ज़्यादा या कम होता है। एक नेता जैसा बन बैठता है अंदर। होते चारों ही हैं! हम मारते नहीं है, हिंसा तो नहीं करते, लेकिन उनमें से एक की हम छुट्टी कर देते हैं यहाँ से, तो सभी चले जाते हैं। यानी मान नाम का कषाय है न, उसे हम छुट्टी दे देते हैं इसलिए बाकी के सभी कषाय चले जाते हैं। नहीं तो बाकी के सभी कषाय, क्रोध वगैरह छुट्टी देने से चले जाते हैं लेकिन वे तो बाद में वापस आ जाते हैं। और अगर सिर्फ मान खत्म हो जाए तो सबकुछ खत्म हो जाएगा। यों माया के छ: पुत्र हैं, क्रोध–मान–माया–लोभ, राग–द्वेष और सातवीं माया, वही जगत् में सभी को फँसा रही है।

फिर ये जो आर्तध्यान–रौद्रध्यान और धर्मध्यान हैं, ये सभी भावकर्म है।

फर्क भाव और भावकर्म में

पूरा जगत् भावकर्म में फँसा हुआ है। भावकर्म अर्थात् बीज बोना। क्रमिकमार्ग अर्थात् भावकर्म पर आधारित। खराब बीज के बदले अच्छे बीज बोने और वापस उससे भी अच्छे बीज बोना, फिर उससे भी ज़्यादा अच्छे ऐसे करते–करते आगे बढ़ना होता है।

प्रश्नकर्ता : मन में अच्छे विचार आते हैं, लोग तो उसी को भाव कहते हैं न?

दादाश्री : नहीं, नहीं, भाव को तो लोग समझते ही नहीं हैं। हमें अगर यह चीज़ भाती है, वह भाता है, तो उस सब को भाव नहीं कहते। भाव का तो किसी को पता ही नहीं चलता! भाव तो, वह सिर्फ शब्दों में ही खेलता रहता है, 'मुझे यह भाता है, मुझे वह भाता है,' अत: यह मेरा भाव है। वह भाव नहीं है। हाँ, वे सारे बीज उगने योग्य ज़रूर हैं कि जब तक 'मैं चंदूभाई हूँ,' ऐसा रहता है, तब तक उगते हैं वे और 'मैं शुद्धात्मा हूँ' तो नहीं उगते। बाकी वे भी भावकर्म नहीं हैं। वास्तव में तो ये सारे फल भावकर्म में से ही आए हुए हैं।

प्रश्नकर्ता : हम कई बार अच्छे भाव करते हैं। उनमें से कुछ भाव फलित होते हैं और कुछ भाव फलित नहीं होते तो इसका क्या कारण है? वह भी क्या अपना कोई भावकर्म होगा?

दादाश्री : नहीं, भावकर्म है ही नहीं यह। यह जो भाव होते हैं न, वह तो इच्छा है। भाव तो 'चार्ज' कहलाता है। वह तो होते ही नहीं है अब। यह ज्ञान देने के बाद बंद हो जाते हैं वे। भावकर्म नहीं है यह। यह हमें भाता है, तो इसे क्या भावकर्म कहेंगे? भाव शब्द का उपयोग होता है, बस इतना ही है।

प्रश्नकर्ता : दादा हममें जो भावना उत्पन्न होती है, वह कहाँ से होती है?

दादाश्री : किस चीज़ की भावना लेकिन? भावना दो तरह की होती है। एक जो हमें भाता हो, उसे भी भावना कहते हैं। 'यह भाता (भावे छे) है मुझे' ऐसा कहते हैं। यह इफेक्ट है और जो भाव उत्पन्न होता है, वह तो कर्म है, भावकर्म है। भावना भावकर्म का फल है। भावकर्म कॉज़ेज़ कहलाते हैं और यह भावना इफेक्ट है। 'यह भाता है और वह भाता है' वे सब इफेक्ट हैं। तुझे जो भाता है, वह खा भाई लेकिन बीज सेक देना।

प्रश्नकर्ता : तो क्या भावना और भावकर्म ये दोनों अलग हैं?

दादाश्री : हाँ, अज्ञान दशा में भावना भावकर्म में ही परिणामित होगी। अब लोग इच्छा को भावना में ले जाते हैं। 'मेरी यह जो इच्छा है, यह मेरी भावना है,' ऐसा कहते हैं। वह भाव नहीं है, भाव तो चीज़ ही अलग है। भाव बहुत गहरी चीज़ है।

भावकर्म तो, आप अंदर इच्छाएँ पूरी करने के लिए जो बोलते हो न, अंदर भावना करते हो न कि 'मुझे मकान बनाना है, मुझे शादी करनी है, बच्चों की शादी करवानी है,' ऐसे सब जो भाव करते हो न? यहाँ पर जो ऐसे भाव करते हो न, उससे अंदर जो सूक्ष्म भाव बंध जाते हैं, वे भावकर्म हैं।

परिणाम में भावकर्म नहीं होते। ये सब परिणाम कहलाते हैं। भावकर्म कॉज़ज़ के रूप में होते हैं। ये सभी भावनाएँ इफेक्ट कहलाती हैं। वे परिणाम के रूप में होती हैं।

यह जो भावकर्म है, वह अलग चीज़ है। भावकर्म को समझना बहुत मुश्किल चीज़ है। ये लोग तो ऐसा ही समझते हैं कि मुझे भाता है अत: यह मेरा भावकर्म है, ऐसा नहीं है। भावकर्म व्यवहार में नहीं आता। वह ऐसा नहीं है कि व्यवहार में दिखे।

अस्त होती हुई इच्छाएँ तो ज्ञानी को भी रहती है

भावकर्म तो आपके ध्यान में भी न आए। 'मुझे ऐसा भाव हो रहा है, ऐसा भाव हो रहा है, वैसा भाव हो रहा है,' इन सब का तो आपकोपता चलता है जबकि भावकर्म का तो पता ही नहीं चलता।

हम निरीच्छक कहलाते हैं कि जिन्हें किसी भी प्रकार की इच्छा नहीं है अब। फिर भी अगर दोपहर का एक बज गया हो और फिर डेढ़ बज जाए तो हम यों करके देखते हैं अंदर कि क्यों आज कोई खाना नहीं दे रहा है? तो क्यों ऐसा कहते हैं?' वे खुद क्या कोई मेनेजर हैं कि ऐसा सब देख रहे हैं? तो कहते हैं, 'नहीं, इच्छा है खाने की।' निरीच्छक को किस चीज़ की इच्छा है? खाने की इच्छा है। ये सारी इच्छाएँ डिस्चार्ज इच्छाएँ हैं। ये भाव डिस्चार्ज हैं, जैसे सूर्यनारायण उगते हैं और अस्त होते हैं, तब वे अस्त होते समय भी वैसे ही दिखाई देते हैं। लेकिन यह इच्छा अभी पलभर में बंद हो जानेवाली है जबकि वे इच्छाएँ उगती हुई हैं। इच्छाएँ अंत तक रहेंगी न, भाव भी रहेंगे न! कोई कहे कि मुझे आम भाता है, तो उसे लोग क्या कहते हैं? भावकर्म बाँधा। अरे, वह ऐसा नहीं है। भावकर्म इतना आसान नहीं है कि जल्दी से समझ में आ जाए।

प्रश्नकर्ता : तो हृदय में से स्फुरित होनेवाले भावों को ही भावकर्म कहते हैं?

दादाश्री : नहीं, भावकर्म का तो पता ही नहीं चले, ऐसी चीज़ है। वह ऐसी चीज़ है कि उसे समझनेवाला समझ सकता है लेकिन समझाया नहीं जा सकता।

भावकर्म अगर उसे समझ में आ जाए, तभी से ऐसा कहा जाएगा कि उसने पुरुषार्थ प्रारंभ किया, और भावकर्म कब समझ में आता है? जिसे आत्मज्ञान की शुरुआत हुई हो या फिर ज्ञान हो गया हो, उसे समझ में आता है। बाकी यह तो सारा व्यवहार में जो सबकुछ बोलते हैं वैसा ही सब तरह का बोलना है कि मुझे फलाना भाता है, मुझे फलाना भाता है, आग्रह करके खा जाता है, भाव करके खा जाता है, तो उससे भावकर्म का कोई लेना-देना नहीं है।

यह जो समकित हुआ है तो एक दिन अगर अंदर गहराई में उतरोगे तो समझ में आएगा या नहीं आएगा कि यह क्या है? यह कौन करवाता है? वह चीज़ ऐसी नहीं है कि ऐसे समझाई जा सके। हमसे कई लोग पूछते हैं, 'ज्ञान कैसे हुआ?' तो ज्ञान किस तरह से समझाया जा सकता है उसे? वहाँ पर शब्दों का जंजाल होता ही नहीं है।

शुद्ध भाव सुधारे दोनों जन्म

प्रश्नकर्ता : भावकर्म का अर्थ क्या है? एकउदाहरण देकर समझाइए न!

दादाश्री : एक व्यक्ति ऐसा कहता है कि 'मैंने पचास हज़ार रुपए का धर्म दान किया लेकिन अपने मेयर साहब के दबाव की वजह से दिए हैं। वर्ना तो मैं ऐसा हूँ ही नहीं कि किसी को दूँ।' किसी के दवाब की वजह से रुपए देने पड़ें, ऐसा होता है या नहीं होता? अब मेयर के दबाव की वजह से पचास हज़ार रुपए दिए। अब वे पचास हज़ार रुपए कौन जमा करेगा? कौन से खाते में जमा होंगे? क्योंकि उसका भाव तो ऐसा है। उसका भाव देने का नहीं है। यह तो मेयर का दबाव आया इसलिए दिए हैं। कोई पूछे कि 'क्या उसका दिया हुआ बिल्कुल बेकार जाएगा?' तो कहते हैं, 'नहीं, बेकार नहीं जाएगा। उसने दिया है उसका कुछ न कुछ फल तो मिलना ही चाहिए।' तो वह यह है कि, 'यहाँ इस संसार

में, इस जन्म में मिल जाएगा।' लोग, 'वाह-वाह' करेंगे। लेकिन अगले जन्म में नहीं मिलेगा। और कोई व्यक्ति अगर भावपूर्वक देता है, तो उसकी इस संसार में भी लोग 'वाह-वाह' करेंगे और अब अगले जन्म में वापस उसका फल मिलेगा, ये दोनों मिलेंगे।

इसे कहते हैं भावकर्म। अगर इस भाव को हम साफ रखें न, तो उसका फल यहाँ पर भी मिलेगा और वहाँ पर भी मिलेगा। और अगर भाव बिगाड़ा तो भावकर्म बिगाड़ दिया।

'मैं शुद्धात्मा हूँ' तो खत्म हुआ भावकर्म

प्रश्नकर्ता : ज़्यादातर कर्म तो भावकर्म से ही बंधते होंगे न?

दादाश्री : भावकर्म से ही यह पूरा जगत् खड़ा हो गया है। हम भावकर्म बंद कर देते हैं चाबी से, इसलिए वह अलग हो जाता है। अत: कर्म बंधन रुक जाता है। आज्ञा का पालन करते हो न, सिर्फ उतना ही कर्म बंधन होता है, एक दो जन्म के लिए। पूरा जगत् भावकर्म से ही बंधा हुआ है।

जब तक ऐसा है कि 'मैं' 'चंदूभाई हूँ', तब तक भावकर्म है और जब ऐसा हो जाए कि 'मैं शुद्धात्मा हूँ' तो वहाँ पर भावकर्म का बंधना बंद हो गया। भाव अर्थात् अस्तित्व। जहाँ खुद नहीं है, वहाँ पर खुद का अस्तित्व मानना, वही भावकर्म है।

प्रश्नकर्ता : वस्तुत्व मानने का अर्थ अभाव है?

दादाश्री : नहीं, वस्तुत्व के अभाव से भाव होता है। वस्तुत्व का भाव हुआ कि भावकर्म खत्म जाता है। अत: अस्तित्व तो है लेकिन यदि आत्मा में अस्तित्व को माने तो भावकर्म नहीं है और अस्तित्व को इस देहाध्यास में माने तो भावकर्म है। अत: सिर्फ भावकर्म ही बाधक हैं, बाकी कुछ नहीं। भावकर्म से ही यह जगत् खड़ा होता है और उसी के परिणाम आते हैं। अगर भावकर्म बंद हो जाए तो उससे जगत् अस्त हो जाता है। उसके बाद सिर्फ फल भोगने बाकी रहते हैं।

कर्ताभाव से भावकर्म

फिर है मूल भाव कि यह 'मैंने किया' ऐसा कहा कि भाव उत्पन्न हुआ। कर्ताभाव से किया, तो वह कर्ता है, उससे भावकर्म बना। भोक्ताभाव से भोगना वह भी भावकर्म कहलाता है। इस ज्ञान के बाद, हम भोक्ताभाव से नहीं भोगते, हम *निकाल* भाव से भोगते हैं। हम समभाव से *निकाल* कर देते हैं और अज्ञान दशावाला तो भोक्ताभाव से भोगता है।

आपको अनुभव होता है कि 'इट हेपन्स?'

प्रश्नकर्ता : हाँ, दादा।

दादाश्री : क्या-क्या हो रहा है?

प्रश्नकर्ता : सबकुछ हो ही रहा है, वहाँ पर अपना कर्तापन है ही कहाँ?

दादाश्री : और जो कर्तापन है वह अंदर भावात्मक भाव से है। वह मैंने बंद कर दिया है। पूरा जगत् भावकर्म से ही कर्ता बनता है। उसे बंद कर दिया है हमने। ताला लगा दिया है वहाँ पर।

'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव रखना और फिर जो कुछ भी होता है वह भावकर्म कहलाता है। 'मैं इसका कर्ता हूँ' वह भावकर्म है। 'मैं कर्ता नहीं हूँ, इसका कर्ता व्यवस्थित है' ऐसा तो रहता है न? तो फिर क्या? तो भावकर्म खत्म हो गया।

[2.12] द्रव्यकर्म + भावकर्म

भावकर्म और द्रव्यकर्म के बीच संबंध

प्रश्नकर्ता : तीन प्रकार के कर्म हैं न, इनमें से भावकर्म और द्रव्यकर्म के बीच में निमित्त-नैमित्तिक संबंध क्या है? वह ठीक से समझा दीजिए।

दादाश्री : द्रव्यकर्म अर्थात् यह जो *शाता-अशाता* भोगना पड़ता है न, वह है द्रव्यकर्म। और फिर ये यश-अपयश मिलता है, वह भी द्रव्यकर्म है। बड़प्पन-छोटापन जो मिलता है, वह द्रव्यकर्म है। आयुष्य अच्छा या कम मिलता है, वह द्रव्यकर्म है। अत: ये

वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य, ये चार और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय। ये आठों आठ द्रव्यकर्म, इनमें से भावकर्म उत्पन्न होते हैं। भावकर्म किस तरह से उत्पन्न होते हैं? तो कहते हैं कि जब *अशाता* वेदनीय आता है, तब बच्चों पर चिढ़ जाता है, वाइफ पर चिढ़ जाता है, *शाता* वेदनीय आया तो खुश हो जाता है। फिर आता है उच्च गोत्रकर्म, अगर उच्च गोत्रकर्म मिले तो खुश होता है। हल्के प्रकार का गोत्रकर्म हो, तब कोई कहे कि 'आप लोग तो हल्के हो' तो फिर दु:ख होता है। अत: इसमें से भावकर्म बंधते हैं।

प्रश्नकर्ता : वे जो सूक्ष्म परमाणु अंदर पड़े हुए होते हैं, वे क्या द्रव्यकर्म के रूप में पड़े होते हैं?

दादाश्री : हाँ, द्रव्यकर्म के रूप में, सही है। अत: ये सब जो द्रव्यकर्म हैं, तो भावकर्म उत्पन्न होते हैं। लेकिन अगर आप इनके मालिक नहीं बनो तो भावकर्म खत्म हो जाएँगे। आप इसका मालिकीपन मान बैठे हो, उससे ये भावकर्म उत्पन्न होते हैं। इसका मालिकीपना छूट जाए तो फिर भावकर्म खत्म हो जाएगा। भावकर्म खत्म हो जाएगा तो फिर चार्ज कर्म बंद हो जाते हैं और सिर्फ डिस्चार्ज ही रहता है। वे इस देह से भोगने हैं।

प्रश्नकर्ता : भावकर्म में प्रकार और डिग्री उसी अनुसार होती है या उसके प्रकार और डिग्री बदलते हैं?

दादाश्री : नहीं, ऐसा नहीं है। एक ही तरह का होता है। वह मूल जगह से रिसता रहता है, उसे भावकर्म कहते हैं। और फिर उससेनए द्रव्यकर्म बनते-बनते तो कितना ही टाइम लग जाता है!

आत्मा को अशुद्धि लगने का रहस्य

प्रश्नकर्ता : यहाँ पर प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि आत्मा यदि शुद्ध ही था, बिल्कुल, पूर्ण शुद्ध। यह जो *पुद्गल* के सामीप्य में आया था, तब उसे ऐसा क्यों हो गया? 'मैं शुद्ध नहीं हूँ' और उसने यह पकड़ लिया, अपनी शुद्धता को वह भूल गया उस समय?

दादाश्री : नहीं, वह भूला नहीं है कुछ भी। व्यतिरेक गुण उत्पन्न हो गए हैं।

प्रश्नकर्ता : यानी कि उसने भाव किया?

दादाश्री : नहीं, भाव वगैरह कुछ भी किया ही नहीं। उस द्रव्यकर्मों में से, ये व्यतिरेक गुण भावकर्म उत्पन्न हुए। भावकर्म यानी कि, मान अत: मैं व लोभ यानी मेरा। मैं और मेरा हुआ कि शुरू हो गया। उस 'मैं' को दु:ख होता है। आत्मा को तो कुछ स्पर्श ही नहीं करता लेकिन अब उसे यह दु:ख पड़ना बंद कैसे होगा? उस दु:ख का अनुभव होता है न! क्योंकि 'मैं' पने की बिलीफ है। बिलीफ यानी क्या है कि इसमें चेतन का पावर भरा हुआ है, मान लिया है इसलिए। चेतन का कैसा पावर आया? बिलीफरूपी। उस पावर का दु:ख है, इसमें यह पावर है न, उससे दु:ख है। पावर खिंच जाए तो दु:ख चला जाएगा। अत: इस सेल के पावर का उपयोग हो जाए न, तो फिर यह सेल खाली। व्यतिरेक गुणों से यह पावर खड़ा हो गया है। इसे व्यवहार आत्मा कहते हैं। वास्तव में यह आत्मा नहीं है, 'प्रतिष्ठित आत्मा' है।

प्रश्नकर्ता : ये जो दो मूलभूत तत्व इकट्ठे रहते हैं, क्या वे खुद के गुण और स्वभाव को नहीं छोड़ते?

दादाश्री : लेना-देना ही नहीं है। कुछ भी लेना-देना नहीं है। यदि कभी क्रोध-मान-माया-लोभ उत्पन्न नहीं होते न, तो आत्मा अंदर रहता और इन्द्रियाँ अंदर खाती रहतीं आराम से, खाना-पीना वगैरह सभी कुछ चलता लेकिन ये व्यतिरेक गुण उत्पन्न हो गए हैं। इसमें क्रोध-मान-माया-लोभ खड़े हो गए हैं।

'मैं ◌ंचदूभाई हूँ' ऐसा मानकर जो कुछ भी किया जाता है, वे सब भावकर्म हैं, अत: उससे कर्म बंध गए। और 'मैं शुद्धात्मा हूँ,' वह स्वभाव है, इसमें आत्मा स्वभाव में है लेकिन भावकर्म अर्थात् विभाव में है। अत: 'मैं चंदूभाई हूँ' वह विभावकर्म है, वही भावकर्म है। जिनके कारण उल्टा दिखता है, वे सभी भावकर्म कहलाते हैं। जिनके कारण सीधा दिखे, वे स्वभावकर्म कहलाते हैं। अत: भाव जो चीज़ है उसमें से उल्टा दिखता है और भावकर्म उत्पन्न होते हैं। 'यह करूँ और वह करूँ और फलाना करूँ' वे सभी भावकर्म हैं।

प्रश्नकर्ता : ये जो भावकर्म होते हैं, 'यह करूँ और वह करूँ,' वे भाव चार्ज भाव हैं या डिस्चार्ज भाव हैं?

दादाश्री : ज्ञान लेने के बाद वे तो डिस्चार्ज भाव कहलाते हैं। बाकी सब लोगों में तो वे चार्ज भाव ही हैं न! 'मैं कर रहा हूँ' वही चार्ज भाव है। हाँ, नाटकीय 'मैं' की बात अलग है। नाटिकीय 'मैं' वाला तो कोई-कोई ही होता है न। बाकी जहाँ पर 'कर रहा हूँ' है, तो वह सारा 'चार्ज' है। लोग जो ये सबकुछ करते हैं, व्यापार चलाते हैं, पैसे कमाते हैं वगैरह उसे 'मैं कर रहा हूँ' कहते हैं, वही भावकर्म है।

संयोगों के दबाव से बदल गई बिलीफ

प्रश्नकर्ता : भावकर्म किसे होता है, वह ज़रा समझना है। ये भावकर्म कौन करता है?

दादाश्री : यह तो ऐसा है न, वास्तव में भावकर्म आत्मा की ही शक्ति है। आत्मा की बिलीफ चेन्ज होती है। उसकी बिलीफ ही, ज्ञान को कुछ भी नहीं होता। बिलीफ को ही होता है।

अब, भावकर्म क्यों होते हैं? तो वह इसलिए कि आत्मा तो देख-जान सके, ऐसा है लेकिन इस समसरण मार्ग में जो ये सब संयोग मिले, वे सब छः वस्तुएँ, उनकी वजह से पर्दे, आँखों पर पट्टियाँ बंध जाती हैं। (ऑरिजिनल मूल द्रव्यकर्म) इन आठ कर्मों में से आँखों पर चार कर्मों की पट्टियाँ बाँधी हैं और दूसरे चार कर्म यों देह से भोगने हैं।

द्रव्यकर्म, इन चार कर्मों की जो पट्टियाँ बंध जाती हैं न, उनकी वजह से सब उल्टा दिखता है और सबकुछ उल्टा चलता रहता है। खुद अपने आप को उल्टा मानता है, वही भावकर्म है। जब ज्ञान देते हैं तब ये पट्टियाँ निकल जाती हैं। उसके बाद वापस सीधा चलने लगता है। लेकिन वास्तव में इस भावकर्म का कर्ता कौन है? तो वह है अहंकार। जो भोगता है, वही। इसमें आत्मा नहीं भोगता।

कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा ने भावकर्म किया। इस आत्मा और भावकर्म को जगत् अपने आप ही खुद की भाषा में समझ जाए तो उसका हल नहीं आ सकता। वीतरागों की भाषा में समझना पड़ेगा। और यदि भावकर्म आत्मा का गुण है तो फिर हमेशा के लिए रहेगा। आपको समझ में आ रही है यह बात?

अब यह भावकर्म क्या है? दो वस्तुएँ, वस्तु हमेशा अविनाशी होती है, तीर्थंकरों ने इसे वस्तु कहा है, दो अविनाशी वस्तुओं का (जड़ और चेतन का) जब संयोग होता है तब विशेष गुण उत्पन्न होते हैं। दोनों के खुद के गुणधर्म तो हैं ही और फिर विशेष गुणधर्म उत्पन्न होते हैं। जिसे लोग विभाव कहते हैं। लोग इसे खुद की भाषा में विरुद्ध भाव समझते हैं न, तो वे ऐसा कहते हैं कि आत्मा का विरुद्ध भाव उत्पन्न हुआ। कहते हैं कि आत्मा में संसार भाव उत्पन्न हुआ। अरे, आत्मा में कभी संसार भाव उत्पन्न होता होगा? विशेषभाव है। दो वस्तुओं का संयोग होने से। वे वस्तुएँ अविनाशी होनी चाहिए, तो उनके संयोग से विशेषभाव उत्पन्न होता है।

प्रश्नकर्ता : दोनों में विशेषभाव उत्पन्न होता है?

दादाश्री : दोनों में। *पुद्गल* में भी विशेषभाव होता है और आत्मा में भी विशेषभाव होता है।

प्रश्नकर्ता : विशेषभाव दोनों के अलग-अलग उत्पन्न होते हैं या दोनों का मिलकर एक ही होता है?

दादाश्री : यह तो ऐसा है न, कि *पुद्गल* में...... *पुद्गल* जीवंत वस्तु नहीं है। उसमें भाव नहीं होता लेकिन वह विशेषभाव को ग्रहण करे, इस तरह तैयार हो जाता है। इसलिए उसमें भी बदलाव आता है और आत्मा में भी बदलाव आता है। अब आत्मा इसमे कुछ भी नहीं करता, *पुद्गल* कुछ भी नहीं करता, विशेषभाव उत्पन्न होते हैं।

प्रश्नकर्ता : दोनों का संयोग पास-पास में होने के कारण?

दादाश्री : संयोग हुआ कि तुरंत ही विशेषभाव उत्पन्न हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : मात्र संयोगों के कारण से है या किसी और कारण से?

दादाश्री : संयोगों के कारण से है। लेकिन संयोगों के अलावा दूसरा जो कारण है, वह अज्ञानता है, यह बात तो हमें मान ही लेनी है। क्योंकि हम जो बात कर रहे हैं न, वह अज्ञानता की बाउन्ड्री के अंदर की बात कर रहे हैं, वह बाउन्ड्री, ज्ञान की बाउन्ड्री की बात नहीं कर रहे हैं हम। अत: वहाँ पर अज्ञान दशा में आत्मा को यह विशेषभाव उत्पन्न हो जाता है।

प्रेरणा पावर चेतन की

प्रश्नकर्ता : श्रीमद् राजचंद्र ने कहा है कि *'होए न चेतन प्रेरणा, तो कौन ग्रहे कर्म?'* यह समझाइए।

दादाश्री : यह तो ऐसा है न कि वह क्रमिक मार्ग है। अब यह क्रमिक मार्ग किसे चेतन मानता है? व्यवहार आत्मा को चेतन मानता है। अर्थात् उस चेतन की प्रेरणा है यह लेकिन हम क्या कहते हैं कि यह सब इगोइज़म का है! और वे उसे आत्मा कहते हैं कि

'यह प्रेरणा चेतन दे रहा है।' अब यह चेतन तो चेतन है ही लेकिन हमने तो हिसाब निकाला कि यह पावर चेतन है, ऑलराइट (मूल शुद्ध) चेतन नहीं है। और यदि ऑलराइट चेतन होता तो वह जो प्रेरणा हुई तो वह हमेशा के लिए प्रेरक ही रहता, जहाँ जाए वहीं पर।

प्रश्नकर्ता : अत: यह जो, *पुद्गल* का जो परिवर्तन होता है, उसमें उसे ग्रहण कौन करता है? ग्रहण करने का क्या है इसमें?

दादाश्री : हाँ, सही कहते हैं, *'होए न चेतन प्रेरणा, तो कौन ग्रहे कर्म?'* यह 'मैं कर रहा हूँ,' वह कर्म का ग्रहण करता है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् कोई ग्रहण नहीं करता लेकिन यह तो मान्यता है।

दादाश्री : यह सारी मान्यता ही है न! ये सारी रोंग बिलीफेंही हैं। ये भी मान्यता ही हैं और फिर वैसा ही स्वरूप *पुद्गल* का हो जाता है। 'हम' जैसा बोलते हैं न, वैसा ही स्वरूप *पुद्गल* का हो जाता है। जैसे भाव हैं, उसके फल स्वरूप द्रव्य बन जाता है। *पुद्गल* का गुण ऐसा है और अगर ऐसा रहे कि 'मैं कर्ता नहीं हूँ' तो फिर उस *पुद्गल* को कुछ भी नहीं होता। जो हैं, वे भी अलग हो जाते हैं। ज्ञाता-दृष्टा हुए कि अलग हो जाते हैं। जब तक कर्ता है तब तक नए *पुद्गल* को ग्रहण भी करता है और पुराने को छोड़ता भी है। छोड़नेवाला भी 'वह' है और ग्रहण करनेवाला भी 'वही'। जबकि इसमें तो ग्रहण करनेवाला बंद हो गया और छोड़नेवाला व्यवस्थित है। बीच में 'खुद' मुक्त हो गया।

अब यह गूढ़ चीज़ लोगों को किस तरह समझ में आए? यह नहीं समझ पाता इसीलिए ऐसा ही समझता है कि मूल चेतन ही यह सब कर रहा है!

भावकर्म है निज कल्पना

प्रश्नकर्ता : तो कृपालुदेव ने यह भी कहा है न, '*भावकर्म निज कल्पना, माटे चेतन रूप, जीव वीर्य की स्फुरणा, ग्रहण करे जड़ धूप।'* यह समझाइए।

दादाश्री : हाँ, वह ठीक है। 'भावकर्म निज कल्पना माटे चेतन रूप' लेकिन वह तो जब तक भावकर्म रहेंगे, तभी तक है। वह जो भावकर्म है वह व्यवहार आत्मा से संबंधित है। अपने यहाँ पर भावकर्म ही पूरी तरह से खत्म कर दिया है, बिल्कुल ही।

प्रश्नकर्ता : मूल आत्मा को रखा है सिर्फ।

दादाश्री : (अक्रम में) शुद्ध मूल आत्मा को ही रख दिया है जबकि क्रमिक में, वह भावकर्म है। वह 'खुद' की कल्पना है, अत: चेतन रूप अर्थात् मिश्रचेतन बनता है।

निज कल्पना अर्थात् संकल्प–विकल्प। जिसे भावकर्म नहीं है वह निर्विकल्प। हमने भावकर्म का पूरा अस्तित्व ही खत्म कर दिया। क्रमिक मार्ग में जो अंतिम अवतार में जाता है, केवलज्ञान होने पर जाता है, वह हमने यहाँ पर तुरंत ही खत्म कर दिया। वर्ना तो 'आप' निर्विकल्प कहलाओगे ही नहीं न! और 'मैं चंदूभाई हूँ,' वही विकल्प है, 'मैं इन्जीनियर हूँ' वह...विकल्प है, 'मैं जैन हूँ' वह....विकल्प है, 'मैं बनिया हूँ' वह....विकल्प है, 'पचास साल का हूँ' वह.....विकल्प है, ऐसे कितने ही विकल्प हैं। सभी विकल्प फ्रेक्चर हो गए।

अब यह जो भाषा है, उसे सिर्फ ज्ञानी ही समझ सकते हैं। अज्ञानी लोग तो कैसे समझेंगे? अत: लोग मूल चेतन को ही ऐसा समझते हैं कि चेतन ऐसा ही होता है। भाव और संकल्प–विकल्प किए बगैर रहता ही नहीं है।

भावकर्म वह कहलाता है कि व्यवहार आत्मा का संकल्प किया और विकल्प किया। उसमें चेतन की स्फुरणा हुई, इसलिए उसमें पावर आ गया, पुद्गल में। *पुद्गल* पावरवाला, पावर चेतन हो गया। अब ज्ञान लेने के बाद नया नहीं भरता है और जो पुराना है, वह डिस्चार्ज होता रहता है।

कल्पना के अनुसार बना *पुद्गल*U

भावकर्म अर्थात् कषाय की वजह से स्वभाव धर्म चूक जाना। उस कषाय की वजह से खुद का निजभाव चूक जाता है, और फिर परभाव उत्पन्न होता है। वह परभाव भावकर्म कहलाता है। लेकिन कल्पना 'खुद' की ही है, इसलिए कृपालुदेव कहते हैं कि 'चेतन रूप' है।

'जड़धूप' अर्थात् परमाणुओं को खींचता है। गुस्सा हो जाए, भावकर्म हुआ कि परमाणु खींच लिए और खास तौर पर बाहर के परमाणु प्रविष्ट नहीं होते। देखने जाएँ तो बाहर के परमाणु तो स्थूलरूप से हैं, बाकी अंदर के ही निज आकाश में खींचता है। उसके अंदर सभी तरह के परमाणु हैं। बाकी सूक्ष्म तो अंदर ही हैं, तैयार ही हैं। सूक्ष्म परमाणुओं के हिसाब से बाहर के मिल जाते हैं। स्थूल भी चाहिए न?!

और 'खुद' ने कल्पना की, यानी कि यहाँ पर जो कल्पना की उसे डिज़ाइन कहते हैं और डिज़ाइन का फोटो पड़ता है, तो *पुद्गल* वैसा ही हो जाता है। जैसी कल्पना हम यहाँ पर करते हैं, वह *पुद्गल* वैसा ही बन जाता है। अत: यह *पुद्गल* हमें बनाना नहीं पड़ा है, अपनी कल्पना अनुसार ही बन गया है। भावकर्म की कल्पना के अनुसार ही *पुद्गल* बन गया है, आँख वगैरह सभी कुछ। अर्थात् *'जीव वीर्य की स्फुरणा ग्रहण करे जड़धूप।'* इसका मतलब कि ये परमाणुओं को खींचता है और ग्रहण करता है। स्फुरणा हुई कि तुरंत ही खींचता है। जैसे भाव हैं, जैसी स्फुरणा हुई उस प्रकार के *पुद्गल* को खींचता है और यह उत्पन्न हो गया है। नहीं तो भैंस किसने बनाईं? तो कहते हैं, 'इसने खुद ने ही बनाई और फिर अंदर घुस गया।' हाथी किसने बनाया? तो कहते हैं, 'इसी ने बनाया।' वैसा कोई जान-बूझकर नहीं बनाता, कषाय से बनाता है। कषाय अर्थात् वहाँ पर खुद का कुछ भी नहीं चलता, परभाव है! जो जबरन करना ही पड़े, वह परभाव। तभी स्वभाव खत्म हो जाता है, नहीं तो कोई गधा बनता होगा? किसी को अच्छा लगता है? लेकिन क्या हो सकता है? लेकिन देखो हाथी बनकर रहता है न अंदर आराम से। फिर सूँड ही हिलाता रहता है न! और इस गधेभाई को देखो न, पोटलियाँ लेकर घूमता है न!

यह समझ में आया आपको, '*ग्रहण करे जड़धूप?*' तो 'हमने' ही जड़धूप उत्पन्न की है। भगवान ऐसा कुछ भी बनाने नहीं आए हैं! कोई कुछ भी करने नहीं आया है! आपने खराब भाव किए कि परमाणुओं ने घेर लिया आपको और वे परमाणु आपको ही अंध बना देते हैं। और अगर अच्छे भाव करोगे तो वे परमाणु खत्म हो जाएँगे। उन्हें सँभाल कर रखो ऐसा भी नहीं है। लेकिन अच्छा करना भी आना चाहिए न? और अच्छा करने के बाद खराब नहीं करना हो तो ठीक है लेकिन फिर खराब भी कर देता है। यह हाथी क्या करता है? यों सूँड लेकर पहले पानी से नहा आता है और फिर सूँड में लेकर खुद के ऊपर धूल भी उड़ाता है। फिर वापस नहाने जाता है। तो भाई अगर नहाना ही है तो धूल क्यों उड़ा रहा है? प्रकृति स्वभाव जाता नहीं है न!

ज्ञान से अकर्ता, अज्ञान से कर्ता

प्रश्नकर्ता : आत्मा तत्व से कर्म का कर्ता नहीं है, तो फिर वह भावकर्म किस तरह कर सकता है?

दादाश्री : तत्व से वह कर्म का कर्ता नहीं है लेकिन अज्ञान से तो कर्ता है न! जब तक वह यह नहीं जानता कि 'मैं कौन हूँ' तब तक 'वह' कर्ता ही है। 'मैं शुद्धात्मा हूँ' ऐसा भान होने के बाद फिर कर्ता नहीं रहता।

अनुपचरित व्यवहार से कर्ता

प्रश्नकर्ता : श्रीमद् राजचंद्र का वाक्य है कि '*अनुपचारिक व्यवहार से आत्मा द्रव्यकर्म का कर्ता है, उपचार से घर-नगर आदि का कर्ता है।*' यह समझाइए।

दादाश्री : अपने लिए अब उपचरित और अनुपचरित कुछ रहा ही नहीं न! ये सारे शब्द तो क्रमिक मार्ग में सिखलाए जाते हैं। किस आधार पर 'तू चंदूभाई है' और किस आधार पर तूने घर बनाया और यह किया और वह किया, वह सब किस आधार पर है? वह उपचार व्यवहार से है और अनुपचरित व्यवहार, जिसका उपचार ही नहीं हुआ किसी प्रकार का, ऐसी योजना ही नहीं बनी, डिज़ाइन नहीं बनी, उस अनुपचरित व्यवहार से

आत्मा द्रव्यकर्म का कर्ता है। आठ कर्म जो फल देते हैं, उस उपचार से घर–नगर आदि का कर्ता है।

'मैं जा रहा हूँ और आ रहा हूँ' वह उपचार है क्योंकि जो चरित हो चुका है वह उपचरित हो रहा है। चरित में से उपचरित होता है। फंक्शन करना हो तो औपचारिक करना पड़ता है। उपचरित के बाद औपचारिक। चरित तो हो चुका है और अब उपचरित। ऐसा कहते हैं न, 'यह सब उपचार मात्र है।'

'उपचार से घर–नगर आदि का कर्ता है,' यह समझ में आया न आपको और अनुपचर्य वह समझ में आया न? यह नाक–वाक बनाना अगर अपनी ज़िम्मेदारी होती तो कितनी मुश्किल हो जाती! घर–नगर सभी कुछ बना देता है लेकिन सिर पर अगर जोखिमदारी होती तो कितनी मुश्किल हो जाती! इसलिए देखो न, जोखिमदारी के बगैर है न!

'खुद' भावकर्म करता रहता है और शरीर बन जाता है। उस भावकर्म के करनेवाले को *पुद्गल* के साथ लेना–देना नहीं है लेकिन भाव किया कि तुरंत ही उस अनुसार वैसा *पुद्गल* बन जाता है।

प्रश्नकर्ता : वे *पुद्गल* खिंचते हैं?

दादाश्री : हाँ। और वह भी खिंचकर। खिंचने से ही तो तैयार हुए हैं। खिंचे हुए तो हैं ही। अब भाव करते ही बन जाता है। अत: जैसे–जैसे भाव करता है वैसा ही बन जाता है। मतलब यह पता नहीं चलता कि यह सब किस तरह से बन रहा है! *पुद्गल* की यह डिज़ाइन किस तरह से बन गई? आत्मा जिस भाव की डिज़ाइन करता है न, वैसी ही डिज़ाइन बन जाती है। यह भाव की डिज़ाइनिंग करता है और *पुद्गल*, *पुद्गल* की डिज़ाइनिंग करता है। यह जैसे भाव करता है, उस पर से तुरंत ही *पुद्गल* बन जाता है। जैसे कि अगर हम दर्पण के सामने हाथ ऊँचा करें तो वह दिखाता है न, ऐसा ही है, बस। तुरंत वैसा ही हो जाता है। हम हाथ ऊँचा करें तो वह तुरंत ही दिखाता है न? वैसा हो जाता है। अत: यह शब्द बहुत समझने जैसा है, बहुत गहरा शब्द है, लेकिन क्रमिक मार्ग में! यहाँ इसमें तो ज़रूरत

है नहीं न हमें तो। मैंने आपका उपचार, अनुपचार वगैरह सब निकाल दिया है। रटने को कुछ रखा ही नहीं है। दूसरे दिन से ही आत्मा के अनुभव सहित घूमने लगते हो।

इलेट्रिकल बॉडी और कषाय

प्रश्नकर्ता : अब क्रोध–मान–माया–लोभ को भावकर्म कहा है। एक बार इस तरह बात निकली थी कि सूक्ष्म शरीर के आधार पर क्रोध–मान–माया–लोभ होते हैं।

दादाश्री : हाँ, वह ठीक है। वहाँ पर सूक्ष्म शरीर ही है न! इलेक्ट्रिकल बॉडी से परमाणु चार्ज भी होते हैं और उससे जलन–जलन–जलन! ऐसा होता है न, परमाणु।

प्रश्नकर्ता : तो फिर भावकर्म और सूक्ष्म शरीर इन दोनों में क्या संबंध है?

दादाश्री : कोई लेना–देना नहीं है। सूक्ष्म बॉडी खाना पचाती है, ऐसा सबकुछ करती है, खून को ऊपर चढ़ाती है।

प्रश्नकर्ता : फिर भी यह क्रोध–मान–माया–लोभ का आधार बन जाता है?

दादाश्री : आधार इलेक्ट्रिकल बॉडी नहीं है। इलेक्ट्रिसिटी कहाँ से आती है? इलेक्ट्रिसिटी की ज़रूरत है न! ये परमाणु इलेक्ट्रिसिटीवाले हैं, तभी जलन होती है न हमें! इलेक्ट्रिसिटी से चार्ज हुए हैं, तभी तो जलन होती है न!

प्रश्नकर्ता : तो उस समय सूक्ष्म शरीर की इलेक्ट्रिसिटी काम आती होगी?

दादाश्री : हाँ, सूक्ष्म शरीर में सारी इलेक्ट्रिसिटी ही होती है।

जलती है मोमबत्ती और झरता है मोम

जिन्होंने ज्ञान नहीं लिया हैं, उनके अब दूसरे नए द्रव्यकर्म बंध रहे हैं। वे किस आधार पर बंधते हैं! तो वह है, 'भावकर्म से दूसरे नए बंधते हैं और इस जन्म के जो द्रव्यकर्म हैं, वे जो विलय होते हैं, वे विलय होते जाते हैं तब अगले जन्म के नए भावकर्म

अंदर झरते रहते हैं। जैसे मोमबत्ती जलती है तब उसका मोम झरता रहता है न, तो इसमें से भी भाव झरते रहते हैं।

पूरा जगत् भावकर्म पर टिका हुआ है और उसी से नए द्रव्यकर्म बंधते रहते हैं और उसमें से वापस भावकर्म उत्पन्न होते हैं। वापस द्रव्यकर्म बंधते हैं, और ऐसा चलता ही रहता है।

प्रश्नकर्ता : और उन कर्मों के फल स्वरूप यह शरीर उत्पन्न होता है?

दादाश्री : कषायों से भावकर्म होते हैं और भावकर्म होने से कर्म तो बंधेगे ही। वे वापस अगले जन्म में फल देने को तैयार हो जाते हैं। भावकर्म में से द्रव्यकर्म बन जाते हैं। द्रव्यकर्म बनते हैं तब क्या होता है? सभी बँट जाते हैं, उनके आठ विभाग हो जाते हैं। उनमें से इतना ज्ञानावरण में, इतना दर्शनावरण में, इतना मोहनीय में और इतना अंतराय में, इतना नाम में, इतना वेदनीय में, इतना आयुष्य में और इतना गोत्र में।

उन द्रव्यकर्म में से भावकर्म होते हैं, वर्ना अगर द्रव्यकर्म साफ हो जाने के बाद भावकर्म होते ही नहीं। अत: हमने दर्शनावरण और मोहनीय खत्म कर दिया है। उससे दृष्टि बदल गई इसलिए भावकर्म खत्म हो गया है। पूरा ही भावकर्म खत्म हो गया है।

द्रव्यकर्म के बीज में से फल भावकर्म का

भावकर्म हमेशा द्रव्यकर्म में से उत्पन्न होते हैं लेकिन जब तक भावकर्म रहते हैं तब तक अज्ञानता है और जब भावकर्म रहा ही नहीं तब ज्ञान।

अत: जब यह ज्ञान दिया, तब हमने पट्टियाँ निकाल दीं। उससे पूरा ही भावकर्म खत्म हो गया जिससे कि पूरा संसार खड़ा है। भावकर्म पूरा ही खत्म हो गया है, उसी को कहते हैं अक्रम। और जैसा आप कहते हैं वैसा ही इस क्रमिक मार्ग में भी कहते हैं कि भावकर्म से वापस द्रव्यकर्म और वापस द्रव्यकर्म मंe भावकर्म लेकिन वे लोग द्रव्यकर्म को कुछ और ही समझते हैं। बाहर जो व्यवहार चलता है न, उसे कुछ अलग ही समझते हैं। बाकी द्रव्यकर्म का मतलब तो 'उल्टे चश्मे' है, बस। मूल कारण द्रव्यकर्म है। द्रव्यकर्म में से भावकर्म उत्पन्न होते हैं। कारण में से कार्य और कार्य में से वापस कारण उत्पन्न होते हैं। अब यहाँ पर द्रव्यकर्म किसे कहते हैं कि जो दिखाई देते हैं उन कर्मों को द्रव्यकर्म कहते हैं ये लोग। वास्तव में यह हकीकत तीर्थंकरों ने इस तरह से नहीं बताई थी। तीर्थंकरों ने द्रव्यकर्म और भावकर्म, सिर्फ दो ही बताए थे।

प्रश्नकर्ता : लेकिन जो दिखाई देते हैं, वे द्रव्यकर्म नहीं हैं?

दादाश्री : नहीं, नहीं। अभी इस भाषा में तो ऐसा ही चला है लेकिन यहाँ पर तो हमने कहा है न, वही करेक्ट बात है जबकि बाहर जैसा आप कह रहे हो, वैसा चलता है।

प्रश्नकर्ता : उस भाव के बारे में मुझे अभी तक ठीक से समझ में नहीं आया।

दादाश्री : इस पूरी ज़िंदगी के जो कारण हैं, वे कॉज़ेज़ हैं। वे अगले जन्म में पट्टियों के रूप में आते हैं। आवरण के रूप में अर्थात् पट्टियाँ, लेकिन ज़रा हरा होता है तो हरा दिखाई देता है, पीला होता है तो पीला दिखाई देता है। अत: लोगों में अलग–अलग भाव उत्पन्न होते हैं!

प्रश्नकर्ता : तो यह द्रव्यकर्म फिर से अगले जन्म का कारण हुआ न?

दादाश्री : यही पट्टियाँ(द्रव्यकर्म) अगले जन्म का कारण हैं, जो आत्मा को अंधा बना देती हैं। जिनके कारण भाव करता है, नहीं तो आत्मा भाव करे ही नहीं कभी भी।

प्रश्नकर्ता : भाव तो प्रतिष्ठित आत्मा ही करता है न दादा? शुद्धात्मा तो करता ही नहीं न?

दादाश्री : वस्तुस्थिति में प्रतिष्ठित आत्मा भी भाव करता ही नहीं है न! शुद्धात्मा भी भाव नहीं करता। यह तो जो ऐसा मानता है कि 'मैं चंदूभाई ही हूँ', वह व्यवहार आत्मा भाव करता है। प्रतिष्ठित आत्मा तो भाव से ही बना है न! यदि भाव नहीं होता तो प्रतिष्ठित आत्मा होता ही नहीं।

ये उल्टी प्ट्टियाँ ही बाधक हैं। अब ये उल्टी पट्टियाँ क्या है? पूर्व के अपने हिसाब का जो फल है वही हमें दिखाता है।

प्रश्नकर्ता : उसका ज़ोर कितना होता है?

दादाश्री : ज़ोर तो ऐसा है न कि उसके मूल कारण का जितना ज़ोर रहा होगा न, उतना ही कार्य में ज़ोर आएगा। कारण ज़ोरदार होगा न तो कार्य भी ज़ोरदार होगा। कारण ढीला होगा तो कार्य भी ढीला।

प्रश्नकर्ता : लेकिन यदि कारण ज़ोरदार होगा तो वह खींच ले जाएगा न?

दादाश्री : अरे, इंसान को खींच ले जाना तो क्या लेकिन उल्टा पटक देता है न! सारी उल्टी पट्टियाँ, उल्टा दिखाती हैं। आपको उल्टा दिखाती हैं या सीधा दिखाती हैं?

प्रश्नकर्ता : दादा, अब सीधा ही दिखाई देता है।

दादाश्री : ऐसा! उल्टा देखा था, कभी पहले?

प्रश्नकर्ता : बहुत सारा।

दादाश्री : ऐसा! अब नहीं दिखाई देता? हम ज्ञान देते हैं न, उससे इन सभी आवरणों का काफी कुछ भाग खत्म हो जाता है लेकिन कुछ लोगों को यह अंदर पचता नहीं है। विज्ञान नहीं पचता। जैसे-जैसे पचेगा न वैसे-वैसे खुलासा होता जाएगा। एकदम से नहीं पचता न! जैसे-जैसे पचता जाता है वैसे-वैसे खुलासा होता जाता है। लेकिन अगर सत्संग में पड़ा रहे तो उसकी गाड़ी रास्ते पर आ जाएगी। क्योंकि यह सत्संग ऐसी

चीज़ है कि इससे दिनोंदिन उसका आवरण टूटता ही जाता है, लेकिन परिचय की ज़रूरत है।

द्रव्यबंध – भावबंध

प्रश्नकर्ता : द्रव्यबंध और भावबंध के बारे में समझाइए।

दादाश्री : अगर इंसान ने यह ज्ञान नहीं लिया हो तो वह जो-जो करता है, उन सभी से भावबंध होता है। अज्ञान की उपस्थिति में जो कुछ भी किया जाता है वह भावबंध है और इस भावबंध में से द्रव्यबंध परिणामित होता है। वहाँ पर जो आठ कर्म हैं, उन्हें द्रव्यकर्म का बंध ही कहते हैं। द्रव्यकर्म उसी को कहते हैं। अन्य कोई द्रव्यकर्म हैं ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : वहाँ पर क्रमिक मार्ग में शास्त्रों में, जो आठ कर्म हैं उन सभी रूपी कर्मों को द्रव्यकर्म कहते हैं। कार्मण वर्गणा(कारण परमाणुओं का समूह) का जो समूह होता है उसमें जब आत्मा एकाकार हो जाए, अध्यवसाय (मन में परमाणुओं का फूटना) एकाकार हो जाए तो उसे द्रव्यबंध कहते हैं। अत: वहाँ पर द्रव्यबंध को रूपी कहा गया है और भावबंध को अरूपी कहा गया है।

दादाश्री : क्या ज्ञानावरण दिख सके ऐसा हैं? दर्शनावरण नहीं दिखाई देते हैं, अंतराय नहीं दिखाई देते, वे ही वास्तविक द्रव्यकर्म हैं। ये आठों कर्म जो हैं, वे ही द्रव्यकर्म हैं। भगवान की भाषा को समझना हो तो भगवान की भाषा में ये द्रव्यकर्म हैं। और इन द्रव्यकर्मों की वजह से क्रोध-मान-माया-लोभ हैं। द्रव्यकर्म की पट्टियाँ हैं। दर्शनावरण की पट्टियाँ हैं इसीलिए वह टकराता है बेचारा। टकराता है इसीलिए चिढ़ता है। उसी से भावकर्म बंधते हैं।

प्रश्नकर्ता : क्या ज्ञानावरणीय कर्म रूपी हैं?

दादाश्री : नहीं, लेकिन मेरा कहना यह है कि क्रमिक में ये लोग द्रव्यकर्म किसे कहते हैं? अगर कोई नसवार सूँघ रहा हो तो उसे द्रव्यकर्म कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : हाँ, जो दिखाई देता हैं उसे, जो रूपी होता है उसे।

दादाश्री : जो दिखाई देते हैं न उन सभी को, द्रव्यकर्म कहते हैं। अब मैं यह फूल की माला पहनता हूँ तो उसे द्रव्यकर्म कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : हाँ, ऐसा ही कहते हैं।

दादाश्री : अब हम क्या कहते हैं कि ये द्रव्यकर्म दो प्रकार के नहीं होते, एक ही प्रकार के होते हैं। द्रव्यकर्म किसे कहते हैं कि जिनमें से भावकर्म उत्पन्न हों और जिनमें से भावकर्म उत्पन्न नहीं होते, वे द्रव्यकर्म नहीं हैं।

अत: अपना यह विज्ञान अलग ही तरह का है। अपना तो सबकुछ क्लियर है न! वे कॉम्प्लेक्स में भले जो भी करते हों, बाकी वह समझ नहीं है, सही बात नहीं है। वे भगवान की बातें नहीं हैं। भगवान की बातें क्लियर हैं। फिर उनके बाद से भले ही कुछ भी हो गया हो। मैं तो सभी को नोकर्म कहता हूँ, ये सभी नोकर्म हैं लेकिन वह अपने विज्ञान के आधार पर है। क्रमिक विज्ञान में कोई फर्क हो तो उसका अलग अर्थ हो सकता है। पॉसिबल है उनमें।

यह अज्ञान से खड़ा हो गया है। अज्ञान चला गया इसलिए यह चल पड़ा है। अज्ञान चला गया है न! ऐसा मानते थे कि 'मैं चंदूभाई हूँ' वह खत्म हो गया न?!

प्रश्नकर्ता : हाँ, बिल्कुल खत्म गया है।

दादाश्री : खत्म हो गया तो बस, तो वही है यह। अत: वहाँ पर क्रमिक है न, इसलिए शायद ऐसे अर्थ की ज़रूरत पड़ भी सकती है कभी।

अब वहाँ पर द्रव्यबंध की भाषा अलग है। उस भाषा में द्रव्यकर्म किसे कहते हैं, जो आँखों से दिखें ऐसी सब चीज़ों को, जो गुस्सा हो गया उसे भावबंध कहते हैं और किसी की मार खाई तो उसे द्रव्यबंध कहते हैं, लेकिन वास्तव में इस भावकर्म में से बने हुए द्रव्यकर्म किसे कहते हैं, जो आठ मूलभूत आठ कर्म हैं उन्हें द्रव्यकर्म कहा जाता है और इसे भावकर्म कहा जाता है और जो आँखों से देखे जा सकते हैं वे नोकर्म कहलाते हैं। नोकर्म को ये लोग द्रव्यकर्म कहते हैं। यदि इतनी ही समझ होती तो *निकाल* हो जाता।

वहाँ पर तो इन नोकर्मों को भी द्रव्यकर्म मानते हैं। भावकर्म को द्रव्यकर्म मानते हैं लेकिन असल में द्रव्यकर्म तो ये जो आठ कर्म हैं न, वे हैं। द्रव्यकर्म में से भावकर्म और भावकर्म में से वापस द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म में से वापस भावकर्म और भावकर्म में से वापस द्रव्यकर्म बस। और इस नोकर्म की तो इतनी कुछ खास वैल्यू नहीं है। ये तो लट्टू घूमते हैं, वैसे घूमते हैं, उसमें क्या?

मात्र दृष्टि की ही भूल

अब भावकर्म का मतलब क्या है? कोई बड़े सेठ हों, उनके द्रव्यकर्म बहुत बड़े हों, लोकपूज्य व्यक्ति हो, और हम उनसे कहें, 'सेठ जी पधारिए। पधारिए, पधारिए, पधारिए।' तब सेठ पधारते हैं। उसमें हर्ज नहीं है, लेकिन वे फूल जाते हैं, वह भावकर्म है और अगर अपमान करें तो ठंडे पड़ जाते हैं। वह भी भावकर्म है। अत: ये आठ प्रकार के द्रव्यकर्म हैं। इनमें से सभी भावकर्म उत्पन्न होते हैं। ये राग-द्वेष रूपी भाव या क्रोध-मान-माया-लोभ रूपी भाव, तो उन सेठ का क्या हुआ? मान और क्रोध उत्पन्न हुआ। 'आइए, पधारिए' कहा तो वह गर्व से फूल जाता है और अपमान से इन्फिरियारिटी कॉम्प्लेक्स हुआ, तो ये दोनों ही नुकसान करते हैं।

जब उच्च गोत्र का फल आता है तब एलिवेशन होता है और नीच गोत्र का फल आता है तब डिप्रेशन होता है। उससे क्रोध-मान-माया-लोभ और राग-द्वेष होते रहते हैं। इसलिए वे *आश्रव* (कर्म के उदय की शुरुआत) कहलाते हैं। ये जो आठ द्रव्यकर्म हैं, फल देते समय उनका *आश्रव* होता है, क्रोध-मान-माया-लोभ होते हैं। अब भला यह किस तरह रुके? यह रुकता नहीं है न! कहाँ जाकर रुकता है? तो कहते हैं कि अगर आगे जाकर दृष्टि बदल जाए तो *आश्रव* के बाद *परिश्रव* (नये बंध पड़े बगैर कर्म की निर्जरा होना) होता है इस जगह पर आकर रुकता है। वर्ना द्रव्यकर्म में से भावकर्म हुए बगैर रह ही नहीं सकता।

अब हमने क्या किया है, ऐसा कर दिया है कि द्रव्यकर्म में से भावकर्म उत्पन्न ही न हों। यानी कि भावकर्म ही बंद कर दिए अर्थात् *आश्रव* को भी खत्म कर दिया। इस अक्रम विज्ञान ने क्या किया? सबकुछ खत्म कर दिया। कोई भाव ही नहीं। जो भी क्रोध-मान-माया-लोभ खड़े होते हैं, न वे सभी *निकाली*। वे अब उगने लायक नहीं रहे क्योंकि इनका जो मालिक था, वह निकल गया। नहीं तो वहाँ पर क्या होता है? 'यह मेरा है' यदि ऐसी दृष्टि हुईई तो उससे वापस उसका *आश्रव* होता है। भावकर्म होने से *आश्रव* होता है अत: फिर से बंध पड़ता है। लेकिन कृपालुदेव क्या कहते हैं? '*आश्रव* होने से बंध पड़ता ही है। अत: *आश्रवों* को खोदकर निकालने जैसा नहीं है। वे खोदे नहीं जा सकेंगे, मेहनत बेकार जाएगी।' लोग अनादि काल से ऐसी मेहनत करते आ रहे हैं। लेकिन सिर्फ 'दृष्टि' बदल डालो किसी भी तरह । फिर 'होत *आश्रवा-परिश्रवा*, नहीं इनमें संदेह, मात्र दृष्टि की भूल है।' यदि 'तेरी' 'दृष्टि' बदल जाए तो जो *आश्रव* है वही *परिश्रव* है। ऐसा कहते हैं। *परिश्रव* अर्थात् बंध पड़े बगैर *निर्जरा* हो जाती है। यह क्रमिक मार्ग का उच्चतम रास्ता है। और अपने यहाँ तो 'यह मेरा है ही नहीं,' तो वहाँ पर झंझट ही नहीं है। ज्ञान देते हैं तो दूसरे ही दिन से 'यह मेरा नहीं है ऐसा हो जाता है। ये जो' क्रोध-मान-माया-लोभ हैं, वे तो चंदूभाई के हैं! कार्यकारी नहीं हैं, वे निर्जीवतावाले हैं। अहंकार-वहंकार सबकुछ निर्जीव।

अत: 'वह' कहता है कि 'यह मेरा नहीं है, यह मेरा नहीं है, मैं शुद्धात्मा हूँ। मैं शुद्धात्मा हूँ' ऐसा कहता है न! पहले कहता था, कि 'मैं' ही चंदूभाई हूँ, अब वैसा नहीं है। तब कोई कहे कि 'चंदूभाई नहीं है?' तो वह चंदूभाई है ज़रूर लेकिन व्यवहार से कहलाते हैं। मात्र व्यवहार के लिए ही, वास्तव में 'मैं' चंदूभाई नहीं है! पूरी 'दृष्टि' ही बदल गई है।

यह तो, कृपालुदेव ज्ञानीपुरुष थे इसीलिए इस बात की प्राप्ति कर ली! उन्होंने जब प्राप्ति की तब खुद ने लिखा कि '*आश्रवा* ते *परिश्रवा*, नहीं इनमें संदेह, मात्र दृष्टि की भूल है।'

लिंगदेह, वही भावकर्म है

प्रश्नकर्ता : लेकिन दादा इसमें ऐसा हुआ कि आत्मा निर्लेप है, आत्मा पर कुछ भी असर नहीं होता। इसी प्रकार शरीर पर भी कोई असर नहीं होता। जो कुछ भी असर होता है, मान–अपमान, क्रोध–काम वह सारा असर लिंगदेह पर होता है, तो लिंगदेह कहाँ है? वही अहंकार करता है। मान और रुतबा उसी को है। काम–क्रोध उसे होते हैं। उसी (अहंकार) की वजह से शरीर है और आत्मा अंदर इन्वोल्व हो जाता है, तो यह लिंग देह क्या है वह बताइए।

दादाश्री : ऐसा है कि जो लिंगदेह है, उसे हम भावकर्म कहते हैं। अब भावकर्म स्वाधीन नहीं है, पराधीन है। यह भावकर्म किसी बीज का फल है। उसका फल मिलता है, उसी को भावकर्म कहते हैं। उसे वापस हम बीज के रूप में मानते हैं और उसी का फल मिलता है। तो उसे फिर ये लोग द्रव्यकर्म कहते हैं। लेकिन यह भावकर्म यानी कि आप, अगर कोई व्यक्ति उच्च गोत्र का हो तब इस तरफ फादर–मदर सभी का गोत्र उच्च होता है, इसीलिए आप जब आते हो तब तुरंत ही 'आइए, पधारिए' ऐसा रहता है। लोग 'आइए, पधारिए' कहते हैं। तो उस घड़ी आपके मन पर उसका असर हो जाता है, और बिना दबाए ही छाती यों फूल जाती है, उसे भावकर्म कहते हैं। अगर गोत्र ज़रा ढीला हो तो नहीं बुलाते, तो उसके मन में ऐसा होता है कि, 'साले, ये लोग नालायक ही हैं। मुझे पहचान ही नहीं सकते।' अरे, ऐसा क्यों कहते हो? ऐसे भावकर्म किए है उसने। यह लिंगदेह की शुरुआत हो गई कि जिससे सभी प्रकार के देह की शुरुआत होती है।

प्रश्नकर्ता : तो फिर दादा इसमें आपने ऐसा रखा है, कि 'पुनर्जन्म का जो चक्कर चलता है, वह लिंगदेह के भाव पर से ही होता है।'

दादाश्री : हाँ, उसके भाव पर से होता है। भाव अर्थात् भाना (पसंद करना) नहीं। अपने महात्मा कहते हैं, 'मुझे रस–रोटी' बहुत भाती है, तो उससे मुझे कर्म नहीं बंधेगे? मैंने कहा, 'अरे, भाता है वह तो इच्छा है।' वह आप अपनी भाषा में बोल रहे हो कि भाता है। उसे अगर 'रुचता है,' ऐसा बोलोगे तो भी चलेगा। लेकिन भावकर्म तो अलग ही चीज़ है। भावकर्म यानी 'मैं चंदूभाई हूँ और यह देह मेरी है।' ऐसा सब मानकर जो कुछ भाव किया जाता है वह भावकर्म है, और जो ऐसा नहीं मानते उनका लिंगदेह बंद हो गया।

प्रश्नकर्ता : अब लिंगदेह बंद हो गया यानी उसका अर्थ यह हुआ कि उसे कोई भाव उत्पन्न ही नहीं होता?

दादाश्री : इस ज्ञान के बाद आपके भाव ही बंद कर दिए हैं न!

प्रश्नकर्ता : हाँ। इसलिए फिर वहाँ पर तो लिंगदेह रहेगा ही नहीं न, ठीक है। तो यदि हम ऐसा मानें कि 'मैं चंदूभाई नहीं हूँ, मैं यह शरीर नहीं हूँ, तो फिर मुझे क्या करना है? कुछ भी नहीं करना है?

दादाश्री : नहीं। करना क्यों नहीं है? 'मैं क्या हूँ' ऐसा जब तय हो जाता है, उसके बाद 'यह नहीं हूँ' ऐसा तय हो जाता है। अब इस लाइन में जाना है, हमें यह दुकान खाली कर देनी है और ज्ञाता-दृष्टा-परमानंद में रहना, वही सब अपना काम है।

इस लिंगदेह में भी फिर कुछ अपवाद हैं। यानी अपने महात्मा अभी भी संसार भाव तो रखते हैं। स्त्री संग वगैरह ऐसे सब संग हैं न। फिर भी वह उनके लिए लिंगदेह में नहीं आता क्योंकि वही भाग कर्तापन में रहता है, वह खुद 'मैं चंदूभाई' होता तो वह ज़िम्मेदारी भी उसकी। तो उसका भाव में आता जबकि यहाँ तो खत्म हो जाता है। बस! इतना ज़्यादा चेन्ज आ जाता है।

वह श्रृखंला टूटेगी कब?

प्रश्नकर्ता : द्रव्यकर्म में से भावकर्म बन रहे हों और भावकर्म में से द्रव्यकर्म का बंध पड़ रहा हो, तो फिर अगर वैसे ही चलता रहेगा तो वह श्रृखंला टूटेगी कब?

दादाश्री : भावकर्म अर्थात् चार्ज कर्म। तो उन चार्ज कर्मों में से कर्म डिस्चार्ज होते रहते हैं। अगर वह चार्ज बंद कर दिया जाए तो सोल्युशन आ जाएगा। और वह चलता रहेगा अपने आप, अगर बंद करना आ जाए तो। बंद हो जाए तो मोक्ष हो जाएगा। नहीं तो जब तक बंद नहीं होगा, अगर बंद करनेवाला ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है तब तक चलता ही रहेगा, अनंत जन्मों तक। चार्ज और डिस्चार्ज, चार्ज और डिस्चार्ज। कॉज़ेज़ एन्ड इफेक्ट,

इफेक्ट एन्ड कॉज़ेज़, कॉज़ेज़ एन्ड इफेक्ट, इफेक्ट एन्ड कॉज़ेज़। चलता ही रहेगा दिन–रात।

प्रश्नकर्ता : ऐसा किस तरह पता चलेगा कि कॉज़ेज़ बंद हो गए?

दादाश्री : यह ज्ञान दिया है, उससे आपको पता नहीं चला?

प्रश्नकर्ता : हाँ।

दादाश्री : वही, कॉज़ेज़ तुरंत ही बंद हो जाते हैं। कोई व्यक्ति कहे कि, 'हमारी भूख मिट गई है, ऐसा कैसे पता चलेगा?' तब कहते हैं 'तू खा न, मेरे सामने खा ले न! समझ में आ जाएगा।' कुछ भी हो, खिचड़ी खाए तो भी चलेगा न! खुद को ऐसा पता चलता ही है, अवश्य पता चलता है।

करुणा सहज सदा

प्रश्नकर्ता : आप कहते हैं कि ज्ञानी की करुणा सहज होती हैं, डिस्चार्ज कर्म के रूप में नहीं। तो तीर्थंकर जो तीर्थंकर गोत्र बाँधते हैं, वह भावकर्म से है या सहज रूप से?

दादाश्री : भावकर्म से बाँधते हैं। भावकर्म से, लेकिन उनकी करुणा तो सहज होती है। करुणा का जो स्वभाव है वह सहज होता है, उसमें क्रिया नहीं होती, करनेवाला नहीं होता। भावकर्म से ही कर्म बंधन होता है।

प्रश्नकर्ता : तीर्थंकरों को जब आत्मज्ञान होता है तभी वे ऐसा भावकर्म बाँधते हैं न?

दादाश्री : वह जो भावकर्म है वह आत्मज्ञान होने के बाद का तो है ही लेकिन समकित होने के बाद का भावकर्म है। सम्यक्त्व हो जाने के बाद 'जो सुख मैंने पाया, वह सुख लोग भी पाएँ,' यह है वह भावकर्म। जो तीर्थंकर गोत्र बाँधता है। हमारा भी ऐसा ही रहता है कि 'जो सुख मैंने पाया है, लोग उसे किस तरह से पाएँ उसी के लिए हमारी भावना रहती है। जबकि करुणा तो सहज भाव है।

और करुणा जो है वह सहज ही रहती है। यों ही, सहज करुणा। कोई गालियाँ दे न तो सहज क्षमा रहती है। जो क्षमा है वह सहज करुणा ही है। अत: करुणा एक सहज गुण है जबकि दया भावकर्म का फल है। और तीर्थंकरों के तो भावकर्म होते ही नहीं न, तीर्थंकर होने के बाद! भावकर्म तो पहले हो चुके थे।हमें अभी भी इतना भावकर्म है कि कैसे लोगों का कल्याण करें! तीर्थंकरों ने तो कल्याण करने के भाव किए थे, उसी दिन उन्होंने यह तीर्थंकर गोत्र बाँधा था। तो वे अब सिर्फ तीर्थंकर गोत्र को खपा रहे हैं। उनका डिस्चार्ज ही होता रहता है। इसलिए उन्हें रहती हैं केवल करुणा! निरंतर करुणा ही रहती है। भावकर्म नहीं होते उनमें। जब तक भावकर्म रहता है, तब तक केवलज्ञान नहीं हो सकता।

प्रश्नकर्ता : लेकिन कल्याण भाव का तो भाव होता है न, 'हर किसी का कल्याण हो।'

दादाश्री : नहीं, वह जो भाव होता है, (वास्तव में) वह चार्ज भाव नहीं है। यह वह भाव नहीं है जिसे भगवान ने चार्ज कहा है और अभी हम जो एक जन्म या दो जन्म की बात कर रहे हैं न, उस समय शायद किसी में यह भाव आ भी सकता है, कल्याण का। लेकिन वह एक-दो जन्मों के लिए ही। अत: क्या है कि तीर्थंकरों को ऐसा भाव हुआ था कि 'मुझे जो सुख मिला है, वह दूसरे भी पाएँ।' और सिर्फ यही एक चार्ज भाव था लेकिन सभी को वहभाव नहीं होता न। बाकी सभी को तो साधारण इच्छा रहती है कि जगत् का कल्याण हो। 'जगत् का कल्याण करना' ऐसा कोई उनका मूल भाव नहीं होता। कुछ ही लोगों में होता है ऐसा। चारों तरफ से ऐसे संयोग हों तब ऐसा होता है। सभी को नहीं होता। अत: हमारी तो ऐसी भावना होनी चाहिए कि 'यह जो सुख मैंने पाया है वे सभी पाएँ,' और कुछ भी नहीं। बाकी का सब तो मुफ्त में लेकर आए हैं न? जो बैंक में जमा किया हुआ था, वह क्रेडिट ले रहे हैं। और उसका उपयोग किया तो उसमें क्या तीर मार दिया? तो कल्याण में हमें कुछ न कुछ हिस्सा तो लेना चाहिए न!

[2.13] नोकर्म

यदि ज्ञान है तो बाधक नहीं होंगे

प्रश्नकर्ता : दादाजी, नोकर्म पर कुछ कहिए। लोगों को अभी तक नोकर्म के बारे में बहुत मालूम नहीं है।

दादाश्री : नोकर्म के बारे में किसी को मालूम ही नहीं है न!

प्रश्नकर्ता : किसी को भी बहुत पता नहीं है इसलिए आज ज़रा उसके बारे में विस्तार से बताइए वापस, आज के सत्संग में।

दादाश्री : नोकर्म यानी अगर आप आत्मा हो, तो ये कर्म आपको स्पर्श नहीं करते और अगर आप चंदूभाई हो तो ये कर्म आपको स्पर्श करते हैं। इसे कहते हैं नोकर्म।

प्रश्नकर्ता : यह नोकर्म शब्द किस तरह से निकाला होगा? 'नो' शब्द का उपयोग क्यों किया है?

दादाश्री : 'N', 'O', No (एन ओ, नो) ऐसा नहीं है। यदि आपको ज्ञान है तो आपको स्पर्श नहीं करेंगे और ज्ञान नहीं है तो आपको स्पर्श करेंगे। अत: नहीं जैसे हैं। हैं भी और नहीं भी हैं, इसलिए नोकर्म कहा है इन्हें।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् दो संभावनाएँ हैं इसमें।

दादाश्री : नहीं, ऐसा नहीं है। कर्म तो बाधक होंगे ही लेकिन जिसे ज्ञान हो उसे बाधक नहीं होंगे। इसलिए नोकर्म कहते हैं।

बोलनेवाले तो अक़्लमंद होंगे, थोड़े अक़्लमंद होंगे लगता है, नहीं? कितनी अक़्लमंदीवाली बात! इन दोनों को ही कर्म कहा है, नोकर्म। नोकर्म आपके भी है और इनके भी। नोकर्म एक समान (सरीखे) ही दिखते हैं! अब इन्हें इस चीज़ का कैसे पता

चले कि इनमें यह नहीं उगेंगे और इनमें उगेंगे! इन लोगों को खबर ही नहीं है न! इतनी अक़्ल होती तो ऐसी खोज करने जाते! आज के लोगों में ऐसी अक़्ल तो होती नहीं, मुझे लगता है!

प्रश्नकर्ता : दादा यह तो बहुत डीप समझ है, यह तो बहुत गहरी समझ है, फिर खोज हुई होगी न?

दादाश्री : नोकर्म। पूरे जगत् के लोगों में ये कर्म उगेंगे। ये सब नोकर्म हैं। फिर भी नोकर्म इसलिए कहते हैं कि 'भाई, ज्ञानी लोगों में ये नहीं उगते, कर्म तो एक जैसे ही दिखाई देते हैं! यानी कि दिखते इसके जैसे ही हैं, कोई बदलावनहीं दिखता उसमें लेकिन भगवान कहते हैं कि हमें इसमें कोई बदलाव नहीं देखना है। यह ज्ञान सहित है इसीलिए इनमें नहीं उगेंगे और आपमें उगेंगे बस इतना ही है। हमें यह देखने की ज़रूरत नहीं है कि इनमें कोई बदलाव होता है या नहीं।

प्रश्नकर्ता : इसमें ज्ञानी को कर्तापन नहीं है?

दादाश्री : नहीं है। इसीलिए नहीं उगते न! कर्म तो दोनों के वैसे ही दिखाई देते हैं, ये भी डाँट रहे होते हैं और वे भी डाँट रहे होते हैं। तो देखनेवाला तो यही समझता है कि यह भी डाँट रहा है और वह भी डाँट रहा है, तो उसमें फर्क ही क्या है? तब कहते हैं, 'नहीं बहुत बड़ा फर्क है।' यह वीज़ावाला है और यह बिना वीज़ावाला है। वीज़ावाले को अंदर बैठने देते हैं और बिना वीज़ावाले को वापस निकाल देते हैं।

प्रश्नकर्ता : तो दादा, जहाँ पर साथ में अहंकार नहीं हो अर्थात् जो सहज ही हो जाते हैं, उन्हें नोकर्म कहते हैं।

दादाश्री : जब तक 'मैं चंदूभाई हूँ' तब तक वह नहीं जाता। 'उसका' भान किस तरफ का है, उस पर आधारित है। 'उसका' भान यह है कि 'मैं चंदूभाई हूँ' या फिर 'मैं शुद्धात्मा हूँ' ऐसा भान है? यानि कि यदि 'आपकी' 'दृष्टि' बदली हुई होगी, सम्यक् दृष्टि हो गई होगी, तो आपको इस तरह से कर्म नहीं बंधेंगे और यदि यही दृष्टि रहेगी तो बंधेंगे। अत: भगवान ने इसे नोकर्म कहा है।

नोकर्म, वे इन्द्रियगम्य हैं

नोकर्म का मतलब क्या है कि ये आँखों से देखे जा सकते हैं, कानों से सुने जा सकते हैं, जीभ से चखे जा सकते हैं, अत: इस जगत् में जितनी भी चीज़ें पाँच इन्द्रियों से अनुभव की जा सकें और मन से जो होता है वे सभी नोकर्म हैं। इसमें मन तो इनका प्रेरक है। फिर जितना भी बुद्धि से, चित्त से और अहंकार से अनुभव होता है न, वे सभी नोकर्म हैं। भावकर्म को घटा (माइनसकर) दें, क्रोध-मान-माया-लोभ को घटा दें तो बाकी के सभी नोकर्म हैं। और क्रोध-मान-माया-लोभ स्थूल हैं नहीं। सूक्ष्म चीज़ है। अंदर गुस्सा करता है, तो वह क्रोध नहीं है। गुस्सा तो परिणाम है। ये सब जितने भी कर्म दिखाई देते हैं औरअनुभव किए जा सकते हैं, वे सभी नोकर्म ही हैं। पूरा जगत् नोकर्म पर ही बैठा हुआ है। लेकिन इतने भर से ही लोगों के कर्म नहीं बंधते इसलिए मैं कह देता हूँ कि भावकर्म के अलावा बाकी के सभी नोकर्म हैं। यह पूरी तरह से समझ में नहीं आ सकता।

प्रश्नकर्ता : नोकर्म किसे कहते हैं, उसका उदाहरण दीजिएन न।

दादाश्री : ये सभी कर्म जो हैं वे नोकर्म हैं। आप यहाँ पर आए, उतरोगे-चढ़ोगे, आओगे-जाओगे, खाओगे-पीओगे, व्यापार वगैरह सबकुछ नोकर्म हैं। जिसमें क्रोध-मान-माया-लोभ नहीं होते, वे सभी नोकर्म। अब व्यापार में यदि आपको लोभ है तो वह नोकर्म नहीं कहलाएगा। अगर उसमें लोभ रहा हुआ होगा तो।

प्रश्नकर्ता : नोकर्म का एक उदाहरण दीजिए न, यह सब किस तरह से होता है?

दादाश्री : अगर आपको कोई मीठी चीज़ पसंद हो और आप उसे खाते हो, फिर भी वह नोकर्म है। आपको कोई भी कर्म नहीं बंधता। 'बहुत अच्छा लगा, अच्छा है, ऐसा है, वैसा है, मुझे अच्छा लगता है,' ऐसा कहते हो फिर भी ज्ञानवाले को कर्म नहीं बंधते, इसे कहते हैं नोकर्म।

प्रश्नकर्ता : ठीक है। अब आपने हमारे भावकर्म खत्म कर दिए हैं।

दादाश्री : हाँ, भावकर्म खत्म कर दिए हैं।

प्रश्नकर्ता : इसलिए हम में चारों ही कषाय नहीं रहे।

दादाश्री : चार्ज कषाय बिल्कुल भी हैं ही नहीं, डिस्चार्ज कषाय बचे हैं और शुद्धआत्मा रख दिया है।

किसी को धौल लगाना भी नोकर्म है। क्रोध के बगैर कोई भी व्यक्ति किसी को धौल लगा सकता है क्या? बाप बेटे को धौल लगा सकता है? अब यह धौल नोकर्म है। यदि क्रोध हो रहा हो तो भावकर्म है। दोनों भाग अलग हो जाते हैं।

अभी ये भाई आपको धीरे से एक धौल लगा दें और लोग मुझसे आकर कहें कि 'इसे क्या कहा जाएगा?' तब मैं कहूँगा कि 'यह इनका सिर्फ नोकर्म ही है।' तब अगर वह पूछे कि 'उस घड़ी वे उग्र हो गए थे, फिर भी?' फिर भी वह भावकर्म नहीं है क्योंकि मैंने ज्ञान दिया है और क्रोध-मान-माया-लोभ डिस्चार्ज स्वरूपी हो गए हैं। अगर चार्ज स्वरूपी होते तब वापस नया कर्म बाँधते। अत: यह बहुत समझने जैसा है। इस विज्ञान को अगर समझ जाए न तो हल आ जाएगा।

क्रियामात्र नोकर्म है

क्रिया को नोकर्म कहा गया है। क्रिया नहीं चिपकती है, उपयोग संसार का होगा तो यह चिपकेगी और अगर आपकी दृष्टि आत्मा की तरफ होगी तो नहीं चिपकेगी, ऐसा कह रहे हैं। यह इस पर आधारित है कि 'दृष्टि' किस तरफ है।

इस शरीर से दिखनेवाले, इन्द्रियों से खाते-पीते हुए, जाते-आते हुए, रहते हुए, नौकरी करते हुए, पैर छूते हुए, यह जो कुछ भी दिख रहा है न, ये सभी नोकर्म हैं। पानी पीते हैं, उठते हैं, बैठते हैं, आते हैं, आवाज़ देते हैं, उबासी लेते हैं, ऐसे सब बहुत तरह के नोकर्म हैं।

ये कर्म तो सब आँखों से देखे जा सकते हैं। संसार में ये सभी जितने भी कर्म हैं, वे सभी नोकर्म हैं। कोई भक्ति करता है तो वह भी नोकर्म है। स्वाध्याय करता है, वह भी नोकर्म है। उपाश्रय जाता है, वह भी नोकर्म है। सभी नोकर्म हैं। कोई व्यक्ति संध्या पूजा पाठ करता है, माला करता है तो वे सभी नोकर्म हैं। व्याख्यान दे रहा हो वह भी नोकर्म और व्याख्यान सुन रहा हो वह भी नोकर्म है। इस नोकर्म को समझने जैसा है। यदि नोकर्म को समझ लें न तो बहुत हो गया, नोकर्म समझ में आ सके ऐसा नहीं है। यदि ज्ञानी से नोकर्म को समझ ले न तो पूरे जगत् को जीत लेगा।

शास्त्रकारों ने क्या लिखा है? नोकर्म अर्थात् नहीं जैसे कर्म।

सुबह उठना, वह नोकर्म है। 'मैं उठा और तू उठा' ऐसा कहते ज़रूर हैं हम लोग, और जगत् के लोग जब ऐसा बोलते हैं न, तो वे जो बोलते हैं न, इन नौकर्मों में से तो उससे वापस बीज पड़ते हैं। नोकर्म में से बीज पड़ते हैं। वर्ना ये बीज पड़े ऐसे नहीं हैं, हमें बीज डालना हो तो डाल सकते हैं, वर्ना यदि वहाँ पर जागृति रहे, ज्ञान रहे तो कुछ लोग नहीं भी डालते और अगर डाल भी दिए हों तो वापस ले लेते हैं। इतना सब होता है वहाँ पर। अत: उठते हैं तभी से, उठे वह भी नोकर्म है, फिर देखा वह सारा भी नोकर्म है, सुना वह भी नोकर्म है। फिर दातुन किया, चाय पी, नाश्ता किया, फिर जो कुछ भी होता है, वह सब नोकर्म है। फिर अगर आपका कोई ग्राहक आए और अगर वह कोई *डखोडखल* (दखलंदाज़ी) कर जाए तो वह भी सारा नोकर्म है।

यह तो दादा की बलिहारी कि जिन्होंने कर्म की समझ दी। लोगों को पता ही नहीं है कि ये नोकर्म क्या हैं? किस तरह के हैं? इसका पता ही नहीं है इसीलिए उलझते रहते हैं बेचारे कि यह इस तरह से फल देगा तो?! नहीं, यह ऐसा है ही नहीं कि उगे। उसमें दखल मत करना तू। 'बहुत अच्छा है। यह खाना ही चाहिए' ऐसी सब दखलंदाज़ी नहीं करना। खा न शांति से! बीज तो, जब क्रोध-मान-माया-लोभ करते हैं तभी पड़ते हैं। क्रोध-मान-माया-लोभ, वही कर्म का बीज हैं।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् नोकर्म, चौबीसों घंटें जो कुछ भी हम करते हैं, वे हैं?

दादाश्री : ये सभी कर्म फल हैं लेकिन।

प्रश्नकर्ता : यह प्रकृति जो क्रिया करती है उसे आप दृष्टाभाव से देख सको, वही नोकर्म है?

दादाश्री : बात यही है कि प्रकृति जो सब करती हैं न, जिनमें भावकर्म नहीं हैं, वे सभी नोकर्म हैं।

नोकर्म ऐसी चीज़ है कि जो कर्म, जिन्हें हाजत कहा जाता है न, वे सभी नोकर्म हैं। इंसान की हाजतें। हाजत समझ में नहीं आया? खाए बगैर चलता है हम सब को? ज्ञानी को भी खाना पड़ता है न? तो क्या संडास गए बगैर चलता है? तो क्या सोए बगैर चलता है?

प्रश्नकर्ता : चलेगा ही नहीं।

दादाश्री : तो फिर क्या पानी पीए बगैर चलता है? ये सब हाजतें हैं। ये शरीर की जो हाजतें हैं, वे सब नोकर्म कहलाते हैं।

हमें होटल का नहीं खाना हो लेकिन फिर भी अगर भूख लगे और खाने को कुछ नहीं मिल रहा हो तो फिर किसी भी होटल में घुसकर खाना पड़ता है, ये सब नोकर्म हैं। अपनी इच्छा नहीं हो फिर भी अपना नहीं चलता। जिन्हें किए बगैर कोई चारा नहीं है, वे सभी नोकर्म हैं। सभी कुछ जो अनिवार्य है। ये सभी नोकर्म कहलाते हैं।

विवाह करते हैं, शादी करते हैं, बच्चे होते हैं, वह सब नोकर्म है। जो राग-द्वेष रहित क्रियाएँ हैं, वे सभी नोकर्म हैं। भगवान ने इन्हे नोकर्म इसलिए कहा है कि अगर 'तू' इन्हें बगैर राग-द्वेष के करेगा तो ये कर्म तुझे चिपकेंगे नहीं। राग-द्वेष सहित करेगा तो तुझे चिपकेंगे।

अकर्ता है इसलिए

नोकर्म अर्थात् यदि तू मोक्षमार्ग पर जा रहा है तो ये कर्म तुझे बाधक नहीं होंगे। संसारमार्ग पर जा रहा होगा तो ये कर्म तुझे संसार में हेल्प करेंगे।

प्रश्नकर्ता : अब संसार में नोकर्म किस तरह मदद करते हैं?

दादाश्री : ये सब कर्म संसार में ही मदद करते हैं न? खाते हैं, पीते हैं, खेलते हैं, कूदते हैं, बीवी बच्चों के साथ घूमने जाते हैं, सिनेमा देखने जाते हैं, वे सभी नोकर्म हैं न!

प्रश्नकर्ता : किस तरह से ये मोक्षमार्ग में बाधक नहीं हैं?

दादाश्री : वह कर्ता नहीं है, इसिलए। इसका मालिकिपना नहीं है। दे आर नॉट रिस्पोन्सिबल फॉर ओनरशिप। नो टाइटल। मैंने ले लिए हैं। ओनरशिप और टाइटल दोनों ले लिए हैं मैंने। इसलिए जवाबदारी नहीं रहती उनकी।

प्रश्नकर्ता : कर्ताभाव क्यों नहीं है?

दादाश्री : 'आपको' जब ज्ञान दिया था, तब मैंने कहा था न, कि व्यवस्थित कर्ता है, आप कर्ता नहीं हो। ऐसा मैंने कहा था न, ऐसा आपको ध्यान में रहता है न?! इसलिए अब आप कर्ता नहीं रहे। अंदर कर्तापद रहा ही नहीं है आपको क्योंकि कर्तापद कब तक रहता है कि जब तक निश्चय से 'मैं चंदूभाई हूँ'। वास्तव में 'मैं चंदूभाई ही हूँ' यही कर्तापद है। वह तो गॉन (चला गया)। यानी कि अब वह नहीं रहा।

इसलिए आपके नोकर्म का फल उगेगा नहीं और उन लोगों का उगेगा क्योंकि आप इस नोकर्म के कर्ता नहीं रहे और वे कर्ता हैं इसीलिए 'मैंने किया' कहते ही उन्होंने इसे आधार दिया और आधार दिया इसीलिए कर्म बंधा। और अगर कहा कि 'मैंने नहीं किया' तो फिर निराधार हो गया, गिर गया। तो अगर कोई पूछे कि 'आपने नहीं किया तो किसने किया?' तब वह कहता है कि 'भाई, वह तो जाननेवाला जाने, मुझे किसी झंझट में नहीं पड़ना है। मैंने तो नहीं किया है यह। मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मैंने तो नहीं किया।' होता है या नहीं होता है ऐसा?

नोकर्म क्या है, आपको वह समझ लेना है। नोकर्म का मतलब क्या है? संसार के जो ये सभी व्यवहार करते हो न, जो कुछ भी 'व्यवस्थित' करता है, वे सभी नोकर्म हैं।

प्रश्नकर्ता : जिन्होंने ज्ञान नहीं लिया है, उनके लिए भी वे नोकर्म कहलाएँगे?

दादाश्री : उनके लिए भी नोकर्म कहलाएँगे लेकिन उन्हें रहता है कि 'मैं कर रहा हूँ' इसीलिए उनके नोकर्म उगते हैं और हम सब को ऐसा रहता है कि 'मैं नहीं कर रहा हूँ और व्यवस्थित कर रहा है' इसलिए नहीं उगते। यानी कि संसार बंद हो गया। कॉज़ेज़ बंद हो गए। इसलिए कर्म गिर पड़े। जब तक आधार देते हैं, तभी तक कर्म हैं। खुद यदि आधार नहीं दे तो कोई नाम देनेवाला भी नहीं है। जो करता है, उसके लिए कहते हैं कि यह कर रहा है तो फिर हमें कोई परेशानी नहीं है। कर नहीं रहा है और अगर कहे कि 'मैं कर रहा हूँ' तो बंधेगा। इसीलिए तो नरसिंह मेहता ने, कहा है न कि, *'हुं करूँ, हुं करूँ, ए ज अज्ञानता।'* (मैं कर रहा हूँ, मैं कर रहा हूँ, यही अज्ञानता है।)

प्रश्नकर्ता : दादा, हम जो आधार दे रहे थे, उसी को ज्ञान के समय आपके चरणों में रख दिया।

दादाश्री : जो आधार देनेवाला था, उसी को रख दिया कि यह सब आपको सौंपा साहब। वह जो आधार देनेवाला था न, उसी को सौंप दिया।

सभी चारित्रमोह हैं नोकर्म

प्रश्नकर्ता : चारित्रमोह में जो चीज़ें हैं, वे सभी नोकर्म हैं?

दादाश्री : चारित्रमोह के जो सभी कर्म हैं, वे सभी नोकर्म हैं। लोग जिसे कहते हैं कि 'ये भाई, बदले नहीं है। वैसे के वैसे हैं,' उसे भगवान ने नोकर्म कहा है। और नोकर्म अर्थात् जो भोगने ही पड़ते हैं।

प्रश्नकर्ता : कई बार बाहरवाले पूछते हैं कि आपके इन महात्मा में कोई फर्क नहीं दिखाई देता है।

दादाश्री : बदलाव होता हुआ नहीं दिखाई देता, वैसे के वैसे ही दिखते हैं। लोग तो बदलाव चाहते हैं।

प्रश्नकर्ता : बाहरी बदलाव चाहते हैं।

दादाश्री : बाहरी, और क्या? और कुछ तो देखना ही नहीं आता न! दूसरा कुछ आता तो काम ही नहीं हो जाता? अपने महात्माओं को लोग क्या कहते हैं कि दादा से ज्ञान लिया है लेकिन अभी तक वैसे के वैसे ही हैं। बाहर तो पहले भी चिढ़ जाते थे और आज भी चिढ़ जाते हैं लेकिन महात्माओं के भावकर्म खत्म हो गए हैं, सिर्फ नोकर्म रहे हैं।

और नोकर्म के दो विभाग किए। आपको चारित्र मोहनीय और बिना ज्ञानवालों को तो मोहनीय रहता है, संपूर्ण मोहनीय। यानी दर्शन मोह और चारित्र मोह दोनों ही रहते हैं, इसलिए मोहनीय है। आपका (महात्माओं को) दर्शनमोह गया।

इसमें क्या कहना चाहते हैं कि ये जो हैं वे चारित्रमोहवाले हैं और बाकी के सचमुच के मोहवाले हैं। जो सचमुच के मोहवाले हैं, उनमें बीज उगेंगे और इनमें नहीं उगेगा। कर्म हैं ज़रूर लेकिन नोकर्म।

प्रश्नकर्ता : तो उन मोहवालों के भी नोकर्म ही हैं?

दादाश्री : हाँ, उनमें भी नोकर्म हैं लेकिन उगेंगे जबकि ये नहीं उगेंगे। यह सारा वर्तन मोह है न, वह सारा नोकर्म है। यदि तू मोहवाला है तो इस कर्म का ज़िम्मेदार है और अगर मोह रहित है तो तू इसका ज़िम्मेदार नहीं है। इतनी सूक्ष्मता से कैसे समझ में आ सकता है? इंसान की बिसात ही क्या है? और इसे याद रखने की भी क्या बिसात?

अक्रम मार्ग में : क्रमिक मार्ग में

प्रश्नकर्ता : ये नोकर्म अर्थात् यह सब डिस्चार्ज जो कहते हैं, वे हैं?

दादाश्री : वही, वही डिस्चार्ज।

प्रश्नकर्ता : डिस्चार्ज करते समय चार्ज नहीं होता लेकिन कभी तो...

दादाश्री : ऐसा है न कि यह जो डिस्चार्ज है, वह क्रमिक मार्ग का शब्द नहीं है।

प्रश्नकर्ता : हाँ, यह अक्रम का है।

दादाश्री : महात्मा जो गुस्सा करते हैं, चिढ़ते हैं, वह सभी नोकर्म में आ गया। अपना सारा डिस्चार्ज कर्म है। बाकी क्रमिक मार्ग में नोकर्म को वापस जुदा रखना पड़ता है। जहाँ पर राग–द्वेष नहीं होते, वह सारा भाग नोकर्म है, ऐसा हिसाब है। जहाँ क्रोध–मान–माया–लोभ होते हैं वे सभी भावकर्म हैं और बाकी सब नोकर्म। जो भावकर्म हैं, उनमें बहुत संयोग नहीं होते। एक या दो, वे भी नैमित्तिक कारण होते हैं और संयोगों के आधार पर जो होते हैं, वे नोकर्म हैं।

अक्रम विज्ञान में नोकर्म को तो कुछ माना ही नहीं है हमने। वर्ना क्या किसी से कहा जा सकता था कि भाई, ये संसारी लोग, इन्हें मुक्ति का ज्ञान दिया जा सकता था? कितने दिन तक रह पाता? लेकिन अक्रम विज्ञान है तो नोकर्म बाधक नहीं हैं। वर्ना क्रमिक में नोकर्म ही बाधक रहते हैं। कितनी मुश्किलें हैं और आपको है कोई परेशानी? अरे....शांति से दोपहर को थाली में चटनी–वटनी खाकर और ऑफिस में जाओ तो भी दादा डाँटते नहीं हैं। तो फिर क्या नुकसान है? दादा की आज्ञा में रहना है, बस इतना ही है! और आज्ञा कोई मुश्किल नहीं है न? आज्ञा क्या कोई मुश्किल है?

अब समभाव से फाइलों का *निकाल* करना है। दातुन मिले तो भी फाइल आई। फलाना आया तो भी फाइल आई। नींद की भी फाइल। यानी कि सभी फाइलों का समभाव से *निकाल* किया जाए तो वे नोकर्म हैं। भावकर्मों को खत्म कर दिया है, पूरी तरह से।

प्रश्नकर्ता : नोकर्म अर्थात् ये सारे फल हैं?

दादाश्री : हाँ, ये सभी फल हैं। इसलिए मीठे लगें या कड़वे लगें, दोनों का समता से *निकाल* करना चाहिए तो फिर सब क्लियर होने लगेगा।

प्रश्नकर्ता : हर एक जगह पर? हर समय? हर चीज़ में, परिस्थिति वगैरह सभी कुछ ध्यान में रखना पड़ता है न!

दादाश्री : लेकिन आपके लिए ऐसा नहीं है क्योंकि आप अक्रम विज्ञान में बैठे हो। इन क्रमिकवालों को तो हर एक चीज़ में ऐसा करना पड़ता है। अगर उन्होंने कहा कि आज वेढ़मी (गुजराती व्यंजन) अच्छी बनी है तो उन्हें चिपकेगा और कहा कि 'यह सब्ज़ी खराब हैं तो वह भी उन्हें चिपकेगा। जबकि आप जब अच्छा-बुरा बोलते हो तो आपको नहीं चिपकता।

प्रश्नकर्ता : हम तो बोलते ही नहीं हैं अब।

दादाश्री : लेकिन अगर वे बोलें तो भी उनको हर्ज है। आपको नहीं चिपकेगा क्योंकि वह डिस्चार्ज है। डिस्चार्ज है, इसलिए जीवंत व्यक्ति का नहीं है यह। बेटरी में से सेल डिस्चार्ज होते रहते हैं तब उसमें क्या हमें कुछ करना पड़ता है? अंदर जो भरा हुआ होगा, उतने समय तक डिस्चार्ज होगा, फिर खाली हो जाएगा।

प्रश्नकर्ता : *निकाल* हो गया उसका भी, ज्ञान लेने के बाद मेथड बदल गया। नहीं बोलने के नौ गुण।

दादाश्री : हाँ, बोले तो भी 'देखना' है और नहीं बोले तब भी 'देखना' है और अगर कोई कहे कि आप कुछ भी नहीं बोल रहे हैं, तो वह भी 'हमें' 'देखना' है।

नोकषाय की समझ

नोकषाय, वह सापेक्ष शब्द है अर्थात् यदि 'तूने' ज्ञान लिया है तो ये कषाय तुझे नहीं छूएँगे और अगर ज्ञान प्राप्त नहीं किया है तो छूएँगे, अत: इन्हें सापेक्ष रूप से 'नो' कहा गया है। बहुत समझने जैसा है। इन वीतरागों का तो यदि एक भी वाक्य समझ ले न, तो मोक्ष में चला जाए। एक भी वाक्य यदि अंदर पच जाए तो मोक्ष में चला जाए।

प्रश्नकर्ता : वहाँ पर नोकषाय का अर्थ ऐसा करते हैं कि जो कषाय नहीं है लेकिन कषाय जैसे हैं, कषाय करने में निमित्त रूप है।

दादाश्री : वह ठीक है। वह अर्थ गलत नहीं है। जब तक ज्ञान नहीं है तो वे सब निमित्त ही हैं न कषाय करने में! किसी ने मज़ाक उड़ाई तो वह चिढ़ गया, फिर से वापस निमित्त खड़ा हो जाता है न! और आप तो अगर कोई मज़ाक उड़ाओ तो भी बंधन में नहीं आते, आपको तो सिर्फ, अगर उसे खराब लगा तो उसका प्रतिक्रमण कर लेना है और वह करने का अधिकार भी आपको नहीं है, 'चंदूभाई' से कहना है न, 'क्यों तूने ऐसा किया? तुझे शरम नहीं आती, इतनी उम्र हो गई है अब! प्रतिक्रमण करो।' हमें कहना है कि 'उम्र हो गई है अब, दादा बन गया, फिर भी तुम ऐसा कर रहे हो?' ऐसा कहना चाहिए 'हमें', नहीं कह सकते?!

प्रश्नकर्ता : कह सकते हैं।

दादाश्री : हाँ, कहना है और कौन कह सकता है? और कोई कहे तब तो उसका तेल निकाल दे।

यह कभी तो समझना ही पड़ेगा, लेकिन यह समझ में नहीं आता है इस काल में। बेचारे, किसी का दोष है ही नहीं इसमें। शब्द तो सही लिखे हुए हैं। इसमें थोड़ा बहुत भेद रहेगा, अपने विज्ञान में और इसमें भेद रहेगा। इन दोनों के एक सरीखे अर्थ नहीं आएँगे कभी भी क्योंकि वह क्रम है और यह अक्रम है। अपने यहाँ पर ये सब ज्ञान लेकर गए हैं न, इसलिए हमने आपसे कह दिया कि 'कर्म नहीं बंधते।' इसलिए ऐसा कहा कि 'ये सभी नोकर्म हैं।' तू चिढ़ भी जाता है, उसे भी हमने नोकर्म कहा है। बोलो, अब ये लोग ये सब कैसे मानें, फिर तो वे चिढ़ेंगे, लकड़ी लेकर पीछे दौड़ेंगे न!

प्रश्नकर्ता : उन नो कषायों को आपने नोकर्म कहा, तो अनंतानुबंधी कषाय के चतुष्क, प्रत्याख्यानी कषाय के चतुष्क, अप्रत्याख्यानी कषाय के चतुष्क, इन्हें क्या कहा जाएगा?

दादाश्री : हाँ, वे तो भावकर्म हैं ही। उसमें अन्य कोई मत नहीं है कि चाहे अनंतानुबंधी हों या कुछ भी, लेकिन वे भावकर्म हैं।

अब क्रमिक मार्ग में नोकर्म अलग तरह के हैं। उसमें तो नौ प्रकार के नोकर्म बताए गए हैं। वे हैं रति, अरति, हास्य, भय, जुगुप्सा, शोक, पुरषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद। जबकि हमने यहाँ तो चाहे व्यापार किया, उल्टा किया या स्त्री विषय सभी कुछ नोकर्म में रख दिया।

प्रश्नकर्ता : जुगुप्सा अर्थात् घृणा भाव या धिक्कार भाव या घिन?

दादाश्री : घिन आती है। घिन में तिरस्कार नहीं है। तुझे ये हो रहा है, फिर भी हम उसे नोकर्म कहते हैं। वे राग-द्वेष नहीं हैं। गंदगी में पैर पड़ जाए तो मुँह वगैरह बिगड़ जाता है। अरे भाई, एरंडी का तेल पिए जैसा मुँह क्यों हो गया? एरंडी के तेलवाले मुँह से भी बदतर है। भगवान कहते हैं, 'हम उसे कर्म नहीं कहते।' ऐसा होने के बाद वह उन सभी के साथ झगड़ा करे तो बंधता है।

फिर कोई व्यक्ति ऐसा-ऐसा कर रहा हो, तो उसमें किसी को नवीनता लगे और वह हँस पड़े, तो यदि उसमें दोष न करें तो उस हास्य को निर्दोष मानते हैं। अत: अपने महात्माओं को वे बाधक नहीं हैं न! अपने महात्मा फिर से छेड़ते करते ही नहीं हैं न! समभाव से *निकाल* ही कर देते हैं न! हँसते ज़रूर हैं, हँसी-मज़ाक भी करते हैं। मज़ाक हास्य में आता है, उसमें राग-द्वेष के परिणाम नहीं हैं।

उन सभी नौ के नौ कर्मों में राग-द्वेष रहित रह सकते हैं, इसीलिए इन्हें नोकर्म कहा है। कैसे समझदार लोग हैं ये! ऐसा कहनेवाले कितने समझदार हैं!

प्रश्नकर्ता : दादा, भय किस प्रकार से राग-द्वेष रहित रह सकता है?

दादाश्री : भय राग-द्वेष रहित ही रह सकता है, उसका मैं उदाहरण देता हूँ। इन्हें ज्ञान दिया है। ये यहाँ पर विधि कर रहे हैं, 'मैं शुद्धत्मा हूँ, शुद्धात्मा हूँ' बोल रहे हैं और उस तरफ कहीं कुछ नई ही तरह का धमाका हुआ तो उनका पूरा शरीर काँप जाता है, उसे मैं भी जानता हूँ। यह इनका भय है लेकिन बाहरी भय को भड़काहट कहा जाता है। अंदरुनी भय को भय कहते हैं। सिर्फ यह भड़काहट ही हुई है, भय नहीं हुआ।

प्रश्नकर्ता : भड़काहट हुई, तो यह जो 'भय' शब्द का उपयोग करते हैं...

दादाश्री : वह तो उनकी भाषा में....।

प्रश्नकर्ता : उनकी भाषा में भी इसका अर्थ भड़काहट ही समझना है।

दादाश्री : भड़काहट ही समझना है। इसे भय कह दिया इसीलिए तो ये उल्टा चल रहा है सब। ऐसे कितने ही शब्दों के चेन्ज कर देना चाहिए।

मूल शब्द लोगों को मिले, ऐसा नहीं है। ज्ञानीपुरुष के पास सभी मूल शब्द मिल जाते हैं कि यह क्या हकीकत है और यह क्या हकीकत है। और जब तक भय लग रहा हो, तब तक तो आत्मा प्राप्त ही नहीं किया और भय को अगर नोकर्म में डालो तो उसका अर्थ ही नहीं है न और मीनिंगलेस है।

अत: ऐसा है नोकर्म। सिर्फ भड़काहट। अत: हममें बहुत स्थिरता है। कुछ तरह की आवाज़ें हो जाएँ, तब तक हमें कुछ भी नहीं होता। जो पिछले किसी भी जन्म में सुनी ही नहीं हो और अगर नई ही तरह से उल्लू बोले एकदम से, तो हिल जाते हैं वापस, लेकिन अंदर स्थिरता नहीं छोड़ते।

ये महात्मा बिल्कुल भी अंदर की स्थिरता नहीं छोड़ते हैं। पूरा शरीर हिल उठता है, ज़रा ऐसे–ऐसे हो जाता है।

प्रारब्ध ही नोकर्म हैं

अब वास्तव में नोकर्म का यों दूसरी प्रकार से अर्थ करने जाएँ तो क्या है? तो वह है प्रारब्ध कर्म। वह संचित नहीं है।

प्रश्नकर्ता : संचित का थोड़ा भाग प्रारब्ध के रूप में आया है?

दादाश्री : वे प्रारब्ध फल देने के लिए तैयार हो चुके हैं। जो संचित हैं वे आठ कर्म हैं न, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अतंराय वगैरह सभी संचित हैं। इनमें से जितने उदय में आ गए हैं, फल देने को सम्मुख हुए, उतने ही प्रारब्ध कर्म है। आम के पेड़ में

आम तो बीस साल या पच्चीस साल या पचास साल बाद तक आएँगे लेकिन अंदर से जो एक वर्ष का उदय आया, उतने प्रारब्ध कर्म। अत: सभी नोकर्म प्रारब्ध कर्म है।

नोकर्म अत: अकर्म

प्रश्नकर्ता : दादा, नोकर्म अर्थात् जो पिछले द्रव्यकर्म में से ऑटोमेटिक बनते हैं, उन्हीं को नोकर्म समझना है? तो नोकर्म बनने का कोई कारण तो होगा न, दादा?

दादाश्री : कर्म करता हुआ दिखाई देता है फिर भी अकर्म है, उसे कहते हैं नोकर्म। लेकिन वह अकर्म नहीं माना जाता। अकर्म तो कब माना जाता है? कि जब 'खुद' शुद्धत्मा बन चुका हो तब, वर्ना सकर्म कहलाता है। अत: अज्ञानी की यह जो प्रकिया है न, तो इसमें जो भावकर्म उत्पन्न होते हैं, उन भावकर्मों में से यह जो प्रकिया हुई उसके बाद फिर द्रव्यकर्म बनते हैं।

प्रश्नकर्ता : यह प्रक्रिया होने के बाद क्या होता है?

दादाश्री : इस क्रिया में क्रोध–मान–माया–लोभ गुथे हुए होते हैं। हर एक क्रिया में क्रोध होता है, मान होता है या लोभ होता है, कुछ न कुछ रहता है। दुकान में जाओ तो कुछ न कुछ होता ही है। वे गुथे हुए हैं, इनमें से द्रव्यकर्म उत्पन्न होते हैं।

हम जो ज्ञान देते हैं उसके बाद आपको कर्म नहीं बंधते। ये पाँच आज्ञाएँ दी हैं न, इनका पालन करते हो बस उतने ही कर्म बंधते हैं। कर्म कब बंधते हैं कि 'मैं चंदूभाई हूँ और यह मैंने किया' ऐसा मानें तब कर्म बंधते हैं। अब 'आप चंदूभाई नहीं हो' यह बात तो तय है न! चंदूभाई व्यवहार से है, निश्चय से आप चंदूभाई नहीं हो। अत: कर्म बंधेंगे ही नहीं। कर्म बाँधनेवाला गया। जब तक इगोइज़म हो, तभी तक कर्म बंधते हैं।

प्रश्नकर्ता : अपने महात्माओं के लिए नोकर्म को अकर्म कहा जा सकता है?

दादाश्री : ज्ञान लेने के बाद अब अकर्म ही कहलाएँगे वे सभी। लोग देखते और जानते हैं कि कर्म कर रहे हो और वास्तव में होते हैं अकर्म। क्योंकि 'आप' उस कर्म के मालिक नहीं रहे अब। जगत् के लोग तो भावकर्म वगैरह सारे बीज डालते हैं और फिर बीज का फल आता है।

प्रश्नकर्ता : अगर बीज ही नहीं डाला हो तो?

दादाश्री : तब तो यह दुनिया होती ही नहीं न! वह बीज भी इसीलिए डालता है कि 'दृष्टि' उल्टी है, तो फिर उसके हाथ में कैसे आए? अत: जब 'दृष्टि' बदल दी जाए तभी ये सब रोग जाएँगे, वर्ना संसार रोग मिट ही नहीं सकता!

[2.14] द्रव्यकर्म + भावकर्म + नोकर्म

त्रिकर्मों में खुद का कर्तापन कितना?

प्रश्नकर्ता : तो भावकर्म किस प्रकार से नोकर्म से अलग हैं? इसे विस्तारपूर्वक समझाइए न!

दादाश्री : हाँ, वह समझाता हूँ। वह बहुत समझने जैसी चीज़ है।

इन तीनों कर्मों को मिलाकर है यह सब, जिसे लोग कहते हैं न कि 'कर्म बाँध रहा हूँ,' तो वे ये तीनों हैं उसके अगल-अलग विभाग बनाए हैं।

भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म - इन तीन कर्मों की वजह से ही संसार खड़ा है। ये तीनों कर्म चले जाएँ तो खत्म हो जाएगा। तीन प्रकार के कर्म हैं। इससेअलग चौथे प्रकार का कर्म है ही नहीं। इनमें से भी द्रव्यकर्म खुद के हाथ की सत्ता नहीं है। द्रव्यकर्म परिणाम हैं और नोकर्म भी परिणाम हैं। लेकिन द्रव्यकर्म का तो बिल्कुल भी कर्ता नहीं है, और नोकर्म का तो खुद कर्ता या अकर्ता दोनों ही हो सकता है। अज्ञान दशा में नोकर्म का कर्ता बनता है और ज्ञान दशा में अकर्ता लेकिन मुख्य काम कौन से कर्म करते हैं? भावकर्म। वह अज्ञानता में भावकर्म का कर्ता बनता ही है। यदि क्रोध-मान-मान-माया लोभ नहीं हों, यदि वे चले जाएँ तो बस हो चुका, मुक्ति।

प्रश्नकर्ता : अत: भावकर्म और द्रव्यकर्म इन दोनों के बीच में कोई भेदरेखा नहीं है?

दादाश्री : द्रव्यकर्म अलग चीज़ है, द्रव्यकर्म अर्थात् अगर पीली पट्टियाँ हों तो पीला दिखता है, अगर लाल पट्टियाँ हों तो लाल दिखता है। मूल चीज़ ऐसी नहीं होती। इसीलिए

'उसे' भावकर्म उत्पन्न होते हैं और उस भावकर्म से वापस क्या होता है? भावकर्म व नोकर्म के मिलने पर फिर वापस से द्रव्यकर्म उत्पन्न होता है। अत: कारण में से कार्य और कार्य में से वापस कारण। कार्य-कारण की श्रृंखला है यह सारी।

भावकर्म के परिणाम स्वरूप द्रव्यकर्म और उसमें से नोकर्म

अत: भावकर्म की माँ (ओरिजिनल, मूल महाकारण) द्रव्यकर्म है, भावकर्म यदि बेटा है तो उसकी माँ कौन है? तो वह है द्रव्यकर्म। तो कहते हैं (ऑरिजिनल-मूल) द्रव्यकर्म अगर बेटा है तो उसकी माँ कौन है? तो वह है साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स। यह बात इनकी पीढ़ी तक की ही है। साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स के बाद वे द्रव्यकर्म बने और द्रव्यकर्म में से भावकर्म बने बगैर रहते ही नहीं। और फिर इन भावकर्मों का परिणाम क्या है? तो वह ऐसा है कि भावकर्म के परिणाम स्वरूप द्रव्यकर्म बनते हैं और द्रव्यकर्म में से जो फल उत्पन्न हुए वे सभी नोकर्म हैं। अत: द्रव्यकर्म अर्थात् यह शरीर मिला और ये पट्टियाँ उत्पन्न हुई। पट्टियाँ अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय, और फिर यह देह अर्थात् नाम, आयुष्य, गोत्र और वेदनीय। 'हमने' जो भी कर्म किए हैं, उनके फल स्वरूप यह शरीर मिला। अब देह और मन-वचन-काया के जो सभी कर्म भुगतने पड़ते हैं, वे हैं नोकर्म।

प्रश्नकर्ता : शरीर द्रव्यकर्म का साधन है या द्रव्यकर्म है?

दादाश्री : शरीर द्रव्यकर्म है और वह भावकर्म का साधन है। द्रव्यकर्म का मतलब क्या है? परिणाम। देहाध्यास सहित भावकर्म, उनमें से द्रव्यकर्म उत्पन्न होते हैं। उससे फिर शरीर बनता है। *शाता* वेदनीय होती है, *अशाता* वेदनीय होती है और उल्टे पट्टे बंधते हैं। यानी कि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय, सभी कुछ इसमें आ गया है, द्रव्यकर्म में।

नहीं है भावकर्म स्वसत्ता में

अत: द्रव्य में से वापस भाव और भाव में से द्रव्य। द्रव्य में से भाव और भाव में से द्रव्य। बीज में से बड़ और बड़ में से बीज। अब भावकर्म वह 'खुद' करता है। द्रव्यकर्म खुद नहीं करता है। द्रव्यकर्म उसका परिणाम है, रिज़ल्ट है। यह द्रव्यकर्म अर्थात् भावकर्म का परिणाम। परीक्षा का कर्ता वह है, लेकिन क्या वह रिज़ल्ट का कर्ता हो सकता है?

प्रश्नकर्ता : वास्तव में कर्ता तो भावकर्म है न?

दादाश्री : हाँ, लेकिन वह भी नैमित्तिक। वास्तव में नहीं, एक्ज़ेक्ट नहीं। एक्ज़ेक्ट होता तो यों घुमा देते कि वे तुरंत मोक्ष में ले जाते। पिछले दबाव की वजह से एकदम सुख में रहता है, इसलिए सुख के दबाव से सभी भावकर्म सुखवाले ही बंधते हैं। पुण्य के अच्छे विचार मिलें और दु:ख का दबाव हो तब पाप के विचार आते हैं। भाव नहीं करने हों फिर भी हो जाते हैं। अत: भावकर्म अपनी सत्ता में नहीं है।

प्रश्नकर्ता : आपने ऐसा कहा था कि 'इस भावकर्म को इस वर्ल्ड में एक भी व्यक्ति समझ नहीं सका है और अगर कोई समझा हो तो मैं उनके पैर छूऊँ।'

दादाश्री : लेकिन कोई कैसे समझेगा! भावकर्म को समझना क्या ऐसी-वैसी बात है? भावकर्म को समझने का मतलब है भाव को बंद कर देना। अगर इतना समझ जाए तो भाव को बंद ही कर दे इंसान। ये सब तो अपनी-अपनी भाषा में समझ गए हैं भावकर्म को। आँख पर जो पट्टी है अगर वह समझ में आ जाए तो उससे भावकर्म समझ में आ सकते हैं।

बदली मात्र 'दृष्टि' ही

लेकिन ये द्रव्यकर्म हैं, इस कारण से ये भावकर्म हो जाते हैं। ये न हों तो भावकर्म नहीं होंगे। अब भावकर्म जो हैं, वे चार्ज कर्म हैं। पिछले जन्म में जो भावकर्म किए थे, वे इस जन्म में उनके हमें नोकर्म के रूप में फल भोगने पड़ते हैं, डिस्चार्ज के रूप में। नोकर्म की बहुत क़ीमत नहीं है, क़ीमत भावकर्म की है। जो डिस्चार्ज कर्म हैं, वे सभी नोकर्म हैं और उनमें से जो कॉज़ेज़ उत्पन्न होते हैं वे भावकर्म हैं, जो चार्ज होते हैं। लेकिन यह इन द्रव्यकर्मों के निमित्त से ही है। अब जो है, इन द्रव्यकर्मों में हमने क्या बदल दिया है कि

‘आपकी’ ‘दृष्टि’ ही बदल दी। ‘मैं चंदूभाई हूँ’ और ‘मैं इनका पति हूँ’, वह सारी ‘दृष्टि’ चली गई और ‘मैं शुद्धात्मा हूँ’ यही दर्शन दिया। यों दृष्टि बदल गई। पहलेवाली दृष्टि बिगड़ी हुई थी इसलिए उल्टा ज्ञान हुआ था। यह ‘दृष्टि’ बदलती है, उससे फिर ज्ञान बदलता है और उससे चारित्र बदलता है।

द्रव्यकर्म दिखाई देते हैं, तीर्थंकरों को ही

प्रश्नकर्ता : द्रव्यकर्म को कैसे पहचाना जा सकता है, वह बताइए।

दादाश्री : ऐसा है न, द्रव्यकर्म तो इस लोकभाषा में द्रव्यकर्म को जैसा मानते हैं कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष जो कर्म किए जाते हैं, वे सभी द्रव्यकर्म हैं। लेकिन वे सब तो नोकर्म हैं। इन्द्रियों में, अंत:करण पूरा ही सही है। यों जो खुली आँखों से दिखाई देते हैं, वे कर्म नोकर्म हैं। उनके अलावा भावकर्म हैं, जो खुले रूप से दिखाई नहीं देते, उन्हें सिर्फ ज्ञानी ही देख सकते हैं।

प्रश्नकर्ता : नोकर्म कौन-कौन से हैं।

दादाश्री : ये आपको जो दिखाई देते हैं, वे सभी नोकर्म हैं।

प्रश्नकर्ता : द्रव्यकर्म?

दादाश्री : जो नहीं दिखाई देते हैं, वे। द्रव्यकर्म मेरी समझ में तो आते हैं, लेकिन सिर्फ तीर्थंकरों को ही दिखाई देते हैं। मुझे समझ में आते हैं और आपको समझ में भी नहीं आ सकते।

भावकर्म-नोकर्म के बीच सूक्ष्मभेद

प्रश्नकर्ता : भावकर्म और नोकर्म के बीच का सूक्ष्म भेद उदाहरण देकर समझाइए।

दादाश्री : भावकर्म क्या है? रात को ग्यारह बजे अपने घर कुछ लोग आए, पाँच-सात लोग आए हों तो उन्हें 'आइए, पधारिए' कहते हैं लेकिन मने में ऐसा होता है कि 'ये कहाँ से आ गए?' तो वह जो 'आइए, पधारिए' कहते हैं न, वह नोकर्म है और 'ये कहाँ से आ गए' वह भावकर्म है।

नोकर्म सब खुले तौर पर दिखाई देते हैं। ये सब लड़ाई-झगड़े, मारा-मारी, ये दिन दहाड़े जो उल्टा तोलते हैं, फलाना करते हैं, वे सब नोकर्म हैं और अंदर से मन में ऐसा हुआ कि 'अभी ये कहाँ से आ गए भला,' तो वह जो अंदर उल्टा भाव किया, बिगाड़ा। बाहर सीधा रखा और अंदर भाव में कपट रखा है।

बाहर अच्छी तरह बात करते हैं और अंदर कपट किया। उसे माया कहते हैं। अत: जो क्रोध-मान-माया-लोभ के आधार पर होते हैं, वे सभी भावकर्म हैं।

अब मेहमान आए और 'आइए, पधारिए' कहा (वे नोकर्म हैं) उसके साथ ही अगर अंदर ऐसा तय किया होता कि 'बहुत अच्छा हुआ कि हमने ऐसा कहा!' तो उससे फिर वैसे ही शुभ भावकर्म हो जाते, नोकर्म के साथ मिलकर। उससे अगले जन्म के द्रव्यकर्म का प्रकाश बढ़ जाता, आवरण पतले हो जाते। और 'कहाँ से आ गए ये अभी' ऐसा हुआ, वह अशुभ भावकर्म हो गया। उससे अगले जन्म के द्रव्यकर्म के आवरण बढ़ गए। यों अंधेरा हुआ, आवरण आया ज्ञान और दर्शन पर, वह द्रव्यकर्म है। एक ही वाक्य में ये तीनों, नहीं? समझ में आया?

प्रश्नकर्ता : अब 'आइए, बैठिए' ज़ोर से ऐसा बोलें और अंदर भी वैसा ही शुभ भाव हो, तो वह क्या है?

दादाश्री : वह भी भावकर्म है। 'कहाँ से आ गए' कहा तो वह अशुभ भावकर्म था। जबकि इसका पुण्य फल मिलता है और उससे पाप फल मिलता है, इतना ही फर्क है लेकिन हैं दोनों ही भावकर्म।

अत: मन में ऐसा होता है कि 'अभी कहाँ से आ गए ये?' तो उससे पाप का बंधन हुआ। उस भाव का फल पाप (मिलता है), उससे पाप भुगतना पड़ेगा और इससे शुभ भाव किया तो अच्छा फल आएगा।

भावकर्म का परिणाम तो अगले जन्म का द्रव्यकर्म है अर्थात् यह शरीर बनता है उससे। और फिर उससे वापस नोकर्म उत्पन्न होते हैं, नोकर्म सारे दिखाई देते हैं हमें। आपने 'आइए, पधारिए' कहा, वह नोकर्म है। 'अभी कहाँ से आ गए ये लोग?' उस भाव

को भावकर्म कहते हैं। तो अब अगले जन्म में द्रव्यकर्म के रूप में इसका फल आता है, तब वह जानवर में जाता है कुत्ते के रूप में और कोई भी आए तो उसे भगाता रहता है, 'कहाँ से आ गए अभी, कहाँ से आ गए' ऐसा करता है।

मालिक न बनो तो कर्म छूट जाएँगे

ये डिस्चार्ज क्रोध–मान–माया–लोभ हैं, वे नोकर्म हैं और वास्तविक क्रोध–मान–माया–लोभ जो होते हैं, वे भावकर्म हैं।

प्रश्नकर्ता : दादा, भावकर्म भी पूर्व संचित के आधार पर ही होते हैं न या पुरुषार्थ के आधार पर?

दादाश्री : भावकर्म जो बंधते हैं वे इस मोमबत्ती में से बनते हैं, आठ कर्मों के आधार पर।

प्रश्नकर्ता : तो पुरुषार्थ कहाँ रहा?

दादाश्री : पुरुषार्थ कुछ भी नहीं है। पुरुषार्थ तो जो भावकर्म होते हैं न, उसे 'खुद' जाने और उन्हें समभाव में लाए, तो उसे पुरुषार्थ कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : यों समभाव में लाना भी कर्म के अधीन है न?

दादाश्री : नहीं, कर्म के अधीन नहीं है, यह ज्ञान के अधीन है।

प्रश्नकर्ता : यदि यह पुरुषार्थ भाग नहीं है, तो फिर कर्म ही सर्व शक्तिमान हो जाएँगे न?

दादाश्री : हाँ, वह ठीक है। कर्म शक्तिमान हैं, वह भी पुरुषार्थ है। यह जो पुरुषार्थ है, वह भ्रांत पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ अर्थात् प्रगति। प्रगति दो प्रकार की होती है। एक सच्चा पुरुषार्थ, पुरुष होने के बाद का पुरुषार्थ, उससे प्रगति होती है और यह भ्रांत पुरुषार्थ है उससे भी प्रगति होती है। अत: यह पुरुषार्थ मदद करता है उसे, इस ज्ञान के बाद आपके

भावकर्म रहे ही नहीं। आप चाहे जो करो फिर भी आपको भावकर्म नहीं होंगे क्योंकि दादा की आज्ञा का पालन करते हो। भावकर्म का मतलब क्या है? अच्छा करो तो भी भावकर्म, गलत करो तो भी भावकर्म। अब जब तक कर्ता है तब तक भावकर्म हैं। जितना भी डिस्चार्ज है वह सारा नोकर्म है, जो चार्ज है वह भावकर्म है।

प्रश्नकर्ता : यों दिखता भावकर्म जैसा है लेकिन फिर भी उसमें खुद एकाकार नहीं होता और डिस्चार्ज हो जाता है इसलिए नोकर्म हो गया?

दादाश्री : इसीलिए नोकर्म। बाहर के लोग (जिन्हें ज्ञान नहीं मिला है) अंदर उनमें एकाकार रहते हैं, इसलिए भावकर्म हो जाता है।

क्रोध की इतनी सारी अग्नि कहाँ से लाया? परमाणु के रूप में थे ही वे। स्थूल हुआ न, बाहर निकला इसलिए नोकर्म हो गया। अंदर जो है उसके 'आप' मालिक हो, ज़िम्मेदार हो आप। बाहर जो निकला उसके अगर मालिक नहीं बनो तो कुछ भी नहीं है। क्रोध-मान-माया-लोभ हो रहे हों और उसका मालिक नहीं बना तो कुछ भी नहीं।

प्रश्नकर्ता : यह मालिक नहीं बनना, वह क्या है?

दादाश्री : मालिक नहीं बनना, वह तो ज्ञान है। 'मैं खुद कौन हूँ' इसका भान रहता है न! तो क्रोध का मालिक क्यों बन जाता है? अज्ञानता से। नासमझी से। मालिक है नहीं और मालिक हूँ ऐसा मान बैठते हैं। बाहर के (जिन्होंने ज्ञान नहीं लिया) लोग मालिक हैं। वे वास्तव में मालिक हैं। वैसा तो दिखाई ही देता है न, श्रीमंत ही दिखाई देते हैं न!

प्रश्नकर्ता : यानी वास्तव में 'मालिक' भी मानी हुई दशा ही है न?

दादाश्री : वे वास्तव में मालिक ही हैं।

प्रश्नकर्ता : वह किस तरह?

दादाश्री : अगर माना नहीं होगा तो चिंता और जलन नहीं होगी। मालिक ही हैं। अत: किसी को ज्ञान नहीं है तो वह मालिक ही माना जाएगा न तब। अगर उनसे तुम पूछो,

‘कौन बोल रहा है?’ तो कहेगा, ‘मैं ही बोल रहा हूँ न!’

प्रश्नकर्ता : और जिन्होंने ज्ञान लिया है उन लोगों को कैसा रहता है?

दादाश्री : वे मालिक नहीं बनते। भूल से बन बैठते हैं कि ‘मुझे ऐसा क्यों हो रहा है, ऐसा क्यों हो रहा है?’ बस इतना ही है, मानते हैं इतना ही, वास्तव में ऐसा नहीं है।

देह की सारी क्रियाएँ नोकर्म

प्रश्नकर्ता : तो अब इस देह में नोकर्म किस जगह पर आते हैं? नोकर्म में किस-किस चीज़ का समावेश होता है?

दादाश्री : सभी प्रकार की क्रियाएँ नोकर्म अर्थात् डिस्चार्ज कर्म हैं लेकिन यदि कभी अज्ञानी हो तो उसे चार्ज होता है और ज्ञानी चार्ज नहीं होने देते।

खाया, वह भी नोकर्म है, लेकिन अगर तीखा लगा और अंदर *अशाता* उत्पन्न हुई, तो वह द्रव्यकर्म है।

प्रश्नकर्ता : ये अपयश नामकर्म या यशनाम कर्म उदय में आते हैं लेकिन वह जो व्यवहार खड़ा होता है, वह नोकर्म का माना जाएगा?

दादाश्री : वह सारा ही नोकर्म है। उदय आने पर जो फल देने लगता है, वह नोकर्म है।

प्रश्नकर्ता : यानी कि फल देनेवाले संयोग?

दादाश्री : वे सब नोकर्म। (कर्म) अंदर से बाहर निकले तभी से नोकर्म की शुरुआत हो गई।

प्रश्नकर्ता : ये जो निकाचित कर्म हैं, वे नोकर्म में ही आ जाते हैं न?

दादाश्री : हाँ, वे निकाचित तो इससे भी ज़्यादा मज़बूत।

भरा हुआ माल, वह द्रव्यकर्म है और जब उसका उपयोग होता है, तब नोकर्म

प्रश्नकर्ता : तो यह वाणी बोली जाती है, उसका समावेश किस में होता है? यह नोकर्म में आता है?

दादाश्री : वाणी दो प्रकार से हैं, उसके मूल परमाणु द्रव्यकर्म के है और यह यहाँ से जो बाहर खिंचकर जिस रूप में वाणी निकली, वह नोकर्म है।

प्रश्नकर्ता : अत: यह जब कोडवर्ड में होता है और उसमें से शॉर्ट हेन्ड होता है तब तक....

दादाश्री : वह सब द्रव्यकर्म में और यह जो निकलती है, वह नोकर्म।

प्रश्नकर्ता : मुँह में से जो वाणी निकले, वह सारी नोकर्म?

दादाश्री : नोकर्म अर्थात् आप मालिक नहीं हो, इसलिए आप ज़िम्मेदार नहीं हो। मालिक बनो तो ज़िम्मेदार हो।

प्रश्नकर्ता : और मन में विचार आ रहें हो, तो वे किस में आएँगे।

दादाश्री : वे सब नोकर्म।

प्रश्नकर्ता : और मन में जो गाँठें पड़ी हुई होती हैं, ग्रंथियाँ अंदर, वे द्रव्यकर्म में जाते हैं?

दादाश्री : वे द्रव्यकर्म में।

प्रश्नकर्ता : चित्त, बुद्धि और अहंकार?

दादाश्री : वे सब द्रव्यकर्म में लेकिन जैसे ही उपयोग होने लगा तो नोकर्म बन गया।

प्रश्नकर्ता : जब अंदर सूक्ष्मरूप में पड़ा हुआ है, तब द्रव्यकर्म है और उपयोग होने लगा तब नोकर्म है।

दादाश्री : हाँ।

विश्रसा, प्रयोगसा, मिश्रसा

प्रश्नकर्ता : तो क्या मिश्रसा और प्रयोगसा को द्रव्यकर्म और भावकर्म कहा जा सकता है?

दादाश्री : ऐसा है न, प्रयोगसा तो पहले हो जाता है। द्रव्यकर्म सेपहले हो जाता है। बोलते ही हो जाता है। प्रयोगसा यानी जो शुद्ध परमाणु थे न, तो जब 'हम' बोलने लगते हैं, अंदर भाव किया तो उसके साथ ही अंदर परमाणु प्रविष्ट जाते हैं। वे सभी परमाणु रंग जाते हैं, इस प्रकार से प्रयोगसा हो जाते हैं।

प्रयोगसा कब तक कहा जाता है? ये शुद्ध मूल विश्रसा परमाणु हैं। कुछ वाणी बोलें और जब वे अंदर प्रविष्ट हों तो वे प्रयोगसा हो जाते हैं, उसके बाद मिश्रसा होने में देर लगती है। जब मिश्रसा होते हैं तब वे द्रव्यकर्म कहलाते हैं। तब तक द्रव्यकर्म नहीं कहलाते। मिश्रसा होते समय द्रव्यकर्म कहलाते हैं और द्रव्यकर्म बन जाने के बाद वापस उदय में आते हैं।

यों बहुत गहराई में मत उतरना। यह उतरने जैसा नहीं है। ये भूल-भूलैया है। हम कहते हैं न कि इसमें मत घुसना, अंदर मत घुसना। अंदर घुसना ही मत। मुख्यत: आत्मा को ही जानना है। ये भूल-भूलैया है। सिर्फ आत्मा को जान लिया और अपने आप ही *लक्ष* (जागृति) में आ गया, हम याद न करें लेकिन फिर भी आ जाता है। रात को आप जागो तो यह अपने आप ही याद आ जाता है? वह सामने से आ जाता है न!

प्रश्नकर्ता : सामने आ जाता है।

दादाश्री : उसी को साक्षात्कारी ज्ञान कहते हैं। हाँ, अनुभव ज्ञान। अब आत्मा प्राप्त हो गया है। फिर उसे बाकी का सब जानकर क्या करना है! भगवान का शास्त्र तो बहुत

गहरा है। उसका सार निकालने की शक्तियाँ नहीं हैं, इसलिए लोग तरह-तरह के शब्दों में फँसे हुए हैं।

उल्टी दृष्टि, इसीलिए भावकर्म

इंसान को द्रव्यकर्म करने नहीं होते, भावकर्म में से उत्पन्न हो जाते हैं। ये द्रव्यकर्म अपने आप फल देते ही रहते हैं। आपको सभी नोकर्म करने हैं। यदि ये भावकर्म नहीं होंगे तो नोकर्म स्पर्श नहीं करेंगे। भावकर्म हो तो नोकर्म हेल्प करते हैं। अच्छे करो तो पुण्य का बंधन होता है, बुरे करो तो पाप का बंधन होता है लेकिन अगर भावकर्म का हस्तक्षेप हो तभी होता है।

यह 'दृष्टि' बदल गई है और उल्टी हो गई है इसलिए भावकर्म शुरू हो जाते हैं, विशेषभाव। स्वभाव भाव नहीं लेकिन विशेषभाव। अंदर ये भावकर्म होते ही रहते हैं। उल्टी दृष्टि है इसलिए। ये हमारे साले हैं और ये मेरे ये हैं और वो हैं वगैरह! 'मैं यह कर रहा हूँ और मैं वह कर रहा हूँ,' ये सभी भावकर्म हैं। ये सभी ऐसे हैं कि बीज डाल दें।

जहाँ समता वहाँ चार्ज बंद

इन द्रव्यकर्मों में से भावकर्म उत्पन्न होते हैं। ऐसा है न, कड़वा और मीठा दोनों समभाव से सहन नहीं हो पाते इसलिए कड़वे पर द्वेष है और मीठे पर राग है, इसलिए कर्म बंधते हैं। कड़वे-मीठे में समभाव हो जाए तो कर्म नहीं बंधते।

प्रश्नकर्ता : भावकर्म अर्थात् द्रव्यकर्म द्वारा जो कोई परिस्थिति आई....

दादाश्री : ये द्रव्यकर्म हैं इसीलिए क्रोध-मान-माया-लोभ होते हैं, वे सभी भावकर्म हैं। लेकिन जिन्हें नहीं करने हों, जिनके पास ज्ञान हो, वे नहीं करेंगे। मीठे संयोग आते हैं तब खुश हो जाता है और कड़वे संयोग आएँ तब चिढ़ जाता है, इसी तरह चलता रहता है। लेकिन अगर वहाँ पर समता रखे तो कोई कर्म नहीं बंधेगा।

प्रश्नकर्ता : तो फिर जो होते हैं, जीव के अंदर जो क्रोध-मान-माया-लोभ होते हैं, वे....

दादाश्री : वे भावकर्म हैं।

प्रश्नकर्ता : वे जो भावकर्म हुए, वे द्रव्यकर्म के निमित्त से होते हैं या द्रव्यकर्म वह करवाते हैं?

दादाश्री : नहीं, द्रव्यकर्म करवाते हैं 'उससे'। लेकिन 'वह' द्रव्यकर्म की कब नहीं मानेगा? जब 'खुद' ज्ञानी हो तब नहीं मानेगा।

प्रश्नकर्ता : अत: फिर मेरा शरीर अभी जो कुछ भी भोग रहा है....

दादाश्री : जो सुख-दु:ख वह भोग रहे हो, वह सब नोकर्म है। इसीलिए हमें उसका समभाव से *निकाल* कर देना है, ये सभी जो कर्म आते हैं उनका। कड़वे-मीठे आते हैं उनका। अत: नोकर्म का अर्थ क्या हुआ? अगर ज्ञानी होंगे तो उससे कर्म नहीं बंधेगे और अज्ञानी होंगे तो इन कर्मों में से वापस बीज डलेगा।

अहंकार पहने चश्मा

प्रश्नकर्ता : आप्तसूत्र ३९६३ में है कि 'अहम का स्थान कब तक रहता होगा? कार्मण शरीर और शुद्धात्मा, इन दोनों के बीच में 'जो है वह' खत्म नहीं हो जाए तब तक रहता है।' यह 'जो है वह' यह क्या है?

दादाश्री : वही अज्ञान है। वह अज्ञान रूपी पर्दा है। अगर अज्ञान नहीं रहे तो जीवित अहंकार पूरा खत्म हो जाएगा। तब फिर परछाई रूपी अहंकार बचेगा, ड्रामेटिकल। वह संसार चला लेता है। अत: अहंकार का ही मोक्ष करना है। मूल आत्मा तो मोक्ष में ही है न!

अज्ञान चला जाए तो सबकुछ चला जाएगा। आवरण दो प्रकार से हैं। अज्ञान रूपी जो पर्दा है, वह और दूसरा द्रव्यकर्म का आवरण है। द्रव्यकर्म तो रोज़ होते ही हैं लेकिन हमेशा रहनेवाले अज्ञान रूपी पर्दे की बात की गई है। द्रव्यकर्म तो कुछ हद तक ही हैं,

उसमें कोई हर्ज नहीं है, चालीस–पचास साल के लिए है। उसके बाद वापस दूसरे बदलते रहते हैं जबकि भावकर्मवाला अज्ञान तो हमेशा के लिए हैं। द्रव्यकर्म तो ऐसी चीज़ है कि वह तो चश्मे के अलावा और कुछ नहीं है। वह कोई अज्ञानता नहीं है। वह तो चश्मा है, जैसा पहने वैसा ही दिखता है। पीला पहने तो पीला दिखता है।

प्रश्नकर्ता : उन्हें पहननेवाला कौन है?

दादाश्री : अहंकार।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् ऐसा है कि अहंकार के ऐसे चश्मे होते हैं?

दादाश्री : चश्मे अवश्य पहनने ही पड़ते हैं। तब 'उसे' (अहंकार को) जो दिख रहा था, वह फिर उल्टा दिखने लगता है। उल्टा दिखने लगता है। इसलिए फिर उल्टा चलता है।

दृष्टि बदली द्रव्यकर्म से

अब, द्रव्यकर्म क्या है कि आँखों पर पट्टियाँ बंधवाकर यह सब दिखाता है। अत: 'दृष्टि' बदल जाती है। वह सब द्रव्यकर्म से है। दृष्टि बदल जाती है इसलिए यह शरीर बना। यह शरीर जो बना है, वह द्रव्यकर्म के अधीन ही बना है।

प्रश्नकर्ता : ज्ञान से पहले हम जिस दृष्टि से जगत् को देखते हैं, वह दृष्टि क्या वही द्रव्यकर्म के चश्मे हैं?

दादाश्री : द्रव्यकर्म के आधार पर ही वह 'दृष्टि' है और उस दृष्टि से हम उल्टे चले हैं लेकिन उसका आधार द्रव्यकर्म है। उस दृष्टि को द्रव्यकर्म नहीं कहते। ये आप जिसे चश्मे कहते हो न, वे ही द्रव्यकर्म कहलाते हैं और वही ठीक है।

नोकर्म अर्थात् डिस्चार्ज होते हुए कर्म और भावकर्म अर्थात् चार्ज होते कर्म। बीच में द्रव्यकर्म खत्म नहीं हो जाते। हम उल्टी 'दृष्टि' निकाल देते हैं। इसलिए वह (मूल) दृष्टि दूसरी तरफ नहीं जाती है, द्रव्यकर्म में। वह उल्टी 'दृष्टि' चली ही जाती है।

प्रश्नकर्ता : श्रीमद् राजचंद्र का वचनामृत है न, उसमें ये तीन डेफिनेशन ऐसे दी हैं कि जो भावकर्म हैं न, भावकर्म जो बंधते हैं, उनका जो रिज़ल्ट आता है, वह द्रव्यकर्म है।

दादाश्री : वह ठीक है। लेकिन उस रिज़ल्ट को लोग अपनी भाषा में समझे हैं। रिज़ल्ट यानी वे अगले जन्म के चश्मे हैं और लोग ऐसा समझे हैं कि यहाँ पर जो यह द्रव्य आया है न....वह भाषा भी है, वह कोई गलत नहीं है, लेकिन ये द्रव्यकर्म वैसे नहीं हैं। द्रव्यकर्म का अर्थ समझ में आ जाए न, तब तो वह बहुत काम निकाल दे।

प्रश्नकर्ता : द्रव्यकर्म के बारे में आप क्या कहना चाहते हैं?

दादाश्री : इन द्रव्यकर्मों के खत्म हो जाने से आपकी दृष्टि बदल गई या नहीं बदली?

प्रश्नकर्ता : हाँ, वह बदल गई।

दादाश्री : लेकिन उन्हें द्रव्यकर्म हैं। जो द्रव्यकर्म हैं, वे दृष्टि को सारा उल्टा दिखाते हैं। द्रव्यकर्म के आधार पर दृष्टि उल्टी हो गई है न, उल्टी दृष्टि कि जिसके आधार पर जगत् चल रहा है, जिसके आधार पर भावकर्म बनते हैं। नहीं तो भावकर्म होंगे ही नहीं, यदि द्रव्यकर्म नहीं रहेंगे तो! द्रव्यकर्म से ही यह दृष्टि है। जो है उससे कुछ विपरीत ही दिखाती है। विपरीत दिखता है, इसलिए विपरीत चलता है फिर।

प्रश्नकर्ता : आप यह जो ज्ञान देते हैं, तब हमारे चार्ज होनेवाले कर्म बंद हो जाते हैं, वह इसलिए न कि आप दृष्टि बदल देते हैं?

दादाश्री : उस मूल (उल्टी) दृष्टि के खत्म हो जाने से भावकर्म बंद हो जाते हैं।

आत्मज्ञानी और उनके आश्रित ही द्रव्यकर्म को समझ सकते हैं। द्रव्यकर्म अर्थात् जो परिणामित हो चुका है, 'इफेक्ट' कहलाता है वह।

भावकर्म और मूल दृष्टि बिगड़ें, तो चार्ज

द्रव्यकर्म ऐसी स्थूल चीज़ है ही नहीं कि जो देखी जा सके। जबकि लोग जो दिखाई देते हैं वैसे स्थूल कर्मों में इसे ले जाते हैं और द्रव्यकर्म को स्थूल में ही समझते हैं। भाव अर्थात् सूक्ष्म और द्रव्य अर्थात् स्थूल ऐसा समझते हैं। वास्तव में द्रव्य तो सूक्ष्म से भी

आगे की चीज़ है। अब वह लोगों को कैसे समझ में आए? सब चीज़ समझ में नहीं आ सकती न! चल रहा है!

प्रश्नकर्ता : बहुत स्पष्ट नहीं हुआ अभी तक।

दादाश्री : नोकर्म अर्थात् डिस्चार्ज, पूरा स्थूल।

प्रश्नकर्ता : द्रव्यकर्म और नोकर्म एक दूसरे से जुड़े हुए नहीं लगते?

दादाश्री : ऐसा है न, द्रव्यकर्म में से भावकर्म उत्पन्न होते हैं और भावकर्म में से नोकर्म उत्पन्न होते समय दूसरे द्रव्यकर्म बदलते हैं।

प्रश्नकर्ता : एक उदाहरण दीजिए।

दादाश्री : 'आपको' कोई गालियाँ दें, उस समय आपका 'भाव' बदल जाता है।

प्रश्नकर्ता : गालियाँ दीं, वह क्या कहलाता है?

दादाश्री : वह नोकर्म कहलाता है। कोई गालियाँ देता है वह तो नोकर्म में आता है लेकिन 'आपकी' वह (मूल) 'दृष्टि' बदल जाती है। तो उसमें से द्रव्यकर्म उत्पन्न होते हैं। जो रौद्रभाव उत्पन्न होते हैं वे भावकर्म कहलाते हैं और रौद्रभाव होते समय अंदर जो मूल मशीनरी, यह लाइट (दब जाती/कम हो जाती) दिखती है, 'दृष्टि' बिगड़ती है तो वह द्रव्यकर्म है। नोकर्म के समय आपकी (महात्माओं की) 'दृष्टि' नहीं बिगड़ती। भाव उत्पन्न होते हैं फिर भी 'दृष्टि' नहीं बिगड़ती क्योंकि हिंसक भाव नहीं है। 'दृष्टि' नहीं बिगड़ती, इसलिए चार्ज नहीं होता। दृष्टि बिगड़े, तभी चार्ज होता है। अगर दृष्टि नहीं बिगड़े, तो जो भावकर्म हुए वे भी डिस्चार्ज हैं। भावकर्म और मूल दृष्टि दोनों बिगड़ जाएँ, तब उसे चार्ज कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित कैसे रहा जा सकता है?

दादाश्री : जब तक सम्यक् दृष्टि नहीं हो जाती तब तक भावकर्म, नोकर्म और द्रव्यकर्म से रहित हुआ ही नहीं जा सकता। सम्यक् दृष्टि हो नहीं पाती न! वह मिथ्या दृष्टि

बदलती नहीं है। जब तक मिथ्या दृष्टि नहीं बदलती तब तक कुछ भी नहीं हो सकता। यह मिथ्या दृष्टि, वह सांसारिक दृष्टि है। जो सम्यक् दृष्टि है, वह आत्म दृष्टि है। वह दृष्टि अलग है। सम्यक् दृष्टि होने के बाद भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म सबकुछ अलग-अलग हो जाता है और फिर छूट जाता है। फिर अलग ही रहा करता है। कर्म बंधन रुक जाता है।

रखो *लक्ष* में चश्मे, खुद और बाहरी चीज़ें

दो चीज़ें साथ में रखने से, दोनों खुद के गुणधर्म में रहकर एक तीसरा गुण उत्पन्न हो जाता है, व्यतिरेक गुण। उस व्यतिरेक गुण से चश्मे बनते हैं।

आत्मा स्वभाव में ही है लेकिन धुंध बहुत है इसलिए दिखाई नहीं देता। धुंध चली जाए तो दिखाई देगा। द्रव्यकर्म धुंध जैसा है। धुंध में से बाहर निकलने के बाद भी कितने ही समय तक 'उस' पर असर रहता है। 'ज्ञानी' उससे छुड़वा देते हैं।

जो अगले जन्म के बीज डालते हैं, वे भावकर्म हैं। वे कर्म जो बीज रहित हैं, वे नोकर्म हैं। और द्रव्यकर्म क्या हैं? वह पिछले जन्म के कौन से चश्मे लाया है? चार नंबर के, आठ नंबर के या बारह नंबर के चश्मे हैं? जैसे चश्मे लाया है, उसी से पूरी ज़िंदगी दिखाई देता है। जैसे चश्मे लेकर आया होता है, उसी अनुसार सूझ पड़ती है।

द्रव्यकर्म में शक्तियाँ भी लाया है। आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं लेकिन उनमें अंतराय डालनेवाली शक्तियाँ भी लेकर आया है। इसके अलावा मूर्छित भाव व मोह लाया है।

पीले चश्मे चढ़ाए तो दुनिया पीली दिखाई देती है। इन चश्मों के बारे में पता है, इसलिए समझ जाता है कि इन चश्मों की वजह से पीला दिख रहा है! ये पूर्वजन्म के द्रव्यकर्म के चश्मे चढ़ाए हैं, उसी कारण ऐसा सब दिखाई देता है! यदि चश्मों का *लक्ष* (जागृति) रहे, खुद लक्ष में रहे और बाहर की हकीकत *लक्ष* में रहे तो कोई परेशानी नहीं है।

द्रव्यकर्म तो, इस दुनिया के लोगों को जो समझ में आता है न, वह बात भी सही है लेकिन मूल द्रव्यकर्म तो अलग ही चीज़ है। द्रव्यकर्म तो जो आठ कर्म बताए हुए हैं न, वे

द्रव्यकर्म हैं और इन द्रव्यकर्मों का ही फल हैं ये भावकर्म और नोकर्म।

प्रश्नकर्ता : द्रव्यकर्म का ही फल है?

दादाश्री : वे द्रव्यकर्म नहीं होते तो ये भी नहीं होते। द्रव्यकर्म की वजह से ही भावकर्म, नोकर्म होते हैं इसलिए हम पूरी मिथ्यादृष्टि ही खत्म कर देते हैं। अत: भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म वगैरह 'हमें' (ज्ञान प्राप्त लोगों को) स्पर्श नहीं करते। द्रव्यकर्म–भावकर्म–नोकर्म सबकुछ खत्म कर दिया है। इसीलिए हमने कहा है न, 'मैं भावकर्म–द्रव्यकर्म–नोकर्म से सर्वथा मुक्त ऐसा शुद्धात्मा हूँ।' अर्थात् यहाँ पर द्रव्यकर्म भी नहीं हैं, भावकर्म भी नहीं हैं और नोकर्म भी नहीं हैं। हमारे द्रव्यकर्म भी नहीं हैं, भावकर्म भी नहीं हैं और नोकर्म भी नहीं हैं।

अर्पण किया जीवित और रहा मृतप्राय

द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म अर्पण कर दिए हैं लेकिन वह समझ में नहीं आता है न! कर्ममात्र अर्पण हो गए हैं क्योंकि मैं आप से कह देता हूँ कि बोलो, 'मैं भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म सब आपको अर्पण कर देता हूँ।' तब पूछता है, 'मेरे पास नहीं रखने हैं?' तब मैं कहता हूँ, 'नहीं, यदि रखने हों तो पहले ही तुम बता दो मुझे। तो तुम्हारे पास रखना।' तब कहता है, 'नहीं, मेरे पास नहीं रखने हैं।' फिर आपके पास कैसे हो सकते हैं? सौंपने के बाद आपको क्या?

प्रश्नकर्ता : मन–वचन और काया, भावकर्म–द्रव्यकर्म और नोकर्म दादा को अर्पण कर देता हूँ लेकिन फिर वापस मैं तो भोगता ही हूँ। मैंने अर्पण कर दिए ऐसा कैसे कह सकते हैं?

दादाश्री : जीवित भाव अर्पण कर दिया है और मृतप्राय आपके पास रहा। अर्थात् जीवित मन, जीवित वाणी और जीवित अंहकार, ये सब जीवित भाग अर्पण कर दिया है और बाकी आपके पास जो कुछ बचा है, वे फल देने को तैयार हो चुके हैं बस उतने ही बचे हैं आपके पास।

प्रश्नकर्ता : यह मैं पहली बार समझा। द्रव्यकर्म–भावकर्म–नोकर्म आपको सौंप दिए हैं। इसका महत्व मैं पहली बार समझा।

दादाश्री : समझ में आया न? आप पहली बार समझे लेकिन कितने तो अभी तक समझे ही नहीं हैं न? आपने अगर सौंपे नहीं होते तो भावकर्म होते रहते और कर्म बंधन होता।

प्रश्नकर्ता : आपका कहना सही है लेकिन उसका महत्व अब समझ में आया।

दादाश्री : समझ में आना चाहिए। ठीक है। अब यह समझ में फिट नहीं हो गया?

प्रश्नकर्ता : ऐसा मालूम है कि अपने में अब भावकर्म नहीं है।

दादाश्री : हाँ, वह तो शायद ही किसी महात्मा को समझ में आता है। यों ही चलता है मेरे भाई। बाकी ऐसा समझ में नहीं आता। राम तेरी माया।

प्रश्नकर्ता : यह बात समझ में आई तो बहुत बड़ा कल्याण हो गया।

दादाश्री : यह बात समझ में आ गई तो हल ही आ गया न! लेकिन समझ में नहीं आता है न? यह तो अक्रम है इसलिए चलता रहता है। समझ में न आए तो भी चलता रहता है। छोटे बच्चे का भी चलता है न!

जिसे 'मेरा' मानता था, वह सब आपको अर्पण कर दिया। मेरे भावकर्म, मेरे नोकर्म, मेरे द्रव्यकर्म, मेरा मन, मेरा शरीर, मेरा वचन वह सब आपको सौंप दिया।

प्रश्नकर्ता : वह तो मैं ऐसा सोचा करता था कि ये सब अर्पण ज़रूर कर देते हैं लेकिन कुछ देते तो हैं ही नहीं।

दादाश्री : नहीं। लेकिन उसे अगर समझने के बाद सौंपें तब तो कल्याण ही हो जाए लेकिन वह समझ में आता नहीं है न! अभी भी कितने ही महात्मा नोकर्म को समझते ही नहीं। बड़े–बड़े महात्मा! फिर भी गाड़ी चल रही है। हम जानते हैं कि आगे जाकर समझ ही लेंगे!

हम द्रव्यकर्म कहते हैं न तब ये ऐसा समझते हैं कि अभी पैसे की ज़रूरत पड़ेगी, फिर भी चलता है, गाड़ी चला लेनी है। इसे समझाने जाएँगे तो बिगड़ जाएगा। दादा के सहारे-सहारे यह चल रहा है न!

यह द्रव्य अर्थात् लोग इसे ऐसा समझते हैं, तो इसे मैं चला लेता हूँ। मैंने कहा, 'चलो न, कभी न कभी समझ जाएँगे।' अगर द्रव्य डालें तो कितनी सारी चीज़ें डालनी पड़ेंगी, टेबल नहीं डालनी पड़ेगी? कई लोग ऐसा समझते हैं कि 'पूजा वगैरह जो कुछ भी करते हैं न, वे सब द्रव्यकर्म हैं,' कहते हैं कि 'भावकर्म का फल आया है।' यह द्रव्यकर्म नहीं है, यह तो नोकर्म है। वर्ना सब से अच्छा तो इनके जैसा है, कुछ भी जानना करना नहीं है। बस दादा ने जो कहा वही सोना।

विज्ञान से गया भावकर्म

ये भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म यह जगत् इन तीन कर्मों पर खड़ा है। तो इस क्रमिक मार्ग के सभी ज्ञानी भावकर्म पर ही हैं और वे भावकर्मों को दिनोंदिन कम करते जाते हैं, क्रमपूर्वक। क्रमिक मार्ग अर्थात् क्रमपूर्वक। अब जैसे-जैसे 'वे' भावकर्म कम करते हैं, जैसे-जैसे भावकर्म कम होते जाते हैं वैसे-वैसे स्वभाव खुलता जाता है। जबकि हमने क्या किया कि भावकर्म पर ही पूरा आधारित है तो उस भावकर्म को ही खत्म कर दिया क्योंकि अगर 'आप' 'चंदूभाई हो', तभी भावकर्म होंगे न?

इस विज्ञान से तो चार कषाय चले ही गए हैं न! इसलिए अब वह भावकर्म रहा ही नहीं। भावकर्म नहीं रहा इसीलिए अगले जन्म के नए द्रव्यकर्म अर्थात् ये जो आठ कर्म हैं, वे नहीं बंधते क्योंकि 'आप' भाव के कर्ता नहीं रहे।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् वह जो बेटरी हमेशा चार्ज होती रहती थी, वह अब चार्ज नहीं होगी?

दादाश्री : नहीं, चार्ज नहीं होगी। आप मेरी आज्ञा का पालन करते हो इस वजह से वह बस उतनी ही चार्ज होगी, तो एक जन्म के लिए तो पुण्य चाहिए या नहीं चाहिए?

प्रश्नकर्ता : आज्ञा पालन करने में जो भी कर्तृत्व का भाव आता है, क्या उसके परिणाम स्वरूप ये पुण्यानुबंधी पुण्य बंधते हैं?

दादाश्री : बंधते हैं न! अगला जन्म चाहिए न! अगले जन्म में सीमंधर स्वामी के पास जाने के लिए पुण्यानुबंधी पुण्य चाहिए न! तो जन्म होते ही वहाँ पर पिताजी आपके लिए कपड़े, राजमहल जैसा बंगला तैयार रखेंगे। बंगला बनाना नहीं पड़ेगा। बंगला बनाना, वह पुण्यानुबंधी पुण्य नहीं कहलाता। तैयार बंगला होता है और भाई वहाँ पर आते हैं। सबकुछ तैयार होना चाहिए या नहीं होना चाहिए? और फिर जब दर्शन करने जाएँ तो घोड़ागाड़ी की ज़रूरत पड़ेगी। यह सब चाहिए न?

प्रश्नकर्ता : हाँ।

दादाश्री : अरे....रोज़ गाड़ी सीमंधर स्वामी के पास छोड़कर जाएगी और वापस लेने भी आएगी।

अर्थात् यह विज्ञान है, आप यदि एक्ज़ेक्ट हिसाब निकाल लो तो बहुत सुंदर विज्ञान है। सैद्धांतिक और अविरोधाभासी। विरोधाभास किसी जगह पर नहीं है!

[3.1] 'कुछ है' वह दर्शन, 'क्या है' वह ज्ञान

दर्शन और ज्ञान बुद्धिगम्य विवरण

प्रश्नकर्ता : ज्ञेय और दृश्य में क्या फर्क है? वह समझाने की कृपा कीजिए।

दादाश्री : तुझे क्या समझ में आया? ज्ञेय और दृश्य?

प्रश्नकर्ता : ज्ञेय अर्थात् हमें सिर्फ अंदर से जानना होता है। दृश्य हम बाहर देख सकते हैं।

दादाश्री : ऐसा नहीं है। भगवान ने दर्शन और ज्ञान दो शब्द दिए हैं। 'साहब, क्या सिर्फ ज्ञान रखा होता तो नहीं चलता? ज्ञान में सब आ ही जाता है न, दर्शन वगैरह

सबकुछ?' तो कहते हैं, 'नहीं। इसका भेद समझ में नहीं आएगा। ज्ञान के बिना दर्शन से कितने ही हल आ जाते हैं। अब ज्ञान–दर्शन और चारित्र, इनमें दृष्टा दृश्य को देखता है और ज्ञाता ज्ञेय को देखता है। एक ही चीज़ है, ज्ञाता–दृष्टा खुद ही है' लेकिन जब दृश्य देखता है तब वह दृष्टा कहलाता है। जब ज्ञेय को देखे तब ज्ञाता कहलाता है। अब दृश्य किसे कहेंगे? यह एक बड़ा प्रश्न खड़ा होता है।

ऐसा है न कि 'देखा' यानी यह तो इन आँखों से देखा, उसे 'देखना' नहीं कहते। वह तो संसार के लिए देखना कहलाएगा लेकिन इसमें क्या देखना है और क्या जानना है? इसमें दर्शन और ज्ञान कौन से है? दोनों अलग क्यों हैं?

अर्थात् दर्शन और ज्ञान दो अलग चीज़ें हैं। दुनिया को इसे समझने में बहुत टाइम लगेगा, यह ऐसी चीज़ है। और यदि ज्ञानी यह समझाएँ तो आसानी से समझ में आ जाएगा इसलिए दर्शन और ज्ञान लोगों को समझ में नहीं आया। जहाँ दर्शन और ज्ञान की बात आए, वहाँ पर फिलॉसॉफर भी नहीं समझ पाते। जहाँ पर भी देखो, यह दर्शन और ज्ञान समझ में नहीं आया है।

प्रश्नकर्ता : यह विषय बुद्धि से परे है न?

दादाश्री : हाँ, यह विषय बुद्धि से परे है! अब भेद तो ज्ञानगम्य है इसके बावजूद भी आपको बुद्धि से कुछ समझ में आए इसीलिए उदाहरण देकर बताता हूँ।

अब यह दर्शन और ज्ञान, वे आपको विस्तार से समझ में आएँ इसलिए उदाहरण देता हूँ। उदाहरण दूँगा तो बुद्धि में बैठेगा और आपको ऐसा लगेगा कि 'नहीं, यह बात सही है।' बाकी का सब तो मैं ही देख सकता हूँ।

हम सब यहाँ पर बैठे हों और उस रूम में कोई आवाज़ हो तो कोई क्या कहेगा, 'कुछ है।' अब बिल्ली है या कुत्ता है, वह क्या पता चले? लेकिन 'कुछ है' उतना तो ये लोग जान सकते हैं या नहीं जानते! नहीं जानेंगे? 'कुछ है,' ऐसा पता चलता है?

प्रश्नकर्ता : हाँ।

दादाश्री : 'क्या है' वह शायद पता न चले, कुत्ता या बिल्ली, इनमें से कौन है वह कैसे कहा जा सकता है? या फिर शायद छोटे बच्चे ने भी हाथ मारा हो! लेकिन 'कुछ है' ऐसा पता चलता है या नहीं चलता? आपको भी पता चलता है? आपको भी पता चलता है?

प्रश्नकर्ता : हाँ, दादा।

दादाश्री : उसे क्या कहते हैं? वह ज्ञान कहलाता है या दर्शन? या फिर दृष्टि कहलाएगी? 'कुछ है' ऐसा जो ज्ञान हुआ, उसे क्या कहेंगे? सभी कहते हैं, 'कुछ है' लेकिन अगर हम पूछें कि 'क्या है' वह बताओ न! तो उसका कैसे पता चले? कहेंगे कि 'कुछ है ज़रूर।' सभी एक मत से जवाब देंगे, सभी कहेंगे कि 'कुछ है।' तब हम यहाँ से उठकर गए वहाँ पर, 'ओहो! यह तो बिल्ली है।' तब ये कहते हैं कि 'बिल्ली है।' ये सभी कहते हैं कि 'बिल्ली है।' अर्थात् 'कुछ है' वह भी ज्ञान था और 'यह बिल्ली है' वह भी ज्ञान है, नहीं? इन दोनों में व्हॉट इज़ द डिफरेन्स? इन दोनों प्रकार के ज्ञान में? तो 'कुछ है,' उस अनडिसाइडेड ज्ञान को दर्शन कहते हैं। उसे 'देखना' कहते हैं और जो डिसाइडेड है, वह ज्ञान कहलाता है, उसे 'जानना' कहते हैं।

अनडिसाइडेड ज्ञान को दृश्य कहा है। डिसाइडेड ज्ञान को ज्ञेय कहा है। यह कुछ है, वह है दृष्टापना है और फिर सभी सहमत हो गए कि यह बिल्ली है तो वह ज्ञातापन है अर्थात् दोनों एक ही हैं।

प्रश्नकर्ता : आपने बिल्ली का उदाहरण दिया है न, उसकी आवाज़ भी हम नहीं सुनते हैं, हम देखते भी नहीं हैं, फिर भी कई बार हमें अंदर ऐसी फीलिंग होती है कि 'कुछ है,' तो वह क्या कहलाता है?

दादाश्री : लेकिन वह 'कुछ है' अर्थात् वह दृश्य ही कहलाता है। जब तक उसका डिसीज़न नहीं आ जाए, तब तक वह दृश्य है। जब डिसीज़न आ जाए, डिसाइडेड, तब तुरंत ही वह उसका ज्ञान हो जाता है। तब तक जाना नहीं कहलाता।

यह जगत् दो प्रकार से है, दृश्य और ज्ञेय व आत्मा दो रूप से है, ज्ञाता और दृष्टा। इस प्रकार अपना यह ज्ञान क्या कहता है कि, 'यह ज्ञेय और दृश्य हैं और आप ज्ञाता–दृष्टा बनकर देखो।'

आत्मा तो ज्ञाता–दृष्टा है। अब 'पेट में कहीं दु:ख रहा है,' ऐसा कहा न, तो वह दृश्य होता है फिर अगर हम ऐसा कहें कि 'कहाँ दु:ख रहा है, यह तो बता?' तब कहता है कि 'यहाँ दु:ख रहा है,' तब वह ज्ञेय कहलाता है।

सभी डॉक्टर कहते हैं कि 'ज़रूर कुछ है तो सही लेकिन निदान नहीं हो रहा है।' निदान का मतलब क्या है? जब ऐसा पूछें तब कहते हैं, 'निदान नहीं हो रहा है। कुछ है ज़रूर लेकिन निदान नहीं हो रहा है।' अब व्यवहार में यह शब्द प्रचलित है लेकिन व्यवहारवाले को भान नहीं है इस बात का।

नहीं है फर्क इसमें कोई

प्रश्नकर्ता : ज्ञाता–दृष्टा और जानने–देखनेवाला इन दोनों में क्या फर्क हैं?

दादाश्री : जानने–देखनेवाले को ही ज्ञाता–दृष्टा कहा जाता है। मैंने देखा और मैंने जाना। चीज़ों को देखे, दृश्य को देखे और ज्ञेय को जाने तो उसे 'देखना–जानना' कहते हैं।

यह लाइट क्या करती है? यदि उसमें चेतन हो तो वह क्या कहेगी? 'मैं देखती हूँ, मैं ही जानती हूँ।' उसका स्वभाव क्या है?

प्रश्नकर्ता : प्रकाश देने का।

दादाश्री : तो वह भी प्रकाश ही देती है। प्रकाश दो तरह के हैं। देखना और जानना। देखना–जानना क्यों कहा गया है? 'ये सब तारे हैं' ऐसा कहा तो उसे देखना कहते हैं। 'यह ध्रुव का तारा है, फलाना है' ऐसा विस्तार से बताएँ तो उसे 'जानना' कहते हैं। प्रकाश वही का वही है।

सोचकर देखा तो वह ज्ञेय है

अब विचारों का अगर बहुत ज़्यादा घमासान होने लगे तो और उन्हें जाना नहीं जा सके तो दर्शन में रखना कि भाई ये सब विचार एक साथ आए हैं। अलग–अलग नहीं जान पाओ तब समूह में रखना कि ये सभी विचार आए, उन्हें देखा। इसे दर्शन कहते हैं। और अगर उन्हें विस्तारपूर्वक देखा तो वह ज्ञान कहलाता है कि यह फलाना विचार आया, यह औरंगाबाद जाने का विचार आया, हम उसके ज्ञाता कहलाते हैं, वह ज्ञेय कहलाता है। और जब ये सभी विचार एक साथ आ रहे हों तो दृश्य कहलाता है।

सोचकर देखो तो वह ज्ञान कहलाता है और बिना सोचे देखो तो वह दृश्य कहलाता है।

प्रश्नकर्ता : सोचकर यानी क्या?

दादाश्री : सिनेमा देखते हैं, तब वह सब देखते ज़रूर है लेकिन अंदर किसी जगह पर ऐसा आए कि एक व्यक्ति छुरा लेकर उसके पीछे क्यों दौड़ा? क्या वह मार देगा उसे? वह जो है वह ज्ञेय कहलाता है और बाकी जो कुछ चला जाता है, वह दृश्य कहलाता है।

प्रश्नकर्ता : कोई व्यक्ति छुरा लेकर आएयातो पहले हमने उसे देखा तो वह दृश्य है लेकिन अगर उसमें सोचा कि यह क्या करनेवाला है? तब वह दृश्य ज्ञेय बन जाता है, ठीक है?

दादाश्री : जब छुरा लेकर आए तभी अपना विचार उसमें घुस जाता है। विचार घुसा तभी से वह ज्ञेय है और विचार न आए और वह सहजरूप से चला जाए तो वे सभी दृश्य हैं।

प्रश्नकर्ता : इन चंदूभाई को किसी भी तरह की अकुलाहट होती है, परेशानी होती है तो उसे मैं देखता हूँ, तो इसमें ये दोनों, देखना और जानना, कैसे लागू होता है?

दादाश्री : आपको खुद को जब पहली बार ऐसा पता चला तो उसे देखना कहते हैं। जब तक नहीं जानते कि क्या है, तब तक सारा दर्शन है। अत: जब तक डिसीज़न नहीं आ जाए, तो वह 'देखना' है।

प्रश्नकर्ता : तो फिर जानना किसे कहते हैं?

दादाश्री : जानना, जब उसका अनुभव हो जाए तब। मोटे तौर पर पता हो, तब तक उसे 'देखना' कहते हैं। डिसाइडेड हो जाए, तब 'जानना'। ज़्यादातर तो सभी कुछ 'देखने' में ही जाता है। 'जानने' में कम होता है। ज़्यादा कुछ डिसाइड नहीं हो पाता न।

प्रश्नकर्ता : 'जानना' कब होता है? डिसाइड कब होता है?

दादाश्री : 'जानना' तो हमें अनुभव हो उसे जानना कहते हैं।

लोग नहीं कहते, 'यह दवाई लगाते हुए कितने दिन हो गए?' तब कहता है 'चार दिन हो गए दवाई लगा रहा हूँ' 'क्यों कुछ....?' तब कहते हैं 'अभी कुछ पता नहीं चल रहा है।' यानी दवाई लगाता है। वह क्या करता है? जब तक वह 'देखता' है लेकिन 'जानता' नहीं है, तब तक वह दर्शन है। अभी तक अनुभव में नहीं आया कि उससे इसे क्या फायदा हुआ और फिर पाँचवे दिन कहेगा कि, 'आज मुझे टीस बार-बार उठनेवाला दर्द कम हो गई हैं।' वह इसलिए कि उस ज्ञान का अनुभव हुआ।

देखा और जाना, दोनों रिलेटिव

प्रश्नकर्ता : इन दोनों में रियल-रिलेटिव कौन सा है? 'देखा' वह रिलेटिव के आधार पर जाना और 'जानना' वह भी रिलेटिव के आधार पर है?

दादाश्री : ये दोनों ही रिलेटिव हैं। दोनों रिलेटिव के आधार पर हैं। सभी सापेक्ष चीज़ें रिलेटिव हैं। आत्मा के अलावा और कोई वस्तु निरपेक्ष है ही नहीं। सभी कुछ रिलेटिव और वह भी विनाशी।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् सापेक्ष के आधार पर 'देखा' और 'जाना' वह तो विनाशी हुआ न?

दादाश्री : वह सब विनाशी।

प्रश्नकर्ता : अब इन सब को जिसने विनाशी समझा, वह? यह जो ऐसा समझ में आया, वह कौन सा ज्ञान है?

दादाश्री : ऐसी जो समझ उत्पन्न हुई वह केवलज्ञान के निकट है। वह केवलज्ञान के पक्ष में है। अत: ऐसी समझ से मूल ज्ञान के, परमानेन्ट ज्ञान के, निरपेक्ष ज्ञान के पक्ष में आता है।

अंत में तो यह सब एक ही

प्रश्नकर्ता : अर्थात् जो दृष्टा है वही ज्ञाता बन जाता है, जब डिसाइडेड हो जाता है तब?

दादाश्री : ज्ञाता-दृष्टा दोनों एक ही है, खुद ही। डिसाइडेड हो जाता है तब ज्ञाता बनता है। जब तक सारा भोजन ढका हुआ है, तब तक लगता है कि 'खाने में कुछ है' तो वह दर्शन है और जब खाएगा तब कहेगा, 'यह है,' जो डिसाइडेड है वह ज्ञान कहलाता है। यह 'कुछ है' ऐसा लगा उस समय खुद दृष्टा है और डिसाइड हो जाए तब खुद ज्ञाता बनता है। वही का वही व्यक्ति। 'कुछ है' वह एक प्रकार का ज्ञान है न! उसे क्यों निकाल देना है? वही खरा ज्ञान है। अर्थात् दर्शन और ज्ञान, चीज़ एक ही थी।

प्रश्नकर्ता : लेकिन अंत में तो आत्मा में तो तीनों ज्ञान-दर्शन और चारित्र में कोई भेद ही नहीं है न? यों तो ऐसा कहते हैं न कि ज्ञान-दर्शन और चारित्र, तो समझाने के लिए ये भेद किए गए हैं।

दादाश्री : और कुछ नहीं है। आत्मा तो एक ही है। यह तो समझाने के लिए भेद बताया गया है क्योंकि लोगों को एकदम से ज्ञान नहीं हो जाएगा न! पहले उन्हें दर्शन होता है, प्रतीति में आता है। जब ये ज्ञान देते हैं, तब उसे ऐसा भान हो जाता है कि 'कुछ है'।

निरंतर आत्मा की प्रतीति वही क्षायक समकित

प्रश्नकर्ता : 'आत्मा दर्शन में आता है,' इसका वास्तविक अर्थ क्या निकालना चाहिए?

दादाश्री : दर्शन अर्थात् दिखाई देना, प्रतीति होना। किसी भी चीज़ के लिए 'कुछ है' ऐसा लगना चाहिए। पहले दर्शन होता है और बाद में भान होता है। उसके बाद डिसाइडेड होता है।

और 'कुछ है,' निरंतर ऐसी प्रतीति रहे, तब क्षायक सम्यक् दर्शन कहा गया है वर्ना थोड़े समय के लिए ऐसी प्रतीति रहती है कि 'कुछ है' और फिर वापस चली जाती है लेकिन इसमें तो निरंतर प्रतीति रहती है।

प्रश्नकर्ता : यानी कि अभी सम्यक् दर्शन हुआ।

दादाश्री : सम्यक् दर्शन में तो, समझो कि आत्मा की कुछ तो प्रतीति हुई और फिर आवरण आ जाता है जबकि यह तो क्षायक समकित है। इस पर आवरण आता ही नहीं। कितने अच्छे, अक़्लमंद (तीर्थंकर भगवंत)! ओहोहो! इस पर तो मैं आफरीन हो गया था। उसे, 'कुछ है' तो ज्ञान में लिया इन लोगों ने।

वह बात भी सही है न! 'कुछ है' इसमें कुछ वास्तविकता लगी न कि 'कुछ है' ऐसा ज्ञान। अब लोगों को दर्शन का कैसे समझ में आए? तो जब मैं यह ज्ञान देता हूँ न, तो आपको उसी दिन या फिर दूसरे दिन सुबह लगता है कि 'कुछ है।' तब मैं जान जाता हूँ कि इसे क्षायक दर्शन हो गया है।

अत: आपको मैंने सम्यक् दर्शन तो दिया है, लेकिन क्षायक समकित दिया है। लेकिन अब डिसाइडेड अर्थात् आप जो हो उस ज्ञान को अब जानना बाकी रहा आपको। अर्थात् उसका अनुभव होना चाहिए आपको।

अब जैसे-जैसे आपको अनुभव होते जाएँगे, वैसे-वैसे ज्ञान होता जाएगा और आप कहते हो कि 'यस' अर्थात् अनुभव हो गया। वह डिसाइडेड ज्ञान हो जाता है। पहले दर्शन होता है, उसके बाद ज्ञान होता है। जब दर्शन और ज्ञान दोनों एक हो जाएँ, तब चारित्र में आता है।

प्रश्नकर्ता : 'कुछ है' ऐसा समझ में आया तो वह दर्शन है और प्रत्यक्ष जो तय किया, वह ज्ञान है।

दादाश्री : वह ज्ञान कहलाता है। अब 'कुछ है,' आपको ऐसा जो ज्ञान हुआ, उसका परिणाम आपने देखा लेकिन आपने अभी तक कुछ स्पष्ट नहीं देखा है। स्पष्ट वेदन नहीं हुआ है, अस्पष्ट वेदन है। अत: आपको ऐसा लगा कि 'कुछ है,' लेकिन 'यही है' ऐसा डिसीज़न अभी तक नहीं आया है।

प्रश्नकर्ता : अत: 'यही है' ऐसा संपूर्णरूप से तय नहीं हुआ है।

दादाश्री : 'यही है' ऐसा संपूर्णरूप से तय कब होगा? केवलज्ञान होगा तब।

जाना हुआ समझ में और समझा हुआ जानने में

हम देखकर कह रहे हैं। यानी कि इन आँखों से नहीं देखा जा सकता। इसके (आत्मा के) भान से देखना है, इसके अनुभव भान से, अनुभव दृष्टि से।

मेरी यह बात आपको समझ में आती है, वह दर्शन कहलाती है और जैसा मैंने आपको समझाया है, वैसा ही आप किसी को समझाओ तब आपका ज्ञान हुआ कहलाएगा और उसके लिए वह दर्शन कहलाएगा।

प्रश्नकर्ता : लेकिन वह उसे पकड़ नहीं पाएगा न, आप उस दृष्टि से नहीं कहते हैं न।

दादाश्री : वह खुद की समझ में रहता है। समझना और कहना, अर्थात् कहना तो, जानने के आधार पर कहा जा सकता है।

जितना समझते हैं उतना जाना नहीं जा सकता इस दुनिया में। वह जानी हुई चीज़ समझ में होती है लेकिन समझी हुई चीज़ जानने में नहीं होती। मुझे समझ तो सारी ही है लो, लेकिन जानपने में नहीं होने की वजह से वह आपको बता नहीं पाते हैं।

[3.2] दर्शन सामान्य भाव से, ज्ञान विशेष भाव से

दर्शन और ज्ञान की विशेष स्पष्टता

हम यहाँ से आणंद जा रहे हों रोड से तो इस तरफ पेड़ और दूसरी तरफ भी पेड़, इस तरफ खेत में कुछ बोया हुआ हो, उस तरफ भी खेत में कुछ बोया हुआ होता है। दर्शनवाला क्या करता है? वह सभी पेड़ों को देखता रहता है। और ज्ञानवाला क्या करता है? यह नीम है, केथ (कठफल) देखता है, तो बाकी का सब देखना रह जाता है। एक समय में सभी काम नहीं हो सकते। हम सभी पेड़ों को पहचानें नहीं तब तक अगर कोई पूछे कि, 'वहाँ क्या दिखा आपको?' तब कहते हो, 'बहुत से पेड़।' तब वह पूछे, 'लेकिन कौन से पेड़?' तो आप कहते हो, 'भाई, वह मुझे मालूम नहीं है।' तब तक वह देखना कहलाता हैं। और फिर उसे बताए कि वह नीम है, तब वह जानना कहलाता है। अब दुनिया के लोग कभी इस हद तक तो गहराई में उतरे ही नहीं हैं। तो फिर यह उनकी मति में आएगा ही कैसे? वहाँ तक तो तीर्थंकरों की ही (दृष्टि) पहुँच सकती है। हालांकि यह मति का ज्ञान नहीं है, यह केवलज्ञान का ज्ञान है।

प्रश्नकर्ता : और इस भाषा का भी नहीं है। दर्शन और दृश्य भी इस भाषा से आगे का ज्ञान है।

दादाश्री : बहुत आगे का ज्ञान है यह तो। यह तो ऐसा है न कि हम इसे बहुत नीचे उतार लाए हैं। ज़रूरत भी है न लेकिन। नीचे तो लाना पड़ेगा न? लेकिन तीर्थंकरों की जो यह खोज है, इसे तो देखकर ही मुझे आश्चर्य होता है कि 'ओहोहो! ऐसी खोज!' 'दर्शन और ज्ञान, जानना और देखना, अलग कर दिया!' अरे भला एक ही कहा होता तो क्या बुरा था? लेकिन उसके पीछे कितना बड़ा विज्ञान छुपा हुआ है न!

यहाँ से गाड़ी में जाएँ न, तो दो प्रकार के दर्शन हैं। एक है सामान्य भाव से दर्शन, उसे दर्शन कहते हैं और विशेषभाव से दर्शन को ज्ञान कहते हैं। विशेष भाव से दर्शन का मतलब क्या है? यह नीम है, यह आम है, इसे विशेष भाव कहते हैं और सामान्य भाव से देखना दर्शन कहलाता है। सामान्य भाव में सभी जीव आ जाते हैं। सभी जीवों को शुद्धात्मा भाव से दर्शन करते हैं। और विशेष भाव में तो सभी जीव रह जाएँगे और नीम और आम बस इतना ही देख पाएँगे। अर्थात् विशेष भाव की बजाय सामान्य भाव अच्छा है। विशेष भाव में नहीं पड़ना है, लेकिन अगर कोई चारा ही न हो वहाँ पर, सामने अगर नगीनदास सेठ आ रहे हों तो वापस विशेष भाव में आना पड़ता है न? चारा ही नहीं है न! है न? और अगर कोई पूछे कि यहाँ पर आम है या नहीं? तब फिर हमें दिखाना पड़ेगा न? लेकिन अनिच्छा से! हमें जान-बूझकर इस चीज़ में नहीं पड़ना है कि यह आम है और यह नीम! अरे भाई, अनंत जन्मों से यही किया है न, और क्या किया है तूने? किसका बेटा नीम और किसका बेटा आम अब ये सारी झंझट क्यों? हमें अपने आम खाने हैं, खाओ न चुपचाप!

प्रश्नकर्ता : जानने की भी ज़रूरत नहीं है, तू सिर्फ देखता रह। और जानकर बल्कि ज़्यादा दु:खी होते हैं कि यह बबूल है और वह आम है, तो फिर उसमें फिर राग और द्वेष घुस जाएँगे।

दादाश्री : बबूल देखने में एक मिनट चला जाता है। एक मिनट में तो कितना ही देखा जा सकता है, कितने ही आत्मा देख सकते हैं।

हम जानने का प्रयास नहीं करते, हम देखने का ही प्रयत्न करते हैं। जानने में फँस गया कि यह किसका पेड़ है, तो उसके लिए फिर वापस बुद्धि की मगजमारी करनी पड़ती है! और फिर, यह मुझे अच्छा लगता है और यह नहीं, वापस अंदर ऐसा भूत घुस जाता है।

अर्थात् यह बिल्कुल सेफ साइडवाला मार्ग है, अगर आप हमारे कहे अनुसार समझोगे तो!

सामान्य ज्ञान से वीतरागता

विशेष ज्ञान से गड़बड़ होती है और सामान्य ज्ञान से वीतरागता रहती है। हम यदि जंगल में सभी पेड़ों को शुद्धात्मा भाव से देखते-देखते चलें तो वह सामान्य भाव कहलाता है। इससे सभी आत्माओं के दर्शन होते हैं, इससे वीतरागता रहती है।

हम वकील ढूँढने निकले हों तो उसके बाल देखते हैं या उसकी वकालत देखते हैं? हाँ, यहाँ पर अगर काले चश्मे पहनकर आए तो तो उस चश्मे से हमें क्या? हमें यही देखना है कि उसमें वकालत का गुण है या नहीं? उसी तरह हमें आत्मा देखने हैं।

ज्ञानीपुरुष यों जा रहे हों, तब वे ऐसा नहीं देखते हैं कि यह स्त्री है या यह पुरुष है या फिर यह मोटा है, यह पतला है अथवा लूला है या लंगड़ा है, ऐसा सब नहीं देखते हैं। तो फिर वे 'क्या देखते हैं?' सामान्य भाव से आत्मा ही देखते हैं।

विशेष भाव नहीं रखते। विशेष भाववाला क्या करता है? 'देखो न लंगड़ा है!' उससे आगे का देखना रुक जाता है। एक ही देखा और लाभ एक का ही मिला और सौ लोगों का लाभ गया। विशेष भाव किया। अत: हम सबकुछ सामान्य भाव से देखते हैं। विशेष परिणाम को नहीं देखते कि ये अक़्लमंद हैं और ये बेअक़्ल हैं और ये मूर्ख हैं और ये गधे हैं, ऐसी झंझट में हम कहाँ पड़ें।

प्रश्नकर्ता : इसीलिए आप वह अभ्यास करने को कहते हैं न कि एक घंटे हर एक को शुद्धात्मा रूप से देखने का अभ्यास करना चाहिए।

दादाश्री : हाँ, जितना-जितना अभ्यास करेंगे न तो उससे फिर विशेष परिणाम खत्म हो जाएँगे। विशेष परिणाम से अभिप्राय उत्पन्न होते हैं। यह अंधा है और यह लूला है। वह तो *पुद्गल* की बाज़ी है।

मुकाम स्वदेश में ही

जहाँ आपका मुकाम है, वही आपका देश है। किसी से पूछें तो वे कहेंगे 'अहमदाबाद में रहता हूँ।' फिर से पूछें कि 'भाई, अहमदाबाद लेकिन कहाँ पर?' तब कहेगा ' हाथी पोल में या फलानी पोल में, ढाल की पोल में।' 'लेकिन ढाल की पोल में कहाँ पर?' तब कहेगा, 'घर नं-१' 'अरे, लेकिन घर में तो सभी रहते हैं, तू किसमें रहता है?' तब वापस सोच में पड़ जाता है कि 'भला यह क्या फिर से?' 'घर में तो पक्षी वगैरह सभी रहते हैं। तू किसमें रहता है?' तब कहता है, 'वह तो मुझे मालूम नहीं है लेकिन मैं तो घर में रहता हूँ बस इतना जानता हूँ।' बस वहाँ पर बुद्धि के दरवाज़े बंद। 'तो तू किस में रहता है?'

प्रश्नकर्ता : खुद के देश में, स्वदेश में।

दादाश्री : स्वदेश में! नहीं? तो फिर वहाँ पर मुहल्ला वगैरह कुछ नहीं है न! बाकी सारी जगहें तो मुहल्ले-वुहल्लेवाली, सभी एड्रेसवाली। इनका तो एड्रेस ही नहीं है न? नहाना-धोना कुछ भी नहीं है वहाँ पर? कितनी बार रहता है स्वदेश में? वापस बाहर निकलना पड़ता होगा न थोड़ी देर के लिए! कितनी बार रह पाता है?

प्रश्नकर्ता : इसमें जागृति रखनी पड़ती है कि वापस ऐसे बाहर निकल जाता है, वापस अंदर घुस जाना है, ऐसा सब।

दादाश्री : लक्षण दिखाई देते हैं बाहर आने के?

प्रश्नकर्ता : तुरंत ही दिखाई देते हैं। वह तो पता चल जाता है कि यह बाहर गया।

दादाश्री : बाहर कैसे जाएगा? वह अंदर खुद के स्वदेश में रहकर, होम डिपार्टमेन्ट में रहकर देखता रहता है क्योंकि उसमें कहीं भी दीवारें नहीं हैं। इसलिए वहाँ पर रहकर

जो विचार आते हैं उन्हें देखता रहता है। इसमें फॉरेन में क्या–क्या हो रहा है, वह सब खुद के रूम में बैठकर देखता रहता है।

प्रश्नकर्ता : देखना चूक जाए, उस घड़ी वह कहाँ होता है? होम में ही होता है?

दादाश्री : होम में ही होता है।

प्रश्नकर्ता : फॉरेन में चला जाए तो उसके क्या लक्षण होते हैं?

दादाश्री : बैचेनी होती है। सफोकेशन होता है, बाहर निकला कि तुरंत ही जानने में पड़ जाता है। देखने में रहे तो खुद के ऑफिस में रहकर देख सकता है और जानने लगे तो बाहर आना पड़ता है। अरे, अभी यह जानकर तुझे क्या करना था? वही परेशानी है न सारी। विस्तारपूर्वक जानने निकला, इन डिटेल्स। तब कहता है, 'मुझे तो जानना है, डिटेल्स में क्या है।' 'अरे भाई लेकिन डिटेल्स को छोड़ न! यह सबकुछ बेकार है। आग लगा दे एक तरफ से।'

प्रश्नकर्ता : उस जाननेवाले पर उपयोग रहता है? ऐसा खुद देख सकता है कि वह जानने गया या इस तरफ गया?

दादाश्री : हाँ, ऐसा हो सकता है लेकिन वह पूरी तरह से नहीं रहता क्योंकि खुद जानने में पड़ा है न! 'यह क्या है? यह क्या है?' ऐसा जानने जाता है इन डिटेल्स। वह डिटेल्स नहीं जाने तो नहीं चलेगा?

प्रश्नकर्ता : चलेगा। ज़रूरत भी क्या है? ज़रूरत ही नहीं है।

दादाश्री : लेकिन वह जो बुद्धि है न, वह डिटेल्सवाला ढूँढती है।

प्रश्नकर्ता : आपका जानना कैसा होता है? आप जानने की क्रिया में पड़ते हो?

दादाश्री : जानने के बाद हमें अब और क्या जानना रहा? सबकुछ जानकर बैठे हैं। यह पत्नी का भाई है, यह मेरा साला ही है। इसमें नया क्या है जानने को? फिर जो बाकी रहा उसे बार-बार क्या जानना है?

प्रश्नकर्ता : यानी कि जानने तक खुद को बाहर रहना पड़ता है?

दादाश्री : सफोकेशन होता है। जितना बाहर रहे, उतना सफोकेशन, घबराहट होती है। विस्तारपूर्वक जानने गया। ये बैंगन कहाँ के हैं? ये बैंगन कहाँ के हैं? अरे, छोड़ न इन्हें! ये सारे बैंगन हैं। सब *पुद्गल* की बाज़ी है। बहुत ज़्यादा डिटेल्स में जाकर क्या करना

है? तू तो बहुत विभाजन करता है। नहीं?! 'इसे मगस (बेसन की मिठाई) कहते हैं, यह गोंदपाक कहलाता है, यह जोड़ों को मज़बूत करता है,' ऐसा कहेगा। जानने गया।

प्रश्नकर्ता : उससे ज्ञान बढ़ता है न फिर। जानने जाए तो ज्ञान बढ़ता है न उसका।

दादाश्री : कैसा ज्ञान बढ़ता है? सफोकेशन होता है। यह सब कैसा ज्ञान? यह ज्ञान कहलाता ही नहीं है न? डिटेल्स जानने गया। खुद को जानना, वही ज्ञान कहलाता है, और यह पराया है, ऐसा जानना उसे ज्ञान कहते हैं। बस खुद का और पराया उसे जानें वह ज्ञान कहलाता है। ज्ञान अंदर विभाजन कर देता है, यह पराया और यह खुद का। दर्शन अंदर देखता रहता है, बस। अगर उसे जानने निकले तो फिर डिटेल्स में उतरता है। विवरण सहित, डिटेल्स में जाता है। यह क्या है? यह क्या है? यह क्या है? विस्तार से अर्थात् फिर आत्मा विस्तार से उतरता है उसमें, दर्शन में उतरता है, ज्ञान में उतरता है, फिर चारित्र में उतरता है और विवरण में उतरता है।

प्रश्नकर्ता : वह नहीं समझ में आया, दादा। क्या कहा? आत्मा ज्ञान में उतरता है, दर्शन में उतरता है?

दादाश्री : लोग सिर्फ दर्शन को ही स्वीकार करके आगे बढ़ते रहते हैं और पूरा आत्मा, वहाँ पर आत्मा तो सिर्फ दर्शन स्वरूप नहीं है न, ज्ञान-दर्शन-चारित्र सभी के सम्मिलित स्वरूप से है। लोग कब तक अलग-अलग समझते हैं, जब तक खुद का संपूर्ण अनुभव नहीं हुआ है तब तक। वह होने के बाद अलग देखने को नहीं रहता लेकिन अपना अक्रम विज्ञान है इसीलिए वह (अनुभव) कच्चा है न थोड़ा, दूसरा भरा हुआ माल है इसलिए फिर वापस अलग-अलग देखने निकलता है, 'यह क्या है? वह क्या है?'

प्रश्नकर्ता : नहीं। मतलब की यह चीज़ है इसे देखना और जानना है न, अर्थात् जानपना, आपने उदाहरण दिया कि यह नीम है, यह पीपल है और यह आम है, उसी प्रकार इसमें जानपना (ज्ञान) क्या होता है?

दादाश्री : इसमें तो देखनापन (दर्शन) है कि यह पराया है और यह मेरा।

प्रश्नकर्ता : वह तो देखनापन हुआ लेकिन इसमें जानपने में क्या है?

दादाश्री : नहीं, देखनापन तो बहुत सामान्य भाव से होता है। सभी ज्ञेयों को एक भाव से देखता है। सभी दृश्यों को एक भाव से देखता है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन इसमें आपने जो वह बात कही है न कि 'यह नीम है, यह पीपल है,' तो इस तरह से खुद की आंतरिक स्थिति में वह किन चीज़ों को देखता है? वह क्या देखता है? तो किस चीज़ को देखने में पड़ जाता है?

दादाश्री : उसी में, वह देखने में ही पड़ता है। और किसी में नहीं पड़ता। जिसे देखने में पड़ता है वही उसका उपयोग है।

प्रश्नकर्ता : नहीं, तो इसका उदाहरण दीजिए न? हम लोग क्या देखने में पड़ जाते हैं?

दादाश्री : इस एक को विस्तारपूर्वक जानने में पड़ जाओ तो आप दृष्टा में नहीं रहे। अर्थात् मूल आत्मा में नहीं रहे आप क्योंकि यह नीम है इतना ही देखते रहो तो फिर दृश्य बंद हो जाता है। दृश्य पूरा ही सामान्य भाव से होता है। अगर एक नीम को जानने का प्रयत्न करे कि 'यह नीम है, कैसा लग रहा है?' तो कहता है, 'कड़वा लग रहा है।' चखता रहता है, उस घड़ी पूरा दृश्य बंद हो जाता है।

समय लगता है डिसाइड होने में

जगत् क्या है, क्या नहीं है, यह सब हमारी समझ में आ गया है लेकिन जानने में नहीं आया है। जैसे अगर सागवान को काटें तो उससे अच्छा फर्नीचर बनता है, ऐसा सब नहीं जाना था। पेड़ है ऐसा जाना था। काटने से लकड़ी निकलेगी ऐसा पता चला लेकिन यह लकड़ी काम की है या नहीं, ऐसा कुछ पता नहीं चलता। यह सागवान है या यह नीम है, ऐसा पता नहीं चलता इसलिए विवरण नहीं आता।

प्रश्नकर्ता : आपने कहा कि यह जगत् क्या है वह हमें समझ में आ गया है लेकिन जानपने में नहीं आया है। जानपने का मतलब क्या होता है?

दादाश्री : ब्योरेवार, डिटेल्स।

प्रश्नकर्ता : डिटेल्स से नहीं आया ऐसा कहें तो चलेगा?

दादाश्री : हाँ, ऐसा कहे तो चलेगा।

प्रश्नकर्ता : लेकिन दोनों में काल तो है न? समझने के लिए भी समय चाहिए न और जानने के लिए भी समय चाहिए? दोनों में टाइम लगता है?

दादाश्री : समय की ज़रूरत है। लेकिन समझ में टाइम नहीं लगता। ज्ञानपने में टाइम लगता है।

प्रश्नकर्ता : दर्शन और ज्ञान के बीच अंतर होता है या नहीं, समय का?

दादाश्री : थोड़ा।

प्रश्नकर्ता : वह गाय देखने जाता है। आवाज़ हो तब 'कुछ है,' ऐसा लगता है लेकिन जो गाय है, वह देखने का ज्ञान जो होता है.....

दादाश्री : हाँ, डिसीज़न आने में टाइम लगता है न! दर्शन का परिणाम ही ज्ञान है। लेकिन भगवान ने ज्ञान को महत्व नहीं दिया है। दर्शन को महत्व दिया है।

इसीलिए रुका है केवलज्ञान

प्रश्नकर्ता : तो फिर ऋषभदेव भगवान ने किस आधार पर कहा था कि 'यह चौबीसवाँ तीर्थंकर बनेगा,' यदि काल तय नहीं हो तो?

दादाश्री : उनके ज्ञान में तो सब होता है न कि 'यह व्यक्ति इतना, ऐसा-ऐसा भटक-भटककर, इस तरह होनेवाला है।' ऐसा सब उन्हें ज्ञान में दिखता है। उनके सारे आवरण खुल जाते हैं और सब दिखता है। हमें दिखता नहीं है, समझ में आता है। हमें सब समझ में आता है और उन्हें दिखाई देता है।

प्रश्नकर्ता : समझ में आना अर्थात् क्या?

दादाश्री : समझ में आना और जानना, दोनों में फर्क है।

प्रश्नकर्ता : ऋषभदेव भगवान को दिखाई देता था और आपको समझ में आता है, उसमें क्या फर्क है?

दादाश्री : 'समझ में आना,' इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह है कि खुद को ऐसा लगता है कि 'कुछ है,' उसे कहते हैं समझ में आना। और 'यह है' उसे कहते हैं ज्ञान में आया। डिसीज़न आना, वह ज्ञान है और डिसीज़न नहीं आया और ऐसा आभास हुआ कि 'कुछ है' तो उसे कहते हैं समझ। यह कुछ है, ऐसा जो आभास होता है, वह एक प्रकार का ज्ञान है लेकिन वह समझरूपी ज्ञान है।

प्रश्नकर्ता : जो दिखाई दिया वह समझ में आया और जिसे जाना वह ज्ञान में आया। देखने में और जानने में बहुत फर्क है।

दादाश्री : देखने और जानने में बहुत फर्क है। हमने पूरा जगत् देखा ही है न, अभी तक जानने में नहीं आया है इसीलिए हमारा केवलज्ञान रुका हुआ है, केवलदर्शन में है यह।

प्रश्नकर्ता : हम ऐसा कहते हैं कि 'दादा को केवलदर्शन है,' तो उसमें क्या होता होगा?

दादाश्री : अर्थात् वहाँ पर समझ में है कि यह जगत् केवल समझ में आया है अर्थात् जैसा है वैसा समझ में आया है लेकिन वह ज्ञान में नहीं आया है। समझ में आए हुए को खुद जान ज़रूर सकता है लेकिन उसमें बरत नहीं सकता।

प्रश्नकर्ता : ऐसा ही है, ऐसा ही है, ऐसा समझ में आता है।

दादाश्री : हाँ, लेकिन इसमें बरत नहीं सकते वे पूरी तरह से।

प्रश्नकर्ता : तो किसी भी व्यक्ति के कोई भी संयोग स्पष्ट दर्शन में आ जाते हैं या उन पर उपयोग रखना पड़ता है?

दादाश्री : नहीं, वे दर्शन में आ जाते हैं। पूरे जगत् के सभी पर्याय दर्शन में आ जाते हैं। केवलदर्शन। उस दर्शन की शुरुआत कहाँ से होती है? दर्शन तो जीवमात्र में होता है, उसे लोग सूझ कहते हैं जिसके आधार पर जीव काम कर रहा है। उसका अगर कोई आधार हो तो वह सिर्फ सूझ है। सिर्फ दर्शन ही है, सिर्फ सूझ ही है। वह जब अंदर से रुक जाता है न, तब खुद उलझन में पड़ जाता है और चारों तरफ से दुनिया उसे दुःखी कर देती है। उसे दुःखी करके परेशान कर देती है और फिर वह थोड़ी देर बैठा रहता है या फिर उल्टा होकर सो जाता है कि इतने में उसे अंदर प्रकाश हो जाता है। फिर चलने लगता है तेज़ी से। उसे अंदर से सूझ पड़ जाती है।

प्रश्नकर्ता : तो क्या ज्ञानी की सूझ की रेन्ज बहुत बड़ी होती है, दादा?

दादाश्री : उनमें तो सूझ का बहुत बड़ा प्रपात फूटता है। जबकि इनमें छोटी सी धारा बहती है और ज्ञानी में तो बड़ा प्रपात फूटता है।

प्रश्नकर्ता : तो सबकुछ स्पष्टरूप से पता चल जाता है, दादा।

दादाश्री : हाँ, ये दर्शन और ज्ञान के बारे में हम जो जवाब देते हैं न, वह जवाब तो ऐसे हैं कि शास्त्र में भी न मिलें।

कितनी सूक्ष्म समझ तीर्थंकरों की

आज यह बात लोगों को समझ में नहीं आती, तो फिर जिन पुरुषों ने इस बात को समझा है, जिन्होंने कही होगी, वह कैसी होगी? वे अपने देश में ही जन्मे थे!

प्रश्नकर्ता : उन्होंने ये सब बातें की, तब क्या समाज डेवेलप्ड नहीं था? बहुत पहले बात कर गए होंगे?

दादाश्री : समाज तो बहुत डेवेलप्ड था उस समय।

प्रश्नकर्ता : तो क्या फिर अभी नहीं है?

दादाश्री : बीच में बिल्कुल अंधकारमय काल आ गया था। अब डेवेलप होने लगा है। अभी अच्छा डेवेलप्ड है।

अब इतनी अधिक बारीकी तो इस संसार के लोग समझेंगे नहीं न! संसार के लोग हमें समझेंगे नहीं न कि यह कितना सूक्ष्म विवरण है! भगवान कितनी सूक्ष्मता तक उतरे हैं!

प्रश्नकर्ता : दादा, आपने आज बताया, 'देखना और जानना।' यह बहुत अद्भुत है! इसका तो बहुत बड़ा अर्थ निकाला आपने! देखना और जानना, दर्शन और ज्ञान। नई ही चीज़ जानने को मिली है आज।

दादाश्री : अद्भुत चीज़ है।

प्रश्नकर्ता : बहुत बड़ा स्पष्टीकरण है, दर्शन और ज्ञान क्या है, वह स्पष्ट हो गया।

दादाश्री : यह बात ऐसी है कि सिर्फ भगवान ही समझ सकें। बहुत सूक्ष्म खोज की है भगवान ने और भगवान तो अक़्लमंद माँ के अक़्लमंद बेटे थे!

कितनी गहरी समझ है यह! तीर्थंकरों की बात कितनी सुंदर है, आपको ऐसा लगता है न? ज्ञान और दर्शन को स्पष्ट कर दिया है न? वर्ना लोगों को ऐसा आता नहीं है। लोगों को यदि पूछो न तो कुछ भी नहीं, कढ़ी और खिचड़ी, ये दो ही चीज़ें समझते हैं।

कितनी अद्भुत चीज़ है! यह एक चीज़, एक ही शब्द यदि समझ में आ जाए तो कितना काम कर दे। यह आपको समझ में आया? यह तो आपको आपकी ही भाषा में पूरे अर्थ में समझा दिया। इससे भी आगे का अर्थ है, वह हमारे ज्ञान में दिखाई देता है लेकिन स्थूल में भी बुद्धि से समझ में आ सके, ऐसा है कि यह 'कुछ है।' वह ज्ञान तो है ही न लेकिन 'कुछ है' ऐसा किसी भी प्रकार का ज्ञान हुआ है, लेकिन 'क्या है' वह ज्ञान नहीं

हुआ है। अर्थात् डिसाइडेड ज्ञान, वह ज्ञान है और अनडिसाइडेड ज्ञान, वह दर्शन है। कितनी समझदारी की बात है!

[4] ज्ञाता–दृष्टा, ज्ञायक

आत्मा का ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव

प्रश्नकर्ता : दादा आप जब ज्ञान देते हैं तब उस ज्ञान में जो भेद ज्ञान होता है, उस समय शुद्धात्मा और प्रतिष्ठित आत्मा दो विभाजन हो जाते हैं। अब शुद्धात्मा जो है वह देखनेवाला और जाननेवाला रहा और जो प्रतिष्ठित आत्मा है, वह *गलन* है।

दादाश्री : *गलन* अर्थात् करनेवाला और भोगनेवाला।

प्रश्नकर्ता : करनेवाला और भोगनेवाला। अर्थात् यह प्रतिष्ठित आत्मा जो कुछ भी करता है, उसे शुद्धात्मा निहारता रहता है।

दादाश्री : हाँ, ठीक है। प्रतिष्ठित आत्मा जो कुछ भी करता है, उसे शुद्धात्मा देखता है। प्रतिष्ठित आत्मा का मतलब क्या है? कि तीन योगों से प्रतिष्ठित आत्मा कहलाता है। मनोयोग, वचनयोग और काया योग और ये तीनों क्या कर रहे हैं, उन्हें जो देखे, वही है इस शुद्धात्मा का कार्य।

प्रश्नकर्ता : लेकिन सब ज्ञेयों को देखने की–जानने की यह जो आत्मा की क्रिया है, ज्ञाता और दृष्टा, वह भी उसकी एक क्रिया ही हुई न! तो वह उसका एक कर्म हुआ न?

दादाश्री : देखने–जानने का तो खुद का मूल स्वभाव है। स्वभाव से बाहर निकलना कर्म कहलाता है। स्वभाव से विरुद्ध करना, उसे कर्म कहते हैं। स्वभाव को कर्म नहीं कहते। पानी नीचे चला जाए तो उसे कर्म नहीं कहते, वह स्वभाव कहलाता है और अगर ऊपर चढ़ाना पड़े तो कर्म करना पड़ता है।

अत: देखने–जानने का तो उनका स्वभाव है। तो उसका फल क्या है? तो वह है परमानंद! बस। वह सब साथ में ही है सारा। देखना–जानना और परमानंद। अन्य अनंत

गुण भी हैं।

आत्मा की सिर्फ ज्ञानक्रिया और दर्शन क्रिया

प्रश्नकर्ता : देखने की क्रिया में भी कुछ करना तो होता ही है न?

दादाश्री : नहीं, उसमें करना नहीं होता। वह ज्ञानक्रिया कहलाती है। उसका कोई कर्ता नहीं होता। अहंकार नहीं होता। जबकि बाकी सभी क्रियाएँ अहंकार की होती हैं। भावकर्म, वे सभी अहंकार के हैं!

प्रश्नकर्ता : फिर व्यवहार में 'मात्र ज्ञाता-दृष्टा की तरह हूँ,' ऐसे किस प्रकार से रहा जा सकता है?

दादाश्री : व्यवहार में खुद कर्ता के रूप में है और वास्तव मेंवह ज्ञाता-दृष्टा है। अब व्यवहार में वह किस चीज़ का कर्ता है? संसार का कर्ता है और वास्तव में ज्ञाता-दृष्टा अर्थात् दर्शन क्रिया और ज्ञानक्रिया का कर्ता है। अन्य कोई क्रिया नहीं है, वहाँ पर सांसारिक क्रिया नहीं है।

ज्ञान उपयोग वह ज्ञानक्रिया कही जाती है और दर्शन उपयोग वह दर्शन क्रिया कही जाती है। अब यह ज्ञान उपयोग क्या है? तो वह है, 'यह जो क्रियावाला *पुद्गल* है वह खुद की क्रिया में परिणमन करता है। उन सभी क्रियाओं को देखनेवाला यह ज्ञान उपयोग है! किसी भी पौद्गलिक क्रिया का कर्ता नहीं है। वह अपने खुद के स्वभाव का कर्ता है, न कि परभाव का कर्ता है।

मोक्ष के लिए ज्ञानक्रिया की ज़रूरत है। अज्ञान क्रिया बंधन है। क्रिया किसे कहते हैं? अहंकार की क्रिया को अज्ञान क्रिया कहा जाता है और जो निर्अहंकारी क्रिया है, उसे ज्ञानक्रिया कहा जाता है। इसका मतलब क्या है कि जो चारित्र मोहनीय कर्म हैं, अभी खाना खाने जाएँ तो वे सब डिस्चार्ज कर्म हैं। अब उसे देखते रहना, वही ज्ञानक्रिया कहलाती है। उस ज्ञानक्रिया से, ज्ञान क्रियाभ्याम मोक्ष। अभी आप जो कुछ भी करते हो

न, उसे आप ऐसा जानते हो कि 'चंदूभाई कर रहे हैं,' 'व्यवस्थित' कर्ता है ऐसा जानते हो। आप उसे देखते रहते हो, वह ज्ञानक्रिया है।

अब वहाँ पर अभी सब लोगों की समझ में कैसा रहता है कि 'ज्ञान और क्रिया, ज्ञान क्रियाभ्याम मोक्ष। अर्थात् इन शास्त्रों के आधार पर उन्हें ज्ञान भी है और हम ये क्रियाएँ भी कर रहे हैं' लेकिन वे क्रियाएँ तो अज्ञान क्रिया कहलाती हैं जबकि आप ज्ञानक्रिया करते हो। आप जो *निकाल* करते हो, वह सब ज्ञानक्रिया कहलाती है। उस ज्ञानक्रिया से मोक्ष है। जो कुछ भी क्रिया ज्ञान सहित होती है, उसके आधार पर मोक्ष होता है। ज्ञान उपयोग को ज्ञानक्रिया कहते हैं। और ज्ञानक्रिया से यह सारा हल आ गया।

'देखना और जानना,' वे दोनों इसके गुण हैं जबकि 'करना' *पुद्गल* का गुण है।

ज्ञानधारा और क्रियाधारा दोनों चलते हैं भिन्न

प्रश्नकर्ता : तो मैं यह समझना चाहता था कि यह कर्तृत्व की धारा और ज्ञातृत्व की धारा एक साथ नहीं चल सकती: ऐसा कहा गया था लेकिन अपने यहाँ क्या दोनों एक साथ चलनी ही चाहिए?

दादाश्री : नहीं। एक साथ नहीं चलनी चाहिए। ऐसा है न कि कर्तृत्व की जो धारा आती है, वह उदय के अधीन है और हम ज्ञाता है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् वह हो रही है और यह देखनेवाला है।

दादाश्री : हाँ, वह हो रहा है और यह देखता रहता है। दूसरा कोई खेल नहीं करना है। जो चंदूभाई को जानता है वही आत्मा है, शुद्धात्मा है क्योंकि करनेवाला और जाननेवाला दोनों का व्यवहार जो एक था वह अब अलग-अलग हो गया है। पहले दोनों का व्यापार साझा था कि करनेवाला भी मैं और जाननेवाला भी मैं। अर्थात् क्या हो रहा था? दोनों धारा, जानने की धारा अमृतधारा है और करने की धारा वह विषधारा है, दोनों धाराएँ इकट्ठी चल रही थीं, अत: ज्ञान के बाद हम सब में क्या हुआ है? दोनों धाराओं को अलग कर दिया है। अब यह शुद्धात्मा की अमृतधारा अलग है और यह विषधारा अलग है।

वहीं पर यह विज्ञान है, उसमें थोड़ी सी भी गलती करोगे तो मार खा जाओगे। सर्दी के दिनों में यह बटन दबा दिया तो पूरी रात पंखे चलने लगेंगे, तो उस घड़ी क्या दशा होगी? ज़रा मेरे पास आकर समझना पड़ेगा यह विज्ञान। वह बहुत समझने जैसा है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन कभी अगर ऐसा कर दिया और मन में ऐसा लगे कि 'अरे, मैंने ऐसा कहाँ कर दिया,' तो?

दादाश्री : 'मैं' नहीं आना चाहिए। 'मैं' शब्द, खुद कर्ता है ही नहीं तो फिर 'मैंने किया' ऐसा बोल ही कैसे सकते हैं? खुद कर्ता है ही नहीं किसी क्रिया का, ज्ञाता-दृष्टा बन गया है। आपको कौन सा पद दिया है?

प्रश्नकर्ता : ज्ञाता-दृष्टा पद।

दादाश्री : और आप ऐसा कहो कि 'मैंने किया' तो उसका मतलब तो वह इनवोल्व हो गया, वह तो गलत ही है न! आप ऐसा कह ही नहीं सकते कि 'मैंने किया।' आपको शंका होती है तो ये वृत्तियाँ चली जाती हैं, आप खुद नहीं जाते। ये तो वृत्तियाँ चली जाती हैं, जबकि वह समझता है कि 'मैं चला गया।' अरे! आप नहीं गए, आप उसमें हो ही कैसे सकते हो! 'मैं तो ज्ञाता-दृष्टावाला हूँ।' आपको यह सारा विज्ञान समझ में आया? कोई भी हिला न सके, ऐसा है यह विज्ञान।

और उसके बाद यह कर्तापन रहा *पुद्गल* का, आपके ज्ञाता होने के बाद आपका कर्तापन रहा ही नहीं न! जो करता है वह जानता नहीं है और जो जानता है वह करता नहीं है। कर्ताभाव और दृष्टाभाव दोनों अलग हैं। 'मुझे यह हुआ,' 'मैं यह कर रहा हूँ,' ऐसा नहीं लेकिन 'मैंने यह जाना' ऐसा रहता है, ज्ञाता-दृष्टा रहेगा, तो कॉज़ नहीं डलेंगे।

प्रश्नकर्ता : आपने पद तो ज्ञाता-दृष्टा का दिया है न?

दादाश्री : हाँ।

प्रश्नकर्ता : तो आप ऐसा कह रहे थे कि हमारे महात्मा दृष्टा पद में है, जबकि हमारा पद ज्ञाता-दृष्टा का है।

दादाश्री : हाँ, आपका दृष्टा का है। दर्शन खुला है न, इसलिए दृष्टा पद रहता है।

प्रश्नकर्ता : ज्ञातापद नहीं है?

दादाश्री : अब ज्ञाता तो अनुभव होते-होते होगा। जितना अनुभव होगा उतना ही ज्ञाता रहा जा सकेगा।

इन्हें किसी ने गाली दे दी, तो उस घड़ी हिल जाते हैं लेकिन वापस मन में ऐसा लगता है कि 'नहीं, जिसे गाली दी है वह मेरा स्वरूप नहीं है।' यों वह अनुभव हुआ इसलिए फिर अगली बार वह ज़रा ज़्यादा ज्ञाता पद में रहेगा। उसके बाद वह ज्ञान में रहते-रहते-रहते ज्ञातापद में आ जाता है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् जैस-जैसे जागृति बढ़े, वैसे-वैसे ज्ञातापद बढ़ जाता है?

दादाश्री : जागृति तो है ही लेकिन वे जो हिसाब हैं न, उन हिसाबों को चुकाए बगैर जागृति नहीं रह सकती। जैसे-जैसे हिसाब चुकते जाएँगे, वैसे-वैसे ज्ञान बढ़ता जाएगा। दर्शन और ज्ञान मिल गए तो उसे चारित्र कहते हैं। उस घड़ी अंदर तप की ज़रूरत पड़ती है! अनुभव तो कई बार अंदर कचोटता रहता है, जैसे कि पट्टी उखाड़ें तो एक-एक बाल को साथ में लेकर उखड़ती है न! हृदय अंदर तप जाता है, अच्छी तरह से तप जाता है, वह अदीठ तप है! अदीठ तप किसी को दिखाई नहीं देता।

चेहरे पर से पता चलता है लेकिन अदीठ तप बाहर दिखाई नहीं देता और ये लोग जो बाह्य तप करते हैं, उसका फल संसार फल है और अदीठ तप का फल मोक्ष है। जगत् में अदीठ तप है ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : दादा, हमें तो इसमें समय लगेगा न? अभी तो हमारा दृष्टापद ही रहेगा न?

दादाश्री : दृष्टापद तो बहुत उच्च पद कहलाता है।

प्रश्नकर्ता : नहीं। यानी कि हमारा तो दृष्टा पद रहेगा न या ज्ञाता पद आएगा?

दादाश्री : दृष्टापद तो रहेगा लेकिन फिर ज्ञाता पद में तो आता ही जा रहा है न दिनोंदिन। निरंतर पुरुषार्थ चल रहा है न!

प्रश्नकर्ता : यानी आता ही रहेगा?

दादाश्री : निरंतर पुरुषार्थ चल ही रहा है, पुरुष होने के बाद और इसीलिए ये पाँच आज्ञा दी हैं, पुरुषार्थ करने के लिए ही। निरंतर पुरुषार्थ जारी ही है। संयम के परिणाम ही आते रहते हैं। लोग भी देखते हैं कि अभी तो झगड़ा कर रहे थे न! मतभेद और बोला-चाली हो गई थी और वापस फिर से एक साथ बैठकर खा-पी रहे हैं। क्या हो गया है यह? वह है संयम परिणाम!

सभी परिणाम झड़ जाते हैं ज्ञानी के

ज्ञानीपुरुष जब खाँसते हैं, कैसे खाँसी आती है और उस पर हमें भी मज़ा आता है कि 'क्या बात है!'

प्रश्नकर्ता : तो ये खाँसनेवाले ज्ञानीपुरुष कौन और मज़े करनेवाले 'हम' कौन हैं?

दादाश्री : खाँसनेवाले ज्ञानीपुरुष, और मज़ा लेनेवाली प्रज्ञा। जो परिस्थिति के मालिक हैं, वे खाँसनेवाले हैं। परिस्थिति शब्द उपयोग करने योग्य है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन इसीलिए दादा ने कहा है न कि कुदरत में किसी को दंड नहीं है और किसी को लाभ भी नहीं है। उसे उसी का परिणाम देती है।

दादाश्री : हाँ, परिणाम देती है।

प्रश्नकर्ता : हम जो कल रात को अगर बाहर नहीं निकले होते तो यों खाँसनेवाले का मौका नहीं आता। वही परिणाम है?

दादाश्री : तो यह परिणाम नहीं आया होता, फिर परिणाम नहीं आता तो ये परमाणु अंदर ही रह जाते इसलिए बाहर निकले वह ठीक ही है। यह नियम सहित है। ऐसा सब मेरे ध्यान में रहता ही है। यह खाँसी होनी ही चाहिए थी।

प्रश्नकर्ता : लेकिन परिणाम भोगना ही पड़ता है।

दादाश्री : परिणाम का मतलब तो यह है कि हमें राज़ी–खुशी से भोगना पड़ता है। कॉज़ेज़ नहीं करने चाहिए। कॉज़ेज़ बंद कर देने चाहिए और अगर बंद न हो सकें तो उन्हें जानना चाहिए। कॉज़ेज़ बंद नहीं हो सकते क्योंकि पूर्व के संस्कार हैं। बंद नहीं हो सकते लेकिन उन्हें जानना चाहिए कि यह भूल हो रही है। बस इतना ही।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् ज्ञाता–दृष्टाभाव। यदि इस बारे में ऐसा हुआ है तो अब वह चीज़ जीवन के हर एक व्यवहार में अपनाई जा सकती है?

दादाश्री : हाँ, हर एक व्यवहार में होनी ही चाहिए। व्यवहार क्यों कहा जाता है क्योंकि निश्चय है इसलिए। अब, व्यवहार और निश्चय दोनों अलग ही हैं, व्यवहार इट सेल्फ ऐसा प्रूव करता है। हाँ, और पूरा व्यवहार ड्रामा है और निश्चय ड्रामेटिक भावना। इस तरह सारा व्यवहार चलता रहता है। व्यवहार ड्रामा है। उसे देखते रहना है! और कुछ नहीं है।

प्रश्नकर्ता : दादा, वह इतना सरल नहीं है। जब तक ज्ञान नहीं लेते तब तक इसका पता ही नहीं चलता।

दादाश्री : हाँ, नहीं चलता। एक अक्षर भी पता नहीं चलता। जब हम ज्ञान देते हैं तब ज़रा अलग पड़ता है, तब पता चलता है।

देखना स्वभाव है, चलना विभाव है

प्रश्नकर्ता : हिंदी आप्तवाणी में यह बात है कि इस समसरण मार्ग में दुनिया का एन्ड नहीं आता, अपना भी एन्ड नहीं आता। इस मार्ग का एन्ड आता है। आप जिस पर चलते हो, उसका एन्ड आता है।

दादाश्री : 'देखनेवाला' मुक्त हो गया। और अगर चलनेवाला उसके साथ होगा तो बंधन उसके साथ के साथ ही रहेगा!

प्रश्नकर्ता : और दुनिया तो चलती ही रहेगी।

दादाश्री : वह चलती ही रहेगी।

प्रश्नकर्ता : 'देखते' रहने से उसकी वह कड़ी छूट गई।

दादाश्री : छूट गई। चलनेवाला और देखनेवाला अलग हो गए न! चलनेवाले के साथ चलें, तब तक संसार है। उस चलनेवाले को देखना, वही मुक्ति है। दुनिया तो चलती ही रहेगी। वह रुकेगी क्या? आप उसे ऑर्डर करो कि 'रुक जाओ,' फिर भी नहीं रुकेगी?

प्रश्नकर्ता : रुकेगी ही नहीं। इस बॉडी में चलनेवाला और देखनेवाला दोनों हैं न?

दादाश्री : हाँ, चलनेवाला और देखनेवाला, दो भाग हैं।

प्रश्नकर्ता : तो जिस तरह दुनिया चलती रहती है, उसी तरह यह भी उसके साथ चलता ही रहेगा न?

दादाश्री : लेकिन वह साथ-साथ बोलता है कि 'मैं चलता भी हूँ और देखता भी हूँ,' तब तक बंधन है। हमेशा साथ-साथ देखता भी जाता है और चलता भी जाता है। देखता जाता है....देखने का स्वभाव तो छूटता नहीं है न! 'देखना' स्वभाव है और 'चलना' विभाव है। देखना तो उसका स्वभाव हो गया और चलने का विभाव, विशेषभाव है!

प्रश्नकर्ता : और 'दुनिया तो चलती ही रहेगी,' ऐसा कहा है न?

दादाश्री : हाँ, निरंतर चलती ही रहती है और यह भी जब तक चले और उसे भी जानते और देखते रहेंगे, तब तक छूटेंगी नहीं। वह तो, जब चलना बंद कर देगा और सिर्फ देखेगा ही, तब छूट जाएगी। अब आप देखते रहते हो न?

प्रश्नकर्ता : लेकिन ये जो चंदूभाई चलते हैं, उन्हें भी देखते रहना है न?

दादाश्री : हाँ, बस इतना ही। यह फिल्म चलती है, उसे देखते रहना है। पहले तो चल भी रहा था खुद ही और देखता भी खुद ही था। फिल्म भी खुद और दृष्टा भी खुद।

‘देखने’ में कुछ फर्क है?

प्रश्नकर्ता : अपनी प्रकृति को जो सतत देखते रहते हैं हम, अब यह जो देखने की क्रिया होती है तो कई बार ऐसा लगता है कि देखने की क्रिया बीच में किसी और के माध्यम से हो रही है। ऐसा लगता है।

दादाश्री : हाँ, लेकिन देखते तो हो न?

प्रश्नकर्ता : हाँ, देख तो पाते हैं।

दादाश्री : अर्थात् जो स्थूल में है, वह ज़रा सूक्ष्म में होने लगता है धीरे-धीरे।

जो देखते हो, जगत् खुद, खुद को नहीं देख सकता। कोई भी नहीं देख सकता। वही देखना है हमें कि ये चंदूभाई क्या कर रहे हैं? मन क्या कर रहा है? बुद्धि क्या कह रही है? चित्त क्या कर रहा है? अहंकार क्या कर रहा है? अब वह देखनेवाला जुदा रहता है, हंड्रेड परसेन्ट जुदा, भले ही कैसा भी मोटा-मोटा देखो या पतला देखो लेकिन देखनेवाला जुदा है।

प्रश्नकर्ता : शुरुआत में जो देखने की क्रिया होती थी और अभी जो देखते हैं, इन दोनों देखने की क्रियाओं में फर्क महसूस होता है।

दादाश्री : जब कर्म के उदय आते हैं न, तब धुँधला कर देते हैं सबकुछ लेकिन आप देखनेवाले तो अलग हो, यह बात तय है न!

प्रश्नकर्ता : हाँ, वह तय है।

दादाश्री : फिर जो धुँधला दिखता है तो वह कर्म के उदय के आधार पर है। उसमें परेशान नहीं होना है।

प्रश्नकर्ता : और जब कर्म के उदय का प्रेशर आए, तब ऐसा लगता है कि हम जैसे एक तरफ रह गए हों।

दादाश्री : हाँ, तब ऐसा लगता है जैसे घोटाला हो गया लेकिन ऐसा कुछ होता नहीं है।

एक्ज़ेक्ट समझ ज्ञाता–दृष्टा की

प्रश्नकर्ता : ज्ञाता–दृष्टा की बात मुझे एक्ज़ेक्ट समझाइए। ज्ञाता अर्थात् मन–बुद्धि के आधार पर और दृष्टा, वह आँख के आधार पर है या फिर चित्त के आधार पर है? आँख बंद हो तब दृष्टा कैसे रहा जा सकता है?

दादाश्री : मन में जो विचार आते हैं न, वे सूक्ष्म संयोग हैं। उन्हें देखना है।

प्रश्नकर्ता : उन्हें किस से देखना है? मन से या बुद्धि से?

दादाश्री : आप जब उसे देखोगे न तब वहाँ मन–बुद्धि नहीं होंगे, वहाँ पर आँखें भी नहीं होंगी।

प्रश्नकर्ता : यही उलझन है। पता ही नहीं चलता।

दादाश्री : ये मन–बुद्धि से देखते हैं न, वह ज्ञाता–दृष्टापना नहीं कहलाता। आप जब अंदर सूक्ष्म संयोगों को देखते हो, मन के संयोगों को, तो वह ज्ञातापन है। यह ज्ञातापन मन–बुद्धि के आधार पर नहीं है, दृष्टा आँख के आधार पर नहीं है, चित्त के आधार पर भी नहीं है। यह प्रज्ञाशक्ति के आधार पर है।

प्रश्नकर्ता : आँखें बंद रहें, तब भी क्या दृष्टापन रहता है?

दादाश्री : आँखें बंद हों या खुली हों, तब भी रहता है। अर्थात् यह सब जो आँखों से दिखाई देता है न, वह ज्ञाता–दृष्टापन नहीं कहलाता। बुद्धि से जो समझ में आता है, वह ज्ञाता–दृष्टापन नहीं कहलाता। अंदर प्रज्ञा से मन की स्थिति को देखता है, मन क्या–क्या सोच रहा है वह सब देखता है।

प्रश्नकर्ता : हर एक को ज्ञाता–दृष्टापना प्राप्त हो सकता है?

दादाश्री : वह तो, जब ज्ञानीपुरुष पाप धो देते हैं उसके बाद दिखने लगता है, नहीं तो मन के पर्याय देख ही नहीं सकता न! अगर बड़े-बड़े, मोटे-मोटे हों तो वे दिखाई देते हैं, अन्य कुछ देख ही नहीं सकता है न! विचार आएँ उन्हें देखो, ये सब जो विचार आते हैं उन्हें देखते रहना हैं।

पूरी फाईल नं-१ क्या कर रही है, उसे देखना और जानना, वही ज्ञाता-दृष्टापन है। यह बाहर का तो, ये सभी लोग भी ऐसा कहते हैं कि 'हम जानते हैं। यह बंगला देखा और जाना।' प्रज्ञा (इसमें) बाहर का नहीं जानती। वह इन्द्रिय ज्ञान में हेल्पिंग नहीं होती।

प्रश्नकर्ता : आज्ञा में रहने से हेल्प होती है न?

दादाश्री : आज्ञा में रहे तो सभी कुछ हो गया, कम्पलीट हो गया, यदि वह आज्ञा में रहा तो!

ज्ञाता नहीं इन्द्रियगम्य रे

प्रश्नकर्ता : यह जो ज्ञाता-दृष्टा है, उसे अभी हम इन्द्रिय के थ्रू देख सकते हैं और जान सकते हैं न!

दादाश्री : नहीं, इन्द्रिय थ्रू वाला ज्ञान ऐसा नहीं है। आत्मा सभी ज्ञेयों को जानता है। ये मन की जो अवस्थाएँ हैं न उन्हें इन्द्रियाँ नहीं जान सकतीं। उन्हें बुद्धि जान सकती है लेकिन मन की सभी अवस्थाओं को बुद्धि नहीं जान सकती। अब मन की जो अवस्थाएँ अच्छी लगती हैं, उन्हें अज्ञानी तो कभी भी जान ही नहीं सकता लेकिन वह अपने ज्ञान के प्रताप से दिखाई देता है, उसे ज्ञेय कहते हैं। उसे इन्द्रिय ज्ञान नहीं कह सकते या बुद्धिजन्य ज्ञान भी नहीं कह सकते। बुद्धिजन्य ज्ञान को इन्द्रियों में ले गए हैं और इन इन्द्रियों से भले ही हम इन्द्रिय ज्ञान जानते हों लेकिन राग-द्वेष रहित ज्ञान को अतीन्द्रिय ज्ञान कहा गया है। जिसमें राग-द्वेष नहीं हैं, यों इन्द्रियों से देखते हैं, जानते हैं लेकिन राग-द्वेष नहीं हैं, वह अतीन्द्रिय ज्ञान है। जबकि बुद्धिजन्य ज्ञान में राग-द्वेष अवश्य रहते ही हैं अगर राग नहीं हो तो द्वेष रहता है, द्वेष नहीं हो तो राग रहता है। और अगर ये दोनों स्थितियाँ नहीं हों तो मूर्छित है। मूर्छित अवस्था होती है, भान नहीं रहता।

प्रश्नकर्ता : आत्मा खुद इन्द्रियों की सहायता के बिना देख और जान सके, ऐसी स्थिति कब पैदा होगी?

दादाश्री : अभी जान सकता है। अभी मन के जो मनपसंद विषय हैं, उन सभी को देख सकता है। अभी चित्त किस तरफ गया, उसे देख सकता है। मन के विषय कौन-कौन से हैं, उन सब को देख सकता है। वहीं से यह सब शुरू हो गया न! आर्तध्यान उत्पन्न हुआ या नहीं, रौद्रध्यान उत्पन्न हुआ या नहीं, वह सब खुद के ज्ञाता-ज्ञेयपद में आने ही लगा है। इस श्रेणी की शुरुआत की है, इसीलिए दिनोंदिन क्रमश: बढ़ता ही जाता है। उसे बाहर के लोग नहीं देख सकते।

लेकिन ज्ञाता-दृष्टा का अर्थ लोग अपनी-अपनी भाषा में समझते हैं। और क्रमिक मार्ग में सभी लोग ज्ञाता-दृष्टा बन बैठे हैं! मुझ से कहते हैं, 'हम ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं।' मैंने कहा, 'मुझे समझाओ तो सही कि आप किस तरह से ज्ञाता-दृष्टा हो?' 'बस, देखना और जानना, देखना और जानना।' मैंने कहा, 'आँखों ने देखा, उसे देखना नहीं कहते और बुद्धि से जाना, उसे जानना नहीं कहते।' तो वे उलझन में पड़ गए कि अभी तक क्या अलग था? मैंने कहा, 'सम्यक् दर्शन से देखना और सम्यक् ज्ञान से जानना, वह है देखना और जानना।' अर्थात् आपके अंदर मन-बुद्धि क्या कर रहे हैं, उन सब को देखो-जानो, उसे दर्शन से देखना है। वह आँखों से नहीं दिखता। अर्थात् दर्शन-ज्ञान आप सभी में हो सकता है लेकिन बाहर (जिन्होंने ज्ञान नहीं लिया है) उनमें तो नहीं हो सकता। वे तो मन में मान बैठे हैं। इन्द्रियों से देखना, वह दर्शन नहीं है, वह तो सापेक्ष दर्शन है जबकि प्रज्ञा से देखना, वह स्वभाविक दर्शन है। सम्यक् दर्शन अर्थात् स्वाभाविक दर्शन।

ऑफिस में कुर्सी-टेबल देखता रहता है तू? यह बाहर का सबकुछ इन्द्रियज्ञान से दिखता है। जानते हैं, वह भी इन्द्रियज्ञान से है। अंदर जो है, उसका ज्ञाता-दृष्टा रहना है। व्यवहार में जानपना तो इन्द्रिय जानपना कहलाता है। अतीन्द्रिय जानपने की आवश्यकता है। इन्द्रिय जानपना है, वह सब नहीं चलेगा।

प्रश्नकर्ता : यह इन्द्रिय से जाना और अतीन्द्रिय से जाना, अनुभव से इन दोनों का फर्क कैसे पता चलेगा?

दादाश्री : इन्द्रिय को जानता है। जो इन्द्रियों से जाना हुआ है, उसे भी अतीन्द्रिय जानता है। अत: यह ज्ञेय है। चंदूभाई पूरे ही ज्ञेय हैं। चंदूभाई क्या करते हैं, उसे जो जानें वह अतीन्द्रिय ज्ञान कहलाता है। अत: अपना ज्ञान क्या कहता है कि आप शुद्धात्मा हो, ये चंदूभाई क्या कर रहे हैं, उसे आपको देखते रहना है।

प्रश्नकर्ता : उसका अर्थ ऐसा हुआ कि ये चंदूभाई क्या कर रहे हैं, उसे मैं शुद्धात्मा में रहकर सतत ज्ञेय के रूप में जानता रहूँ, देखता रहूँ तो वह शुद्ध उपयोग कहलाएगा?

दादाश्री : बस। तो अलग ही है। फिर भले ही चंदूभाई कुछ भी कर रहे हों न लेकिन यदि देखता रहे और जानता रहे और सही-गलत भाव नहीं करे, सिर्फ जानता ही रहे तो हर्ज नहीं है। मुक्त ही है।

प्रश्नकर्ता : अब चंदूभाई जो करते हैं, वह इन्द्रिय से जो अनुभव करते हैं, उसे अतीन्द्रिय से देखना है।

दादाश्री : उसमें परेशानी नहीं है न! क्या परेशानी है? ये खाते समय अंदर एकाकार हो गया है, उसे भी हमें जानना है, बस। आज खाते समय एकाकर नहीं हुआ, उसे भी हमें जानना है।

यह तो विज्ञान है। इसमें यह इतना सरल मार्ग है लेकिन यदि समझ ले तो बिल्कुल भी मुश्किल नहीं है!

इन्द्रिय ज्ञानपना कब कहलाता है कि चंदूभाई बनकर देखे, तब। शुद्धात्मा बनकर चंदूभाई को देखे तो इन्द्रियज्ञान नहीं कहलाएगा।

प्रश्नकर्ता : लेकिन चंदूभाई बनकर देखे.....

दादाश्री : वह काम ही नहीं आएगा न!

प्रश्नकर्ता : उसका पता कैसे चलेगा?

दादाश्री : वह सब पता रहता ही है हमेशा। उसे चंदूभाई के रूप में देखता है न, उस सभी का हमें पता चलता है कि चंदूभाई क्या कर रहे हैं। जैसे औरों की खबर जानते हैं कि क्या कर रहा है, उसी तरह हम ये भी जानते हैं कि चंदूभाई क्या कर रहे हैं। क्योंकि शुद्धात्मा बिल्कुल ही अलग करके दे दिया है कि सबकुछ आपको पता चल ही जाता है।

प्रश्नकर्ता : 'चंदूभाई बनकर चंदूभाई को देखता है,' उसका उदाहरण दीजिए तो पता चले।

दादाश्री : चंदूभाई–चंदूभाई को नहीं देखते, शुद्धात्मा चंदूभाई को देखते हैं।

प्रश्नकर्ता : वह ठीक है लेकिन इन्द्रियज्ञान से हम जानते हैं, उसका उदाहरण दीजिए।

दादाश्री : यानी ये सब क्या देखते हैं, ये आँखों से जो देखते हैं वह सब इस इन्द्रियज्ञान से ही है न, ये सब कान से सुनते हैं, जीभ से चखते हैं, वह सारा इन्द्रियज्ञान है। मन से, इस मन को छट्ठी इन्द्रिय माना जाता है और फिर बुद्धि से, बुद्धि भी वही की वही है। बुद्धि से जो कुछ जानता है, वह सारा अज्ञान है। वह सब ज्ञेय में आता है। अब बुद्धि को अज्ञा कहते हैं और शुद्धात्मा उसे प्रज्ञा से जानता है। अज्ञा ने जो किया है, उसे प्रज्ञा जाने, वह कहलाता है अंतिमज्ञान। कुछ किए बगैर तो रहेगा ही नहीं। अंदर ही अंदर, चंचलता रहती ही है। उसे जानता है कि खाते समय हमने बेकार की जिद पकड़ी है घर में, ऐसा आप जानते हो न, तो आप मुक्त। झक्की इंसान मार खाता है... झक्की इंसान *तरछोड़* लगाकर उठ जाता है और जब भूख लगती है न, तो खुद को ही परेशानी!

प्रश्नकर्ता : लेकिन जब व्यवहार में अधिक व्यस्त हो जाते हैं, तब उस समय ऐसा कहते हैं न कि 'जैसे बीच में बस जा रही हो,' तो उस समय अतीन्द्रिय से देखने से काम चलता है या नहीं चलता?

दादाश्री : किस तरह देखा जा सकता है लेकिन....बीच में अड़चन आ जाती है न?

प्रश्नकर्ता : वह तो फिर जब तक यह देह है तब तक ऐसा सब तो चलता ही रहेगा।

दादाश्री : नहीं ऐसा कोई नियम नहीं है।

प्रश्नकर्ता : व्यवहार तो रहेगा ही न सारा....

दादाश्री : नहीं, ऐसा नहीं है, वह तो दिनोंदिन कम होता जाता है न। रात पड़े तब कितनी बसें आती हैं फिर? यानी कि कम होता जाता है!

प्रश्नकर्ता : अभी तो चंदूभाई की रात तो मरने के बाद पड़ेगी न?

दादाश्री : वह तो, सभी कर्मों का अंत आ गया। इस हिसाब का ही अंत आ गया और जबकि उसमें तो अपना जब भरा हुआ माल खाली हो जाता है और उसके बाद निर्मलता रहती है।

यानी कि इसी जन्म में खाली हो जाएगा। कभी न कभी ज़रा कम ज़्यादा तो होता है लेकिन नई आमदनी नहीं हो और पुरानी जा रही हो तो क्या कुछ रहेगा? नहीं, कुछ भी नहीं रहेगा। कुछ समय में दो-चार सालों में सब खाली हो जाएगा। मेरा कभी का खाली हो गया है न! मैं आपको ऐसा कहता हूँ कि खाली हो जाएगा। अड़चन आए, तो उसमें कोई घबराने का कारण नहीं है। अंदर उलझन खड़ी हो रही हो तो 'मेरा नहीं है' इतना कहते ही अलग हो जाएगा। वह सब चंदूभाई का है। वह तो पकड़ने जाता है आपको! पहले की आदत है न, आदत है न? इसलिए 'मेरा नहीं है' कहते ही वह छूट जाएगा। उसमें वह क्या पूछता है कि 'आपकी बाउन्ड्री का या उस बाउन्ड्री का?' तब अगर कहो कि 'हमारी नहीं है।' तो वह छूट जाएगा। मैं तो कितना कह पाऊँगा? तो यह कहा हुआ लिखोगे तो कब अंत आएगा। मैं तो कहता ही रहूँगा।

प्रश्नकर्ता : आप जो कुछ कहते हैं, वह सब लिख लिया जाता है।

दादाश्री : उसे लिखता रहेगा तो कब अंत आएगा? इनका बोलना बंद नहीं होगा और आपका लिखना बंद नहीं होगा....पूरी ज़िंदगी क्या लिखते ही रहना है, हें?

प्रश्नकर्ता : हाँ, फिर काम आएगा न बाद में सभी को...यहाँ तो इतने ही लोग सुन रहे हैं तो बाकी के सब जो रह गए हैं, उनके लिए है यह!

दादाश्री : यह जो लिख रहे हैं, उसे जो जानता है वह आत्मा है। ध्यान से लिख रहे हैं, बेध्यानी से लिख रहे हैं, गलतीवाला लिख रहे हैं, यह सब वह जानता है।

प्रश्नकर्ता : उसका ज्ञाता-दृष्टा कौन रहता है?

दादाश्री : कोई चंदूभाई थोड़े ही रहनेवाले थे? वहाँ पर अहंकार थोड़े ही रहनेवाला था? ज्ञाता-दृष्टा तो प्रज्ञाशक्ति, जो मूल आत्मा की एजेन्ट है, वह रहती है!

जो जानता है वह करता नहीं है, जो करता है वह जानता नहीं

करनेवाले और जाननेवाले में फर्क है। यह जाननेवाला सभी कुछ जानता है, करनेवाला सभी कुछ करता है!

प्रश्नकर्ता : और करनेवाले को अहंकार कहा है?

दादाश्री : वह अहंकार अलग है। अपने में करनेवाला डिस्चार्ज भाग रहता है, अहंकार यानी कि अपना अहंकार सचमुच का अहंकार नहीं है। इसलिए हम इसे जाननेवाले रहते हैं। अत: जाननेवाला जुदा ही है।

वह सबकुछ जानता है। जाननेवाला सबकुछ जानता है और करनेवाला करता है। इन दोनों का व्यापार एक साथ होता है, एक ही साथ चाय पीनेवाला चाय पीता है और जाननेवााल जानता है कि चाय कैसी थी! वह कड़क थी, मीठी थी यानी जाननेवाला उस समय हाज़िर होना ही चाहिए।

प्रश्नकर्ता : यह जाननेवाला तो रहेगा ही न दादाजी? क्योंकि वह तो बिल्कुल अलग ही है।

दादाश्री : हाँ, तो यदि जाननेवाला रहता है, तब वह सब लेप्स हो जाता है, खत्म हो जाता है। यदि उसे जाना तो वहवाला पूरा भाग चला जाता है।

प्रश्नकर्ता : चला गया का मतलब क्या?

दादाश्री : करनेवाले ने क्रिया की और जाननेवाले ने जानी, तो वे सभी क्रियाएँ खत्म हो जाती है।

करनेवाला और जाननेवाला दोनों एक सरीखा नहीं जानते। करनेवाला बहुत ही कम जानता है और जाननेवाला उसके सभी गुण और पर्याय सहित जानता है। करनेवाला मूर्छित होता है इसीलिए ज़रा सा ही जान सकता है कि 'यह मैंने किया,' बस इतना ही, और कुछ भी नहीं। जबकि जाननेवाला सभी कुछ जानता है गुण-पर्याय सहित।

प्रश्नकर्ता : करनेवाला जानता नहीं और जाननेवाला करता नहीं। आपने कहा न कि 'वह करनेवाला ज़रा कम जानता है,' वह ज़रा समझाइए न!

दादाश्री : करनेवाला जानता नहीं है लेकिन इतना ही जानता है कि 'यह मैंने किया।' शब्द रूप से इतना ही जानता है, बस। और कुछ नहीं जानता और जाननेवाला सभी तरह से जानता है क्योंकि उसमें दूसरे भाव उत्पन्न नहीं होते। करनेवाले में राग-द्वेष रूपी भाव उत्पन्न होतेहैं, अज्ञानी में। अपने यहाँ पर अलग ही चीज़ चलती है। अपने यहाँ पर तो करनेवाला रहा ही नहीं न! यह तो जो कुछ भी होता है वह डिस्चार्ज भाव से होता है। करनेवाला रहा ही नहीं न इसलिए बीज नहीं पड़ता न!

प्रश्नकर्ता : क्रोध आए और अगर हम उसे जानें तो तुरंत ही क्रोध खत्म हो जाता है?

दादाश्री : नहीं, इससे कोई लेना-देना नहीं है। करनेवाला अलग है और जाननेवाला अलग है। हम जाननेवाले के रूप में रहते हैं। क्रोध तो हमें पसंद नहीं है, इसलिए हम उसके अभिप्राय से अलग ही हैं। अलग हैं, इसलिए हमें लेना-देना नहीं है।

प्रश्नकर्ता : कभी-कभी क्रोध आ जाता है।

दादाश्री : तो भले ही आए, अगर आए तो उससे हमें क्या?! किसी को दुःख हो जाए तो हमें चंदूभाई से कहना है कि 'भाई, प्रतिक्रमण कर।'

तुझे करनेवाले और जाननेवाले के बारे में समझ में आता है? उसका ज्ञान राग-द्वेषवाला है और यह वीतराग है। उसे भी ज्ञान तो है ही, करनेवाले को भी राग-द्वेषवाला

ज्ञान है। चाय पीनेवाला व्यक्ति क्या यह नहीं जानता कि वह चाय पी रहा है?

प्रश्नकर्ता : जानता है।

दादाश्री : लेकिन राग-द्वेषवाला है। उसके गुणधर्म में चला जाता है फिर कि फीकी है या मीठी है।

प्रश्नकर्ता : तो फिर यह जो कुछ भी कर रहा है, वह अलग है।

दादाश्री : अलग है और ज़्यादातर तो वह हमें अच्छा ही नहीं लगता, तो हम उस अभिप्राय से भी उससे अलग हैं।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् मूलत: तो करनेवाला जो कोई भी है, वह अहंकार ही है न?

दादाश्री : वही था, जो कर्ता था, वह यही है। यह तो ज्ञान लेने से पहले जो था, वही यह है। जिसे हम मानते थे कि 'यह मैं ही हूँ,' यह वही है। और जो जुदा हो गए, वे हम। ज्ञान होने के बाद से ही जुदा हुए हैं, पहले नहीं थे।

प्रश्नकर्ता : पहले हम उसके साथ में ही थे।

दादाश्री : साथ में ही थे, एक ही थे।

प्रश्नकर्ता : अब सिर्फ हम अंदर अलग हो गए हैं, बाकी, करनेवाला तो है ही।

दादाश्री : हाँ, है ही। वह तो वही का वही है।

प्रश्नकर्ता : वह सभी कुछ कर रहा है, क्रोध कर रहा है, सोच रहा है....

दादाश्री : वही है जो कर रहा है अपने आप, उसमें और कोई बदलाव नहीं आता। वह करता ही रहता है लेकिन जाननेवाला अलग है।

साक्षी के रूप में कौन?

प्रश्नकर्ता : साक्षी, दृष्टा, परमानंद भाव....

दादाश्री : साक्षी दृष्टा नहीं हो सकता। साक्षी अहंकार होता है और दृष्टा आत्मा है। ज्ञाता–दृष्टा आत्मा का स्वभाव है और जब तक आत्म स्वभाव में नहीं आ जाते। तब तक साक्षीभाव है। जब तक अहंकार रहे, तब तक साक्षीभाव है। साक्षीभाव का मतलब खुद की क्रियाओं के प्रति खुद ही साक्षी के रूप में रहे कि इतने दोष हुए थे। और साक्षीभाव वह एक अहंकारी काम है। जबकि ज्ञाता–दृष्टा फुल (पूर्ण) समाधि का मार्ग है।

प्रश्नकर्ता : साक्षी और दृष्टा के बीच तात्विक फर्क क्या है?

दादाश्री : बहुत फर्क है। पूरा जगत् साक्षी में ही पड़ा हुआ है। ये साधु–आचार्य वगैरह सभी। उससे अहंकार वैसे का वैसा खड़ा रहा। साक्षी अर्थात् अहंकार। अहंकार के बिना साक्षीभाव नहीं हो सकता, जबकि आत्मा ज्ञाता–दृष्टा होता है। जब तक अहंकार है, तब तक साक्षी और अहंकार खत्म हो जाए, उसके बाद दृष्टा।

प्रश्नकर्ता : तो क्या आर्त और रौद्र साक्षीभाव के साथ जुड़ा हुआ है?

दादाश्री : नहीं, ऐसा कुछ नहीं है। साक्षीभाव से लेना–देना है ही नहीं। साक्षीभाव का मतलब तो हमारे अंदर मोह जितना कम होता है, उतना ही साक्षीभाव रह सकता है। बाकी, अगर मोह रहे न तो उसमें वह किस तरह साक्षी रह पाएगा?

मोह का नशा चढ़ा हुआ हो तो फिर साक्षीभाव किस तरह रह सकेगा? थोड़ा नशा उतरे, तब ज़रा साक्षीभाव रह सकता है। जैसे कि शराब का नशा कुछ उतरे, तब होश

आता है कि 'ओहोहो, आज तो मुझे बहुत चढ़ गई है।' उसी प्रकार यह मोह का नशा चढ़ा हुआ है। पूरी दुनिया मोह के नशे में घूम रही है और मानती है कि 'मैं कुछ धर्म कर रहा हूँ।' अरे, कैसा धर्म? यह तो कर्म कर रहा है। धर्म तो उसे कहते हैं कि चारों तरफ से सुगंधी फैले और दूसरा धर्म है, आत्म धर्म। वह मुक्ति दिलवाता है। इस धर्म को धर्म कहेंगे ही कैसे? हर एक चीज़ अपने स्वभाव में होती है। आइस्क्रीम यदि कड़वी लगे तो कोई खाएगा क्या? एक ही दिन कड़वी लगे तो फिर से जाएगा क्या?

प्रश्नकर्ता : नहीं जाएगा दादाजी, कोई नहीं जाएगा।

दादाश्री : उसी प्रकार अगर धर्म ही ऐसा फल दे रहा हो....पूरे दिन नशा चढ़ा रहे तो उसे साक्षीभाव कैसे रह पाएगा? किसी का ज़रा नशा उतरे, तब साक्षीभाव रहता है कुछ देर के लिए जबकि ज्ञाता-दृष्टा भाव तो निरंतर रहता है। साक्षीभाव तो अहंकार की एक प्रकार की जागृति है और दृष्टा, वह आत्मा की जागृति है। वह प्रज्ञा कहलाती है। प्रज्ञा की जागृति कहलाती है।

तब बनता है आत्मा ज्ञाता

प्रश्नकर्ता : चंदूभाई को आप ज्ञेय कहते हैं, तो फिर क्या वह ज्ञाता नहीं बन सकता, ऐसा कह रहा हूँ।

दादाश्री : ज्ञेय ज्ञाता कब बनता है कि जब ज्ञानीपुरुष उसका खुद का भान करवा दें। उसके बाद वह ज्ञेय भाग में से मुक्त हो जाता है। 'मैं चंदूभाई हूँ' वह तो सिर्फ रोंग बिलीफ है क्योंकि उसे ज्ञेय क्यों कहा गया है कि खुद जिस ज्ञान को जानता है, वह बुद्धिजन्य ज्ञान है। अर्थात् वह ज्ञेय है, जब तक वह खुद ज्ञेय को जानता है तब तक संसार व्यवहार चलता रहता है। इस ज्ञेय को भी यदि 'खुद' जाने, तब वह ज्ञाता है।

भगवान ने जानने की चीज़ों को ज्ञेय कहा है। उसे ऐसा कहा है कि, 'आज जिसे हम ज्ञाता मान बैठे हैं, उसे जब ज्ञेय के स्वरूप में समझेंगे तो आप ज्ञाता बन जाएँगे। भगवान का ऐसा कहना है कि जिसे अभी तक आप 'मैं चंदूभाई हूँ और मैं ज्ञाता हूँ' ऐसा जानपना मान लिया है, उसे जब ज्ञेय के रूप में समझेंगे, तब आप वास्तव में ज्ञाता बन जाओगे।

भगवान वीतराग थे, और वीतरागी बात है इसीलिए बिल्कुल साफ बात कही थी। दीये जैसी! फिर शब्दों का क्रम अलग-अलग प्रकार का हो सकता है, लेकिन बात एक ही है!

ज्ञेय के प्रकार हैं दो

प्रश्नकर्ता : आप्तसूत्र ४२२६ में लिखा है कि 'दो प्रकार के ज्ञेय हैं, एक अवस्था रूपी हैं और एक तत्व रूपी ज्ञेय हैं। तत्व स्वरूप के बारे में अभी आपको समझ में नहीं आएगा। (१) ज्ञाताभाव ज्ञेयभाव से दिखाई दे तब खुद के स्वभाव में समाविष्ट होता है। (२) ज्ञेय में जो ममत्व था, वह छूट गया और जैसे-जैसे ज्ञेय को ज्ञेय के रूप में देखे, वैसे-वैसे आत्म पुष्टि होती जाती है।' यह समझाइए।

दादाश्री : दो प्रकार के ज्ञेय हैं। एक अवस्था स्वरूप से हैं और एक ज्ञेय तत्व स्वरूप से हैं। अवस्था स्वरूप से सभी विनाशी होते हैं, तत्व स्वरूप से अवनाशी होते हैं।

ज्ञाताभाव अज्ञानी के लिए लिखा गया है। अज्ञानी व्यक्ति में 'मैं' ही ज्ञाताभाव है। जो यह कहता है कि मैं जानता हूँ, वह यदि ज्ञेय के रूप में दिखाई दे, तब वह खुद के स्वभाव में समाविष्ट होगा। अपने सभी महात्माओं को ज्ञेयभाव से दिखाई देता है। पहले चंदूभाई देखते थे और अब चंदूभाई ज्ञेय बन गए और आप ज्ञाता बन गए। पहले आप ही चंदूभाई और आप ही ज्ञाता थे। ज्ञेयभाव से ज्ञाताभाव दिखाई दे, तब खुद के स्वभाव में समावेश होता है। अर्थात् स्वभाव में आ गए।

फिर ज्ञेय में जो ममत्वपना था, वह छूट गया। जैसे-जैसे ज्ञेय को ज्ञेय के रूप में देखें वैसै-वैसे आत्मपुष्टि होती है। 'मैं' और 'मेरा' जो था वह छूट गया। अब इस ज्ञेय को ज्ञेय के रूप में ही दिखाई देता है। अर्थात् इस *पुद्गल* को देखते रहना है ताकि आत्म पुष्टि होती रहे।

प्रश्नकर्ता : फिर आप्तसूत्र ४२२७ में दादा कहते हैं कि ''जब से हम ज्ञाता-ज्ञेय के संबंध में आए, तब से ज्ञेय शुद्ध होते ही जाते हैं। जिस ज्ञेय का *निकाल* हो गया, वह

वापस नहीं आएगा क्योंकि शुद्ध होकर उनका *निकाल* हो गया। इसलिए वे अब तत्व रूपी हो गए!'' यह समझाइए।

दादाश्री : हम ज्ञाता-ज्ञेय के संबंध में आए, तभी से ज्ञेय शुद्ध होते ही जाते हैं। हम ज्ञाता-ज्ञेय में अर्थात् आप ज्ञाता और चंदूभाई ज्ञेय। अब जब से ज्ञाता-ज्ञेय के संबंध में आए, तभी से ज्ञेय अर्थात् चंदूभाई अर्थात् *पुद्गल* शुद्ध होते ही जाते हैं। वे शुद्ध होकर चले जाते हैं अपने आप ही और हमें शुद्ध कर जाते हैं, मुक्त करते हैं।

'जिस ज्ञेय का *निकाल* हो गया, वह फिर से नहीं आएगा।' अज्ञान से बाँधे हुए कर्मों का ज्ञान से *निकाल* किया, वे वापस नहीं आएँगे क्योंकि शुद्ध होकर उनका *निकाल* हो गया। शुद्ध होकर अर्थात् तत्व स्वरूप हो गए।

प्रश्नकर्ता : फिर आप्तसूत्र ४२२६ में कहते हैं कि ''जब यह आत्मा तत्व स्वरूप दिखेगा, तब बाकी के सभी तत्व भी दिखाई देंगे। वास्तविक ज्ञेय तत्व स्वरूप हैं और तत्व स्वरूप ज्ञेय 'केवलज्ञान' के बिना नहीं दिख सकते। लेकिन श्रद्धा में आ गया तो केवलज्ञान में आएगा ही। ज्ञाताभाव निकल गया अर्थात् एक्स्ट्रेक्ट निकल गया।'' वह समझाइए।

दादाश्री : तत्व स्वरूपी ज्ञेय केवलज्ञान के बिना नहीं देखा जा सकता। उसी को केवलज्ञान कहते हैं न! लेकिन श्रद्धा में आ जाए तब केवलज्ञान में आता है। पहले श्रद्धा में आता है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन तत्व स्वरूप ज्ञेय क्या कहलाते हैं?

दादाश्री : तत्व स्वरूप से ज्ञेय अर्थात् ये छ: तत्व हैं न! इन्हें जो जानना है, वह ज्ञेय के रूप में जानना है, तो वह केवलज्ञान के बिना नहीं दिखाई दे सकता।

प्रश्नकर्ता : छ: के छ: तत्व?

दादाश्री : हाँ। ये जो छ: तत्व हैं, वे अविनाशी हैं। तत्व सभी अविनाशी ही होते हैं। वे केवलज्ञान के बिना नहीं देखे जा सकते लेकिन वे छ: तत्व श्रद्धा में आ जाते हैं इसलिए

फिर केवलज्ञान में आते ही हैं। पहले दर्शन में आते हैं, उसके बाद ज्ञान में आते हैं, फिर धीरे–धीरे वर्तन में आते हैं।

ज्ञाताभाव निकल गया इसलिए इस देह में से एक्सट्रेक्ट निकल गया। 'मैं' ज्ञाताभाव था, वह ज्ञाताभाव निकल गया। इसलिए एक्सट्रेक्ट पूरा चला गया, फिर निर्जीव बाकी बचा।

रियल, ज्ञेय या ज्ञाता?

प्रश्नकर्ता : मैं ज्ञाता और चंदूभाई ज्ञेय है, उसी प्रकार यहाँ पर बैठे हुए सभी महात्मा मेरे लिए ज्ञेय हैं। प्रश्न यह है कि उसमें मैं देखता हूँ 'रिलेटिव और रियल,' तो मेरे लिए दोनों, रिलेटिव और रियल ज्ञेय माने जाएँगे? जो रियल है वह भी ज्ञेय है? रियल, रियल को देखे तो वह ज्ञेय कैसे हो सकता है? मुझे जो अनुभव हो रहा है, यह प्रश्न उसकी स्पष्टता के लिए है।

सामनेवाले का जो रिलेटिव स्वरूप है, वह पूरा ज्ञेय है। अब खुद का रियल ज्ञाता है, तो उसी प्रकार दूसरे के रियल को ज्ञेय कहा जाएगा या ज्ञाता कहा जाएगा?

दादाश्री : ज्ञाता कहा जाएगा। रियल ज्ञेय के रूप में नहीं होता। रियल ज्ञेय के रूप में कब हो सकता है? जो हमेशा के लिए रिलेटिव हैं, उनके लिए। जिनमें रियल और रिलेटिव का विभाजन नहीं हुआ है, उनके लिए 'रियल' ज्ञेय है।

प्रश्नकर्ता : यानी महात्माओं में विभाजन हो गया है, इसलिए उन लोगों के लिए ज्ञेय नहीं है।

दादाश्री : क्रमिक मार्ग के ज्ञानी के लिए वह ज्ञेय कहलाता है। वे दूसरे आत्मा को ज्ञेय कहते हैं, फिर उनके भक्त तो कहेंगे ही। इसमें नया क्या है? तो फिर दूसरों के लिए झंझट ही मिट जाएगा न? क्योंकि उनके पास रियल–रिलेटिव हैं ही नहीं। इसलिए झंझट हो जाता है न? क्रमिक मार्ग में चाहे कोई भी ज्ञानी हो, उनके लिए आत्मा ज्ञेय है, तो फिर दूसरे का क्या रहा?

प्रश्नकर्ता : अर्थात् मैं निरंतर अपने आप को अर्थात् चंदूभाई को देखता रहता हूँ, उसी प्रकार दूसरों को भी देखूँ क्योंकि ऐसा अनुभव है कि जैसे मुझ में चंदूभाई समाया हुआ है, उसी प्रकार ये सब लोग भी समाए हुए हैं। तब यह प्रश्न खड़ा हुआ कि यह रिलेटिव भी है लेकिन इसमें रियल भी है। तो उसे क्या समझना चाहिए? उसके रियल और मेरे रियल के बीच किस प्रकार मेल बैठेगा? वह यदि ज्ञेय हो तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता लेकिन यदि ज्ञेय नहीं है तो वह ज्ञाता होगा और मैं भी ज्ञाता हूँ तो मेरा और उसका दोनों का मेल किस तरह से है? मेल किस तरह बैठेगा?

दादाश्री : रियल है ही नहीं। तीर्थंकर, केवली और अक्रम ज्ञानी के फॉलोअर्स के अलावा रियल शब्द किसी भी जगह पर लिखा ही नहीं जा सकता। हो नहीं सकता और माना भी नहीं जा सकता।

प्रश्नकर्ता : इसीलिए यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सामनेवाले के रियल स्वरूप का खुद के रियल स्वरूप के साथ क्या संबंध है? उसे ज्ञेय की तरह मानें या फिर एक स्वभावी ज्ञाता कहलाएँगे?

दादाश्री : हम सब ज्ञाता हैं, ज्ञेय नहीं कह सकते। एक कागज़ पर ज्ञेय का अर्थ लिखकर लाना चाहिए। उसके बाद खुद को समझ में आ जाएगा न फिर, जब स्पष्टता करेंगे।

आप ज्ञाता हो और ये सब ज्ञेय हैं लेकिन ज्ञेय कौन सा? रिलेटिव। रिलेटिव को भी देखना और अंदर रियल को भी देखना क्योंकि सभी आत्मा रियल हैं और बाहरवाला भाग रिलेटिव है। आपके लिए बाहर का भाग ज्ञेय है और अंदर का भाग ज्ञाता है। वह हम आपको पहली बार में ही समझा देते हैं।

प्रश्नकर्ता : हाँ, ज्ञान देते हैं उसी दिन।

दादाश्री : अब ऐसा ज्ञान कहीं और हो ही नहीं सकता। किसी भी जगह पर हो ही नहीं सकता। तीन गाँठें बाँधी हैं तो वे तीनों छोड़नी पड़ेंगी और दो बाँधी होंगी तो दो छोड़नी पड़ेंगी। मैं एक छोड़ दूँ तो चलेगा?

प्रश्नकर्ता : नहीं, सभी छोड़नी पड़ेंगी।

दादाश्री : यह तो, सिर्फ अक्रम ज्ञानी और सिर्फ महात्माओं के लिए ही ये सभी ज्ञेय हैं, वर्ना जो देखनेवाला है न, उसे ज्ञेय कैसे कहा जा सकता है?

प्रश्नकर्ता : ज्ञेय का मतलब ही यह है कि जिसे ज्ञाता देखता है और जानता है।

दादाश्री : अन्य लोग तो ऐसा ही कहेंगे कि यही देखनेवाला है न? उसे ज्ञेय कैसे कहा जा सकता है? देखनेवाला है न अंदर, अज्ञान दशा में तो आमने-सामने ऐसा ही कहेंगे न?

प्रश्नकर्ता : हाँ, उसी तरह बात करते हैं। मुझे क्या समझना है? हमें जो समझना है उसकी बात है, दूसरों के लिए नहीं है। अज्ञानियों की बात नहीं है यह। मुझे खुद के लिए पूछना है कि मैं क्या समझूँ ज्ञेय है या ज्ञाता?

दादाश्री : हाँ, सामने जो कुछ देखते और जानते हैं, वे सभी ज्ञेय नहीं हैं। उनमें जो रिलेटिव है वह ज्ञेय है और जो रियल है, वह ज्ञाता है।

प्रश्नकर्ता : तो क्या इसका अर्थ ऐसा हुआ कि ज्ञाता, ज्ञाता को देखता है?

दादाश्री : ऐसा ही अर्थ हुआ साफ-साफ, दीए जैसा, फेक्ट!!! हम पहली और दूसरी आज्ञा में साफ-साफ कह ही देते हैं न कि 'अब तू शुद्धात्मा बन गया है। दूसरों को शुद्धात्मा देख।' ज्ञाता को ज्ञाता नहीं देखें तो हिंसा हो जाती है। अन्य लोग जो हैं वे हिंसावाले हैं। ज्ञेय का मतलब क्या है? जानने योग्य वस्तु। अत: क्रमिक मार्ग में आत्मा जानने योग्य वस्तु है और आपके लिए आत्मा जानी हुई वस्तु है।

आपको अब ज्ञेय को जानना है। ज्ञाता को आप जानकर बैठे हो। जबकि उन लोगों के लिए अभी ज्ञाता ही ज्ञेय है। वह ज्ञेय जब ज्ञाता बन जाएगा, उसके बाद फिर यह ज्ञेय बनेगा। *निकाल* करना है, उतना भी पता नहीं होगा।' अब जो ज्ञेय है, वह ज्ञाता नहीं बना है, उसका क्या कारण है? तो वह है, जिसे त्याग करना पड़ता है, जिसके लिए ऐसा सब

है कि 'ऐसे करना चाहिए और ऐसे करना चाहिए,' वे सब आत्मा को ज्ञेय कहते हैं। खुद ने (आत्मा को) जाना नहीं है, इसलिए यह त्याग का रस्ता ढूँढा।

प्रश्नकर्ता : जिन्होंने आत्मा को नहीं जाना है, उनके लिए आत्मा ज्ञेय है।

दादाश्री : उन्हें जो सम्यक् दर्शन हुआ है, तो उससे कुछ भाग जाना है आत्मा का। उन्होंने सर्वस्व प्रकार से आत्मा को नहीं जाना है। ये क्रमिक मार्ग के ज्ञानी आत्मा को सर्वस्व प्रकार से अंतिम अवतार में जान पाते हैं। तब तक अंहकार संपूर्णरूप से नहीं जाता। और अहंकार की हाज़िरी में वह ज्ञाता नहीं कहला सकता।

प्रश्नकर्ता : अहंकार की हाज़िरी में ज्ञाता नहीं कहला सकता, यह अब समझ में आ रहा है। यह सारा अब सेट हो गया है।

दादाश्री : तीन गाँठवाला लाओ कि मेरा सेट नहीं हुआ है, तो मुझे तीनों गाँठें छोड़नी पड़ेंगी। नहीं छोड़नी पड़ेंगी?

प्रश्नकर्ता : छोड़नी पड़ेंगी दादा।

दादाश्री : जबकि सभी लोग क्या कहते हैं कि एक ही शब्द में सबकुछ पूरा कर देते थे न! उन लोगों ने एक ही गाँठ बाँधी थी। जिसने तीन बाँधी हुई हों तो वह जब तीनों छोड़ देगा तभी उसे पूरा संतोष होगा न? कितनी गाँठें बाँधी हैं उसका उसे पता चलता है। अब नहीं बाँधनी हैं, लेकिन जो बाँधी हुईं हैं वे कितनी हैं, अब उसे हम जानते हैं।

जाननेवाला निर्दोष है सदा

प्रश्नकर्ता : अपनेअंदर जो कुछ भी चल रहा हो कोई भी विचार, वाणी या जो कुछ भी आए, उसे हम जानते हैं लेकिन उसे दोष क्यों कहा जाता है?

दादाश्री : जाननेवाले के लिए दोष नहीं है। हम दोष किसे कहते हैं? पूरे दिन जो व्यवहार चलता रहता है, उस व्यवहार को हम दोष नहीं कहते।

प्रश्नकर्ता : मैं तो क्या कहता हूँ कि एक-एक सूक्ष्म से सूक्ष्म विचार आए, उसे भी हमने जाना....

दादाश्री : हाँ, यदि आप जाननेवाले हो तो जाननेवाले का दोष नहीं है यह।

प्रश्नकर्ता : लेकिन मैं तो कहता हूँ कि उन विचारों का भी दोष कैसे कहा जाएगा?

दादाश्री : जाननेवाले का दोष नहीं है लेकिन चंदूभाई क्या कर रहे हैं, उसे खुद जाने तो उस क्रमण में हर्ज नहीं है लेकिन चंदूभाई किसी को डाँट रहे हों, 'उसे' देखे तो वह क्या कहता है कि 'यह आपका दोष है।' खुद चंदूभाई से कहेगा कि 'यह आपका दोष है, ऐसा नहीं होना चाहिए।'

प्रश्नकर्ता : लेकिन जब हम ज्ञायक ही रहें, चंदूभाई के भी ज्ञायक रहें तो किसी भी चीज़ में दोष या अच्छाई है ही नहीं।

दादाश्री : है नहीं, लेकिन मेरा कहना है कि यह अक्रम है न, इसलिए सिर्फ शुभ ही नहीं होता न!

प्रश्नकर्ता : लेकिन शुभ-अशुभ का प्रश्न ही कहाँ आया?

दादाश्री : मेरा कहना है कि जो माल देखना है, यदि वह सारा शुभ ही हो तो उसमें हर्ज नहीं लेकिन क्योंकि अक्रम है इसलिए अशुभ माल भी भरा हुआ है।

प्रश्नकर्ता : वह ठीक है दादाजी। मैं क्या कहना चाहता हूँ कि अशुभ और शुभ सबकुछ भरा है, कचरा भरा है लेकिन यदि हम ज्ञायक ही हैं तो जो आना हो वह आए, उसका विभाजन करने का प्रश्न ही कहाँ आता है।

दादाश्री : यह विरोधाभास लग सकता है लेकिन शुभ-अशुभ सभी कुछ ज्ञेय हैं ऐसी जागृति रखना बहुत मुश्किल चीज़ है। इसलिए लोगों को क्या कहा है कि चंदूभाई अगर सामनेवाले को गाली देता है तो तुझे चंदूभाई से कहना चाहिए कि 'अतिक्रमण क्यों किया? तू प्रतिक्रमण कर।'

अंश में से सर्वांश ज्ञानीपद

प्रश्नकर्ता : अब बुद्धि एक चीज़ में डिसीज़न नहीं देती, अहंकार नहीं है तो विसर्जन है। जबकि आपने दूसरी बात कही कि मन पैम्फलेट दिखाता है, चित्त भटकता है, बुद्धि डिसीज़न देती है, अहंकार हस्ताक्षर करता है, यह सब जो चल रहा होता है, उसे अगर 'जाने' तो बंधन नहीं है न?

दादाश्री : हाँ, अगर जाने तभी उसे बंधन नहीं है। इसे जाननेवाला अलग रहना चाहिए, तभी वह बंधन में नहीं है।

जानकार रहा, ज्ञाता रहा तो फिर सबकुछ गया! लेकिन वह हमेशा के लिए ज्ञाता नहीं रह पाता न! ऐसा है न कि यह संपूर्ण ज्ञानीपद और अंश ज्ञानीपद, दोनों ही हैं न! तो एक तरफ ज्ञातापद भी होता है और एक तरफ थोड़ा बहुत वह भी चलता रहता है। सर्वांश होने तक दोनों चलता रहता है।

सर्वांश होने तक एकदम से नहीं हो सकता। ज्ञातापद हमेशा के लिए नहीं रह पाता। थोड़े समय के लिए, कुछ समय तक रहता है और वापस वैसे का वैसा ही, ऐसे करते-करते सर्वांश होता जाता है। क्योंकि पिछले धक्के लगते रहते हैं न! एक मंज़िल चढ़नी हो और हम कहें कि एक-एक सीढ़ी चढ़ गए तो इसका मतलब यह नहीं कि ऊपर तक पहुँच गए। जितनी सीढ़ियाँ चढ़े उतने ऊपर पहुँचे।

प्रश्नकर्ता : हाँ, लेकिन सर्वांश कौन बनता है?

दादाश्री : सर्वांश तो खुद है ही।

प्रश्नकर्ता : है ही और जो नहीं है, वह होता जा रहा है?

दादाश्री : हाँ, जो नहीं है, वह होता जा रहा है।

प्रश्नकर्ता : तो वह अपने आप ही हो रहा है?

दादाश्री : अपने आप ही हो रहा है।

प्रश्नकर्ता : जबकि ये लोग क्या कहते हैं कि उसे करना पड़ता है।

दादाश्री : करना कुछ भी नहीं है। करनेवाला कौन है फिर वापस? वह तो अपने आप ही होता जा रहा है। इसमें मुख्य चीज़ तो जो दृष्टि दी है, वह है, जो ज्ञान देते हैं, उसकी ज़रूरत है। वह मुख्य चीज़ है। अज्ञान प्रदान हुआ है, इसलिए उसे ज्ञान की ज़रूरत पड़ती है।

महात्माओं का डिस्चार्ज अनोखा

प्रश्नकर्ता : मनुष्य मन–बुद्धि–चित्त, अहंकार, वाणी–काया वगैरह की सभी बैटेरियाँ पिछले जन्म से चार्ज करके लाए होते हैं। अभी उनका डिस्चार्ज ही हो रहा है, राइट? अब जो बुद्धि लेकर आया है वह उसी अनुसार चलेगी। क्या उसमें कोई बदलाव किया जा सकता है? यह ज्ञान मिलने के बाद उसमें कोई फर्क आता है?

दादाश्री : देखने से बदलाव आ ही जाता है, संकुचित हो जाती है। चीज़ वही की वही रहती है, लेकिन संकुचित हो जाती है। देखने से सब बदल जाता है। वह एक रतल भी रतल नहीं रहता। लेकिन अगर देखे नहीं और ऊपर से कर्ता बने तो पाँच रतल हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : देखने से बुद्धि, अगर एक रतल की हो तो संकुचित होकर कम हो जाती है। और यदि उसे प्रज्वलित किया (हवा दी) जाए तो पाँच रतल हो जाती है।

अर्थात् इसका अर्थ यह हुआ न कि जितना चार्ज हो चुका है, उसका उतना ही डिस्चार्ज होगा, ऐसा कुछ नहीं है। इसमें तो बदलाव होता है और कम होता है या बढ़ भी सकता है। चार्ज के अनुसार ही डिस्चार्ज होता है, ऐसा नहीं रहा न? तो क्या ऐसा होता है कि संकुचित होने पर कम हो जाता है?

दादाश्री : कम हो जाता है सबकुछ। खत्म हो जाता है सब। बहुत सारा बरफ रखा हुआ हो फिर भी खत्म हो जाता है। खत्म नहीं हुआ होता तो वृत्तियाँ अभी आपको शांति से बैठने ही नहीं देतीं। आपकी जो भरी हुई वृत्तियाँ हैं न, वे आपको अभी शांति से बैठने ही न दें। इधर–उधर होता ही रहता है। गाड़ी में बैठा हो तब भी इधर–उधर होता रहता है।

प्रश्नकर्ता : यानी इसका अर्थ ऐसा हुआ कि इस ज्ञान से या खुद के पुरुषार्थ से इंसान अपने प्रारब्ध को बदल सकता है?

दादाश्री : बदलाव हो ही जाता है न!

प्रश्नकर्ता : बदलाव हो जाता है, इसका मतलब ऐसा हुआ कि कर्म की थ्योरी में बदलाव किया जा सकता है, उसे पलटा जा सकता है?

दादाश्री : ऐसा नहीं है, उसमें इस तरह का बदलाव नहीं कहा जाता।

प्रश्नकर्ता : तो उसे क्या कहते हैं?

दादाश्री : वह एक रतल का था, वह दृष्टि बदलने से ज़रा कम हो जाता है और बाहरी दृष्टि से पाँच रतल का हो जाता है। कर्ता बनता है इसलिए। ज्ञाता बने तो कम हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : और कई बार तो देखने से चला भी जाता है।

दादाश्री : चला ही जाता है। पूरी तरह से चला जाता है। छोटा सा सिग्नेचर करते हैं न, वैसा हो जाता है। छोटा सा सिग्नेचर करें तो काम हो जाता है या नहीं?

प्रश्नकर्ता : हो जाता है।

दादाश्री : ऐसा हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : ज्ञाता–दृष्टा रहने से खत्म भी हो सकता है?

दादाश्री : उसके बाद कुछ रहता ही नहीं। सिर्फ सीन-सीनरी दिखाई देती हैं, उतना ही रहता है ज़रा। अगर रहता तो बोझ लगता। ज्ञाता-दृष्टा रहने पर कुछ भी बाकी नहीं बचता। ज्ञाता-दृष्टा नहीं रहें तब ज़रा बोझ लगता है।

प्रश्नकर्ता : वह जो बात थी न कि देखने से बुद्धि या अंत:करण जो कुछ भी होता है, वह सेर में से पाव सेर हो जाता है, यदि ज्ञाता-दृष्टा रहे तो। लेकिन अगर उसकी संभाल करे (रक्षण करे) तो सेर में से पाँच सेर भी हो सकता है। तो इसका अर्थ ऐसा हुआ कि अगर डिस्चार्ज में अपना सेर हो और अगर हम उसे संभालकर रखें तो वह बढ़ जाएगा न? तो चार्ज-डिस्चार्ज का प्रिन्सिपल में बदलाव हो गया?

दादाश्री : वह बढ़ता नहीं है।

प्रश्नकर्ता : तो फिर क्या होता है?

दादाश्री : बोझ लगता है। बढ़ जाता है, उसे आपकी भाषा में समझ जाते हो आप। उसका बोझ लगता है जबकि देखने से हल्का हो जाता है, बस। बढ़ता-वढ़ता कुछ भी नहीं है डिस्चार्ज अर्थात् जो जाने के लिए आया है। बोझ बढ़ेगा तो भी वह जाएगा और हल्का हो जाएगा तो भी जाएगा। बहुत बोझ रहे तो बाकी रह जाता है देखे बगैर। फिर वह थोड़ा बहुत रह जाएगा। बाद में उसका निबेड़ा लाना पड़ेगा। डिस्चार्ज अर्थात् जो जाने के लिए आया है। मैले कपड़े धोने के लिए आएँ तो उनमें से अगर कुछ धोए बगैर रह जाएँ तो वे फिर से धोने पड़ेंगे। बस इतना ही है यह सब। और फिर हम कपड़े धोने के बाद वापस कपड़े धोने जाते हैं। यह मैला रह गया, यह साफ हो गया। ऐसा सब करने जाएँ तो ज़्यादा रह जाता है। जो धुल जाते हैं, वे बिल्कुल कम्पलीट ही हैं।

प्रश्नकर्ता : जो धुल गए, वे धुल गए!

दादाश्री : जो धोये बगैर रह गए, उतने धोने बाकी बचे। देखने पर अभी तक में एक भी कर्म नहीं बंधेगा। वर्ना और कहीं तो एक सौ पंद्रह लोगों की यात्रा में कितना झंझट हो जाता है! इन लोगों का रिवाज़ ऐसा है, इसका ऐसा है और इसका यह खराब है, उसका वह**U** खराब है! एक व्यक्ति कहे, 'नहीं, अच्छा है' और एक कहता है, 'खराब है।'

अंदर–अंदर झिकझिक, सीधे ही नहीं रहते न! और अपने यहाँ यात्रा में एक सौ पंद्रह लोग थे, फिर भी कोई झिकझिक नहीं हुई। तीन हज़ार लोग होंगे तब भी अपने यहाँ कुछ नहीं होगा। कितनी अच्छी चाबी है, लोगों के मन बंधे रहते हैं।

प्रश्नकर्ता : आप जो कहते हैं न कि ज्ञान मिलने के बाद कर्म कम हो जाते हैं, तो आप जब ज्ञान देते हैं, तब हमारे कर्म भस्मीभूत कर देते हैं, इसीलिए हमारे कर्म कम हो जाते हैं न? इसीलिए कम हो गया है न?

दादाश्री : कर्म भस्मीभूत हो जाते हैं। फिर जो भस्मीभूत नहीं हुए थे, वे ज्ञाता–दृष्टा रहने से चले जाएँगे। इसके बावजूद भी कुछ कर्म जो बहुत गाढ़ होते हैं, वे रह जाते हैं। थोड़ी बहुत पूँजी अगले जन्म के लिए रह जाती है। वह पेटी में रह जाती है न, इसीलिए पेटी बिकाऊ होती है। इसीलिए लोग ले लेते हैं न!

प्रश्नकर्ता : यह सब ठीक से समझ में आ गया लेकिन आप जो कहते हैं न कि ज्ञाता–दृष्टा नहीं रहने से वह बढ़ जाता है।

दादाश्री : बोझ बढ़ जाता है न! उलझता रहता है भाई। फिर जब उसका टाइम आता है, तब सारी उलझनें चली जाती है। फिर धोना बाकी रहा। टाइम होने पर उलझनें गए बगैर चारा ही नहीं है। हर एक के टाइमिंग होते हैं। संयोगों को वियोगी होना ही पड़ता है।

प्रश्नकर्ता : क्या खुद की उल्टी समझ की वजह से बाकी रह जाता है?

दादाश्री : समझ तो सारी अक़्लवाली है लेकिन ये कर्म बहुत गाढ़ हैं न! इसलिए ज्ञाता–दृष्टा नहीं रह पाता। फिर भी अगर पुरुषार्थ हो तो रहा जा सकता है। एक बार गिर जाए तो फिर से खड़ा हो जाता है, फिर से गिरता है फिर खड़ा हो जाता है। फिर से गिरता है, फिर से खड़ा हो जाता है, लेकिन हो जाता है। पुरुषार्थ कुछ काबू में है न, लेकिन पुरुषार्थ को ढीला छोड़ देता है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन डिस्चार्ज में कोई फर्क नहीं पड़ता है। डिस्चार्ज उतने का उतना ही रहता है।

दादाश्री : डिस्चार्ज ही होता रहता है लेकिन चकराकर, बोझ बढकर होता है। उन्हें अनुभव है न? आता है तो पंद्रह–पंद्रह मिनटों तक किसी जगह पर उलझता रहता है। आधे–आधे घंटे तक उलझन में रहता है न! वही बोझ है।

प्रश्नकर्ता : फिर अपना बढ़ कब जाता है?

दादाश्री : अब अगर दृष्टि नहीं रहे तो, ज्ञाता–दृष्टा नहीं रहें तो बोझ बढ़ जाएगा।

प्रश्नकर्ता : फिर उसमें अंदर खुरचता है क्या? अंदर समेट पाता है क्या?

दादाश्री : नहीं, समेटता नहीं है। वह अपनी खुद की जागृति नहीं रखता। समेटने–वमेटने का कुछ है ही नहीं।

'हाउ टू डील' ऐसा वह नहीं कर पाता। वह समझ नहीं पाता कि यहाँ क्या डीलिंग करनी है, जैसे कि किसी के प्रति उल्टा अभिप्राय नहीं बने, उसके लिए हमें कहना पड़ता है कि 'यह बहुत उपकारी है, उपकारी है।' तो अभिप्राय बंद हो जाते हैं। ऐसा 'हाउ टू डील विथ हिम' जानना चाहिए।

प्रश्नकर्ता : यानी 'हाउ टू डील' की जो समझ है, वह इस ज्ञान के बाद प्रज्ञा जागृत हो जाने के बाद ही आती है न?

दादाश्री : हाँ, बाद में ही तो। पहले नहीं हो सकती न! बुद्धि तो कितना दिखा सकती है? बहुत बुद्धिशाली और अहंकारी अंधे हैं। उनके बजाय कम बुद्धिशाली अच्छे हैं बेचारे।

यह सब जानने के लिए अपने नज़दीक सिर्फ उत्तम निमित्त के संयोग की ज़रूरत है।

प्रश्नकर्ता : पहले का जो जीवन था, उस जीवन में परिवर्तन आ जाता है न?

दादाश्री : हो जाता है परिवर्तन। जितना जागृत उतना ही परिवर्तन हो जाता है। जागृत होता है तो खत्म हो जाता है सब यों ही।

विधि के समय दादा एकाकार

एक मिनट के लिए भी हम एक वर्क (काम) में नहीं रहते। हर वक्त हमारे दो काम रहते हैं। कुछ समय के लिए ही, जब विधि होती है, तब एक काम में रहता हूँ, वर्ना खाते समय, नहाते समय, दो वर्क में रहता हूँ।

प्रश्नकर्ता : वे दो वर्क कौन से हैं?

दादाश्री : ये मुझे नहलाते हैं और मैं खुद के ध्यान में रहता हूँ यानी ज्ञाता-दृष्टापन रहता है। अत: हमारे तो हमेशा ही दो (वर्क) रहते हैं।

प्रश्नकर्ता : लेकिन वे नहला रहे हों, आप तो ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं तो दोनों वर्क कैसे हुए?

दादाश्री : खुद नहा रहा होता हूँ, उनके साथ बातें भी करता जाता हूँ। वे समझें कि अपने साथ ही हैं। किसी को ऐसा पता नहीं चलता कि ये दूसरे काम में हैं जबकि कोई और दूसरे काम में पड़े तो हमें ऐसा जान पड़ता है कि खो गया है। कुछ खो सा गया है ऐसा लगता है। हमारा ऐसा पता नहीं चलता।

प्रश्नकर्ता : और जब आप विधि कर रहे होते हैं, तब एक काम तो वह कौन सा काम है?

दादाश्री : उसमें तो एक ही काम में। विधि करने में ही रहते हैं।

प्रश्नकर्ता : जब ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं, तब आप क्या करते हैं?

दादाश्री : नहीं, विधि करते समय ज्ञाता-दृष्टा नहीं रहते। उस घड़ी एक्ज़ेक्ट ज्ञानीपुरुष के रूप में रहते हैं, वर्ना आपका काम फलेगा नहीं न!

प्रश्नकर्ता : यानी एक्ज़ेक्ट आप ए.एम.पटेल हो जाते हैं या क्या होता है वह?

दादाश्री : नहीं, वे ज्ञानीपुरुष होते हैं।

प्रश्नकर्ता : ज्ञानीपुरष यानी ए.एम.पटेल?

दादाश्री : नहीं ए.एम.पटेल तो यह बॉडी है। उस समय हम ज्ञानीपुरुष, वर्ना विधि फलेगी नहीं इनकी और हमें कोई ऐसी जल्दबाज़ी नहीं है कि कल ही मोक्ष में जाना है।

प्रश्नकर्ता : जब आप विधि कर रहे होते हैं तब आप ज्ञानीपुरुष, तो फिर दादा भगवान कहाँ जाते हैं तब?

दादाश्री : दादा भगवान तो उसी जगह पर बैठे हैं। मेरी उस तरफ की दृष्टि कम हो जाती है, बंद हो जाती है। हमारी दृष्टि उस घड़ी सीमंधर स्वामी में होती है, किसी दूसरी जगह पर होती है। आपके लिए विधि करनी होती है उस समय।

अवस्थाओं में अस्वस्थ, स्व में स्वस्थ

जो अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं, वे सभी अवस्थाएँ विनाशी हैं और यह जो है, वह अवस्था में रहता है इसलिए अस्वस्थ रहता है। स्व अविनाशी है, अगर उस अविनाशी में रहे तो स्वस्थ रह सकता है वर्ना अस्वस्थ ही रहेगा।

प्रश्नकर्ता : वह खुद देख सकता है और जान सकता है कि यह अवस्था में अस्वस्थ है, इसके बावजूद भी स्वस्थ नहीं रह पाता?

दादाश्री : हाँ, वह देख सकता है। इसके बावजूद भी अस्वस्थता नहीं जाती। वहाँ पर क्या होता है कि जो देखनेवाला है, वह दादा द्वारा दिया गया आत्मा है। इसे देखनेवाला शुद्धात्मा ही है। हम सब उसी रूप में रहें तो कोई झंझट ही नहीं है। वर्ना तो स्वस्थ और अस्वस्थ का तो अंत ही नहीं आ पाएगा।

प्रश्नकर्ता : उसकी चाबी कौन सी है?

दादाश्री : चाबी? इन सब में अस्वस्थ रहे या स्वस्थ रहे, दोनों का जानकार शुद्धात्मा है। अस्वस्थ रहता है तब खुद उसमें हाथ डालता है, फॉरेन में। फॉरेन में हाथ नहीं डालना चाहिए उसे। स्वस्थ हो जाए या अस्वस्थ रहे, हमें तो जानने से काम है। ये सभी पौद्गलिक अवस्थाएँ हैं और जो पौद्गलिक अवस्थाओं को जानता है, वह शुद्धात्मा कहलाता है। पौद्गलिक अर्थात् जो *पूरण-गलनवाला* है। आपको अस्वस्थता कब आती है? यदि *पूरण* की हुई होगी, तभी वह इस समय आएगी। अभी आने के बाद उसका *गलन* हो जाता है।

फॉरेन में हाथ डाला तो जले बगैर रहेगा ही नहीं। उसमें हम हाथ नहीं डालते और हम दूसरों से भी कहते हैं कि 'भाई, हाथ मत डालना।' क्योंकि यों तो जो भी फल मिलना था, वह तो मिलने ही वाला है। इसके अलावा यदि उसने हाथ डाला तो उसका उसे डबल फल मिलता है। दो नुकसान उठाता हैं। तो हम एक ही नुकसान उठाएँ न। अस्वस्थता, अस्वस्थता 'चंदूभाई' को है। आपको इतना जानते रहना है कि अस्वस्थ है। अस्वस्थ है वह पंद्रह मिनट के बाद खत्म हो जाएगी। अगर देखते रहोगे तो दो नुकसान नहीं होंगे।

प्रश्नकर्ता : अवस्था का समय जितना अधिक खिंचे आवरण उतना ही अधिक कहलाएगा?

दादाश्री : हाँ, जितना आवरण होगा उतना खिंचता रहेगा, लेकिन यदि आप शुद्धात्मा की तरह देखते रहोगे न तो फिर आवरण भले ही कितना भी हो फिर भी वह जल्दी से चला जाएगा, एकदम से। उसका निबेड़ा आ जाएगा। लेकिन अगर उसमें खुद हाथ डालने गया तो झंझट खड़ा हो जाएगा।

प्रश्नकर्ता : तो जागृति किसमें रखनी है?

दादाश्री : देखने में, उसी में जागृति रखनी है। देखने में तन्मयाकार नहीं हो जाए तो उसे जागृति कहते हैं। दृष्टा और दृश्य दोनों जुदा रहने चाहिए, इसी को जागृति कहते हैं।

'क्या है' उसे देखते हैं और 'क्या हो रहा है' उसे देखते हैं, दादा दोनों ही देखते हैं। 'क्या है' में उन्हें तो जो खुद का स्वरूप है वैसा ही दिखाई देता है सभी में और 'क्या हो

रहा है' में वे अपने आप ही करते जा रहे हैं, वैसा दिखाई देता है। कोई भीड़ में ऐसे-ऐसे कर रहा हो, कोई सिर रख रहा हो, फलाना कर रहा हो लेकिन यह सब वह नहीं कर रहा है। उसका आत्मा तो अपने दर्शन में आता है लेकिन ये सब क्रियाएँ *पुद्गल* कर रहा है। और फिर वे भी *गलनवाली* क्रियाएँ हैं, *पूरण* नहीं है। ज्ञान मिला है इसलिए *गलन* क्रिया है, *पूरण* नहीं।

देखने से चली जाती हैं सभी परतें

करना कुछ भी नहीं है, क्या हो रहा है, उसे देखना है। भाव किए हैं, निश्चय हुआ है, वह सब। फिर निश्चय के अनुसार क्या हुआ उसे देखते रहना है। यह तो जो पूर्वजन्म की डिज़ाइन है उस अनुसार निकल रहा है। इसलिए हमें कुछ करना नहीं रहता न!

प्रश्नकर्ता : हम ऐसा कह सकते हैं कि भाव करने की सत्ता है?

दादाश्री : नहीं, वह भी खुद की सत्ता नहीं है। यह तो पिछले जन्म की डिज़ाइन बोल रही है यह सब। हमें कोई लेना-देना नहीं है। उसे हमें देखते रहना है। क्या हो रहा है, वही देखते रहना है।

प्रश्नकर्ता : जो भी परत आए, उसे देखते रहना है, बस।

दादाश्री : तो वह परत चली जाएगी। वर्ना अगर देखोगे नहीं और 'मुझे ऐसा क्यों हुआ' ऐसा लगे तो फिर बोझ बढ़ जाएगा लेकिन यह परत जाएगी नहीं।

प्रश्नकर्ता : उल्टा-सीधा हो रहा हो, तब भी देखते ही रहना है?

दादाश्री : उल्टा-सीधा होता ही नहीं है। बुद्धि उल्टा दिखाती है। उल्टा हो तब भी क्या करोगे अगर परत आएगी तो?! सीधा हो तब भी देखते रहना है और उल्टा हो तब भी देखते रहना है।

प्रश्नकर्ता : दोनों को देखते ही रहना है।

दादाश्री : दोनों में समानता रखना, वही ज्ञान है।

प्रश्नकर्ता : दोनों डिस्चार्ज ही हैं।

दादाश्री : दोनों डिस्चार्ज ही हैं। हम जो कहते हैं उस एक–एक शब्द को अगर समझ लो न तो काम हो जाए।

प्रश्नकर्ता : अब *लक्ष* (जागृति) उस तरफ का ही है कि दादा के विज्ञान को समझना है।

दादाश्री : हाँ।

गलन को 'देखते' रहो

प्रश्नकर्ता : ज्ञान लेने के बाद का जो *गलन* है उसे देखते ही रहना है या उसकी गति बढ़ाने के लिए कुछ करना चाहिए?

दादाश्री : गति बढ़ानेवाला कौन? कर्ता चला गया फिर गति बढ़ानेवाला कौन?

प्रश्नकर्ता : उसे अपने आप ही होने देना है।

दादाश्री : देखते ही रहना है। जो होता है उसे देखते ही रहना है। हमने जो *पूरण* किया था, वह अब अपना फल देकर *गलन* होगा। कड़वा होगा तो कड़वा और मीठा होगा तो मीठा, फल देकर दोनों का *गलन* हो जाएगा। उन्हें हमें देखते रहना है। गति बढ़ाना वगैरह, ऐसी कोई दखल करनी ही नहीं है।

अब इस सीधे साइन्स में यदि थोड़ी सी भी भूल खा जाएँगे तो मार पड़ जाएगी। कुछ बदलने लगे तो मेरे पास आ जाना, मैं फिर से ऑपरेशन कर दूँगा। नासमझी से बदलाव होने की संभावना तो है न!

प्रश्नकर्ता : हम छोड़ दें वह भूल?

दादाश्री : ज्ञातापन तो छोड़ा ही नहीं जा सकता। ज्ञातापन ही अपना स्वभाव है और ज्ञेय तो निरंतर रहते ही हैं। वह जो मन है न, वह ठेठ आयु पूरी होने तक फाइलें दिखाता रहेगा। वह दिखाता रहेगा और हम देखते रहेंगे। ज्ञेय नहीं रहेंगे तो ज्ञाता खत्म हो जाएगा। अत: यह जो ज्ञेय हैं, वे सिनेमा की तरह है। मन अंत तक दिखाएगा इसलिए ज्ञाता कभी खत्म नहीं होगा।

देखनेवाला चैतन्य पिंड शुद्धात्मा है

प्रश्नकर्ता : और जो देखते रहना है, वह किसे देखते रहना है? कौन देखता रहता है?

दादाश्री : जो शुद्धात्मा बना है, ज्ञाता बना है, वह देखता रहता है।

प्रश्नकर्ता : दादा, ऐसा है कि यह जो हमें शुद्धात्मा का अनुभव हुआ है, उस पर से हमारे मन में ऐसा ख्याल आता है कि वह तो एक चैतन्य पिंड है, उसमें क्या करना और क्या देखना?

दादाश्री : देखनेवाला खुद ही है। जो चैतन्य का पिंड है वह देखता है। वह किसे देखता है? ज्ञेय को देखता है। अत: विचार ज्ञेय हैं और आप ज्ञाता हो। जब तक ज्ञाता को ज्ञेय नहीं दिखाई दे, तब तक उसे व्यवहार नहीं कहा जा सकता।

ज्ञेय और ज्ञाता एकाकार न हों तो उसे ज्ञान कहते हैं। ज्ञेय में परिणमित नहीं होना है। पहले ज्ञेय में परिणमित हुए, उसी से तो संसार खड़ा हो गया है। विचार जड़ चीज़ है, उसमें बिल्कुल भी चेतन नहीं है। उनमें परिणमित होकर यह संसार खड़ा हो गया है। भटक, भटक, अनंत जन्मों से भटके हैं, फिर भी ठिकाना नहीं पड़ा जबकि इसमें तो यह खुद ज्ञाता बन गया। ज्ञेय को देखता है, सभी ज्ञेयों को देखता है। क्रिया किए बिना देखता है। खुद के ज्योति स्वरूप में सब झलकता है। उसके लिए अब कोई ऐसी क्रिया नहीं करनी है, सबकुछ यों ही अपने आप झलकता है उसमें।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् आपने यह जो ज्योति स्वरूप कहा है उसमें झलकता है, वह ठीक है लेकिन यह जो ज्ञाता-दृष्टा रहना है, वह ज्योति स्वरूप को रहना है?

दादाश्री : वही। जिसमें झलकता है, वही ज्ञाता-दृष्टा है। वह ज्योति स्वरूप है, ज्ञायक है। शुद्धात्मा है। वही का वही, एक का एक ही है, उसमें दूसरा कोई नहीं है। सिर्फ ज्ञेय जुदा है। जो विचार आते हैं खराब और अच्छे, वे दोनों ही ज्ञेय हैं। वे ज्ञेय अलग हैं और फिर बुद्धि भी ज्ञेय है, मन भी ज्ञेय है, अहंकार भी ज्ञेय है। यह पूरा ही जगत् ज्ञेय है।

तो महावीर भगवान खुद उस ज्ञेय को, *पुद्गल* को ही देखते रहते थे। खुद ज्ञाता व ज्ञायक है और *पुद्गल* जो है वह ज्ञेय है।

ब्रह्मांड के अंदर और बाहर?

प्रश्नकर्ता : ब्रह्मांड के अंदर और ब्रह्मांड के बाहर से देखना, इसका क्या मतलब है? ज्ञेयों में तन्मयाकार हुआ तब ब्रह्मांड में है और ज्ञेयों को ज्ञेय के रूप में देखे, तब ब्रह्मांड से बाहर कहा जाता है, यह समझ में नहीं आया।

दादाश्री : ब्रह्मांड से बाहर देखने को ज्ञान कहते हैं!

प्रश्नकर्ता : ब्रह्मांड का मतलब क्या है?

दादाश्री : यह सारा ब्रह्मांड ही है न! यह सारा उसी का फोटो है न! मन में विचार आया, और उसमें तन्मयाकार हो गया तो ब्रह्मांड में है। मन में विचार आया और तन्मयाकार नहीं हुआ तो ब्रह्मांड से बाहर कहलाता है।

पूरा जगत् ज्ञेयों में ही तन्मयाकार है न! जो विचार आते हैं न, जगत् उन्हीं में तन्मयाकार हो जाता है। जबकि आप देखते हो कि क्या विचार आ रहे हैं और क्या नहीं!

प्रश्नकर्ता : और ब्रह्मांड से बाहर का मतलब क्या है?

दादाश्री : खुद के स्वरूप में रहना!

प्रश्नकर्ता : हाँ, ज्ञेय और अवस्था, दोनों एक ही हैं या दोनों नाम अलग-अलग हैं?

दादाश्री : वह सब एक ही है। सभी ज्ञेय अवस्था हैं। अवस्था ही ज्ञेय हैं। जैसे-जैसे बहुत सारे ज्ञेय दिखने लगते हैं, वैसे-वैसे ज्ञातापद मज़बूत होता जाता है और जब सर्व ज्ञेयों का ज्ञाता बन जाए, तब केवलज्ञान कहलाता है।

ज्ञेय-ज्ञाता का संबंध

निरंतर ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव का ही है। जो आत्मा दिया था न, शुद्धात्मा, उसका स्वभाव ही ज्ञायक है। ज्ञेय हाज़िर हुआ कि यह ज्ञायक खुद अपनी जागृति दिखाता है।

प्रश्नकर्ता : हाँ, तो इसे व्यवहार में किस तरह उतारें?

दादाश्री : व्यवहार में ही है यह। यह व्यवहार ज्ञेय है और निश्चय ज्ञायक है। दोनों का संबंध यही है। व्यवहार–निश्चय का ही संबंध है। व्यवहार में ज्ञेय के अलावा कोई भी चीज़ नहीं है। व्यवहार में कोई ज्ञाता नहीं है और निश्चय में ज्ञाता के अलावा अन्य कोई चीज़ नहीं है।

प्रश्नकर्ता : वह तो ठीक से समझ में आ गया। तो व्यवहार में जब पाँच–छ: कार्य इकट्ठे हो जाते हैं तो ज्ञाता–दृष्टा का भाव चला जाता है उसके बाद कुछ समय में वापस आ जाता है।

दादाश्री : नहीं, चला नहीं जाता। वह तो ऐसा भासित होता है। वह चला नहीं जाता।

प्रश्नकर्ता : दूसरी विभाव दशा में तन्मयाकार हो जाते हैं?

दादाश्री : चला नहीं जाता। ऐसा है न कि यहाँ पर लाइट हो लेकिन अगर हम सो जाएँ तो हमें अंदर अंधेरा दिखता है। ज़रा डोज़िंग हो जाए इसका मतलब लाइट कहीं चली नहीं गई है। लाइट तो उतनी ही प्रकाशमान है। अर्थात् यह जो व्यवहार है, वह पूरा ज्ञेय स्वरूप से है और निश्चय ज्ञायक स्वरूप से है। अब दोनों के बीच संबंध स्थापित हो गया। ज्ञेय–ज्ञाता का संबंध हो गया यह।

निरंतर ज्ञाता–दृष्टा वही केवलज्ञान

प्रश्नकर्ता : अब शुद्धात्मा की जागृति और ज्ञाता–दृष्टा भाव बहुत रहता है। जब ज्ञाता–दृष्टा भाव में रहता हूँ तब उस समय मैं कुछ अलग ही चीज़ हूँ, ऐसा अनुभव होता है और ठंडक महसूस होती है।

दादाश्री : ऐसा तो लगेगा ही न! इसकी तो बात ही अलग है, ऐसा लगता है और तब हमें ठंडक बहुत महसूस होती है। वह तो केवलज्ञान की ठंडक कहलाती है। कोई-कोई महात्मा तो केवलज्ञान की ठंडक अनुभव कर सकता है। अपने कई महात्माओं को तो कई बार अंदर ऐसे-ऐसे क्षण आते हैं कि तब ऐसा भी बोलते हैं कि 'मैं केवलज्ञान स्वरूप हूँ'। बोल सकते हैं, क्योंकि किसी-किसी समय केवलज्ञान स्वरूप में आ जाता है व्यक्ति। एक-एक अंश करके भाग उत्पन्न हुआ है। अब जैसे-जैसे अंदर की उधारी चुकता होगी और बैंक से जितने ओवरड्राफ्ट लिए हैं, जैसे-जैसे वे सब चुकता होते जाएँगे, वैसे-वैसे यह सब समझ में आता जाएगा।

संपूर्ण ज्ञाता-दृष्टा तो हो गए हैं सभी, लेकिन निरंतर ज्ञाता-दृष्टा रह पाएँ तो केवलज्ञानी। निरंतर रहना चाहिए।

वह तो ऐसा है न कि जो संपूर्ण रूप से ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं, वे केवलज्ञानी हैं। लेकिन अंशिक रूप में रहता है न, तो थोड़े-थोड़े अंश करके बढ़ता जाता है। जैसे-जैसे कर्मों का *निकाल* होता जाता है, वैसे-वैसे केवलज्ञान के अंश बढ़ते जाते हैं। अत: उसमें कोई भी दखल नहीं है। यही रास्ता है। यही हाइवे है। जैसे-जैसे ये फाइलें कम होती जाती हैं, वैसे-वैसे ज्ञाता-दृष्टापन का अनुपात बढ़ता जाता है। बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान तक पहुँचता है। एकदम से नहीं हो जाता।

ज्ञाता-दृष्टा को नहीं है कोई परेशानी

ज्ञाता-दृष्टा बन जाए तो व्यवस्थित उसका सभी कुछ सुचारू रूप से चला लेता है। देखो, मेरा दिया हुआ नहीं है और आपका लिया हुआ नहीं है। आपका आपके पास है। सिर्फ व्यवहार को एक्सेप्ट करना पड़ता है।

प्रश्नकर्ता : आपने जो व्यवहार की बात की है, वह व्यवहार किसे करना है?

दादाश्री : देखनेवाले को! जो ज्ञाता-दृष्टा है न, उसी को देखना है कि यह फिल्म ऐसी है।

प्रश्नकर्ता : हाँ, उसे सिर्फ देखना ही है?

दादाश्री : और क्या होगा? व्यवहार को सिर्फ देखना ही है। देखनेवाले को ऐसा नहीं रहता कि यह खराब है या अच्छा है। यह तो बुद्धि को लगता है, देखनेवाले को ऐसा नहीं रहता। फायदे–नुकसानवाली बुद्धि, वह ऐसा कहती है कि 'अच्छा और बुरा है।' लेकिन देखनेवाले को ऐसा कुछ नहीं रहता।

अर्थात् ज्ञाता–दृष्टा बनने में कोई हर्ज नहीं है। दृश्य और दृष्टा दोनों अलग ही रहते हैं। दृश्य कभी भी दृष्टा से चिपक नहीं पड़ता। हम होली देखें तो होली से आँखें नहीं जल जाती। यानी कि देखने से जगत् बाधक नही रहता। देखने से तो आनंद होता है।

आत्मा को नहीं है ज़रूरत किसी की

प्रश्नकर्ता : आत्मा और प्रकृति के गुण बिल्कुल भिन्न हैं?

दादाश्री : अलग ही हैं न!

प्रश्नकर्ता : जब हम कहते हैं कि शुद्धात्मा सिर्फ ज्ञाता–दृष्टा है, तब, 'दृष्टा है' वह बात समझ में आती है लेकिन जब ऐसा कहते हैं कि 'आत्मा ज्ञाता है' तब आत्मा कौन से माध्यम द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है? आत्मा प्रकृति के माध्यम का उपयोग तो नहीं करता होगा न?

दादाश्री : किसी का भी उपयोग तो नहीं करता लेकिन किसी से मदद भी नहीं माँगता। आत्मा स्वतंत्र है। आत्मा परमात्मा है। उसकी खुद की अनंत शक्तियाँ हैं। आत्मा को किसी और के पास से ज्ञान नहीं लेना पड़ता। जिसकी बॉडी ही ज्ञान है, वह खुद ही ज्ञान स्वरूप है, विज्ञान स्वरूप है, फिर उसे किसी के मारफत ज्ञान लेने का रहा ही कहाँ?

प्रश्नकर्ता : हम जब प्रकृति को दृष्टा के रूप में देख रहे होते हैं वह ठीक है लेकिन जब हम उसके ज्ञाता रहें तो उस समय प्रकृति का कोई भी माध्यम, कोई भी विचार हो या

अन्य कोई भी उसके गुण, उसके माध्यम से ही हमें जानपना आता है। नहीं तो हमें जानपने में कैसे आ सकता है?

दादाश्री : नहीं। खुद स्वभाव से ही जानपनेवाला है। यह जो जानपना प्रकृति में आता है न, वह आत्मा में से आरोपण किया हुआ है। वह तो खुद के जानपने में से आरोपण करके प्रकृति में आए, तब वह प्रकृति का जानपना है। यह बुद्धि खुद का ही आरोपण है, और कुछ भी नहीं है। अत: आत्मा के अलावा अन्य किसी भी जगह पर जानपना है ही नहीं। यहीं पर सारा जानपना उत्पन्न हुआ है। ये जो ज्ञाता-दृष्टा, दो गुण हैं वे आत्मा के ही गुण हैं। इसके अलावा अन्य किसी भी जगह पर ज्ञाता-दृष्टा नहीं है और प्रकृति जो जानती है, वह आत्मा के आरोपण से जानती है। और कुछ भी नहीं है। प्रकृति में जानपना है ही नहीं न!

प्रश्नकर्ता : इसका मतलब क्या हुआ? आरोपण नहीं करना है?

दादाश्री : 'नहीं करना है,' वह भाषा ही गलत है।

प्रश्नकर्ता : तो फिर अब यह ज्ञाता-दृष्टा किस प्रकार से रहना है? प्रकृति के किसी भी माध्यम या कोई भी सहारा लिए बगैर डायरेक्ट ज्ञाता-दृष्टा किस प्रकार से रहें?

दादाश्री : उसका स्वभाव ही ज्ञाता-दृष्टा है। वह आपको समझना है। ज्ञाता-दृष्टा को आप अपनी भाषा में समझे हो।

प्रश्नकर्ता : दादा, हम जो कहते हैं कि आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है तो वह ठीक है। अब आत्मा यदि ज्ञाता-दृष्टा है तो क्या वह सूक्ष्म शरीर की मदद से ज्ञाता-दृष्टा रहता होगा?

दादाश्री : नहीं। यह जो दर्पण होता है न, वह खुद रखा हुआ हो और हम उसके सामने जाएँ तो दर्पण में हम दिखाई देंगे या नहीं दिखाई देंगे? उसमें क्या दर्पण को कुछ करना पड़ता है? उसी प्रकार आत्मा में झलकता है यह सब। यह जो दर्पण है वह अचेतन है और आत्मा चेतन है। चेतन में सब झलकता है। इसलिए खुद को पता चलता है कि अंदर यह क्या हुआ, कौन-कौन दिख रहा है। ऐसा ज्ञाता-दृष्टा है। अंतिम ज्ञाता-दृष्टा इस प्रकार से है।

प्रश्नकर्ता : अंतिम ठीक है लेकिन अभी मान लीजिए कि मैं कोई कार्य कर रहा हूँ, मैं देख रहा हूँ तो क्या मुझे ऐसा रहेगा कि ये चंदूभाई कर रहे हैं?

दादाश्री : हाँ।

प्रश्नकर्ता : लेकिन मेरे दिमाग में ऐसा आता है कि चंदूभाई कुछ कर रहा है, उसे यह बात समझानेवाला कौन है? उस समय मन-चित्त सभी हाज़िर हो जाते हैं।

दादाश्री : वह सब *पुद्गल* कहलाता है और यह चेतन कहलाता है। इस चेतन में जिसे आत्मा कहते हो न, वह आत्मा नहीं करता। आत्मा में से एक शक्ति है, जो प्रज्ञा नामक शक्ति है, वह उसमें से बाहर आती है। प्रज्ञाशक्ति से दिखाई देता है वह सब। यह प्रज्ञाशक्ति आत्मा में से निकलती है। उस प्रज्ञाशक्ति का काम क्या है? किस प्रकार से 'उसे' मोक्ष में ही ले जाए, उसी के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहती है। वह सावधान करती है। अब उसके सामने दूसरी शक्ति कौन सी? तो वह है 'अज्ञाशक्ति।' जिसे हम बुद्धि कहते हैं न, वह अज्ञाशक्ति है। वह मोक्ष में जाने ही नहीं देती। उलझा-उलझाकर हमें अंदर ही अंदर ले आती है, अपने घेरे में। अब प्रज्ञाशक्ति क्या करती है? बुद्धि जो उलझा-उलझाकर ले गई है, उसे वह दूसरी ओर ले जाती है।

प्रश्नकर्ता : तो इसका मतलब प्रज्ञाशक्ति के माध्यम से ही ज्ञाता-दृष्टा रह पाते हैं?

दादाश्री : बस, प्रज्ञाशक्ति से ही। आत्मा से नहीं।

जो ज्ञाता-दृष्टा रहा, वही वीतराग

प्रश्नकर्ता : हम चर्चा कर रहे थे कि संपूर्ण रूप से ज्ञाता-दृष्टा कौन रह सकता है? तब मैंने कहा कि 'जो वीतराग हो वही संपूर्ण ज्ञाता-दृष्टा रह सकता है, वर्ना नहीं रह सकता।' तब इनका कहना ऐसा था कि 'नहीं, वीतराग नहीं हों, फिरभी ज्ञाता-दृष्टा रहा जा सकता है।'

दादाश्री : नहीं, वीतराग का अर्थ ऐसा नहीं है। वीतराग अर्थात्, जितने समय तक ज्ञाता-दृष्टा रहे, उतने समय तक वह वीतराग रहा। और संपूर्ण रहे तो संपूर्ण वीतराग,

बस। अर्थात् ज्ञाता–दृष्टापना, वही वीतरागपना है। वीतराग अर्थात् वह थोड़ी देर, पंद्रह मिनट के लिए भी अगर ज्ञाता–दृष्टा रहा तो उतने समय तक वीतराग।

प्रश्नकर्ता : संपूर्ण रूप से राग–द्वेष चले जाएँ तो अधिक ज्ञाता–दृष्टापना आएगा न? वह ठीक है या नहीं?

दादाश्री : राग–द्वेष तो गए हुए ही हैं, उन्हें निकालना कहाँ हैं?

प्रश्नकर्ता : हाँ, वे तो ज्ञान लेने के बाद गए।

दादाश्री : अहंकार गया इसका मतलब ही है कि राग–द्वेष गए। अब जो राग–द्वेष हैं, वे डिस्चार्ज राग–द्वेष हैं। अब चार्ज राग–द्वेष तो मानो चले ही गए हैं। फिर राग–द्वेष जाने का सवाल ही कहाँ रहता है? अब जितना आपका उपयोग शुद्ध रहेगा उतना ही आप ज्ञाता–दृष्टा और अगर उपयोग शुद्ध न रहे और इसी में उलझा रहेगा तो उतना वह ज्ञाता–दृष्टा नहीं रह पाएगा।

अंत:करण को जाने और देखे, वह उच्च बात है

अर्थात् ज्ञाता–दृष्टा का सब से बड़ा अर्थ वह है। अंदर खुद क्या कर रहा है, मन–बुद्धि–चित्त और अहंकार, ये सब क्या कर रहे हैं, उन सब को सर्वस्व प्रकार से जाने और देखे, बस। और कुछ नहीं।

आप आत्मा ही हो और ज्ञाता–दृष्टा हो। यह हो या वह हो, आपका ज्ञाता–दृष्टापन यदि ज़रा सा भी छोड़ा तो अंदर परेशानी होगी। आप जो हो वह हो! यह तो जो ज्ञान दिया है, 'हम शुद्धात्मा हैं' वह ज्ञान तो वैसे का वैसा ही रहना चाहिए।

प्रश्नकर्ता : *'केवल निज स्वभाव का अखंड बरते ज्ञान।'* तो आपने जैसा कहा है, अब आत्मा में ही पूरे दिन रहा करते हैं, तो उसी को '*अखंड ज्ञान बरते*' कहा जाता है?

दादाश्री : वे कुछ और कहना चाहते हैं। 'केवल निज स्वभाव का अखंड बरते ज्ञान' अर्थात् निरंतर ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव, उसके अलावा अन्य कुछ भी न रहता है, उसके लिए

कहना चाहते हैं। अभी तो अपने से दूर है ज़रा। वह पद दूर है।

विनाशी जग के साथ आत्म संबंध

प्रश्नकर्ता : आत्मा के बारे में समझने के बाद, इस जगत् की विनाशी चीज़ों के साथ आत्मा का क्या संबंध है?

दादाश्री : सिनेमा देखने गए हो आप कभी? तो हमारा सिनेमा के साथ क्या संबंध है? वह जो होता है, वहाँ पर कपड़े का बड़ा पर्दा होता है, उस पर्दे के साथ हमारा कोई संबंध है? क्या संबंध है अपना?

प्रश्नकर्ता : सिर्फ देखने का।

दादाश्री : बस तो फिर, उसी तरह यह सब भी सिर्फ देखना ही है। और कोई संबंध नहीं है। नहीं देखेंगे तो आत्मा गायब हो जाएगा। इसलिए देखना ही पड़ता है। ज्ञेय नहीं होंगे तो ज्ञाता नहीं रहेगा। ज्ञेय की उपस्थिति ही ज्ञाता की उपस्थिति सूचित करती है।

सिनेमा चले, तभी तक देखनेवाले की क़ीमत है, वर्ना अगर सिनेमा बंद हो तो देखनेवाले की क़ीमत नहीं है।

ऐसे रहता है ज्ञाता-दृष्टा का लिंक

प्रश्नकर्ता : आज नित्यक्रम में बैठा था तो तब सात मिनट तक मेरा *लक्ष* चूक गया था, वीतराग के ध्यान की तरफ का! टूट जाने के बाद मुझे खयाल आ गया कि 'मैं अनंत शक्तिवाला हूँ' और 'मैं अनंत शक्तिवाला' शब्द दस मिनट तब बोला और....

दादाश्री : अंदर *लक्ष* की लिंक टूट जाए, तब हमें बोलना पड़ता है कि 'मैं अनंत शक्तिवाला हूँ' या 'अनंत दर्शनवाला हूँ' ऐसा बोलने पर तो फिर से फिट हो जाता है। ये सभी लिंक पौद्गलिक हैं और वे ज्ञेय स्वरूप से हैं।

प्रश्नकर्ता : ऐसा हो सकता है क्या?

दादाश्री : हाँ, हो सकता है। ऐसा तो कई बार होता है। और वह ज्ञेय स्वरूप से है लेकिन कभी लिंक टूट जाती है। ज्ञाता तो है ही। लिंक टूट जाए, तब अगर हम बोलें तो फिर से लिंक शुरू हो जाएगी।

लिंक का टूट जाना तो पता चलता है, उसका ज्ञाता हूँ और लगातार रहती है तो उसका भी ज्ञाता हूँ। हम ज्ञाता स्वरूप हैं। बस, जानना ही चाहिए। हम सिनेमा देखने गए हों और वहाँ पर एकदम से फिल्म बंद हो जाए और कोई परेशानी आ जाए तो हमें जानना है कि बंद हो गई और फिर शुरू हो गई तो जानना है कि शुरू हो गई। उससे हमें कोई लेना-देना नहीं है!

देखो *तरंगों* को फिल्म की तरह

प्रश्नकर्ता : ज्ञाता-दृष्टा पद में सदैव रहा जा सकें, ऐसी कृपा कीजिए न!

दादाश्री : ऐसी ही कृपा रहती है। ज्ञाता-दृष्टापद में ही रहता है, सदैव। लेकिन यह ज्ञान की ज्योत धुँधली हो जाती है न इसलिए ऐसा लगता है आपको। बाकी, वह तो ज्ञाता-दृष्टापद में ही है हमेशा।

यह ज्योत धुँधली हो जाती है, ऐसा किसने जाना? वही मूल आत्मा है। अत: निरंतर ज्ञाता-दृष्टापद में ही अनुभव रहता है। कभी-कभी अंदर *तरंगे* (शेखचिल्ली जैसी कल्पनाएँ) आती हैं न, उन्हें देखना है। अभी ऐसा है कि आत्मा ज्ञायक स्वभाव का है और ज्ञेयों को देखने व जानने का इसका स्वभाव है, तो अगर सामने ज्ञेय नहीं होगा तो क्या होगा? ज्ञायकता बंद हो जाएगी। अत: ये *तरंगे* वगैरह सभी ज्ञेय हैं, उन्हें देखते रहना है। वे *तरंगे* चाहे तभी के तभी काम में आएँ ऐसी हों या काम में न आएँ ऐसी हों, वे विरोधी स्वभाव की हों या शास्त्रज्ञान से विरुद्ध हो, फिर भी उन्हें सिर्फ देखना ही है। उन पर द्वेष नहीं करना है। अपना विज्ञान ज़रा अलग प्रकार का है। अपना अक्रम विज्ञान ऐसा है कि पूरी तरह से छूटा जा सके।

प्रश्नकर्ता : सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम निदिध्यासन में कोई अंतर है या नहीं? उसमें तो अतीन्द्रिय रह गया न बिल्कुल।

दादाश्री : कौन सा?

प्रश्नकर्ता : सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम निदिध्यासन तो पूरा अतीन्द्रिय हुआ न?

दादाश्री : वह सारा तो अतीन्द्रिय ही है। अपना माल अतीन्द्रिय ही है।

प्रश्नकर्ता : तो उसी को अखंड जागृति कहते हैं?

दादाश्री : अखंड जागृति ही है यह। वह संपूर्ण रूप से प्रकाशमान हो जाए तब केवलज्ञान कहलाता है।

सामने की तरफ जो देखना था वह नहीं दिखाई देता, बीच में अंतराय आ जाते हैं। अपनी यह संसारी फिल्म आ जाती है बीच में। जब संसारी फिल्म नहीं रहे न, तब टंकी खाली हो जाती है, और भी मज़ा आता है।

प्रश्नकर्ता : तो सामने क्या देखना होता है?

दादाश्री : सामने की तरफ वास्तविक ज्ञेय है।

प्रश्नकर्ता : इसका मतलब?

दादाश्री : यह वास्तविक ज्ञेय नहीं है। ये तो अपने कर्म के उदय हैं सारे। जिन्हें वास्तविक ज्ञेय कहा जाता है, वहाँ पर उस वास्तविक ज्ञेय में दिखता है हमें!

प्रश्नकर्ता : वास्तविक ज्ञेय में क्या जाना जा सकता है?

दादाश्री : वह बाद में समझ में आएगा। अभी एकदम से जल्दबाज़ी नहीं करनी है।

प्रश्नकर्ता : वास्तविक ज्ञेय में द्रव्य-गुण-पर्याय की बातें आती हैं?

दादाश्री : हाँ।

प्रश्नकर्ता : ज्ञेय में तन्मय हो गए, ज्ञेयों को जाननेवाले नहीं रहे तो वे फिर विभाव में ही रचे–बसे रहे, ऐसा नहीं हो जाएगा?

दादाश्री : नहीं, नहीं, नहीं। यह ज्ञान ही ऐसा है कि विभाव में रचा–बसा नहीं रह सकता क्योंकि देखनेवाला हाज़िर रहता है। देखनेवाला और जाननेवाला हाज़िर रहता है क्योंकि विभाविक नहीं है वह। खुद स्वभाविक है। यह विज्ञान ही ऐसा है कि विभाव उत्पन्न ही नहीं होता। विज्ञान तो, एक्ज़ेक्ट जुदा हो गया है, ऐसा विज्ञान है। उसे कुछ भी नहीं हो सकता। कुछ भी स्पर्श नहीं करता, कुछ भी बाधा नहीं डाल सकता, दूसरी चीज़ों का कुछ ज़ोर आ जाता है। वह कितने दिनों तक रह सकता है? वह टेम्परेरी है और हम परमानेन्ट है। ज़ोर लगानेवाले कौन हैं? टेम्परेरी हैं। तुझे जो करना हो भाई वह कर न! हम परमानेन्ट हैं। टेम्परेरी परमानेन्ट का क्या बिगाड़ सकता है? देखने जाएँ तो पूरे शरीर में परमानेन्ट सिर्फ हम खुद ही हैं।

प्रश्नकर्ता : एक पल के लिए उसका चलित भाव आ जाता है। फिर तुरंत ही वापस सेट हो जाता है।

दादाश्री : हाँ, बहुत समय का अभ्यास है न, इसलिए ज़रा स्लिप हो जाते हैं। फिर समझ जाना है कि 'इसमें और कोई नहीं है, हम खुद ही हैं।' बात ऐसी ज़रूर है कि इंसान स्लिप हो जाए क्योंकि बहुत समय से यही की यही तोड़–फोड़, तोड़–फोड़ है सारी। यह तो इस विज्ञान ने रोककर रखा है। यह विज्ञान है न, सभी में सफलता देता है। संपूर्ण सफलता देता है।

स्व को स्व जाने वह महामुक्त

जानते रहना, वह अपना स्वभाव है। बिगड़ते रहना, वह *पुद्गल* का स्वभाव है। जाननेवाला एक ही है। जानने की चीज़ें अनंत हैं। अन्य को अन्य जाने, वह मुक्त है। अन्य को अन्य जाने और स्व को स्व जाने वह महा मुक्त! जब अन्य को अन्य जाने, उस समय

मन–वचन–काया का योग यदि कंपायमान नहीं हो तो वह स्व को स्व जान सकता है और यदि कंपायमान हो जाए तो ऐसा नहीं कहा जा सकता कि 'स्व' को 'स्व' जाना है।

प्रश्नकर्ता : 'जब अन्य को अन्य जाने, उस समय यदि मन–वचन–काया का योग कंपायमान नहीं हो तो वह 'स्व' को 'स्व' जानता है।' यह समझाइए न! इसमें दादा क्या कहना चाहते हैं?

दादाश्री : स्व अर्थात् आत्मा और पर अर्थात् यह *पुद्गल*। वह अन्य चीज़ है। उसे जब अन्य जानेंगे उस समय जो मन–वचन–काया जो कि अंदर *पुद्गल* में ही हैं, वे कंपायमान (कंपित) नहीं होते तो ऐसा कहा जाएगा कि 'स्व' पूर्ण हो गया। कंपायमान हो जाएँ तो 'स्व' में नहीं आया है। अर्थात् कंपायमान को जाननेवाला यदि कच्चा होगा तो कंपायमान हुए बगैर रहेगा नहीं और यदि सच्चा होगा तो कंपायमान नहीं होगा। इसलिए अपने ये महात्मा कंपायमान नहीं होते क्योंकि अक्रम विज्ञान से बैठ चुके हैं, अर्थात् लिफ्ट में बैठ चुके हैं।

दृश्य और दृष्टा, दोनों सदा भिन्न

देखने व जानने से किसी भी असर का स्पर्श नहीं होता। कोई अपमान दे और उसके प्रति अभाव हो जाए, उस अभाव को जो देखे, वह महावीर है। कोई मान दे और अच्छा भाव हो जाए और उस भाव को जो देखता है, वह महावीर है। आप तो कहते हो कि 'ये भाव और अभाव होने ही नहीं चाहिए।' वह बात योग्य नहीं है।

देखनेवाला और देखने की चीज़ कभी एक नहीं हो सकते। अगर एक हो जाएँ तो आत्मा नहीं कहलाएगा कभी भी।

प्रश्नकर्ता : तो इसका मतलब यह है कि दो काम एट ए टाइम होने चाहिए?

दादाश्री : दो काम होंगे तभी आत्मा माना जाएगा न, नहीं तो कैसे माना जाएगा?

प्रश्नकर्ता : वह कैसे?

दादाश्री : सिर्फ देखनेवाला ही हो, लेकिन दृश्य नहीं हो तो वह देखेगा क्या? अर्थात् देखनेवाला वहाँ पर बंद हो जाता है। यानी कि दोनों होने चाहिए, देखने की चीज़ और जानने-देखनेवाला, दोनों होने चाहिए। एक से काम हो ही नहीं सकेगा न!

प्रश्नकर्ता : नहीं हो सकता लेकिन इसमें पढ़ना और बातें करना, ये दोनों चीज़ें क्यों कही गई हैं?

दादाश्री : उसमें आत्मा तो वही का वही है न! सभी में आत्मा ही है न! आत्मा देखता और जानता है, जो कुछ भी करें उसमें। करनेवाला करता है लेकिन अगर वह नहीं होगा तो आत्मा करेगा क्या?

प्रश्नकर्ता : और इन दोनों के बिना तो यह दुनिया हो ही नहीं सकती न!

दादाश्री : उपस्थिति ही नहीं होगी। आत्मा होगा ही नहीं वहाँ पर।

प्रश्नकर्ता : मतलब?

दादाश्री : देखनेवाला एक हो जाए तो आत्मा नहीं रहेगा। सिर्फ देखनेवाला रहे और देखने की चीज़ न हो, तो देखनेवाला बंद हो जाएगा फिर। उसकी उपस्थिति ही नहीं रहेगी।

प्रश्नकर्ता : दिखाई देनेवाली चीज़ के आधार पर देखनेवाला है?

दादाश्री : हाँ, तभी हो सकता है न!

प्रश्नकर्ता : ज्ञेय तो जगत् में रहनेवाले हैं ही न?

दादाश्री : लेकिन लोग ज्ञेय को हटाते हैं। ज्ञेय को हटाते हैं इसलिए आत्मा भी हट जाता है। दोनों होने चाहिए। व्यवहार ज्ञेय है और आत्मा ज्ञाता है।

मन तो फिल्म दिखाता है, उसका हमें ज्ञाता-दृष्टा रहना है। सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम संयोगों के ज्ञाता-दृष्टा रहना है।

प्रश्नकर्ता : दादा उसका *निकाल*, वह डिस्चार्ज जल्दी नहीं हो सकता?

दादाश्री : वह फिल्म जल्दी पूरी हो जाएगी तो क्या होगा? देखनेवाले को घर जाना पड़ेगा। इसलिए कहते हैं कि धीरे–धीरे होने दो, जल्दबाज़ी मत करना।

प्रश्नकर्ता : दादा, एक तरह से आपकी बात चाहे ठीक ही है लेकिन अगर आपके जैसा देखें, जो अंदर का आनंद है, वह अगर ज़्यादा दिख जाए तो ज्ञाता–दृष्टा पद एकदम से शुरू हो जाएगा।

दादाश्री : हाँ, हाँ। लेकिन जब हम आँखों से नहीं देख पाएँ तो चश्मे लेकर घूमते हैं कि दादा हैं न साथ में। दादा अपना चश्मा है और अब इसके ज्ञाता–दृष्टा हो गए हैं हम, 'चंदूभाई क्या कर रहे हैं और क्या नहीं' यही एक काम रहा है न, अब आपके पास! और कुछ नहीं है न?

तो जब यह फिल्म पूरी हो जाएगी तब जो इन्टरिम गवर्मेन्ट है, वह फुल गवर्मेन्ट बन जाएगी। जब तक फिल्म देखते हैं तब तक इन्टरिम गवर्मेन्ट है।

सिर्फ देखने और जाननेवाला कहलाता है ज्ञायक

'यह माला पहनी है,' लोग उसे देखते हैं। उन देखनेवालों को मन में ऐसा लगता है कि 'इसने यह क्या पहना है?' और हम भी हँसते हैं कि 'ओहोहो, इसने क्या पहना है?' हमें हँसना नहीं आएगा कि ये अंबालाल भाई क्या पहनकर घूम रहे हैं? खुद खुद का जानकार रहे, तो उसे दूसरे जानकार की ज़रूरत नहीं रहेगी।

प्रश्नकर्ता : सही सूत्र है।

दादाश्री : हाँ, इतना ही बहुत है। और बहुत आगे जाने की ज़रूरत नहीं है।

प्रश्नकर्ता : ज्ञाता और ज्ञायक में कोई फर्क है क्या?

दादाश्री : जब सिर्फ जाननेवाला ही काम करता रहता है, तब वह ज्ञायक कहलाता है। वर्ना अगर वह काम नहीं कर रहा हो तब ज्ञाता तो कहलाता ही है। काम नहीं कर रहा हो, तब भी ज्ञाता तो कहलाता है। ज्ञाता, वह ज्ञाता है और ज्ञेय, वह ज्ञेय है और ज्ञायक जब सत्ता में रहता है तब ज्ञायक कहलाता है। सत्ता अर्थात् जब काम कर रहा हो, उस समय। ऐसा क्यों पूछना पड़ा?

प्रश्नकर्ता : नहीं, मैंने एक जगह ऐसा पढ़ा था कि 'मैं ज्ञायक हूँ'।

दादाश्री : घर पर चंदूभाई कहलाता है और ऑफिस में जाए तब कहते हैं, 'मेजिस्ट्रेट आ गए!' नहीं कहते? तो क्या घर पर वह सेठ नहीं है? तो कहते हैं, नहीं, 'जहाँ-जहाँ जो शोभायमान हो, वही। हम हमेशा के लिए ज्ञाता-दृष्टा तो हैं ही!

ज्ञायक भाव, वही अंतिम भाव है

प्रश्नकर्ता : ज्ञायक और उपयोग, तो वह जो ज्ञायक भाव है वही उपयोग नहीं है?

दादाश्री : हाँ, वही उपयोग है लेकिन ज्ञायक भाव रहना चाहिए। ज्ञायक भाव आ गया तो वही उपयोग है। उपयोग अन्य कुछ नहीं है और ज्ञायक भाव नहीं रहा तो उसे कहते हैं कि 'उपयोग गया।'

प्रश्नकर्ता : तो ज्ञायक और जिज्ञासु में क्या फर्क है?

दादाश्री : बहुत है। ज्ञायक और जिज्ञासु में कोई संबंध ही नहीं है। अर्थात् जिज्ञासु तो न जाने कहाँ खड़ा है? ज्ञायक तो खुद परमात्मा बन गया। जिज्ञासु को तो गुरु बनाने पड़ेंगे, ढूँढते रहना पड़ेगा। जिज्ञासा उत्पन्न हुई है तो वह पुरुषार्थी बना है लेकिन ज्ञायक तो कहाँ है? ज्ञायक तो खुद ही भगवान है। जितने समय आप ज्ञायक रहते हो उतने समय तक आप हो भगवान। उतने समय तक केवलज्ञान के अंश इकट्ठे होते जाते हैं।

प्रश्नकर्ता : आपने हमें ज्ञायक बना दिया, इस स्थिति में रख दिया लेकिन अभी आपकी जो दशा है, हमारी दशा वैसी तो है ही नहीं न?

दादाश्री : नहीं, ऐसा है न, उस दशा को प्राप्त करनेवाले सभी लोग एक ही माने जाते हैं क्योंकि अवस्था की सारी आधि-व्याधि छूट जाती है।

प्रश्नकर्ता : हाँ, आधि-व्याधि तो पूरी तरह से निकल जाती है।

दादाश्री : तो बस, जिसमें आधि-व्याधि-*उपाधि* बाधक नहीं हो, वही ज्ञान सच्चा है। उसके बाद कोई किताब नहीं पढनी पड़ती, आगे जाकर कभी भी कच्चा न पड़े, वही ज्ञान सच्चा है। जिसे पढ़ते ही रहना पड़े उसका कब अंत आएगा?

'मैं करता हूँ' और 'मैं जानता हूँ' उसका मिक्सचर, उसी को ज्ञेय कहते हैं और 'मैं जानता हूँ' और 'करता नहीं हूँ,' वह है ज्ञायक भाव।

प्रश्नकर्ता : यह हिंसा है, यह अहिंसा है। यह अच्छा है, यह बुरा है, ये सभी द्वंद्व हैं तो ये द्वंद्व ज्ञायक को बरतते हैं या उन्हें सिर्फ देखते रहना है?

दादाश्री : उसके लिए तो सभी कुछ ज्ञेय ही है, ज्ञेय और दृश्य दो विभाजन कर दिए हैं। एक यह दृश्य है और यह ज्ञेय है। और कोई झंझट ही नहीं है।

प्रश्नकर्ता : फिर ज्ञायक को तो ऐसा भेद बरतता ही नहीं न कि यह अच्छा है या यह बुरा है।

दादाश्री : भेद जैसी चीज़ है ही नहीं न! ज्ञायक और देखनेवाले को भेद जैसी कोई चीज़ है ही नहीं। भेद जैसी चीज़ अंधों के लिए है। अहंकार अंधा है, इसलिए उसे ऐसा सब होता है कि यह अच्छा है और यह खराब है और यह जो देख सकता है उसे तो ऐसा कुछ है ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : आपने पूछा था कि आप हिंसा में हो या अहिंसा में हो? तो मैंने जवाब दिया कि अहिंसा में। तब मुझे अंदर हुआ कि अपने लिए हिंसा और अहिंसा है ही क्या?

वह ठीक है?

दादाश्री : ठीक है। हम शुद्ध हो जाएँ तो उसमें हर्ज ही नहीं है न! शुद्ध हो गए उसके लिए कुछ रहा ही नहीं न!

प्रश्नकर्ता : आपने हमें अकर्ता पद में रख दिया है, फिर हमें क्या?

दादाश्री : हाँ, ठीक है। खुद अकर्ता पद रखता है!

प्रश्नकर्ता : खुद एकदम से ज्ञायक स्वभाव में रहता है तो फिर चंदूभाई से किसी जीव की हिंसा हो जाए तो उसे कोई लेना-देना रहता ही नहीं है न?

दादाश्री : ज्ञायक को कोई लेना-देना नहीं रहता।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् आप ऐसा ही कहते हैं कि लेना-देना चंदूभाई को है। अत: अगर आपको प्रतिक्रमण करवाना हो तो चंदूभाई से करवाओ।

दादाश्री : जिससे हो गया है उसे लोग कहते हैं कि 'ये कैसे लोग हैं? इन्हें देखो न, इसे मार दिया आपने।' जिसने किया है, उसे कहते हैं लोग। ज्ञायक को कोई नहीं कहता। ज्ञायक को कर्म नहीं बंधता। ज्ञायक को कोई लेना-देना है ही नहीं। अर्थात् जिसने किया है उसी को हमें कहना है कि 'प्रतिक्रमण करना तू। अतिक्रमण क्यों किया? प्रतिक्रमण करो।'

प्रश्नकर्ता : क्या उस समय ज्ञायक को ऐसा भेद-अभेद रहता है कि यह हिंसा की या नहीं की?

दादाश्री : नहीं, हिंसा शब्द है ही नहीं। हिंसा नहीं है और अहिंसा भी नहीं है। ज्ञायक तो इतना ही जानता है कि इस दुनिया में कोई जीव मरता भी नहीं है और कोई मार भी नहीं सकता। मरता भी नहीं है और जीता भी नहीं है।

प्रश्नकर्ता : तो फिर प्रतिक्रमण क्यों करना है?

दादाश्री : प्रतिक्रमण तो, जिसने अतिक्रमण किया है उसके लिए है। वह व्यवहार से है, तो व्यवहार में लोग कहते हैं न कि 'भाई, बेअक़्ल हो या क्या?' और खुद को कहाँ प्रतिक्रमण करना है। जो अतिक्रमण करता है उसे प्रतिक्रमण करना है। खुद को तो कुछ करने को रहा ही नहीं है। प्रतिक्रमण नहीं करेंगे तो परमाणु शुद्ध होकर नहीं जाएँगे। उन्हें वापस शुद्ध करना पड़ेगा न।

प्रश्नकर्ता : जब हम ज्ञायक भाव में होते हैं तब चारित्रमोह में दोष रूपी कुछ दिखता है? चारित्रमोह में अच्छा या दोषवाला, ऐसा कुछ नहीं होता न?

दादाश्री : ज्ञायक भाव में कोई दोष नहीं दिखाई देता। ज्ञायक भाव अर्थात् अंतिम भाव। फिर देह चाहे कुछ भी कर रही हो लेकिन यदि वहाँ पर ज्ञायक भाव है, तो उसे कोई दोष नहीं लगेगा। लेकिन ऐसी तो जागृति होनी चाहिए न? ज्ञायक भाव क्या कोई लड्डू खाने के खेल हैं? वैसा तो सभी जगह गाते ही हैं न! जो इन आँखों से दिखाई देता है, वह सारा ज्ञायक भाव नहीं कहलाता। अंदर सूक्ष्म से सूक्ष्म दोष दिखने लगें, तब ज्ञायक भाव कहलाता है।

प्रश्नकर्ता : सूक्ष्म से सूक्ष्म दोष दिखाई दें, तो वे कैसे दोष दिखाई देते हैं?

दादाश्री : भले ही कैसा भी सूक्ष्म से सूक्ष्म, लोगों में उसे दोष माना ही नहीं जाता, वैसा। जब वैसे दोष दिखने लगें तब।

नहीं होता स्मृति का संग ज्ञायक को

प्रश्नकर्ता : 'जानपने के इस तरफ ज्ञेय है, और जानपने की दूसरी तरफ की कुछ बातें सुनने का मन करता है, वह बताइए।

दादाश्री : वह ज्ञायक कहलाता है।

प्रश्नकर्ता : जो ज्ञायक होता है उसके लिए ज्ञेय अनेक प्रकार के होते हैं या नहीं?

दादाश्री : जो ज्ञायक है वह अनंत ज्ञानवाला है, इसलिए ज्ञेय भी अनंत हैं। ज्ञायक स्वभाव कैसा है? अनंत ज्ञानवाला है। क्यों अनंत ज्ञान भाग है? क्योंकि ज्ञेय भी अनंत हैं, इसलिए।

प्रश्नकर्ता : अब ज्ञायक भाव को स्मृति का संग नहीं है, ज्ञायक भाव का कोई आधार ही नहीं होता।

दादाश्री : आधार की ज़रूरत नहीं है।

प्रश्नकर्ता : हाँ, तो वहाँ पर फिर क्या है? ज्ञायक से आगे क्या है?

दादाश्री : कुछ भी नहीं है। खुद ज्ञायक है, जाननेवाला खुद है, सभी कुछ खुद ही है और खुद, खुद को जानता है क्योंकि यह दर्पण जैसा है, अंदर पूरी दुनिया दिखाई देती है। प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

प्रश्नकर्ता : हाँ, वह तो जानपना है।

दादाश्री : ज्ञायक।

प्रश्नकर्ता : ज्ञायक। लेकिन उसमें ज्ञायक आया और जब हम ज्ञायक से आगे जाएँ तब क्या होता है?

दादाश्री : आगे नहीं है। यह ज्ञायक भी कल्पित व्यवहार के लिए ही है। बाकी, ज्ञायक भी नहीं है वह। वहाँ तो कोई शब्द है ही नहीं। वह तो अभी जब तक हम व्यवहार में हैं, तभी तक है। वहाँ पहुँचने तक। अपने हिस्से में यह आया है और जब वह हिस्सा नहीं रहेगा, तब वह 'खुद' ही रहेगा।

प्रश्नकर्ता : चंदूभाई को पिछली स्मृति का संग है, चंदूभाई को इस स्मृति का संग है ऐसा जानना, वह ज्ञायकपना है?

दादाश्री : मेमरी का बेसमेन्ट क्या है? राग-द्वेष। अभी तक, जब तक वह सबकुछ राग-द्वेष से देख रहा था, तब तक मेमोरी थी। अब वह उस मेमोरी को जिस राग-द्वेष से

देख रहा था, उसे भी वह खुद वीतरागता से देखता है।

प्रश्नकर्ता : अब वीतरागता से देखता है तो वह ज्ञायकपना है?

दादाश्री : हाँ, वह ज्ञायकपना है।

प्रश्नकर्ता : अब ज्ञायकपना और वीतरागता है, तो फिर उसके बाद इस तरफ कुछ भी नहीं है?

दादाश्री : इस तरफ पीछे कुछ भी नहीं है। यह अंतिम शब्द है। शब्द के रूप में अंतिम है 'खुद'। उसके बाद कुछ भी नहीं है, वह खुद, खुद ही है। उसका कोई भाग नहीं है, विभाजन नहीं है, कुछ भी नहीं है।

प्रश्नकर्ता : तो इसमें उसे हम इस तरह से कह सकते हैं कि ज्ञायक यों देखे तो संसार है और इस तरफ देखे तो परमात्मा है, ऐसा कह सकते हैं?

दादाश्री : नहीं। ज्ञायक को संसार दिखाई ही नहीं देता। संसार दिखाई देता है, वह तो जिसे यह देहाध्यास है उसे दिखाई देता है। स्मृतिवाले को, राग-द्वेषवाले को संसार दिखाई देता है। ज्ञायक तो तत्वों की अवस्थाओं को मात्र जानता है, संसार में वह अन्य कुछ भी नहीं जानता।

प्रश्नकर्ता : लेकिन अवस्था के रिलेशन में हम ज्ञायक कहते हैं न?

दादाश्री : हाँ, वह तो जितना ज्ञेय दिखाई देता है उतना जानता है, अन्य कोई स्मृति नहीं है न! सभी अवस्थाओं को जानता है। मुझे एक व्यक्ति ने पूछा कि ज्ञानी को तो यह सबकुछ नहीं दिखाई देता है न, यह संसार? मैंने कहा, 'क्यों?' मुझे क्या सूर्य गिरा हुआ दिखाई देता होगा? नहीं? ऐसा ही दिखाई देता है। जैसा आपको दिखाई देता है वैसा ही मुझे दिखाई देता है लेकिन मेरे देखने में और आपके देखने में फर्क है।

प्रश्नकर्ता : अंबालाल देखते हैं, ऐसा आप जानते हैं?

दादाश्री : हाँ, अंबालाल देखते हैं ऐसा। जैसे तेरे ये चश्मे देखते हैं, उस तरह से।

प्रश्नकर्ता : हाँ, हाँ, ठीक है।

दादाश्री : ठीक है। आप समझ गए ऐसा।

प्रश्नकर्ता : यानी कि यह ज्ञायकपना जो एक के लिए हैं वही अनेकों के लिए है। जो अंबालाल को देखते हैं, वे समस्त ब्रह्मांड को देख सकते हैं, ठीक है?

दादाश्री : हाँ, ठीक है, समस्त ब्रह्मांड को देखने की शक्ति रखते हैं लेकिन अभी तक वह सिर्फ हमारी समझ में आया है, ज्ञान में नहीं आया है। ज्ञान में आ जाएगा तो सबकुछ दिखने लगेगा।

ज्ञायक भाव से परिणतियाँ शुद्ध

प्रश्नकर्ता : प्रकाश ऐसा चाहिए कि किसी भी तरह के प्रश्न उपस्थित हों लेकिन जहाँ नज़र के सामने प्रकाश आया कि सोल्युशन आ जाए।

दादाश्री : हाँ, वही प्रकाश दिया है आपको। और मुझ से मिलने के बाद कौन–कौन से सोल्युशन नहीं आए? वह भी बताओ।

प्रश्नकर्ता : मान लीजिए कि अभी तो हमारी जो परिणति है उस परिणाम में यदि विशुद्धि हो तब तो कोई सवाल ही नहीं है, लेकिन परिणाम में विशुद्धि लाने के लिए क्या हो जाना चाहिए कि जो प्रकाश है उसके *लक्ष* (जागृति) से ही उसकी विशुद्धि आए, वह मलिनता दूर हो जाए। उसके बाद परिणति और तत्व एक हो जाएँ।

दादाश्री : आप देखते हो तो परिणतियाँ शुद्ध हो ही जाती हैं। आपने वहाँ पर देखा न? आपका अगर ज्ञायक स्वभाव है, आप अपने खुद के ज्ञायक स्वभाव में रहो तो अशुद्ध परिणति शुद्ध होकर चली जाएगी। अपनी परिणति अपने पास शुद्ध होकर रहेगी और हम भी शुद्ध होकर रहेंगे।

निरंतर ज्ञायकता वही परमात्मा

जिनका खुद का ज्ञायक स्वभाव नहीं छूटे न, तो वे परमात्मा हो गए। जितने समय तक अंदर खराब विचार आ रहे हों और उस समय अगर उसके ज्ञायक रहें तो जानना कि थोड़े बहुत परमात्मा हो गए। जिन्हें निरंतर ज्ञायकपना रहे वे संपूर्ण परमात्मा कहलाते हैं। शुद्धात्मा का ज्ञायक स्वभाव है, उस स्वभाव का फल क्या है? परमानंद!!!

[5] आत्मा और प्रकृति की सहजता से पूर्णत्व

दखलंदाज़ी बंद वही साहजिकता

प्रश्नकर्ता : आपके मत में साहजिक का मतलब क्या है?

दादाश्री : साहजिक अर्थात् मन-वचन-काया की जो क्रियाएँ हो रही हैं, उनमें दखलंदाज़ी न करना। उसे साहजिक कहते हैं। संक्षेप में मैंने एक ही वाक्य में यह बात की है। कितना समझ में आता है इसमें? नहीं समझ में आए तो आगे दूसरा वाक्य बोलूँ? मन-वचन-काया की जो क्रियाएँ हो रही हैं, उनमें दखलंदाज़ी की अर्थात् साहजिकता टूट गई। दखलंदाज़ी नहीं करना, वह साहजिकता है। 'मैं चंदूभाई हूँ' ऐसा भान टूट जाता है, तब सहज हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : अब जो आत्मा के भान में आ गया, फिर उसका जो व्यवहार है वह सारा सहज व्यवहार होता है?

दादाश्री : खुद के भान में आ गया तो फिर व्यवहार से कोई लेना-देना रहा ही नहीं न! व्यवहार चलता रहेगा।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् उसका व्यवहार उदय रूप होता है?

दादाश्री : बस, और कुछ है ही नहीं। कर्तापन छूट जाए, उसके बाद वह आत्मा के भान में आता है। जब कर्तापना छूट जाए तो फिर उदय स्वरूप रहा।

डखोडखल निकालने के लिए दादा की *डखोडखल*

संसार का अर्थ क्या है (व्यवहार) आत्मा *डखोडखल* (दखलंदाज़ी) में पड़ा है। और देह का स्वभाव कैसा है? सहज है। अगर (व्यवहार) आत्मा *डखोडखल* नहीं करे तो देह सहज है। देह भी अलग और आत्मा भी अलग। वह *डखोडखल* से बंधन में है। अत: हम ये *डखोडखल* बंद करवा देते हैं। तू यह (चंदूभाई) नहीं है, तू यह (आत्मा) है। तब वह *डखोडखल* बंद कर देता है। अहंकार-ममता चले गए। अब जितनी तू *डखोडखल* बंद करेगा उतना ही उस (आत्मा) रूप होता जाएगा, सहजरूप। सहज अर्थात् *डखोडखल*

नहीं करना। यह अपने आप चल रहा है और यह भी अपने आप चल रहा है। ये दोनों अपने-अपने तरीके से चलते रहते हैं।

आत्मा अपने स्वभाव में रहता है और यह देह अपने स्वभाव में रहती है, देहाध्यास चले जाने के कारण। देहाध्यास दोनों के एकाकार होने का संधिस्थान था। वह देहाध्यास चला गया अत: अब यह देह, देह के काम में और आत्मा अपने काम में, उसी को सहजता कहते हैं।

यह अभी हम जो *डखोडखल* करते हैं, वह आपकी *डखोडखल* निकालने के लिए हैं। फिर अगर किसी को ऐसा लगे कि दादा खुद ही *डखोडखल* करते हैं तो उसे अभी तक समझ में नहीं आया है। वे तेरी *डखोडखल* निकालने के लिए कर रहे हैं। वे अपनी *डखोडखल* निकालकर आराम से बैठे हैं और तेरी निकाल देते हैं। डाँटकर नहीं, हँसा-हँसाकर। जैसे हँसाने की शर्त न लगाई हो हमने! यह तो ज्ञानीपुरुष आपकी दखल वगैरह, *डखोडखल* सारी बंद कर देते हैं और हँसा-हँसाकर आगे ले जाते हैं।

मूल आत्मा और प्रकृति सहज हैं लेकिन व्यवहार आत्मा असहज

प्रश्नकर्ता : मन-वचन-काया की सहजता और आत्मा की सहजता के बारे में ज़रा समझाइए न!

दादाश्री : आत्मा सहज ही है। यह ज्ञान देने के बाद शुद्धात्मा *लक्ष* में आता है न, वह अपने आप ही *लक्ष* में आ जाता है। हमें याद नहीं करना पड़ता। जिसे याद रखें उस चीज़ को भूल जाते हैं। यह तो निरंतर *लक्ष* में रहता है। इसे सहज आत्मा होना कहा जाता है। अब से मन-वचन-काया को सहज करने के लिए जैसे-जैसे ज्ञानीपुरुष की आज्ञा का पालन करते जाएँगे, वैसे-वैसे मन-वचन-काया सहज होते जाएँगे।

प्रश्नकर्ता : इसमें आप कहते हैं कि सहज भाव से *निकाल* करना है, तो सहज भाव विकसित करने का तरीका क्या है?

दादाश्री : सहज भाव का मतलब क्या है? यह ज्ञान मिलने के बाद आप शुद्धात्मा हो गए, इसलिए आप सहज भाव में ही हो। क्योंकि जब अहंकार हाज़िर नहीं रहता तब सहज भाव ही रहता है। अहंकार का एब्सेन्स का मतलब ही सहज भाव।

यह ज्ञान ले लिया अर्थात् आपका अहंकार एब्सेन्ट है। आप जो ऐसा मानते थे कि 'मैं चंदूभाई हूँ' अब नहीं मानते हो न? तो हो गया!

कहता है, 'मैंने वकालत की और मैंने छुड़वा दिया और मैंने ऐसा-ऐसा किया न और मैं संडास जाकर आ गया!' ओहोहो, 'कल क्यों नहीं गए थे?' तब कहता है 'कल तो डॉक्टर को बुलाना पड़ा, रुक गया था अंदर।'

सक्रियता बल्कि बढ़ जाती है इससे। अहंकार की वजह से सक्रियता है। अहंकार की वजह से सबकुछ बिगड़ गया है। यह अहंकार दूर हो जाए तो सबकुछ रेग्यूलर हो जाएगा, साहजिक हो जाएगा फिर। अहंकार सबकुछ बिगाड़ देता है, खुद का ही बिगाड़ता है और अगर साहजिकता हो तो सबकुछ सुदंर चलता है।

प्रश्नकर्ता : देह की संपूर्ण सहजता, वह भगवान है। आत्मा की सहजता भगवान नहीं कहलाती। देह सहज हो जाए तो आत्मा सहज हो जाता है। आत्मा सहज हो जाए तो देह अपनेआप सहज हो जाता है न! क्या दोनों अन्योन्य नहीं हैं?

दादाश्री : आत्मा तो सहज ही है। 'देह की संपूर्ण सहजता, वही भगवान है' वह ठीक है, वह बात सही है। देह की संपूर्ण सहजता हो जाए तो फिर भगवान। देह सहज भाव से किसी को धौल लगा रहा हो तो भी भगवान!

प्रश्नकर्ता : आत्मा की सहजता को भगवान नहीं कहते?

दादाश्री : आत्मा की सहजता तो, आत्मा तो खुद सहज ही है। यह बाहर का सहज हो जाए न तो खुद सहज ही है। बाहर का सहज नहीं हो पाता न।

प्रश्नकर्ता : यह ठीक से समझ में नहीं आया अभी तक।

दादाश्री : आत्मा सहज हो जाए तो देह अपने आप सहज हो जाती है, यानी इसका मतलब है कि व्यवहार आत्मा सहज हो जाए तो देह सहज हो ही जाएगी लेकिन मूल आत्मा तो सहज है। यह व्यवहार आत्मा का ही झंझट है सारा।

प्रश्नकर्ता : आपने कहा है न, कि सहज भाव से धौल लगाना, तो क्या धौल सहज भाव से हो सकती है?

दादाश्री : हाँ, हो सकती है धौल।

प्रश्नकर्ता : दादा जो सब को प्रसादी देते हैं न, बूट की....

दादाश्री : वह सब सहज भाव से है। सहज भाव मतलब 'मैं मार रहा हूँ' ऐसा भान नहीं होता, 'मैं मार रहा हूँ' ऐसा ज्ञान नहीं होता और 'मैं मार रहा हूँ' ऐसी श्रद्धा नहीं होती, उसे कहते हैं सहज भाव। और जब हम सहज भाव से मारते हैं तो दु:ख नहीं होता किसी को!

प्रश्नकर्ता : ज्ञानी के अलावा और कोई सहज भाव से धौल लगा सकता है?

दादाश्री : हाँ, सहज भाव हो, तो लगा सकता है।

प्रश्नकर्ता : यदि ज्ञानी के अलावा और कोई धौल लगाए तो सामनेवाले को दु:ख हुए बगैर रहता ही नहीं।

दादाश्री : दु:ख हो जाए तब तो फिर वह सहजता नहीं है। कुछ न कुछ बिगाड़ है उसमें, नहीं तो दु:ख नहीं होना चाहिए।

हमारा सबकुछ सहज है। इसलिए सहजता की तरफ जाना है। यह सहजता का मार्ग है। नो लॉ (कायदा) लॉ, सहजता में ले जाने के लिए ही है। लॉ हो तो सहजता कैसे आएगी? अभी जैसे मैं यहाँ पर बैठा हूँ, ऐसे नहीं बैठते। वैसा कुछ आया हो न, तो स्पर्श नहीं करता। वे सभी बातें साहजिकता नहीं हैं। साहजिक अर्थात् जैसे ठीक लगे वैसे रहे। दूसरा विचार ही नहीं आए कि ये लोग मुझे क्या कहेंगे या ऐसा सब नहीं होना चाहिए। अर्थात् यह साहजिकता वगैरह यों यह सब देखोगे तो आपको पता चल जाएगा कि ये भाई ऐसे हैं।

प्रश्नकर्ता : अहंकार भी साहजिक हो जाता है या नहीं?

दादाश्री : वह पहचान जाएँगे हम, मूलत: अहंकार अंधा है। वह चाहे कहीं भी जाए लेकिन अंधा है इसलिए उसका पता चल जाता है। टकराए बगैर रहता ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : हाँ, तो फिर वहाँ पर साहजिक नहीं है?

दादाश्री : नहीं! जहाँ अहंकार हो वहाँ पर साहजिकता होगी ही नहीं न!

अहंकार से रुकी है पूर्णाहुति

प्रश्नकर्ता : अहंकार हमेशा अवरोधकारक है या उपयोगी भी है?

दादाश्री : अहंकार के बगैर तो इस दुनिया में ये बातें भी नहीं लिखी जा सकतीं। चिट्ठी लिखनी हो न, वह भी अहंकार की गैरहाज़िरी में नहीं लिखी जा सकती। अहंकार दो प्रकार के हैं। एक डिस्चार्ज होता हुआ (मृतप्राय) अहंकार, जो लट्टू जैसा है और दूसरा चार्ज होता हुआ (जीवित) अहंकार, जो शूरवीर जैसा है। लड़ता भी है, झगड़ता भी है, सभी कुछ करता है। डिस्चार्ज अहंकार के हाथ में तो कुछ भी नहीं है बेचारे के, मानो जैसे लट्टू घूम रहा हो। अर्थात् अहंकार के बगैर तो दुनिया में कुछ हो ही नहीं पाता। यह चिट्ठी भी नहीं लिखी जा सकती न! लेकिन वह डिस्चार्ज होता हुआ अहंकार है। आपको परेशान

नहीं करता। अहंकार के बगैर तो कार्य ही नहीं हो सकता। हमें बोलना पड़ता है कि 'मैं संडास जा आया, मुझे संडास जाना है।' अहंकार हस्ताक्षर करे तभी कार्य हो पाता है, नहीं तो कार्य नहीं हो पाता।

प्रश्नकर्ता : आपके लिए सहज हो चुका है सबकुछ?

दादाश्री : फिर भी किसी जगह पर छूते ही (डिस्चार्ज) अहंकार खत्म हो जाता है तब सहज हो जाता है। सहज है, फिर भी किसी-किसी जगह पर ये रह जाते हैं, छींटे (निशान)। क्योंकि रास्ता पूर्ण नहीं हुआ है तब तक कुछ छींटे रहते हैं। तभी पूर्ण नहीं हो पाता न! उसके लिए नहीं, लेकिन जो छींटे रह गए हैं, उनके अलावा क्या है? तो कहते हैं, 'सबकुछ सहज है।' और आपको भी कुछ-कुछ सहज होता जा रहा है, लेकिन छींटे ज़रा ज़्यादा हैं। इसलिए आपको ऐसा ही लगता है कि लाल (संलग्न) ही दिख रहा है।

प्रश्नकर्ता : उसी को चित्रण कहते हैं न?

दादाश्री : वह तो अभी तक हिसाब नहीं चुकाया है। चित्रण का तो ऐसा है न कि जिसे प्रोजेक्ट किया होता है, उसी चीज़ का चित्रण आता है। प्रोजेक्ट! उस चित्रण के रूपक में आने के बाद उससे कोई लेना-देना नहीं रहता इसका। ये जितने हद तक सहज नहीं हुए हैं वे सभी छींटेवाले हैं, काफी कुछ सहज हो गया है। सहज स्वभाव से ही बरतते हैं।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् एक जगह पर जो पूरा अहंकार यों ही साधारण रूप से बरतता है, यों ही हर समय उसके बजाय हमारा कम या ज़्यादा बरतता है।

दादाश्री : आपको पाँच-पाँच मिनट में थोड़ा ब्रेक डाउन हो जाता है। फिर बढ़ता जाता है। जैसे-जैसे सहजता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे वह कम होता जाता है। जब से ज्ञान दिया, तभी से सहजता बढ़ती जाएगी और असहजता कम होती जाएगी। और मूलत: फिर सारांश क्या है? अंतिम स्टेशन क्या है? तो वह है, आत्मा सहज स्थिति में और देह भी सहज स्थिति में, वही अंतिम स्टेशन है। दोनों अपने-अपने सहज स्वभाव में।

प्रश्नकर्ता : कल्पना करनी मुश्किल है उस सहजता की।

दादाश्री : हाँ, कल्पना है नहीं है! कल्पना में वह आ नहीं सकता न! कल्पना का जाल, उसकी सरकमफरन्स एरिया (परिधि एरिया) इतना छोटा होता है, जबकि सहजता का तो बहुत बड़ा एरिया है।

शक्तियाँ माँगने से जागृति बढ़ती है

प्रश्नकर्ता : सहजता की लिमिट कितनी?

दादाश्री : निरंतर सहजता ही रहेगी। सहजता रहेगी लेकिन जितनी आज्ञा पालोगे, उतनी सहजता रहेगी। आज्ञा ही धर्म और आज्ञा ही तप है, उतनी मुख्य चीज़ है। हमने क्या कहा है कि यदि आज्ञा पालन करोगे तो हमेशा समाधि रहेगी। गालियाँ दे, चाहे मारे फिर भी सामाधि न जाए, ऐसी समाधि।

सुबह-सुबह तय ही करना है कि दादा आपकी आज्ञा में ही रहें ऐसी शक्ति दीजिए। ऐसा तय करने के बाद धीरे-धीरे बढ़ता जाएगा।

प्रश्नकर्ता : शुरुआत में ज्ञान लेने के बाद इसी अनुसार करते जाएँ और अपना भाव पक्का होता जाए और वैसे-वैसे फिर और अधिक आज्ञा में रह पाते हैं।

दादाश्री : और अधिक रह पाते हैं। अपने ज्ञान में, अक्रम विज्ञान में सामान्य रूप से चौदह साल का कोर्स है। उनमें से भी अगर कोई बहुत कच्चे हों न, तो उन्हें ज़्यादा टाइम लगता है और जो बहुत पक्के हों उन्हें ग्यारह साल में ही हो जाता है। यों निष्ठा बढ़ती जाती है, लेकिन चौदह साल का कोर्स है अपना। चौदह साल में सहज हो जाता है। मन-वचन-काया भी सहज हो जाते हैं, सहज।

'कोई *डखोडखल* (दखलंदाज़ी) नहीं करूँ ऐसी शक्ति दीजिए' चरणविधि में ऐसा रोज़ बोलते हैं, इसलिए वह वाक्य लोगों के लिए अच्छा काम करता है। और यदि वह जानता ही नहीं हो कि *डखोडखल* नहीं करनी है तब *डखोडखल* हो जाती है बार-बार और फिर पछतावा होता है। यह कैसा है? 'कल्याण हो' हमने ऐसा भाव बोला हो तो

उसका असर होता है। और अगर ऐसा कुछ न बोले हों तो फिर उसका असर नहीं होता तब उल्टे परिणाम आते हैं। ठीक से, अच्छे परिणाम नहीं आते।

प्रश्नकर्ता : खुद पुरुष हो जाने के बाद अगर अपनी प्रकृति खराब हो तो उसे सुधारने का पुरुषार्थ करना चाहिए या सिर्फ देखते रहने का ही पुरुषार्थ करना है?

दादाश्री : सुधारने का कोई भी पुरुषार्थ नहीं करना है। वह तो अब सुधरेगी नहीं। उसका *निकाल* ही करना है। छलनी से जितना छन गया उतना ठीक है और अगर नहीं छना तो वापस छानना पड़ेगा।

प्रश्नकर्ता : तो फिर अंदर '*डखोडखल* नहीं करूँ' ऐसा बोलने की ज़रूरत ही कहाँ रही?

दादाश्री : वह तो, '*डखोडखल* नहीं करूँ' ऐसा जो बोलते हैं न, तो उसी अनुसार रास्ते पर आ जाता है। फिर वह दखल नहीं करता है। और अगर नहीं बोलें तो फिर वैसी ही दखल करेगा।

प्रश्नकर्ता : हम *पुद्गल* से होनेवाली क्रियाएँ देख रहे हों तो उसमें *डखोडखल* कहाँ पर हो जाती है?

दादाश्री : उसमें *डखोडखल* नहीं होती। जब हम चरणविधि पढ़ते हैं उस समय '*डखोडखल* नहीं करूँ ऐसी शक्ति दीजिए।' सुबह आप ऐसा बोलते हो न तो पूरे दिन वह ज्ञान रहता है। *डखोडखल* नहीं करते। जैसे हमने किसी से कहा हो कि 'वहाँ पर जा रहे हो लेकिन सिनेमा में मत जाना, हं!' तो फिर वह ज्ञान उसे वहाँ पर हाज़िर रहता है, उसकी वजह से वापस आ जाता है। नहीं तो अगर हमने नहीं कहा हो तो सिनेमा में जा आता है। इसलिए इस पर से, क्या निमित्त बनेगा, वह हमें पता चल जाता है। डिस्चार्ज में क्या बोलता है, उससे हमें पता चल जाता है कि क्या निमित्त बनेगा। बहुत सूक्ष्म बात कह रहा हूँ यह आपको!

वापस ले लेनी हैं *डखोडखल*

प्रश्नकर्ता : बोम्बे में जो क्रिकेट मेच स्टार्ट हो रहा है। उसे यहाँ से अपने एक-दो लोग देखने जानेवाले हैं। तो मैंने उनसे कहा कि 'तू सुबह दादा के दर्शन करने नहीं जाता और तू कहता है कि मुझे दुकानवाले पार्टनर डाँटते हैं तो इन पाँच दिनों के लिए तुझे कैसे जाने देंगे? तुझे डाँटेंगे नहीं वे?' तो यह जो मैंने बात की, तो क्या उसमें *डखोडखल* है?

दादाश्री : वहाँ पर हम क्या कहते कि 'भाई, क्या-क्या देखने जा रहा है?' तब यदि वह कहे, 'मैं मेच देखने मुंबई जा रहा हूँ।' तो हम कहते, 'उसके बिना चले ऐसा नहीं है?' तब यदि वह कहे, 'नहीं, जाना ही पड़ेगा।' तब हम कहते, 'ठीक है।' रोकने से रोका नहीं जा सकता! ऐसा कहकर शब्द वापस ले लेने चाहिए।

प्रश्नकर्ता : जो कहा वह *डखोडखल* (दखलंदाज़ी) हो गई?

दादाश्री : नहीं, अगर वे शब्द वापस नहीं लेंगे तो *डखोडखल* हो जाएगी। नहीं तो वह कहेगा भी सही कि चंदूभाई बिना बात के टोकते रहते हैं। इसलिए कहने के बाद हमें उसे वापस ले लेना चाहिए कि 'नहीं ठीक है।' हम ऐसा कहते हैं, लेकिन हम तो वे शब्द वापस ले लेते हैं। हमें नहीं कहना चाहिए आपको।

इस तरह अगर शब्द वापस नहीं लोगे तो उसे 'दखल' करना कहा जाएगा। दखल करने से दखलंदाज़ी हो जाती है। हम तो उसे कहेंगे लेकिन प्रकृति छोड़ेगी नहीं न! वह खुद नहीं कहता। वह सभी करार करके आया हो, फिर भी करार तोड़कर चला जाता है क्योंकि प्रकृति से बंधा हुआ है। डिस्चार्ज हैं वह कर्म।

इसलिए किसी को साधारण रूप से भी टोकना नहीं चाहिए। उसे इतना ही कहना चाहिए कि 'सत्संग में आना।' पॉज़िटिव बोलना, नेगेटिव मत बोलना, नेगेटिव में सब जगह दखलंदाज़ी हो जाएगी। कहेंगे तो फिर उसके शब्द हमें वापस मिलेंगे कि 'नहीं। मुझे जाना पड़ेगा। आप मना कर रहे हो लेकिन मुझे जाना है।' तो फिर हमें समझ जाना है कि यह दखल की, इसलिए यह दखलंदाज़ी हो गई। हमसे ऐसा नहीं होता। हम वे शब्द तुरंत

वापस ले लेते हैं। हम जानते हैं कि जो होना है उसमें उसका भी चलनेवाला नहीं है और मेरा भी चलनेवाला नहीं है। बेकार ही क्यों उसमें दखल करें!

प्रश्नकर्ता : तो सुबह उठकर चरणविधि में करते हैं न हम, तो इसमें वह चीज़ हेल्प करती है? वह हमें सामनेवाले को टोकने से रोकती है?

दादाश्री : इसे समझ लें तो हेल्पफुल रहेगी!

भरा हुआ माल तो निकलेगा ही

प्रश्नकर्ता : इस संसार में *डखोडखल* (दखलंदाज़ी) किए बगैर क्यों नहीं रहा जा सकता?

दादाश्री : वह तो ऐसा है कि उसकी प्रेक्टिस है। प्रेक्टिस बंद करनी पड़ेगी कि 'अब *डखोडखल* कभी भी नहीं हो,' ऐसी चाबी घुमाते रहें तो फिर दूसरा कोई थोड़ा-बहुत माल होगा, तो उसके निकल जाने के बाद बंद हो जाएगी।

प्रश्नकर्ता : क्योंकि यदि हमें सहज रहना हो और देखते रहना हो तो *डखोडखल* बिल्कुल भी काम की नहीं है।

दादाश्री : वह तो पहले का भरा हुआ माल निकले बगैर रहेगा नहीं। उसे हम देखें तो सहज ही हैं। प्रकृति सहज हो जाएगी, दोनों सहज हो जाएँगे तब हल आ जाएगा लेकिन अभी तो एक भी सहज हो जाए तो बहुत हो गया। भरा हुआ माल तो फूटे बगैर रहेगा ही नहीं न! भरा हुआ माल नापसंद हो फिर भी निकलता ही रहता है।

प्रश्नकर्ता : पुरानी आदतें और स्वभाव पड़े हुए हैं, अब वह तो प्रकृति है। आप ज्ञान देते हैं तब आत्मा और प्रकृति, दोनों को अलग कर देते हैं। अगर हम शुद्धात्मा स्वरूप में रहें, खुद के सहज स्वरूप में, तो उसके सामने प्रकृति भी बिल्कुल सहज हो जानी चाहिए न?

दादाश्री : आत्मा तो सहज ही है। आप जितने सहज हुए उतनी ही प्रकृति सहज हुई कही जाएगी।

प्रश्नकर्ता : अब उसकी प्रकृति अगर सहज नहीं रहे तो वह देखता और जानता है।

दादाश्री : हाँ, उतनी कमी है, फाइलों का *निकाल* करने में उतनी ही देर लगती है। उतनी जागृति उत्पन्न नहीं हुई है। जागृति निर्बल है। प्रत्येक क्षण जागृति रहनी चाहिए।

तब लगती है मुहर मोक्ष की

प्रश्नकर्ता : मोक्ष की स्थिति प्राप्त कर ली है, ऐसा कब माना जाएगा?

दादाश्री : मोक्ष की स्थिति, आप किसी को गालियाँ दो न, तब भी आप मोक्ष में ही हो लेकिन अन्य कोई गालियाँ नहीं दे रहा है, फिर भी मोक्ष में नहीं है। वह किस तरह से समझ में आए इन लोगों को? आत्मा की सहज स्थिति और देह की सहज स्थिति, वही मोक्ष है। देह की सहज स्थिति अर्थात् आपने किसी को धक्का मार दिया न, तब भी मैं जानता हूँ कि आत्मा यह नहीं कर रहा है। आप नहीं कर रहे हो। आपको ऐसा पता चलता है न कि आप नहीं कर रहे हो? आपकी इच्छा नहीं है फिर भी हो जाता है, वह देखना है, वह देह की सहज स्थिति है। उसमें *डखोडखल* (दखलंदाज़ी) करें तब भी वापस सहज स्थिति चली जाएगी।

प्रश्नकर्ता : आत्मा की ऐसी सहज स्थिति प्राप्त होने के बाद सभी में कितना समय टिकती है?

दादाश्री : हमेशा के लिए टिकती है। यह हमेशा रहे तभी मोक्ष कहलाएगा न! यहीं पर मोक्ष हो जाना चाहिए। यहाँ पर लगभग पंद्रह हज़ार लोगों का मोक्ष हो ही चुका है, बाकी के सभी उसकी तैयारी में हैं। कुछ लोगों का हो गया है, कुछ लोगों का होता जा रहा है। पहले चिंता बंद हो जानी चाहिए।

प्रश्नकर्ता : हमारा नंबर लगेगा क्या?

दादाश्री : आपकी इच्छा होगी तो लगेगा, आपकी इच्छा नहीं तो नहीं लगेगा। अभी तक नहीं थी इसलिए नहीं लगा। यदि इच्छा होगी, तो नंबर लगेगा। इन सभी का लगा है तो फिर आपका क्यों नहीं लगेगा? क्योंकि समझ में नहीं आया था कि यह क्या है? इस वर्ल्ड में समझ में कैसे आए? यह अलौकिक चीज़ दस लाख सालों में एक ही बार प्रकट होती है, ऐसी चीज़ है। अक्रम विज्ञान से स्त्री–पुरुष संसार में रहकर भी मोक्ष भोगते हैं। देखो आपको संसार में सभी तरह की छूट दी है न। दस लाख साल में प्रकट होता है, जबकि मैं तो सिर्फ निमित्त बन गया हूँ। सारा काम निकाल लेना है।

देखने से जाते हैं अंतराय

प्रश्नकर्ता : मोक्ष प्राप्ति सहज है। इस सहज में जो अंतराय आते हैं, उनको रोकना पुरुषार्थ है तो यह समझाइए कि अंतराय कौन–कौन से हैं?

दादाश्री : वे अपने पूर्वजन्म के किए हुए हस्तक्षेप हैं, अपनी दखलंदाज़ियाँ हैं।

प्रश्नकर्ता : हाँ। लेकिन कौन–कौन सी दादा?

दादाश्री : ये सभी दखलंदाज़ियाँ होती हैं तो फिर पता चलता है न! कड़वा फल आए तो जानना कि हमने किसी को दु:ख दिया था। मीठा आए तो किसी को सुख दिया था। ऐसा उसे मालूम हो जाता है न!

प्रश्नकर्ता : ये जो सारे अंतराय हो चुके हैं उनका निवारण करने के लिए, उन्हें टालने के लिए, उन्हें निकालने में पुरुषार्थ रहा हुआ है?

दादाश्री : हाँ। लेकिन पुरुषार्थ का मतलब सिर्फ 'देखना' है, अंतरायों को देखना हैं। और कुछ नहीं करना है। हटाने के लिए तो हटानेवाले की ज़रूरत पड़ेगी वापस। यानी कि संयोगों को हटाना गुनाह है। जो संयोग वियोगी स्वभाव के हैं, उन्हें हटाना गुनाह है। अत: हमें सिर्फ देखते ही रहना है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन दादा, क्या यह बात सत्य है कि मोक्ष प्राप्ति के इस पुरुषार्थ में कोई कर्तापन नहीं है। यह ठीक है?

दादाश्री : वस्तु सहज है।

प्रश्नकर्ता : तो फिर यह अपना स्वभाव है? आत्मा का?

दादाश्री : वह तो आत्मा का स्वभाव है। जैसे यह पानी मिसीसिपी नदी में से निकलता है तो यों तीन हज़ार मील तक चलकर समुद्र को ढूँढ ही निकालता है। उसका स्वभाव है, सहज स्वभाव है।

प्रश्नकर्ता : उस स्वभाव में आने के लिए पुरुषार्थ करना पड़ता है न?

दादाश्री : विभाविक पुरुषार्थ करें तो मिल पाएगा क्या? पागल इंसान पुरुषार्थ करके समझदार बन जाए, ऐसा हो सकता है क्या? अत: समझदार इंसान की शरण में जाना है और कहना कि आप कृपा कीजिए।

प्रश्नकर्ता : नहीं! आप कहते हैं न दादा, कि मोक्ष दो घंटे में मिल जाता है। सर्व प्रथम अगर ज्ञानी से मिलने के अंतराय चले जाएँ तो!

दादाश्री : हाँ, लेकिन वे अंतराय जाते नहीं हैं न! अंतराय डाले हुए हैं न!

प्रश्नकर्ता : हाँ, लेकिन आपने ऐसा कहा है कि 'उसे सिर्फ देखने को ही कहा है, ज्ञाता-दृष्टा भाव से।'

दादाश्री : देखना ही पड़ेगा। जो अंतराय हैं, वे संयोगों के रूप में आते हैं और वे स्वयं ही वियोगी स्वभाव के हैं। उन्हें देखने से ही छुटकारा होगा।

प्रश्नकर्ता : लेकिन दादा, उसके लिए तो कितने जन्म लेने पड़ेंगे? तो क्या ये सब *निकाली* हैं, ऐसा है?

दादाश्री : *निकाली* ही हैं। लोगों को यह समझ में नहीं आने की वजह से ही यह गड़बड़ की है। समझ लो न कि *निकाली* हैं! यदि ग्रहणीय करेंगे तो चिपक पड़ेंगे। यदि त्याग करेंगे तो अहंकार पकड़ लेगा। त्याग करनेवाले भी अहंकारी होते हैं और त्याग का फल आगे जाकर मिलता है। लोग भी कहते हैं, 'त्यागे सो आगे।' ऐसा कहते हैं कि आपको

अगर देवगति का सुख भोगना हो तो यहाँ पर 'एक स्त्री को छोड़ो।' अत: हमें तो त्याग और ग्रहण किसी की भी ज़रूरत नहीं है। *निकाल* की ज़रूरत है।

सभी संयोग वियोगी स्वभाव के हैं और संयोग अपनी दखलंदाज़ी से खड़े हो गए हैं। यों दखलंदाज़ी नहीं की होती तो संयोग खड़े ही नहीं होते अभी तक। जब तक ज्ञान नहीं मिला था, तब तक दखलंदाज़ी करते ही रहते थे और मन में गुमान लेकर घूमते थे कि मैं भगवान के धर्म का पालन करता हूँ!

प्रश्नकर्ता : संयोगों में से सहज में गया इसलिए फिर छूट गया न, फिर सहजता में ही आ गया न?

दादाश्री : सहजता में रहने से संयोग छूट जाते हैं। खुद सहजता में गया तो संयोग छूट गए। संयोगों में से खुद सहजता में जा सकता है और सहजता में जाने के बाद संयोग छूट जाते हैं।

प्रश्नकर्ता : अब संयोग भी सहजता में आते हैं?

दादाश्री : नहीं, संयोगों में से सहजता में जाता है। संयोग सहज नहीं हो सकते न! सहज अलग चीज़ है और संयोग अलग चीज़ है।

जहाँ नहीं हैं राग-द्वेष, वहाँ सहजता

प्रश्नकर्ता : अब ज्ञान के बाद तो आत्मा खुद के स्वभाव में ही आ जाता है न?

दादाश्री : और *पुद्गल* अपने स्वभाव में आ गया। *पुद्गल* नियम में आ गया क्योंकि जो दखलंदाज़ी करनेवाला था, वह हट गया। *पुद्गल* हमेशा नियमबद्ध ही होता है लेकिन यदि दखलंदाज़ी करनेवाला नहीं हो तो। इस इन्जन में अंदर सब कोयले वगैरह भरकर बाकी सब कम्पलीट करके और ड्राइवर नहीं हो तो बस चलते रहने का उसका स्वभाव ही है। अंदर दखलंदाज़ी करनेवाला वह बैठा हुआ हो तो बस को खड़ा रखता है, फिर वापस चलाता है। *पुद्गल* में यदि *डखोडखल* नहीं की जाए न, तो वह शुद्ध होता ही जाएगा लेकिन ये *डखोडखल* करते हैं। दखल करने से फिर दखलंदाज़ी हो जाती है। *डखोडखल* करनेवाला कौन है? वे अज्ञान मान्यताएँ और फिर *वांधा* और *वचका* (आपत्ति उठाते हैं और बुरा लग जाता है)।

प्रश्नकर्ता : देह सहज हो जाए, तो ऐसा कहेंगे कि देहाध्यास गया?

दादाश्री : कोई जेब काट ले और वह चीज़ आपको छूए तक नहीं तो देहाध्यास गया। देह को किसी भी तरह से कोई परेशान करे तो उसे देखना है। लेकिन अगर उसे स्वीकार कर लें तो देहाध्यास है। 'मुझे ऐसा क्यों किया' कहा तो वह है देहाध्यास।

प्रश्नकर्ता : देह सहज हो गई है, ऐसा कब माना जाएगा?

दादाश्री : अपनी देह को कोई कुछ भी करे, फिर भी अगर हमें राग-द्वेष न हों, तो उसे कहते हैं सहज। हमें देखकर यह समझ जाओ। हमें कोई चाहे कुछ भी करे तो भी राग-द्वेष नहीं होते। सहज अर्थात् ज्ञानी की भाषा में जिसे सहज कहा जाता है। देह सहज हो जाए अर्थात् देहाध्यास गया। सहज अर्थात् स्वाभाविक, उसमें कुदरती रूप से स्वाभाविक रहता है, उसमें विभाविक दशा नहीं है। ऐसा भान नहीं है कि 'उसमें मैं खुद हूँ।'

प्रश्नकर्ता : यह तो आपने देह की सहजता का प्रकार बताया लेकिन हमारा ऐसा सहज कब होगा?

दादाश्री : सहज तो आपने यह जो ज्ञान लिया है न तो वह उसके भान में परिणामित होने पर ये सभी कर्म कम हो जाएँगे तो सहज होता जाएगा। सहज हो रहा है। अभी भी वह एक-एक अंश करके संपूर्ण सहज हो जाएगा। देहाध्यास छूट जाए तो सहज की ओर जाता रहेगा अर्थात् अभी भी सहज हो ही रहा है। जितने अंशों तक सहज हो जाए उतने अंशों तक समाधि उत्पन्न होती है।

हम सहज रहते हैं पूरे दिन क्योंकि हम एक क्षणभर के लिए भी इस देह के मालिक नहीं हैं। इस वाणी के मालिक नहीं हैं और इस मन के मालिक नहीं हैं। शरीर का मालिकीपना छब्बीस साल से चला गया है और छब्बीस साल से एक सेकन्ड के लिए भी समाधि गई नहीं है। हमें धौल लगाए तब भी हमें समाधि। हम आशीर्वाद देते हैं उसे।

दखल को निकालना या उससे जुदा रहना?

प्रश्नकर्ता : यह दखलंदाज़ी है तो उसका हमें खुद को कैसे पता चलेगा?

दादाश्री : सबकुछ पता चल सकता है, खुद अगर तटस्थ भाव से देखे न, तो! आत्मा थर्मामीटर है। आप जितना कहो उतना नाप निकाल देगा।

प्रश्नकर्ता : यह जो खुद की दखलंदाज़ी है और प्रकृति खुद के स्वभाव में है, तो इन दोनों के बीच में फर्क कैसे पता चलेगा? प्रकृति अपने स्वभाव के अनुसार दो डिश आइस्क्रीम ही खाती है, तो इसमें खुद की दखलंदाज़ी कौन सी?

दादाश्री : यह दखलंदाज़ी ज़्यादा खिलाती है और क्या करेगी? 'खाने जैसा नहीं है। हां! ठंडी है। गला खराब हो जाएगा।' वह भी दखलंदाज़ी है। खाने नहीं दे और ज़्यादा खिला दे, ये दोनों दखलंदाज़ियाँ हैं!

प्रश्नकर्ता : तो उसका संतुलन कैसे रखा जा सकता है?

दादाश्री : अगर दखलंदाज़ी नहीं करे तो अपने आप ही संतुलन रहेगा।

प्रश्नकर्ता : कोई भी चीज़ अपने आप चलती रहती है लेकिन हमारी कुछ न कुछ दखल रहती है।

दादाश्री : यह सब दखल ही है। जितना कम हो सके उतना अच्छा! सिनेमा की दखल कम हुई, रात को नहीं खाता वह दखल भी कम हुई, होटल में नहीं जाता वह दखल भी कम हुई, कितनी सारी दखलें कम हो गईं!

प्रश्नकर्ता : लेकिन अभी भी बहुत सारी हैं न? अभी भी हैं, बहुत दखलें हैं! दिनभर में जिन्हें पहचान नहीं पाते, उनका क्या?

दादाश्री : सभी पहचानी जा सकती हैं। जब तू करता है तब पता चल जाता है कि यह दखल हो रही है वापस। थर्मामीटर को क्या देर लगे बताने में कि कितना बुखार आया है?

प्रश्नकर्ता : पता चलता है कि यह दखल हो गई है लेकिन जाती नहीं है न?

दादाश्री : उसे निकालना नहीं है, उससे अलग रहना है। अलग रहेंगे तो अंदर दखल बंद हो जाएगी। खुद के स्वभाव में रहा जा सकेगा। मेहमान रसोई में नहीं जाता है तो मेहमान कितना कीमती माना जाता है और रसोई में जाकर कढ़ी हिलाने बैठ जाए तो? उसी तरह यह मेहमान कहीं भी जाए, वहाँ पर दखल ही करता है। यह मेहमान ऐसा करता है।

प्रश्नकर्ता : आपने कहा न कि थर्मामीटर सभी कुछ बता देता है, तो वह कौन है?

दादाश्री : वही, प्रज्ञा चेतावनी दे-देकर मोक्ष में ले जाती है।

प्रश्नकर्ता : प्रज्ञाशक्ति तो उसे बताने का काम करती ही रहती है, उसमें हमने दखल की?

दादाश्री : दखल करते हैं। चेतावनी देती है फिर भी उसकी सुनते नहीं है और दखल करने से तो लंबे टाइम तक चलता है फिर।

चेतावनी किसे देता है? दखल करनेवाले को चेतावनी देता है कि 'ऐसा क्यों कर रहा है तू? इससे क्या फायदा मिलेगा?!' फिर भी यह करता रहता है। इस तरह प्रज्ञाशक्ति का स्वभाव ऐसा है कि उसे चेतावनी दिए बगैर रहती ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : उस समय भगवान क्या कर रहे होते हैं?

दादाश्री : भगवान तो उदासीन, वीतराग।

दखल निकाले दखल को

प्रश्नकर्ता : यह दखल हुई और हमने निश्चय किया कि अब यह दखल नहीं करनी है, तो यह नई दखल नहीं कहलाएगी?

दादाश्री : वह दखल है लेकिन वह दखल पहलेवाली दखल को निकाल देती है न? पहलेवाली दखल को निकालकर यह दखल होती है न। यह दखल उत्तम है।

प्रश्नकर्ता : दखल–दखल को निकालती है लेकिन उसके बाद क्या यह दखल रह जाती है?

दादाश्री : यह दखल तो अपने आप चली जाती है। बाद में निकालनी नहीं पड़ती। 'सब चले जाओ' ऐसा कहेंगे तो चले जाएँगे! बस! निकालना नहीं पड़ेगा। तुझे ऐसा लगता था कि निकालना पड़ेगा इसे?

यह दखल है लेकिन यह दखल अपने आप चली जाएगी! हम कहें कि अब यहाँ आपका काम पूरा हो गया है, चले जाओ, तो चला जाएगा। लेकिन वह पहलेवाली दखल ऐसे नहीं जाती। पहलेवाली दखल इस दखल से जाएगी।

मोक्ष मार्ग तो बहुत मुश्किल है। उस तरफ एक इंच भी आगे बढ़ना बहुत कीमती माना जाता है। कोई कहे कि आत्मा अलग है तो वह बड़ा साइन्टिस्ट माना जाता था। उसे पता चला कि यह जुदा है, अन्य कुछ नहीं है। आप तो उससे भी आगे पहुँच गए।

चंदूभाई आइस्क्रीम खाने बैठे और अगर उसमें दखल नहीं करे तो दो डिश खाकर उठ जाएँगे लेकिन इसने तो और दखल की कि 'यह अच्छी है, अरे भाई, दो–चार–पाँच खा लो न!'

प्रश्नकर्ता : यानी कि वह खुद दखल करता है।

दादाश्री : हाँ। अब वहाँ पर प्रज्ञा उसे चेतावनी देती है, 'अरे भाई, ऐसा किसलिए?'

प्रश्नकर्ता : 'तीन-चार खा लो' ऐसा कौन बताता है?

दादाश्री : वही! तेरा चारित्रमोह! चारित्रमोह को विलय भी किया जा सकता है! यों देखो, ज्ञाता-दृष्टा रहो तो चला जाएगा। और अगर जागृति नहीं रखी और निश्चय नहीं किया तो चारित्रमोह पेन्डिंग रहेगा!

प्रश्नकर्ता : प्रज्ञाशक्ति दिखाती है न, वहाँ से तो निकाला जा सकता है, ऐसा है। अर्थात् दखलंदाज़ी बंद हो जाए, ऐसा संभव है।

दादाश्री : सही है।

प्रश्नकर्ता : फिर, वाणी से भी *डखोडखल* (दखलंदाज़ी) हो जाती है?

दादाश्री : हाँ, होती है। सभी में *डखोडखल* तो होती है न! वर्तन से भी *डखोडखल* होती है। 'चलो' कहते हैं, 'जल्दी है!' उतावला हो जाता है। क्या वहाँ गाड़ी छूट जानेवाली है? नहीं। यों तो अभी तक देर है लेकिन सभी जगह पर *डखोडखल* ही करता रहता है।

ज्ञाता-दृष्टा रहे तो *डखोडखल* बंद

प्रश्नकर्ता : अब इसका उपाय बताइए, दादा! *डखोडखल* बंद करने का उपाय बताइए।

दादाश्री : ज्ञाता-दृष्टा बन जाओ तो *डखोडखल* बंद हो जाएगी। ज्ञाता-दृष्टा तो खुद का गुणधर्म है। वह जो चारित्रमोह आया है उसे जानो कि यह चारित्रमोह है। उसे देखना और जानना है। देखोगे तो चला जाएगा।

प्रश्नकर्ता : जो देखने-जाननेवाले हैं, वे खुद ही दखलंदाज़ी करते हैं।

दादाश्री : देखने-जाननेवाला क्या कभी करता होगा? दखलंदाज़ी करनेवाले को तो वह देखता है, जानता है कि यह दखलंदाज़ी कर रहा है। डिस्चार्ज अहंकार *डखोडखल*

करता है।

प्रश्नकर्ता : बुद्धि दखल करती है?

दादाश्री : बुद्धि भी दखल करती है, सभी दखल करते हैं। अहंकार-बुद्धि-चित्त और मन, ये सभी दखलवाले ही हैं न? लेकिन मूल गुनहगार माना जाता है अहंकार। क्योंकि उसके खुद के हस्ताक्षर हैं।

प्रश्नकर्ता : मन का स्वभाव तो, वह विचार करके चला जाता है?

दादाश्री : नहीं, न भी जाए। दखल करके ही छोड़ता है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन वह अहंकार जितना फॉर्सवाला नहीं है न! यानी कि मन हस्ताक्षर करनेवाले जितना फॉर्सवाला नहीं है न?

दादाश्री : अवश्य है, बहुत ही! मन एक जिद पकड़ ले तो सुबह तक चले। यानी कि कोई भी सीधा नहीं है। इसलिए खुद को ही सीधा होना पड़ेगा। वे तो सीधे ही थे, उन्हें हमने बिगाड़ा है इसलिए अगर हम सीधे हो जाएँगे तो वे सुधरेंगे।

प्रश्नकर्ता : इसमें तो प्रज्ञा जितनी चेतावनी दे, उतना ही हम सावधान हो सकते हैं न?

दादाश्री : प्रज्ञा तो बहुत चेतावनी देने को तैयार है। वह चेतावनी दे और उसे मानें नहीं तो वह बंद हो जाती है।

प्रश्नकर्ता : उदाहरण के तौर पर हम अगर उसका सभी कुछ मानें तो वह सभी चेतावनियाँ देगी?

दादाश्री : उससे भान रहता है सारा। हाँ, सभी चेतावनियाँ देती है। हम उसके प्रति सिन्सिअर रहें तो वे सभी चितावनियाँ देती है। उसे कुछ भी करके मोक्ष में ले जाना है इसलिए अगर उसकी खुद की इच्छा के अनुसार हो रहा हो, उसकी भावना के अनुसार हो रहा हो तो तैयार ही रहती है।

इसमें 'हम,' कौन है?

प्रश्नकर्ता : 'हमें' दखल करने की आदत है, इसमें 'हम' कौन है?

दादाश्री : वह हम ही हैं अभी भी। 'हम' दो प्रकार से रहा हैं अब। व्यवहार से इस तरफ रहे हैं और वास्तव में दूसरी तरफ हैं। जितना 'देखें' उतना छूटता है, उतना चला जाता है। जितना नहीं 'देखा' उतना व्यवहार से रहा न!

प्रश्नकर्ता : हाँ, वह तो रहा।

दादाश्री : आप कहते हो कि 'मुझे जलेबी बहुत भाती है।' यह जलेबी छूटने के लिए ही आई थी लेकिन एक तरफ 'भाती है' ऐसा कहते हो तो उससे फिर दखल हो जाती है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन हम अर्थात् यह शरीर न?

दादाश्री : नहीं। इगोइज़्म, अहंकार।

एकता मानी अहंकार ने

प्रश्नकर्ता : इसका मतलब ऐसा है कि जो असहज है वह सहज को बाँध लेता है?

दादाश्री : जब तक एकता मानी है न, तभी तक!

प्रश्नकर्ता : एकता किसने मानी है?

दादाश्री : अहंकार ने एकता मानी है, इसलिए।

प्रश्नकर्ता : जब तक भेद ज्ञान नहीं हुआ हो, तब तक वह समझ में आए कैसे?

दादाश्री : समझ में आएगा ही नहीं न! जब तक अहंकार है, तब तक 'इट हेपन्स' कैसे कहा जा सकता है? जब तक अहंकार है, तब तक न जाने किस टाइप का पागलपन करे, वह कैसे कहा जा सकता है? आपका अहंकार ज्ञान लेने से चला जाता है और कुछ

भाग का जो चार्ज अहंकार है, वह दखल करनेवाला अहंकार चला जाता है और वह इट हैपन्सवाला (डिस्चार्ज) अहंकार रह जाता है। इसी कारण समझ में आता है।

प्रश्नकर्ता : डिस्चार्ज करने के लिए, *निकाल* करने के लिए अहंकार रह जाता है।

दादाश्री : 'इट हैपन्स' में जितनी ज़रूरत है, उतना डिस्चार्ज अहंकार रहता है।

तब वह कहलाती है समझ

डिस्चार्ज अहंकार के खत्म हो जाने के बाद देह जो भी क्रिया करती है, वह सहज क्रिया कहलाती है, बिल्कुल सहज। उस घड़ी आत्मा भी सहज और यह भी सहज। दोनों जुदा और सहज भी दोनों ही।

अर्थात् जब यह डिस्चार्ज अहंकार भी खत्म हो जाता है, तब सहज आता है। सहजरूप से। जैसे भूख लगाने के लिए हमें कुछ करना नहीं पड़ता, उतनी ही आसानी से होता है।

प्रश्नकर्ता : जो कुछ भी सहज क्रिया हो रही हो, उससे कोई कर्म बंधन नहीं होता?

दादाश्री : हो ही नहीं सकता न! आपको डिस्चार्ज में भी कर्म बंधन नहीं होता। डिस्चार्ज अहंकार कर्म नहीं बाँध सकता। यह अहंकार कर्म छुड़वाने के लिए है। वह अहंकार बंधे हुए कर्मों को छोड़ने के लिए है। जो बंधा हुआ है उसे छुड़वाने के लिए कोई चाहिए तो सही न? अत: छोड़ने का अहंकार है वह।

शुद्ध व्यवहार कब?

अब व्यवहार की शुद्धता कब है कि तन्मयाकार न हो, चिपके ही नहीं। स्पर्श करे लेकिन चिपके नहीं, तब शुद्ध कहलाता है नहीं तो शुद्ध होने के कारण उत्पन्न होंगे। वह कुछ समय पश्चात शुद्ध हो जाएगा। शुद्ध अर्थात् सहज, सहज व्यवहार। और जिसका व्यवहार सहज है उसका आत्मा सहज आत्मा कहलाता है। सहजात्म स्वरूप अर्थात् क्या

कि जिसका व्यवहार सहज है, ऐसे आत्म स्वरूप को सहज आत्मा कहा जाता है। फिर क्रमिक में उसका अर्थ ज़रा कच्चा रहता है क्योंकि उसमें जो ज्ञानी हैं, वे जितने भाग में सहज हुए हैं, उतने ही होंगे न! बाकी का जितना अशुद्ध रहे, वहाँ पर तो असहज रहे न! और यहाँ तो सहज हो ही जाता है।

'*आत्मज्ञान सरल-सीधुं सहज थये छके नहीं*।' (आत्मज्ञान सरल व सीधा है, सहज हो जाए तो कैफ (जानपने का नशा) नहीं चढ़ेगा।) आपको यह सरल-सीधा आत्मज्ञान दिया है। यह जब सहज होगा तब उसे कैफ नहीं चढ़ेगा। '*आत्मज्ञान सरल-सीधुं सहज थये छके नहीं*।' बहका हुआ नहीं होता। लोग कहते हैं न कि इसे कैफ हो गया है। देखो न, थोड़ा बहुत जाना उसी में उसका दिमाग़ चढ़ गया है। यानी कि कैफ नहीं चढऩा चाहिए, कैफ न चढ़ता जाए। जिसने जाना है उसे कैफ नहीं चढ़ता। नहीं जाना है वह बहुत ज़ोर जमाता है।

दखल नहीं, तो वह सहज

आत्मा तो सहज ही है, स्वभाव से ही सहज है। देह को सहज करना है। इसलिए उसके परिणाम में दखल नहीं करनी चाहिए। उसका जो इफेक्ट होता है उसमें किसी भी तरह की दखल नहीं करनी चाहिए, उसे सहज कहते हैं। परिणाम के अनुसार ही चलता रहता है। दखल करना भ्रांति है। दखल करनेवाला व्यक्ति मन में ऐसा मानता है कि 'मैं कुछ कर रहा हूँ।' 'मैं कुछ कर रहा हूँ।' वह भ्रांति है।

व्यवहार में जब तक संपूर्ण तैयार नहीं हो जाते, तब तक संपूर्ण आत्मा प्राप्त नहीं हुआ है। अर्थात् व्यवहार में सहजात्म स्वरूप अर्थात् आमने-सामने किसी की किसी में दखल नहीं रहती। ऐसा होना चाहिए या ऐसा नहीं होना चाहिए, ऐसी दखल नहीं रहती। किसी की किसी में दखल है ही नहीं। अपने-अपने काम करते जाओ। कर्तापुरुष जो करता हैं, उसे ज्ञातापुरुष निरंतर जानता ही रहता है। दोनों ही अपने-अपने कार्य में रहते हैं।

देखो आश्चर्य, कैसा आश्चर्य! पूरे दस लाख सालों में यह सब से बड़ा आश्चर्य है। कई लोगों का कल्याण कर दिया।

‘यह मुझ से हो सकता है और यह मुझ से नहीं हो सकता, इसका मुझे त्याग करना है,’ जब तक ऐसा है तब तक सबकुछ अधूरा है। त्याग करनेवाला अहंकारी है। ‘यह हमसे नहीं हो सकता’ ऐसा कहनेवाला अहंकारी है। ‘यह हम से हो सकता है,’ ऐसा कहनेवाला भी अहंकारी है। यह सारा अहंकार ही है। अर्थात् आप में यह पूर्ण प्रकट हो गया है, इसलिए सभी क्रियाएँ हो सकती हैं। संसार की सभी क्रियाएँ हो सकती हैं और आत्मा की सर्वस्व क्रियाएँ, दोनों अपनी-अपनी क्रिया में रहते हैं। वीतरागता, संपूर्ण वीतरागता में रहकर! ऐसा है यह अक्रम विज्ञान!!!

शरीर स्वभाव से इफेक्टिव

जो पर परिणाम हैं, जो कि डिस्चार्ज रूपी हैं, उनमें वीतरागता रखने की ज़रूरत है। दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। वह तो महावीर भगवान को जब चरवाहे ने *बरु* ठोके थे न, तो सिर्फ वीतरागता रखने की ही ज़रूरत थी और *बरु* खींच लिए उन्होंने, उस घड़ी भी वीतरागता ही। फिर चाहे देह का कुछ भी हुआ, देह से आह निकली होगी, उसे लोगों ने उल्टा माना लेकिन ज्ञानी की देह तो हमेशा ही शिकायत करती है, रोती है, सभी कुछ करती है। ज्ञानी की देह यदि यों स्थिर हो जाए तब तो वह ज्ञानी नहीं है।

प्रश्नकर्ता : सभी लोग तो ऐसा ही मानते हैं कि ज्ञानी को ज़रा ऐसा कहें तो हिलेंगे नहीं, टस से मस नहीं होंगे।

दादाश्री : लोगों को लौकिक ज्ञान है। जगत् लौकिक से बाहर निकला ही नहीं है। जलकर मरने लगे, तब भी अगर ऐसे ही बैठा रहे तो लोग उसे ज्ञानी कहेंगे लेकिन ज्ञानी का तो पता चल जाता है कि 'ये ज्ञानी हैं,' तुरंत हिल उठते हैं। यों पूरे हिल उठते हैं और अज्ञानी नहीं हिलता क्योंकि अज्ञानी तय करता है कि मुझे हिलना ही नहीं है। ज्ञानी में अहंकार नहीं होता और वे सहज होते हैं।

सहज उसे कहते हैं कि जैसा शरीर का स्वभाव है न, वैसे ही विचलित होता रहता है! शरीर ऊँचा-नीचा हो तो वह सहज है और आत्मा के परपरिणाम नहीं हों, वह सहज है। सहज आत्मा अर्थात् स्व परिणाम और शरीर ऊँचा-नीचा होने लगे तो वह अपने स्वभाव से ही हिल उठता है ऐसे। माचिस की तीली को जलाकर डाल दें तो फिर पीछे का सिरा ऊँचा हो जाता है, वह क्या है? वह सहज परिणाम है। देह के सभी परिणाम बदलते रहते हैं। अज्ञानी के नहीं बदलते। अज्ञानी तो यों स्थिर हो जाता है, वैसे का वैसा। अहंकार है न! इनमें अहंकर नहीं है, इसलिए आँखें रोती है, सभी कुछ करते हैं।

प्रश्नकर्ता : उस समय जब उनकी प्रकृति रोती है, तब वे अंदर अपने स्वरूप में स्थिर रहते हैं?

दादाश्री : ठीक है।

प्रश्नकर्ता : वे क्या प्रकृति को कंट्रोल नहीं करते?

दादाश्री : प्रकृति, प्रकृति के भाव में ही रहती है, उसे क्रंट्रोल करने की आपको ज़रूरत नहीं है। अगर आप सहज भाव में आ गए तो वह सहज भाव में ही है। यहाँ से अगर मुझे जूतों के बिना संगेमरमर के पत्थर पर से होकर जाना हो तो मैं बोल पड़ूँगा कि 'अरे जल गया, जल गया, जल गया,' तो वह ज्ञानी है। वर्ना अगर यों दबा दे, बोले नहीं तो समझना कि वह अज्ञानी है। सतर्क रहता है, पक्का रखता है। सहज का मतलब क्या है? जैसा है वैसा कह देना!

जिसे केवलज्ञान उपजा हो न, उसकी देह सहज होती है। दौड़ने के टाइम पर दौड़ता है, रोने के टाइम पर रोता है और हँसने के टाइम पर हँसता है।

तो पूछते हैं कि 'भगवान महावीर के कान में से जब कीलें निकाली थीं तो वे क्यों रो पड़े थे?' अरे भाई, वे रो पड़े उसमें तेरा क्या जाता है? वे तो रोते ही। वे तो तीर्थंकर थे वे कोई अहंकारी नहीं थे कि आँखें ऐसे रखते या ऐसा कुछ करते। आँखें भींचकर रखते, अगर अहंकारी होते तो!

कीलें ठोकते समय करुणा के आँसू थे और निकालते समय वेदना के आँसू थे। और वे आँसू आत्मा के नहीं होते। यह देह आँसूवाली होती है। मैंने कहा, यदि आँसू नहीं आएँ तो हमें समझना है कि मेन्टल हो गया है, या फिर अहंकारी हो गया है वह, पागल है। सभी क्रियाएँ साहजिक होनी चाहिए, अगर ज्ञानी है तो उनके शरीर की सभी क्रियाएँ साहजिक होनी चाहिए!

अब यह सारी बातें लौकिक ज्ञान से बहुत दूर हैं इसलिए जल्दी समझ में नहीं आ सकती न, फिट नहीं हो सकती यह बात! अलौकिक बात है यह।

साहजिक अर्थात् बिना मेहनत के

जिसमें पुरुषार्थ न हो, वह है साहजिक। चोर चोरी करता है, तो वह साहजिक कहलाता है।

प्रश्नकर्ता : चोरी करते समय चोर के अंदर जो पुरुषार्थ चल रहा होता है तो फिर वह परिणाम साहजिक नहीं कहलाएगा न?

दादाश्री : नहीं, फिर भी वह साहजिक ही कहलाएगा। चोर चोरी छोड़ दे, तो वह पुरुषार्थ कहलाएगा। छींक खाना, साहजिक नहीं है। वह कुदरती क्रिया है।

प्रश्नकर्ता : वह समझाइए न ज़रा।

दादाश्री : साहजिक अर्थात् मन के कहे अनुसार चलना। वह साहजिक है। खुद को कुछ सोचना नहीं है, खुद को कुछ मेहनत नहीं करनी है, पुरुषार्थ नहीं। गाड़ी जहाँ जाए, वहाँ जाने देना, उसे साहजिक कहते हैं। साहजिक अर्थात् कोई मेहनत नहीं है, अपने आप ही होता रहता है।

प्रश्नकर्ता : मन के कहे अनुसार चले तो साहजिक है इसलिए अजागृत अवस्था में, अज्ञा दशा में साहजिकता होती है। उस प्रकार की साहजिकता?

दादाश्री : हाँ, वह साहजिक कहलाता है। साहजिक में पुरुषार्थी नहीं होते, लट्टू ही होते हैं और ज्ञान होने के बाद का जो साहजिक है, वह परमात्मा कहलाता है।

जहाँ सहजता वहाँ खत्म कार्य-कारण

सहजता का अर्थ क्या है कि यह पत्ता होता है न, इस पत्ते को हवा इधर से उड़ाए तो यों ऐसे उड़ जाता है और हवा दूसरी तरफ से उड़ाए तो वापस वैसे उड़ जाता है। खुद का कुछ भी नहीं। पोतापना है ही नहीं!

प्रश्नकर्ता : तो फिर संक्षेप में क्या ऐसा है कि जो कर्म अहंकार शून्य हैं, वही सहज हैं?

दादाश्री : हाँ, वही सहज हैं।

प्रश्नकर्ता : तो सहज वर्तन क्या है?

दादाश्री : ऐसा है न, सहज वर्तन अर्थात् वह जो भ्रांति का भाग था, वह चला जाए तो उसे सहज कहते हैं! भ्रांति का भाग चला गया। तो बचा क्या? सहज।

प्रश्नकर्ता : 'सहज' के बाद फिर कर्म नहीं बंधते न?

दादाश्री : फिर कर्म बाँधेगा ही नहीं न!

प्रश्नकर्ता : तो फिर उससे वस्तु प्योर हो गई न?

दादाश्री : हाँ, प्योर! और प्योर होने के बाद कारण-कार्य नहीं रहा!

प्रश्नकर्ता : ऐसा ही इस सहजता में होता है न?

दादाश्री : हाँ, बस। उसमें कारण-कार्य नहीं रहा और सहजता चली गई कि कारण-कार्य उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसा है न, इस ज्ञान के बाद चार्ज में आप भी सहज हो और डिस्चार्ज में असहज हो क्योंकि पिछले जो कॉज़ेज़ हो चुके हैं न, उनके ये परिणाम बाकी हैं, उनमें असहज हो जाते हो।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् इफेक्ट में असहज और कॉज़ेज़ में सहज।

दादाश्री : हाँ, बस।

प्रश्नकर्ता : लेकिन कॉज़ेज़ में सभी लोग सहज रहते हैं?

दादाश्री : नहीं, सिर्फ अपने ज्ञान लिए हुए महात्मा ही कॉज़ेज़ में सहज हैं।

प्रश्नकर्ता : उसमें भी जो पाँच आज्ञा में रहते हैं, उतने ही सहज हैं न?

दादाश्री : हाँ, उतने ही, बाकी के नहीं!

सहज समाधि

प्रश्नकर्ता : कोई व्यक्ति सहज समाधि की स्थिति में रह सकता है या नहीं?

दादाश्री : बहुत ही कम लोग रह सकते हैं। जो सहज समाधि में रहते हैं, वही भगवान कहलाते हैं।

प्रश्नकर्ता : मानव का अंतिम ध्येय तो यही है न?

दादाश्री : खुद की गलत मान्यताएँ छोड़ देना ही अंतिम ध्येय है। गलत मान्यताओं की वजह से असहज हो गया है यह। गलत मान्यताएँ छूट जाएँ तो सहज ही है।

'करो,' वहाँ आत्मज्ञान नहीं है

अभी एक भाई ने बात की थी, 'करो, करो,' कह रहे थे न! वह आत्मा के लिए या आत्मज्ञान के लिए कह रहे हैं कि 'करो'!

अर्थात् ये जो कहते हैं न कि 'करो', लेकिन उससे तो आत्मज्ञान करोड़ों जन्म तक भी प्राप्त नहीं होगा। आत्मज्ञान सहज है, उसमें सहज स्थिति उत्पन्न होती है अर्थात् 'सहज' का और 'करो' का, इन दोनों के बीच में आदि काल से बैर है! बैर है या नहीं?!

सहज अवस्था करने से प्राप्त नहीं होती। वह तो जब यों ज्ञानीपुरुष की कृपा बरसे कि सहज हो जाता है तो काम हो गया! जो लोग ऐसा कहते हैं कि ऐसा करो और वैसा करो, वे सहज अवस्था से विरुद्ध करवाते हैं। संसार में कर्म बंधन की स्थिति ही वह है। बल्कि उससे ज़्यादा कर्म बंधन होते हैं। संसार में कुछ भी करना, वह आत्म स्वभाव के विरुद्ध है इसलिए वह आत्मा का विरोधी है। अब करनेवाले मन में खुश होते हैं कि मैंने ऐसा किया और वैसा किया। अरे भटक मरने के लिए किया है!

अत: इंसान को विवेक से समझना चाहिए। 'जल्दी उठना चाहिए।' पॉसिबल हो तो चार–साढ़े चार बजे। फिर इतना समझने के बाद जो हुआ वह सही है। निश्चय रखना चाहिए, फिर भी जो हुआ वह सही है। फिर बात को ऐसे पकड़कर नहीं रखना है या ज़ोर ज़बरदस्ती नहीं करनी है। वीतरागों का मार्ग ज़ोर ज़बरदस्ती का नहीं है।

या तो सहज या फिर ज़ोर ज़बरदस्ती, दो ही होते हैं। तो ऐसे ज़ोर ज़बरदस्ती करते हुए देखा है मैंने लोगों को। आपने नहीं देखे होंगे ज़ोर ज़बरदस्ती करनेवाले?

या तो ज़ोर ज़बरदस्ती करता है या फिर सहज रहता है। आपको ये जो मिले हैं, वे सभी ज़ोर ज़बरदस्ती हैं। रहने दो न भाई! मोक्ष के लिए क्या ऐसा होता होगा?

प्ऱश्नकर्ता : बात को पकड़कर रखे तो हम जान जाते हैं कि यह ज़ोर ज़बरदस्ती कर रहा है।

दादाश्री : हाँ। आत्मा तो न जाने कहाँ रह गया, और बिना दूल्हे की बरात देखो तो सही! दूल्हा तो अभी तक आया नहीं और बारात खाना खाने बैठी है!

ज्ञान उसे कहते हैं कि जो लोगों को साहजिक बनाए। शास्त्रों में तो ऐसा करो, वैसा करो और फलाना करो और तप करो और जप करो, और, फलाना करो, ऐसा सब होता है। करने की ही कथा कही गई है। सहज होने का रास्ता किसी ने दिखाया ही नहीं है। यहाँ पर बैठे तो सहज हो जाएँगे या नहीं हो जाएँगे? तो अब सहज होना है। सहज हुआ कि परमात्मा हो गया। सहजात्म स्वरूप परमात्मा कहलाते हैं। इसलिए सहज ही होना है।

प्रयत्न से जाए दूर, सहजता

प्रश्नकर्ता : अब इस चित्त प्रसन्नता का विकास करने के लिए ये सब जो प्रयत्न करते हैं, वह चित्त प्रसन्नता साहजिक नहीं कहलाती न?

दादाश्री : नहीं, वे जो प्रयत्न करते हैं, न वह रिलेटिव कहलाता है। और रिलेटिव में तो प्रयत्न ही रहते हैं जबकि रियल तो सहज होता है। सहज देखना हो तो मेरे पास

मिलेगा और वहवाला रिलेटिव होता है। कल्पना से मार–मारकर सेट करना पड़ता है, कल्चर्ड। लोगों को कल्चर्ड पसंद है, इसलिए कह रहा हूँ।

प्रश्नकर्ता : यह जो दर्शन शक्ति है, वह दर्शन प्राप्ति के प्रयास करने से आवृत हो जाती है।

दादाश्री : प्रयास करने से सबकुछ उल्टा होता है। वह अप्रयास होना चाहिए, सहज होना चाहिए। प्रयास हुआ तो सहज नहीं रहा। सहजता चली गई।

प्रश्नकर्ता : अब सभी जगह कुछ न कुछ प्रयास बताए गए हैं। अब उससे कहीं दर्शन शक्ति डेवेलप नहीं होती, सहजता प्राप्त नही होती।

दादाश्री : प्राप्त नहीं हो सकती। सहज शक्ति अलग चीज़ है। वह ऐसी चीज़ नहीं है कि प्रयत्न से प्राप्त हो जाए। प्रयत्न से और अधिक दूर जाती है। सहज शक्ति निर्विकल्प है।

सहजता का मतलब ही है, अप्रयत्न दशा

प्रश्नकर्ता : चरणविधि में है न कि 'मन–वचन–काया की आपके जैसी सहजता मुझे प्राप्त हो,' तो वह सहजता कैसी है? अर्थात् सहजता की परिभाषा क्या है?

दादाश्री : सहजता का मतलब मोटी भाषा में कहें तो अप्रयास दशा। कोई भी प्रयास नहीं। आत्मा से भी कोई प्रयास नहीं और देह से भी कोई प्रयास नहीं। मानसिक प्रयास भी नहीं और बुद्धि का भी प्रयास नहीं। प्रयास नहीं, अप्रयास दशा।

प्रश्नकर्ता : उसमें फिर मन–वचन–काया का तालमेल तो होता है न?

दादाश्री : अनायस दशा हो गई, बस। प्रयास नहीं। उसमें से प्रयास करनेवाला निकल जाता है। मन–वचन–काया काम करनेवाले हैं लेकिन प्रयास करनेवाला निकल जाता है। प्रयास करनेवाले की जो गैरहाज़िरी है, वह सहज दशा है और प्रयास करनेवाले की हाज़िरी वह असहज है। यानी कि उस प्रयास करनेवाले के चले जाने पर सहज हो

जाता है। फिर जो भी क्रिया हो रही हो तो उस क्रिया में कोई आपत्ति नहीं है। प्रयास करनेवाले को लेकर आपत्ति है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् यह प्रयास करने की गाँठ ही पड़ चुकी है उसे।

दादाश्री : हाँ।

प्रश्नकर्ता : क्या वास्तव में किसी भी प्रकिया में प्रयास की ज़रूरत है ही नहीं?

दादाश्री : प्रयास की ज़रूरत है, लेकिन उसे करनेवाला नहीं होना चाहिए। प्रयास की ज़रूरत नहीं है, ऐसा कहेंगे तो फिर लोग काम करना छोड़ देंगे सारा। छोड़ देने का भाव करेंगे। अत: प्रयास की ज़रूरत है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन हकीकत क्या है अंदर की, एक्ज़ेक्टनेस?

दादाश्री : प्रयास करनेवाला ही चला जाए तो बस, हो गया।

प्रश्नकर्ता : यह जो मन-वचन-काया की प्रकियाएँ होती हैं, उस समय प्रयास करनेवाला वास्तव में होता है क्या?

दादाश्री : प्रयास करनेवाला है इसीलिए यह प्रयास कहलाता है। वह सहज नहीं कहलाता। प्रयास करनेवाला चला जाए तो वही की वही चीज़ फिर सहज कहलाती है।

प्रश्नकर्ता : तो फिर प्रयास करनेवाला ये मन-वचन-काया की जो प्रकिया करता है, तब जो होता है और प्रयास करनेवाला जब चला जाता है तब जो होता है, वास्तव में तो दोनों ही मिकेनिकल ही था न?

दादाश्री : होने में, चीज़ वही की वही होती है, उसके होने में चेन्ज नहीं है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् अगर इसने यह प्रयास नहीं किया होता तो भी वैसा ही होता?

दादाश्री : प्रयास में दखलंदाज़ी है, वह झंझट है।

प्रश्नकर्ता : दखलंदाज़ी का *भोगवटा* खुद को आता है कि दखलंदाज़ी से मन–वचन–काया में बदलाव हो जाता है?

दादाश्री : उससे बदलाव होनेवाला भी नहीं है। प्रयास किया है इसलिए अप्रयास नहीं कहलाएगा।

प्रश्नकर्ता : वह ठीक है लेकिन वह जो प्रयास होता है, उससे मन–वचन–काया की प्रकिया में कोई बदलाव आता है?

दादाश्री : कोई भी बदलाव नहीं आता!

प्रश्नकर्ता : तो फिर प्रयास करने से क्या परिणाम उत्पन्न होते हैं?

दादाश्री : वह तो सिर्फ उसका अहंकार है कि 'मैं कर रहा हूँ!'

प्रश्नकर्ता : उससे अगले जन्म की जवाबदेही आती है?

दादाश्री : हाँ, अगले जन्म की जवाबदेही लेता है क्योंकि वह रोंग बिलीफ है।

प्रश्नकर्ता : और अगर वह रोंग बिलीफ छूट जाए तो फिर ऐसा कहा जाएगा कि प्रयास करनेवाला चला गया?

दादाश्री : फिर अप्रयास दशा, सहज हो गया। मैं खाता–पीता हूँ, वह सब सहज कहलाता है।

प्रश्नकर्ता : तो रोंग बिलीफ थी तब प्रयास करनेवाला कहलाया, उस रोंग बिलीफ के जाने के बाद ऐसा क्या होता है?

दादाश्री : कुछ भी नहीं होता, दखल चली जाती है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन जिसे रोंग बिलीफ थी, क्या उसका अस्तित्व रहता है फिर?

दादाश्री : एक तरफ आत्मा और एक तरफ यह देह, अप्रयास देह, मन–वचन–काया। वह *पुद्गल* तो है ही लेकिन उसमें बीच का इगोइज़म भाग चला गया।

जिसे स्ट्रेन हो रहा था, वह चला गया, जो थक रहा था वह चला गया। जो परेशान हो जाता था वह चला गया। वे सब चले गए।

प्रश्नकर्ता : तो बचा कौन?

दादाश्री : कुछ भी नहीं। यह सहज बचा। अंदर किसी और की दखलंदाज़ी नहीं रही।

प्रश्नकर्ता : इस देह से क्रिया करनी हो, वाणी है लेकिन उसमें उस अहंकार की ज़रूरत पड़ती है न?

दादाश्री : कोई ज़रूरत नहीं है। कॉज़ेज़ करनेवाला ही चला गया वहाँ से! सिर्फ इफेक्ट ही बचा।

प्रश्नकर्ता : तो फिर आप जो कहते हो न कि जब तक अहंकार हस्ताक्षर न करें, तब तक क्रिया नहीं होती, तो फिर वह कौन सा अहंकार है?

दादाश्री : डिस्चार्ज अहंकार।

प्रश्नकर्ता : तो इस डिस्चार्ज अहंकार की क्रिया में, उसके परिणाम में क्या फर्क होता है?

दादाश्री : सहज! प्रयास करनेवाला नहीं रहता, सहज होता है।

प्रश्नकर्ता : हाँ, लेकिन वह जो सहज होता है उसमें वो प्रयास करनेवाला अहंकार नहीं रहता लेकिन डिस्चार्ज अहंकार तो रहता है न उसमें?

दादाश्री : उसमें हर्ज नहीं है, वह तो रहेगा ही न! उसका तो वह सबकुछ मृतपाय। वही कहलाती है सहज क्रिया।

ज्ञानी सदा अप्रयत्न दशा में

प्रश्नकर्ता : भोजन याद आए, चाय याद आए, ऐसे सब विचार उन्हें आते रहें तो फिर ऐसा कहा जाएगा कि सहजता टूट गई?

दादाश्री : सहजता टूट ही जाएगी न! सहजता टूट जाए तो उससे कहीं आत्मा खाने नहीं लगता, वह तो खानेवाला ही खाता है। अंत में देह को सहज करना है। आहारी बनी है, लेकिन सहज करना है। सहज होने की ही ज़रूरत है। सहज होने में टाइम लगेगा लेकिन सहज अर्थात् पूर्णता। सहज अर्थात् संपूर्ण अप्रयत्न दशा। अप्रयत्न दशा से चाय आए, भोजन आए तो हर्ज नहीं है।

ज्ञानीपुरुष किसे कहते हैं? जो निरंतर अप्रयत्न दशा में रहें, उन्हें। पूरा जगत् प्रयत्न दशा में हैं और आप यत्न दशा में हो। अच्छा-बुरा करते हो, उसमें दखलंदाज़ी करते हो, आपको ऐसा होगा कि इस *पुद्गल* का वंश चला जाएगा तो क्या होगा? इस *पुद्गल* का वंश कभी भी जाता नहीं है। ज्ञाता-दृष्टा और अक्रिय, ऐसा है आत्मा। उसे यत्न भी नहीं होते हैं और प्रयत्न भी नहीं होते हैं।

प्रश्नकर्ता : आपमें आत्मा जुदा बरतता है, इसका मतलब एक-एक प्रदेश पर सभी जगह पर वह जुदा बरतता है?

दादाश्री : हाँ, सभी जगह पर। है ही जुदा, आपका भी जुदा ही है।

प्रश्नकर्ता : है तो जुदा ही लेकिन यह बरतने की बात है न!

दादाश्री : बरतना अर्थात् 'खुद का ज्ञान सर्वस्व प्रकार से है।' जितना अज्ञान है उतना नहीं बरतेगा।

प्रश्नकर्ता : लेकिन उसका अर्थ ऐसा है कि उसी अनुसार पूरे शरीर में बरतता है?

दादाश्री : हाँ, उसी अनुसार बरतता है। जितना बरते उतना सहज। ज्ञान होने के बाद देह सहज हो जाती है क्योंकि जहाँ पर क्रोध-मान-माया लोभ खत्म हो चुके हैं, वहाँ पर सहजता उत्पन्न होती है।

प्रश्नकर्ता : सहज हो जाना, वही बड़ी बात है।

दादाश्री : बड़ी बात नहीं है? अंत में सहज होना ही पड़ेगा न! अंत में सहज हुए बगैर चलेगा ही नहीं।

दादा की अनोखी साहजिकता

प्रश्नकर्ता : 'ज्ञानी के पास पड़े रहो,' ऐसा जो कहा है, पड़े रहकर यही सब देखना है?

दादाश्री : हाँ। पूरे दिन इनकी सहजता देखने को मिलेगी। कैसी सहजता! कैसी निर्मल सहजता है, कितने निर्मल भाव हैं! और अहंकार रहित दशा कैसी होती है, बुद्धि रहित दशा कैसी होती है, वह सब देखने को मिलता है। ये दो दशाएँ तो और कहीं देखने को ही नहीं मिलतीं न! अहंकार रहित दशा और बुद्धि रहित दशा देखने को नहीं मिलती। हर कहीं पर बुद्धिशाली हैं! वे यों बात करते हैं न, तब भी नाक यों चढ़ा रहता है! कुछ भी सहज नहीं रहता। फोटो लेते समय भी नाक चढ़ जाती है और फोटोवाले हमें देखें तब उसे अगर फोटो नहीं खींचनी हो न, तो भी खींच लेता है कि ये फोटो खींचने लायक हैं! वे सहजता ढूँढते हैं। नाक की अकड़ देखे तो फोटो सहज नहीं आता।

अर्थात् किसी के साथ जाते हैं न, किसी के समूह में, वहाँ पर अपना मुँह चढ़ा हुआ नहीं देखे तो वे लोग समझ जाते हैं कि 'देयर इज़ समथिंग।' लोगों को देखना बहुत अच्छी तरह से आता है। खुद का रखना नहीं आता। खुद के चेहरे को वीतराग रखना नहीं आता लेकिन सामनेवाले का चेहरा वीतराग है, वैसा उन्हें अच्छी तरह से देखना आता है, बहुत बारीकी से। मुँह चढ़ाया हो तो अच्छा नहीं दिखता, नहीं? फोटो में देखें तो भी पता चल जाता है कि इनका मुँह चढ़ा हुआ है। इसलिए फोटोग्राफर फोटो लेते हैं न, तब सामनेवाला असहज हो तो उसे फोटो लेने में मज़ा नहीं आता। वह सहजता ढूँढता है। और हमारे लिए खुश ही हैं। जैसे भी घूमें वैसे वे खुश, क्योंकि सहज हैं। वे बहुत खुश हो जाते हैं। उन्हें सहजता चाहिए और वह आसानी से मिल जाती है। अन्य कहीं पर तो उन्हें कहना पड़ता है, कि 'ज़रा सीधे बैठिए।' वर्ना फिर भी फोटो खिंचवाते समय लोगों में असहजता रहती हैं और वे फोटो सुंदर भी नहीं दिखते। सहज फोटो सुंदर दिखता है। कौन सा अच्छा दिखता है? सहज। जबकि असहज में अंदर अहंकार फैला हुआ होता है।

फोटो खिंचते समय अगर आप ऐसा कहो कि 'आप हाथ जोड़िए' तो हम हाथ जोड़ लेते हैं, बस। और मुझे क्या है? क्योंकि हमें मन में ऐसा नहीं होता है कि मेरा फोटो ले रहा है, नहीं तो विकृत हो जाएँगे। हम सहज में ही रहते हैं। बाहर चाहे कितने भी फोटो लेने आएँ तो फोटोवाले भी समझ जाते हैं कि दादा सहज में ही है। तुरंत ही बटन दबा देते हैं।

जब तक हमारी साहजिकता रहती है तब तक हमें प्रतिक्रमण नहीं करने होते। साहजिकता में प्रतिक्रमण आपको भी नहीं करने पड़ेंगे। साहजिकता में फर्क आया कि प्रतिक्रमण। हमारी साहजिकता ही है, जैसे देखो, जब देखो तब हम उसी स्वभाव में दिखाई देते हैं। साहजिकता में फर्क नहीं आता।

व्यवस्थित समझने से प्रकट होती है सहजता

आप आत्मा हो ही गए हो, फिर अब रहा क्या?

प्रश्नकर्ता : अर्थात् आत्मा शुद्ध हो गया। यह तो प्रश्न हुआ कि 'इनकी दशा कैसी होती है?' इसलिए कहा कि पूरी अप्रयत्न दशा उत्पन्न हो जाती है। खुद के चप्पल पहनने तक का प्रयत्न नहीं रहता।

दादाश्री : अभी भी अप्रयत्न दशा ही है। प्रयत्न तो, जब अहंकार हो तब कहलाता है।

प्रश्नकर्ता : आपने कहा था कि 'रेल्वे स्टेशन पर गए हों, गाड़ी में जाना हो, तब स्टेशन पर जाकर बार-बार ऐसे झाँककर नहीं देखते कि गाड़ी आई है या नहीं?'

दादाश्री : ऐसा देखें तो उसमें हर्ज क्या है? फिर खुद को पता चलता है न कि यह भूल हो गई ज़रा। अत: ऐसा भाव रखना है कि सहज होना है। हमें दृष्टि कैसी रखनी है? सहज। जिस समय जो होता है वह देखना है। और ध्येय कैसा रखना है कि दादाजी की सेवा करनी है और भाव सहज रखना है। दादाजी की सेवा मिलनी तो बहुत बड़ी चीज़ है न! वह तो बहुत बड़ा पुण्य हो तब मिलती है, नहीं तो नहीं मिलती न! यों हाथ भी नहीं

लगा सकते न! एक बार यों हाथ लगाने को मिले तो वह भी बहुत बड़ा पुण्य कहलाएगा। ऐसा हो जाए तो मन में मानना कि बहुत दिनों में यह प्राप्त हुआ है, इतना भी क्या कम है? बाकी, किसी भी तरीके से शुद्ध उपयोग में रहना चाहिए।

प्रश्नकर्ता : सहज तो तभी हो सकते हैं न कि जब संपूर्ण विज्ञान अंदर खुल जाए? तभी सहज हो सकते हैं?

दादाश्री : जब 'व्यवस्थित' संपूर्ण रूप से समझ में आ जाए तब संपूर्ण सहज हो सकते हैं। अब यह तो अपने आप होता ही रहता है। उसके लिए बहुत ऐसा नहीं रखना है कि इन मेहमानों के लिए इंतज़ार करके बैठे नहीं रहना है। इंतज़ार करने से तो अंत ही नहीं आएगा लेकिन व्यवस्थित समझ में आ जाए कि तुरंत सहज हो जाएगा।

प्रश्नकर्ता : सहज होने के लिए व्यवस्थित पूरी तरह से समझ में आ जाना चाहिए न?

दादाश्री : व्यवस्थित पूरी तरह से समझ में आ जाए तो पूरी तरह से सहज हो जाएगा, बाकी जितना व्यवस्थित समझ में आए, उतना ही सहज होता जाएगा। उससे फिर घबराहट होगी ही नहीं। व्यवस्थित समझ में आ जाए तो इस दुनिया में कोई परेशानी है ही नहीं। व्यवस्थित जितना समझ में आता जाएगा, उतना ही केवलज्ञान खुलता जाएगा, और उतना ही सहज होता जाएगा।

प्रश्नकर्ता : व्यवस्थित को नहीं समझ पाता तभी उपयोग से बाहर जाता है न?

दादाश्री : हाँ। तभी जाता है। नहीं तो उपयोग से बाहर जाए ही नहीं न और तभी तो असहज हो जाता है। व्यवस्थित जितना समझ में आता जाएगा उतना सहज होता जाएगा। जैसे-जैसे व्यवस्थित समझ में आता जाएगा, उसके आवरण खुलते जाएँगे, वैसे-वैसे सहज होता जाएगा। निर्विकल्प तो हो गए हैं लेकिन सहज नहीं हो पाए हैं। निर्विकल्प तो जब से ज्ञान दिया तभी से हो गए हैं।

जितनी सहज अवस्था उत्पन्न होती है न, वैसे-वैसे वाणी-वर्तन सबकुछ बदलता जाता है। वीतरागता आती जाती है न!

वाणी कब सहज होती है? जब ऐसा लगे कि 'टेपरिकॉर्डर बोल रहा है,' तब वाणी सहज हो जाएगी। जब वाणी मालिकी रहित हो जाएगी, तब सहज हो जाएगा। तब तक ठीक तरह से पाँच आज्ञा का पालन कर और उसी में आगे बढ़।

प्रश्नकर्ता : वाणी की सहजता चौदह साल के बाद आती है?

दादाश्री : तभी होगा न! वाणी की सहजता, मन की सहजता, शरीर की सहजता, तभी आएगी न! वह उसका फल है। देहाध्यास छूटते-छूटते -छूटते सहजता आती है। सहजता आए तब पूर्णाहुति कहलाती है क्योंकि आत्मा तो सहज है ही और देह की सहजता आ गई। कृपालुदेव ने कहा है कि 'देहाध्यास छूटे तो भी बहुत हो गया।' तू कर्म का कर्ता नहीं है। *'छूटे देहाध्यास तो नहीं कर्ता तू कर्म, नहीं भोक्ता तू तेहनो; एज धर्म नो मर्म।'* (देहाध्यास छूटे तो तू कर्म का कर्ता नहीं है और तू उसका भोक्ता भी नहीं है, यही धर्म का मर्म है)

सहजात्म स्वरूप अंतिम पद है, सहज स्वरूप। सहजानंद, बिना प्रयत्न के आनंद, सहज आनंद, अप्रयत्न दशा!

प्रकटे आत्म ऐश्वर्य सहजपने में से

सहज का मतलब क्या है? जहाँ पानी ले जाए वहीं चला जाए, उसके जैसा। फिर पानी ऐसे चला जाए तो वैसे चला जाता है। पोतापना नहीं। पानी जहाँ पर ले जाए खुद वहीं पर जाए, उस तरह से।

सहज का मतलब क्या है? एक मिनट के लिए भी सहज हो गया तो वह भगवान पद में आ गया। जगत् में कोई भी सहज हो सके ऐसा नहीं है! एक मिनट के लिए भी कोई नहीं हो सकता। सहज तो, इस अक्रम विज्ञान से आप हो गए हो! नहीं तो यों वकालत करते-करते क्या कोई सहज हुआ जाता होगा? वकील कहीं सहज होते होंगे? और वापस केस लेकर बैठते हैं न? लेकिन देखो सहज हो पाए न! वह भी आश्चर्य है न! यह सब से बड़ा चमत्कार कहलाता है। फिर भी हम कहते हैं कि चमत्कार जैसी कोई चीज़ नहीं है। समझ

में नहीं आने की वजह से लोग कहते हैं कि चमत्कार है। बाकी साइन्टिफिक समकमस्टेन्शियल एविडेन्स हैं ये सारे!

अभी तो, आपको जो यह विज्ञान दिया है, वह आपको अब निरंतर सहज ही कर रहा है। और अगर सहज हो गए तो मेरे जैसे हो जाओगे। मेरे जैसे हो गए तो ब्रह्मांड के *ऊपरी* (बॉस, वरिष्ठ मालिक) कहलाओगे। दादा भगवान को ब्रह्मांड का *ऊपरी* कहते हैं। उसका क्या कारण है कि इस देह के मलिक नहीं हैं। तो फिर इस देह का मालिक कौन है? तो कहते हैं कि यह पब्लिक ट्रस्ट है।

प्रश्नकर्ता : दादा, आपने सभी को थोड़ा-थोड़ा, हर एक की शक्ति के अनुसार आत्मा का एश्वर्य दिखा दिया है।

दादाश्री : कितना बड़ा ऐश्वर्य दिखा दिया! देखो न, चेहरे पर कैसा आनंद है, वर्ना ऐसा रहता जैसे एरंडी का तेल चुपड़ा हुआ हो।

सहज हो चुके व्यक्ति का एक वाक्य भी बहुत हितकारी होता है लोगों के लिए! सहज का एक ही वाक्य हो तो भी बहुत हितकारी है। कोई सहज हुआ ही नहीं है न! सहजता का यह उपाय अपने यहाँ पर है। अब जितना समझदार होता जाएगा, सीधा होता जाएगा उतना। सीधा हो गया कि सहज हो गया।

हम अमरीका गए थे, तब गठरी की तरह गए थे और गठरी की तरह वापस आ गए। अमरीका में सभी जगह गए थे, वहाँ पर भी इसी तरह और सब जगह इसी तरह। हमारा कुछ भी नहीं।

'विचरे उदय प्रयोग! अपूर्व वाणी परम श्रुत!' (विचरते हैं उदय अनुसार, अपूर्व वाणी परम श्रुत) इस तरह से।

प्रश्नकर्ता : आत्मा का जो ऐश्वर्य है, वह क्या सहजपने में से प्रकट होता होगा?

दादाश्री : सहज में ही, जितना सहज होता जाएगा, उतना ऐश्वर्य प्रकट होता जाएगा। अब सहज तो फॉरेनवाले भी रहते हैं। अपने यहाँ पर बच्चे भी सहज हैं लेकिन वह अज्ञान सहजता है। अगर ज्ञानपूर्वक ऐसी सहजता रहेगी तो हो सकेगा।

प्रश्नकर्ता : यह लौकिक ऐश्वर्य होता है, उससे भी कभी न कभी थकान महसूस होती है!

दादाश्री : निरी थकान ही होती है। उस ऐश्वर्य से थकान ही महसूस होती है। मेरे पास इतने बीघा ज़मीन है, मेरे इतने बंगले हैं, सारा वज़न सिर पर आता है। जितना 'मेरा' बोलते हैं न, उतना सिर पर आता है। हाँ, बोलने के बाद क्या होता है? सिर पर आने के बाद, घबराहट होती है उसे, बाद में उसे छोड़ना नहीं आता न! 'नहीं है मेरा, नहीं है मेरा,' बोलने से छूट जाता है, लेकिन वैसा करना आता नहीं है न!

क्रिया से नहीं बल्कि उसमें चंचलता से कर्म बंधन

यह जो क्रिया हो रही है उसमें हर्ज नहीं है लेकिन उससे चंचलता उत्पन्न होती है, वह परेशानी है। क्रिया बंद नहीं करनी है। बंद होगी ही नहीं। उसमें जो चंचलता उत्पन्न होती है, जो सहजता टूट जाती है, उससे कर्म बंधन है। सहजता टूट गई तो कर्म बंध गए। ये क्रियाएँ करने में हर्ज नहीं है, किसी भी क्रिया से हर्ज नहीं है, अभिमान करे तो भी हर्ज नहीं है लेकिन चंचलता नहीं होनी चाहिए।

प्रश्नकर्ता : वह क्या है जिसे चंचलता कहते हैं? चंचलता के लक्षण क्या हैं?

दादाश्री : जिन्हें अपना ज्ञान नहीं मिला हो, वह तो मानो कि पूरा जगत् चंचलता में ही हैं। अपना ज्ञान लेने के बाद फिर चंचलता नहीं रहती है उसमें, सहजता रहती है। खुद का बिल्कुल भी धक्का नहीं लगता, बाहर की क्रिया अपने आपहोती रहती है।

यदि सहजता टूट गई तो कर्म हुआ। अर्थात् पूरा जगत् कर्म ही बाँध रहा है। चंचलता शुभ भाव में हो तो अच्छे कर्म बाँध रहा है। अशुभ भाव में हो तो खराब कर्म बाँध रहा है। अत: फिर से भोगना पड़ेगा सबकुछ। फिर से बीज पड़ेंगे। फिर से चंचलता उत्पन्न होगी।

जल्दी है? तो बन अपरिग्रही

प्रश्नकर्ता : *लक्ष* (जागृति) तो दादा उस अंतिम दशा का ही है कि यह दशा पूरी करने में जो-जो कमियाँ हैं... जब जानते हैं कि अंतिम दशा यह है और ऐसा होना चाहिए, तो अब उसके लिए क्या करना चाहिए?

दादाश्री : वह तो जब यह सारा व्यवहार छूटेगा तब तेरा काम होगा।

प्रश्नकर्ता : अब अप्रयत्न दशा तक पहुँचने के लिए उस फाइल में से निकलूँ कैसे?

दादाश्री : उसका तुझे पता चलता है न? वह किस तरह से? इस व्यवहार ने तुझे नहीं पकड़ा है, तूने व्यवहार को पकड़ा है। हम तो सावधान करते हैं कि 'भाई, ये सारी नुकसानदायकचीज़ें हैं।' जो आपको चाहिए ये चीज़ें उसमें बाधक हैं इसलिए चेतावनी देते हैं। फिर अगर उन्हें अच्छी लगे तो करते ही रहते हैं, उसमें मुझे मना करने का है ही कहाँ?

प्रश्नकर्ता : कभी न कभी तो छूटना ही पड़ेगा न! और कोई चारा थोड़े ही है?

दादाश्री : हाँ लेकिन इसीलिए तो फिर ज्ञान को जानना है।

जिसे जल्दी हो उसे अपरिग्रही हो जाना चाहिए। हाँ, नहीं तो पकोड़े खाते-खाते जाना चाहिए। दोनों में से एक तय हो जाना चाहिए। पकोड़ियाँ खाते-खाते नहीं जाना है?

आवश्यक फर्ज़ रूपी व्यवहार को शुद्ध व्यवहार कहा है भगवान ने। संडास जाना पड़ता है, पेशाब के लिए जाना पड़ता है, खाना पड़ता है, पीना पड़ता है।

प्रश्नकर्ता : हाँ, तो नौकरी के लिए जाना पड़ता है, उसे?

दादाश्री : नहीं। नौकरी करना, वह आवश्यक व्यवहार नहीं है। वह है ही नहीं, नौकरी करना है ही नहीं। नौकरी, व्यापार या खेती-बाड़ी करना ज़रूरी है, ऐसा है ही नहीं!

प्रश्नकर्ता : तो फिर वह ऐसी चीज़ हुई न कि जिसे छोड़ देना है?

दादाश्री : उसमें तो सुख है ही नहीं न! जिन्हें आगे की दशा प्राप्त करनी हैं, उनके लिए यह है ही नहीं। जो समभाव से *निकाल* करता होगा, उसके लिए वह चलेगा।

प्रश्नकर्ता : ऐसे आत्म जागृति का उत्पन्न होना और व्यवहार करना, खुद की सारी शक्तियाँ व्यर्थ खर्च करके व्यवहार करने जैसा हो जाता है। दादा से ज्ञान की समझ प्राप्त करना और वहाँ जाकर सभी शक्तियाँ व्यर्थ खर्च कर देना, उसके जैसा हो जाता है यह तो।

दादाश्री : ऐसा है न कि यह भोजन करना शरीर के लिए आवश्यक है न, नेसेसिटी। उसके बिना शरीर गिर जाएगा, मर जाएगा। उतने तक ही व्यवहार है और उसके लिए भी भगवान ने कहा है कि एक ही बार खाना। उससे कहीं मर नहीं जाओगे। और वह भी भिक्षा लेकर खाना। उसमें पीड़ा नहीं है अपने को बर्तन वगैरह लाने की। कपड़े भी माँगकर ले लेना। फिर पूरे दिन आत्मा का करते रहना, उपयोग में रहना।

प्रश्नकर्ता : उदय स्वरूप से ऐसा रहा करे और खुद उपयोग में रहे।

दादाश्री : हाँ। अगर पूरे दिन उपयोग में रहे न तो फिर कोई झंझट ही नहीं। उसमें पीड़ा नहीं है।

प्रश्नकर्ता : अब जिसे पूर्ण कर लेना है, उसकी दशा अपरिग्रही होनी चाहिए, अभी का पूरा व्यवहार खड़ा है, उसका *निकाल* किस तरह करें? उसमें किस तरह अपरिग्रही दशा लाएँ?

दादाश्री : वह तो तुझे ही तेरा खुद का पता चल जाएगा। हमें फाइलों का *निकाल* करना है न?

प्रश्नकर्ता : लेकिन जब तक संसार व्यवहार है, तब तक वह बीच में खड़ा रहेगा न?

दादाश्री : अरे, व्यवहार का तो *निकाल* कर देता है जल्दी से। प्लेन की टिकिट ली हो और एकदम से बरसात आ जाए, तो क्या वह *निकाल* किए बगैर बैठा रहेगा?

प्रश्नकर्ता : वह तो, कोई रास्ता निकालकर पहुँच जाएगा।

सहज किस तरह से रहें?

प्रश्नकर्ता : देह को सहज करने के लिए कोई साधन तो चाहिए न?

दादाश्री : हाँ, साधन के बिना तो सहज किस तरह हो पाएँगे? और फिर वापस ज्ञानीपुरुष के दिए हुए साधन होने चाहिए। कैसे?

प्रश्नकर्ता : कोई भी साधन हो तो नहीं चलेगा? किसी का भी दिया हुआ नहीं चलेगा?

दादाश्री : सहज मार्ग प्राप्त करना है, जिसे अज्ञान दशा है, भ्रांति की दशा है, उसमें भी सहज रूप से बरतने की शुरुआत करे, तब सहज मार्ग प्राप्त होगा। सुबह अगर वह चाय रख जाए तो पीना और न रख जाए तो कोई बात नहीं। खाने का वह दे दे तो खाना, नहीं तो माँगकर नहीं खाना चाहिए। वहाँ पर ऐसे-ऐसे करके भी नहीं खाना चाहिए। वैसा सहज योग बहुत कठिन है इस काल में तो। सतयुग में सहज योग अच्छा था। अभी तो लोग बिना माँगे देते ही नहीं हैं न! सहज योगवाला मारा जाता है बेचारा! यह मुश्किल चीज़ है।

कोई कहे 'यहाँ पर सो जाओ' तो सो जाना है। माँगने का समय नहीं आता। सहज प्राप्त संयोगों में ही रहना पड़े तो सहज मार्ग है। बाकी दूसरे सभी तो लोगों ने कल्पित सहज मार्ग निकाले हैं। सहज मार्ग तो है ही नहीं। वह कोई लड्डू खाने के खेल नहीं है! सभी तरह की कल्पित कल्पनाएँ करते रहे हैं।

एक महीना अगर सहज रहें न तो फिर और कोई सहज योग करने जैसा है ही नहीं। एक ही महीना सहज रहें तो बहुत हो गया।

प्रश्नकर्ता : एक दिन सहज किस प्रकार से रहा जा सकता है? एक दिन अगर सहज रूप से बिताना हो तो किस प्रकार से? उसका वर्तन कैसा होना चाहिए?

दादाश्री : वर्तन? सहज प्राप्त संयोग, जो बाहर और अंदर मन के और बुद्धि के संयोगों से परे हैं, तब सहज प्राप्त होता है। अंदर मन वगैरह जो सब शोर मचाते हैं, उन सभी से दूर रहकर, खुद इन सब को देखे और जाने। और बाहर सहज प्राप्त संयोग। दो बजे तक खाना न मिले तो भी कुछ कह नहीं सकते। तीन बजे, साढ़े तीन बजे आए तो उस समय, जिस समय दें तब.....

प्रश्नकर्ता : इस संसार की जो ज़िम्मेदारियाँ निभानी हैं, उनमें सहज किस तरह से रहा जा सकता है?

दादाश्री : नहीं रहा जा सकता। वह सहज योग तो शायद ही कोई, अरबों में कोई एकाध इंसान कर सकता है, शायद ही कभी! सहज तो, वे सब बातें करने जैसी नहीं हैं। उसके बजाय कोई दिया प्रकट हुआ हो उनसे, ज्ञानी से कहें, 'साहब, मेरा दिया प्रकट कर दीजिए।' तो वे प्रकट कर देंगे। झंझट ही खत्म हो गया। दिया प्रकट करने से मतलब है न हमें तो! उस ज्ञान मार्ग पर सहज रहा जा सकेगा। हम तो निरंतर सहज ही रहते हैं, निरंतर सहज!

सहजता में जो मिले वो भले ही, खीर–पूड़ी और मालपुए वगैरह, कहते हैं, 'जितना खा सको, उतना खाओ और फिर जब रोटी और सब्ज़ी मिले तो वे भी खा। मालपुए और खीर का आदर मत करना और रोटी को हटाना मत।' अब एक का आदर करे और दूसरे का अनादर करे, तो ऐसा धंधा ही क्यों?

प्रश्नकर्ता : दादा, सहज होना है, सहज होना है, ऐसा सब पढ़ा बहुत था लेकिन सहज किस तरह से हुआ जा सकता है, वह आपने यह जो कहा न, कि 'यदि खीर मिले तो खा, रोटी मिले तो खा,' आपकी उस बात पर से फिर यह चीज़ कि सहज किस तरह से होना, वह समझ में आ जाती है।

दादाश्री : एक का अनादार नहीं और दूसरे का आदर नहीं वह सहज। जो आ मिले उसका नाम सहज। फिर भले ही कहे, 'भाई, तला हुआ है, तला हुआ है, तकलीफ देगा!' अरे, तला हुआ तो विकृत बुद्धिवाले को तकलीफ देता है। सहज को कोई तकलीफ नहीं देता। जो आया है वह खा। आया हुआ दुःख भुगत, आया हुआ सुख भोग। ज्ञानी के लिए सुख-दुःख होता ही नहीं है न! लेकिन जो आ पड़े, वही।

और अगर कड़वा लगे तो रहने देते हो?

प्रश्नकर्ता : नहीं, निकाल देते हैं।

दादाश्री : उससे चेहरा कैसा हो जाता है, वैसे होने देना है। हमें दखलंदाज़ी नहीं करनी है, उसे सहज कहते हैं। यह पूरा मार्ग सहज का है।

प्रश्नकर्ता : 'सहज मिला सो दूध बराबर,' ऐसा कहते हैं तो अगर सहज की प्राप्ति प्रारब्ध के अधीन है तो पुरुषार्थ में क्या फर्क?

दादाश्री : सहज की प्राप्ति प्रारब्ध के अधीन नहीं है। वह ज्ञान के अधीन है। अगर अज्ञान हो तो असहज होता है और ज्ञान हो तो सहज होता जाता है। अगर अज्ञान हो तो असहज है न पूरी ही दुनिया।

यह तो अक्रम विज्ञान है, क्रम-व्रम कुछ भी नहीं। करना कुछ भी नहीं है। जहाँ पर किया जाता है, वहाँ पर आत्मा नहीं है। करे, वहाँ पर संसार है और जहाँ सहज है, वहाँ आत्मा है!

अप्रयास रूप से विचरे, वह अंतिम दशा

यह जंजाल में फँसता है, रोज़-रोज़ और अधिक फँसता जाता है। घर में बगीचा नहीं था तो वह लोगों का बगीचा देखकर बगीचा बनाता है। फिर वहाँ पर खोदता रहता है, खाद लेकर आता है, फिर पानी डालता रहता है। बल्कि यह जंजाल बढ़ाता-बढ़ाता और बढ़ाता ही जाता है। कितना जंजाल रखने जैसा था?

प्रश्नकर्ता : खाने-पीने जितना।

दादाश्री : हाँ, जिसे आवश्यक कहा जाता है। आवश्यक अर्थात् जिसके बिना चले नहीं। न खाएँ तो क्या होगा? मनुष्यपना बेकार चला जाएगा। क्या होगा? यानी कि ऐसा 'कुछ नहीं है कि अभी तू परांठे और पूरणपूरी (गुजराती व्यंजन) वगैरह सब खा। खिचड़ी या दाल-चावल जो कुछ भी हो, लेकिन आवश्यक, सिर्फ उसी के लिए हमें परवश रहना था।' किसके लिए? आवश्यक।

प्रश्नकर्ता : हाँ ठीक है।

दादाश्री : अब, खाया तो क्या सिर्फ खाने से ही चलता है? फिर उसका परिणाम आता है, रिज़ल्ट तो आता है या नहीं आता, जो भी करते हो उसका?

अब आवश्यक को कम किया जा सके, ऐसा है भी नहीं। कोई कहेगा, कि 'मुझे कम करने ही हैं लेकिन हो नहीं रहे हैं।' बेटे की पत्नी शोर मचाती है। घर में पत्नी किच-किच करती रहती है लेकिन अगर मन में ऐसा भाव हो कि 'मुझे कम करने हैं,' इतना भाव हो जाए तो भी बहुत हो गया।

अनावश्यक जितना अधिक है, उतनी ही अधिक परेशानी। आवश्यक भी परेशानी है, फिर भी उसे परेशानी नहीं माना जाता। उसकी ज़रूरत है, इसलिए। लेकिन सारा अनावश्यक तो परेशानी है।

हर एक चीज़, वे सब जो आवश्यक है, वह सोचे बगैर सहज ही हो जाना चाहिए। अपने आप ही होना चाहिए। पेशाब करने का इंतज़ार नहीं करना पड़ता। अपने आप ही आ जाती है और उसमें जगह भी नहीं देखता। और इन्हें तो, इन बुद्धिशालियों को तो जगह भी देखनी पड़ती है। जबकि सहज तो जहाँ पेशाब करना पड़े, वहीं पर हो जाती है, इन सब को आवश्यक कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : यह तो एकदम अंतिम दशा की बात हुई न?

दादाश्री : अंतिम ही न! नहीं तो फिर और कौन सी? अंतिम दशा पर से आगे की दशाएँ हम प्राप्त करते जाएँ तो वैसी दशा उत्पन्न हो जाएगी लेकिन पहले से ही दुकान बड़ी करते गए हों तो? अंतिम दशा देर से आएगी।

प्रश्नकर्ता : अगर अंतिम दशा की पिक्चर सामने हो, तभी वहाँ तक पहुँचा जा सकेगा न?

दादाश्री : तभी जा सकेंगे। अंतिम दशा की यह एक पिक्चर बता रहा हूँ। सिर्फ आवश्यक ही रहे। उसमें थाली-लोटा वगैरह न हो और आवश्यक में भी पेशाब घर आने की राह न देखे, वह सहज है, इसका मतलब वहीं पर, गाय-भैसों की तरह। उन्हें शरम वगैरह कुछ नहीं होती। गाय-भैसों को शरम आती है? क्यों अगर गाय शादी के मंडप में खड़ी हो तब भी? उस घड़ी भी विवेक नहीं रखती?

प्रश्नकर्ता : बिल्कुल भी नहीं, किसी की शरम नहीं रखती। सभी के कपड़े बिगाड़ देती है। तो ऐसी सहज स्थिति के समय खुद का उपयोग कैसा होता है?

दादाश्री : बिल्कुल कम्पलीट! देह सहज तो आत्मा बिल्कुल कम्पलीट!!

प्रश्नकर्ता : तो उसकी बाहर के प्रति दृष्टि ही नहीं होती?

दादाश्री : वह सब कम्पलीट होता है, बाहर वह सब दिखता रहता है। दृष्टि में ही आ गया सबकुछ और वही सहज आत्म स्वरूप है, वह परम गुरु है। जिनका आत्मा ऐसा सहज रहे, वही परम गुरु!

प्रश्नकर्ता : तो फिर यह अभी जो कहा न कि पेशाब घर ढूँढते हैं क्योंकि शरम आती है, तो वह किसे? वह क्या चीज़ है?

दादाश्री : विवेक रहा है न! वह सहजता नहीं रहने देता। सहजता में तो विवेक वगैरह कुछ भी नहीं होता। सहजता में तो वह कब खाता है कि जब सामनेवाला दे, तभी खाता है। नहीं तो माँगता भी नहीं, उसके बारे में सोचता भी नहीं, कुछ भी नहीं। भूख लगे, तब भी नहीं।

प्रश्नकर्ता : भूख लगे, तब क्या करता है?

दादाश्री : कुछ भी नहीं।

प्रश्नकर्ता : उसके उदय भी ऐसे होते हैं न कि भूख लगे तब चीज़ मिल जाती है?

दादाश्री : वह तो नियम ही ऐसा है कि मिल ही जाती है। सबकुछ मिल जाता है, सहज।

प्रश्नकर्ता : तब तो फिर भोजन आवश्यक में ही आता है। कपड़े-वपड़े नहीं न? आवश्यक में कपड़े नहीं आते न?

दादाश्री : कुछ नहीं होता, आवश्यक अर्थात् कपड़े वगैरह कुछ नहीं आते उसमें, सिर्फ देह की ज़रूरतें ही।

सहज दशा तक पहुँचने की पैरवी में

प्रश्नकर्ता : अभी इन संयोगों में हैं और ये सारी आवश्यकता से बहुत अधिक चीज़ें हैं अभी और यहाँ से आवश्यक(वाली) स्थिति तक पहुँचने का संधिस्थान क्या है? रास्ता क्या है?

दादाश्री : यह कम होगा वैसे-वैसे। जितना बढ़ाएँगे उतनी देर लगेगी। कम करेंगे तो जल्दी हो जाएगा।

प्रश्नकर्ता : कम करने के लिए क्या करना चाहिए?

दादाश्री : क्यों? तुझे शादी नहीं करनी है तो क्या कम नहीं हो जाएगा? और जिसे शादी करनी हो उसे?

प्रश्नकर्ता : बढ़ जाएगा।

दादाश्री : हाँ, तो बस। कोई निश्चय तो होना चाहिए न! सबकुछ योजनापूर्वक है यों ही क्या गप है? मोक्ष में जाना है तो योजनापूर्वक होना चाहिए न?

प्रश्नकर्ता : योजनापूर्वक अर्थात् खुद को करना पड़ता है, ऐसा? खुद को योजनापूर्वक सेट करना पड़ता है? ऐसे सब निर्णय लेने पड़ते हैं?

दादाश्री : सेट नहीं करना है, वह तो सेट हो ही चुका होता है सभी कुछ। वह तो हम ये बातें कर रहे हैं। इसमें से भाव जितना कम होगा तो रास्ते पर आ जाएगा तब सहज होगा, वर्ना सहज किस तरह से होगा! अपने मन से माना हुआ नहीं चलेगा। मन से माना हुआ अगर एक भी चला तो वह चलेगा क्या?

प्रश्नकर्ता : अगर शादी नहीं करनी है तो उस दिशा का पूरा जंजाल ही कम होता जाएगा....

दादाश्री : जितना जंजाल कम उतना सहज होता जाएगा और उतना ही हेल्पफुल बनेगा। जंजाल आगे बढ़ाएँ तो सहजता कम होती जाती है। हमने जो ज्ञान दिया है, तब से थोड़ा सहज हुआ है, कुछ अंशों तक। और अगर कोई कहे, 'चलो न, अब दादा ने फाइल कहा है तो जितनी भी करें तो उसमें हर्ज ही क्या है! उसे अगर उल्टा करना हो तो क्या हम मना कर सकते हैं?

प्रश्नकर्ता : बाहर की चीज़ें कम होने के लिए अंदर की जागृति कैसी होनी चाहिए?

दादाश्री : अंदर की जागृति ऐसी होनी चाहिए कि चीज़ें उसे दु:खदाई लगती रहें।

प्रश्नकर्ता : अब तो आपने दिखा दिया है कि आवश्यक चीज़ों के अलावा बाकी सभी चीज़ें जितनी छोड़ी जा सकें उतनी छोड़ ही देनी चाहिए। ऐसा ही हुआ न?

दादाश्री : हाँ, सभी नहीं होनी चाहिए। और अगर चीज़ों ने पकड़ा हुआ हो तो धीरे-धीरे किस तरह से उन्हें छोड़ दें, उसी पैरवी में रहना चाहिए।

प्रश्नकर्ता : तो उसे छोड़ देना किसमें आता है। ये चीज़ें नहीं होनी चाहिए कहा न?

दादाश्री : छोड़ देना है, शब्दों नहीं तोलने हैं इसमें। यह तो हमें अंदर समझ जाना है कि 'इससे कब छूटें!' खुद को अहितकारी लगे तो तुरंत छोड़ दे। देखो न, शादी के लिए

मना कर देता है साफ–साफ।

प्रश्नकर्ता : ऐसा सभी बातों में पता चलना चाहिए न कि यह चीज़ अहितकारी है।

दादाश्री : जब सब में ऐसा लगेगा तब कुछ हो पाएगा न! दूसरी चीज़ों में इन्टरेस्ट है अभी तो। तुम्हें शादी में इन्टरेस्ट नहीं है तो साफ–साफ कह देते हो कि 'नहीं है मेरा।' बाहर के संयोग आएँ तो भी फेंक देते हो। ऐसा सभी में होना चाहिए न!

प्रश्नकर्ता : या फिर जो मुक्त ही है, उसे जब ऐसा अंदर पूरी तरह से यह तय हो जाए कि 'यह चीज़ मेरी नहीं है' और अगर कोई खींच ले जाएँ तब भी ऐसा लगना चाहिए कि 'मैं इससे अलग ही हूँ न!'

दादाश्री : हाँ, ऐसा सब होना चाहिए, तो हर्ज नहीं है। भरत राजा को ऐसा था कि कोई पूरा राज्य ले ले, रानियाँ उठाकर ले जाए फिर भी हँसें, ऐसे थे या फिर वह सब होना ही नहीं चाहिए। परिग्रह होने के बावजूद भी संपूर्ण अपरिग्रही होना चाहिए। हमारा ऐसा ही है, सभी परिग्रह होने के बावजूद संपूर्ण अपरिग्रही!

प्रश्नकर्ता : परिग्रही होने के बावजूद भी संपूर्ण अपरिग्रही, तो इसमें चीज़ और खुद, इनके बीच ऐसा क्या कनेक्शन रखा? उन्हें किस तरह से अलग किया?

दादाश्री : अलग नहीं किया है, ''अपरिग्रहवाला ही हूँ 'मैं।''

प्रश्नकर्ता : लेकिन ऐसा किस तरह से? क्योंकि अभी के सभी संयोग ऐसे हैं कि एक भी चीज़ हटाने से हट सके, ऐसी है नहीं। भावना में होता है लेकिन पहला रास्ता यह है कि उस चीज़ से अलग हो जाना है।

दादाश्री : 'आइ' विदाउट 'माइ' इज़ गॉड! यह सारी परेशानी 'माइ' की वजह से हैं।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् 'माइ' को निकाल दें, तो चीज़ भले वहीं की वहीं रही!

दादाश्री : हाँ, बस! अंत में इस देह को सहज करना है। जिसने वैसा चित्रण अधिक किया हुआ होता है न, उसने ज़्यादा असहज किया हुआ है। इसीलिए उसे सहज होने में देर लगती है। हमने चित्रण नहीं किया था, इसलिए झटपट हल।

सहज को देखने से हुआ जाता है सहज

एक ही चीज़ कही जाती है कि 'भाई, आत्मा तो सहज है। तू अब इस *पुद्गल* को सहज कर।' अब 'सहज किस तरह से हो सकते हैं?' सहज को देखने से सहज हो जाते हैं। ज्ञानी को देखने से, उनकी सहज क्रियाओं को देखने से सहज हो जाते हैं। अगर कोई पूछे कि 'कॉलेज में नहीं सीख सकते?' तो कॉलेज में नहीं सीख पाओगे यह। क्योंकि उन प्रोफेसरों को भान ही नहीं है, तो फिर कॉलेज में किस प्रकार सीख पाओगे? और यह ज्ञान शब्द रूप नहीं है, यह तो सहज क्रिया है।

जैसे लुटेरों के पास किसी बच्चे को छोड़ दिया जाए तो वह छः महीने में तो फर्स्टक्लास लुटेरा बन जाएगा और अगर बीस साल तक लुटेरों के कॉलेज में पढऩे जाए तो भी नहीं बन पाएगा। उसी प्रकार अगर ज्ञानीपुरुष के पास रहे, तो अपने आप ही सहजता उत्पन्न हो ही जाती है।

अनादि काल से अत्यंत चंचलता उत्पन्न हो गई है, वह चंचलता अब धीरे, धीरे, धीरे शांत होते-होते सहजता उत्पन्न हो जाती है।

मुझे कोई गालियाँ दे रहा हो, उस समय मेरी सहजता देखकर आपको मन में ऐसा होगा कि 'ओहोहो, ऐसा!' तो आप तुरंत ही वह सीख जाओगे! देखा कि सीख जाते हैं। फिर कोई आपको गालियाँ दे तो भी सहजता रखना आ जाएगा। नहीं तो लाख जन्मों तक भी सीखा नहीं जा सकता। ज्ञानीपुरुष के पास रहने से सभी गुण अपने आप ही प्रकट होते जाते हैं, सहज रूप से प्रकट होते हैं! अक्रम विज्ञान में कहा जाता है, ऐसा कहने (बताने) का भावार्थ भी इतना ही है कि(ज्ञानीपुरुष के पास रहने से) सहज होता जाता है!

प्रश्नकर्ता : अक्रम विज्ञान जो है, वह सहज योग से कुछ अलग है क्या?

दादाश्री : सहज योग ही है यह। पूर्ण विज्ञान है यह। सहज योग अर्थात् असहज नहीं। यह पूरी दुनिया तो कल्पित है और यह सहज है। अक्रम विज्ञान, वह पूर्ण विज्ञान है। यह पूर्ण विज्ञान अर्थात् जब तक अधूरा है, तब तक असहज, पूर्ण हुआ तो सहज हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : मैं ऐसा मानता हूँ कि यह जो अक्रम विज्ञान है तो जो रेग्यूलर योग है, यम-नियम-आसन-धारण-ध्यान-समाधि उन सब की कोई ज़रूरत नहीं पड़ती?

दादाश्री : उसकी ज़रूरत ही नहीं है न! अष्टांग योग की पूर्णाहुति हो जाए तब जाकर यह पद प्राप्त होता है। इससे पूर्णाहुति हो जाती है! तभी सहज हो सकता है न, नहीं तो सहज नहीं हो पाएगा न! अष्टांग योग वह मुख्य मार्ग है और यह (अक्रम विज्ञान) तो कभी-कभी, अपवाद रास्ता है। शायद ही कभी यह उत्पन्न होता है। बाकी मूल मार्ग अष्टांग योग वाला है, यह तो अपवाद है। हमेशा के लिए नहीं रहता है यह मार्ग। अपवाद में जितनों को दिशा मिल गई, उतने लोगों का काम हो गया।

[6] एक *पुद्गल* को देखना

पुद्गल नाचे और आत्मा देखे

पुद्गल संपूर्ण संसारी नाच करे और आत्मा देखे तभी कहा जाएगा कि फुल स्टॉप आ गया। सर्व संसारी नाच करता है, ऐसा नहीं है कि 'भाई, यह हमें नहीं चाहिए। ऐसा होगा तो यह हो जाएगा, मुझे चिपक पड़ेगा।' फिल्म में काट-पीट नहीं करनी चाहिए। कुछ भाग निकाल दिया जाए तो कनेक्शन नहीं मिलेगा इसलिए पूरी फिल्म सहज होनी चाहिए। संसारी सहज फिल्म जैसी भी है वैसी बहुत अच्छी है। त्यागी को त्यागी की सहज फिल्म हो तो चलेगा। उसे सहज होनी चाहिए लेकिन बीच में कट ऑफ की हुई ऐसी नहीं चाहिए। मुझे यह नहीं चलेगा और मुझे यह चलेगा। अरे भाई, तू फिल्म को इस तरह से काटता क्यों रहता है? जो हुआ है, उसे चलने दे न यहाँ से! बहुत दिनों तक ऐसा किया है। अब ठिकाने पर आ गया है। वापस उसे फिर से उल्टा किसलिए कर रहा है? ऐसा कर-कर के ही तो इस ठिकाने तक पहुँचा है। यह चाहिए और यह नहीं चाहिए, ऐसे करते-करते ठिकाने पर आएँगे या नहीं आएँगे? अब ठिकाने पर आने के बाद वापस ऐसा ही करना है?

कहता है अब मुझे छः *विगई* (जैन शास्त्र शब्द) का त्याग कर देना है। अरे, छोड़ न अब, *विगई* का त्याग करेगा तो तू खाएगा क्या? गुड़, घी, दही, मक्खन–वक्खन, वह सब *विगई* में आता है न? तेल–वेल सबकुछ। अरे, छोड़ने की भक्ति कर रहा है या भगवान की कर रहा है? भगवान की भक्ति कर रहा है? भगवान किस घर में हैं और वह किसकी भक्ति कर रहा है?

अत: हमें कहना है कि जब आत्मा *पुद्गल* का संपूर्ण नाच देखे तब समझना कि फुल स्टॉप आ गया है। किसी भी नाच में रस (रुचि) न ले तो संपूर्ण (स्थिति) आ गई। रुचि नहीं लेनी चाहिए। रुचि कब नहीं लेगा कि जब खुद पूर्ण स्वरूप होगा तभी। तो आपको वह पूर्ण स्वरूप दिया है, रुचि न लें ऐसा ही दिया है। और अधूरा स्वरूप रुचि लेता है। इसका त्याग करना पड़ेगा, ऐसा करना पड़ेगा। दखल है उसकी। कब त्याग नहीं किया था? कौन से जन्म में त्याग नहीं किया? और वापस फिर वही का वही ग्रहण करता है। ये जो साधु बनते हैं न, वे इस जन्म में साधु बनते हैं, फिर जब बुढ़ापा आने लगता है तब परेशान हो जाता है अरे इसमें.... इसके बजाय तो संसारी रहना ही अच्छा था।

अत: दो चीज़ें रखनी चाहिए, या तो वर्तमान में बरते, या फिर खुद के *पुद्गल* को खुद देखे। मैंने आपका आत्मा इतना अधिक शुद्ध कर दिया है कि आप हर प्रकार से खुद के *पुद्गल* को देख सकते हो।

देखते-देखते खुद का उजाला है न, वह बढ़ जाता है और सुख भी बढ़ता जाता है। सुख नहीं बढ़ा है? तो कहते हैं, सुख तो बहुत बढ़ा है। तो फिर भाई इसमें हर्ज क्या है? ये सब शिकायतें तो *पुद्गल* की तरफ की हैं। लेकिन *पुद्गलपक्ष* अपना है ही नहीं, फिर कब तक उसके साथ दोस्ती रखें? *पुद्गल* से फ्रेन्डशिप इतनी मार पड़वाती है तो कब तक रखें? धीरे-धीरे इसे हल्का नहीं किया जा सकता? मित्रता कम नहीं की जा सकती? अपना कोई मित्र हो और वह बहुत दगाबाज़ी करे तो फिर? धीरे-धीरे मित्रता कम कर देते हैं। उसी तरह इसमें भी कम कर देना है।

पहले देखो फिर जानो

प्रश्नकर्ता : आपने आप्तवाणी में कहा है कि 'आप जानते हो लेकिन देखते नहीं हो,' वह क्या है?

दादाश्री : चंदूभाई, क्या कर रहे हैं, चाय पी, खाया-पीया, यह सब देखो। यह तो सिर्फ जानता है लेकिन देखता नहीं है न! *पुद्गल* को निरंतर देखते ही रहना चाहिए। पहला फर्ज़ यही है, जानने का फर्ज़ बाद में हैं।

प्रश्नकर्ता : यह देखना, तो वह किस तरह से?

दादाश्री : यह क्या कर रहा है ऐसा नहीं दिखता भला? ये चंदूभाई पूरे दिन क्या करते हैं, वह मुझे दिखाई देता है। वैसा ही 'आपको' भी दिखना चाहिए। बस, इतना ही। वैसा ही, फिर नई डिज़ाइन का नहीं। कोई नई डिज़ाइन या कुछ भी नहीं कि उसमें अंदर आर्किट्रेकचर को लाने की ज़रूरत नहीं है। जैसा मुझे दिखाई देता है वैसा ही आपको दिखना चाहिए।

प्रश्नकर्ता : आपने एक बार बात की भी कि चंदूभाई खाना खा रहे हों तो जैसा दर्पण में दिखाई देता है, उसी तरह से दिखाई देना चाहिए।

दादाश्री : हाँ, यानी कि वैसा ही दिखाई देना चाहिए। वह दर्पण को दिखे या मुझे दिखे, सब एक समान ही है न! वैसा ही दिखाई देना चाहिए। क्या वह मुश्किल है?

प्रश्नकर्ता : दादा, वह आपके लिए आसान है लेकिन हमारे लिए तो मुश्किल ही है न।

दादाश्री : नहीं। लेकिन वह धीरे-धीरे फिट कर लेना है, फिर अपने आप ही फिट हो जाएगा। उस तरफ दृष्टि नहीं जाएगी तो फिर वह फिट किस तरह से होगा? महावीर भगवान तो एक ही कार्य करते थे कि महावीर क्या कर रहे हैं उसे देखते रहते थे, बस। बाकी किसी झंझट में थे ही नहीं। महावीर जब जग रहे होते तब उन्हें जागृत अवस्था में देखते थे, मैं देख रहा हूँ उस तरह से। मैं देख रहा होऊँ न उस तरह से 'आपको' देखना है। कोई जागृत और समझदार व्यक्ति देखता ही रहता है, अपना सबकुछ निरीक्षण करता रहता है। उस प्रकार से 'आपको' निरीक्षण करना है, इतना ही है न! दूसरों का करने की शक्ति तो सभी लोगों में हैं लेकिन यह तो खुद का निरीक्षण करने की शक्ति! क्योंकि अनादि से इस चीज़ का अभ्यास नहीं है न, इसलिए वहाँ पर कच्चा पड़ जाता है।

दर्पण में देखकर आसान कर देते हैं। ऐसा करते-करते प्रेक्टिस हो जाएगी क्योंकि 'अनादि काल से इस तरह से देखा ही नहीं है न क्योंकि 'यह मैं खुद ही हूँ' तो फिर देखने को रहा ही कहाँ!' यह तो खुद जुदा हुआ इसलिए देख सकता है। देखनेवाला जुदा हो गया!

अत: अंतिम ज्ञाता–दृष्टा तो, चंदूभाई ही आ–जा रहे हों तो आपको ऐसा दिखे कि 'ओहोहो, आइए चंदूभाई, आइए चंदूभाई।' चंदूभाई बात कर रहे हों तो भी आपको जुदा दिखें।

देखने से होती है शुद्धि

प्रश्नकर्ता : आप शुद्धात्मा के रूप में रहकर अपनेअहंकार–मन और बुद्धि को देखते रहते हैं और फिर आपने कहा है कि उन्हें शुद्ध किए बगैर आपका छुटकारा नहीं हो सकता। तो फिर जिस घड़ी उन्हें शुद्धात्मा पद प्राप्त हुआ, तो वे यों ही शुद्ध नहीं हो जाएँगे?

दादाश्री : वह तो अगर हमारी आज्ञा का पालन करोगे तब देख सकोगे। वे देखने से शुद्ध हो जाएँगे। उन्हें अशुद्ध देखा, अशुद्ध कल्पना की इसलिए बंध गए। उन्हें शुद्ध देखा तो फिर मुक्त हो गए।

प्रश्नकर्ता : सिर्फ उसे देखते रहने से ही वह प्रकिया शुरू हो जाती है?

दादाश्री : हाँ, चंदूभाई क्या कर रहे हैं, वह आपको देखते रहना है। चंदूभाई की बुद्धि क्या कर रही है, चंदूभाई का मन क्या कर रहा है, उसे देखते रहना है।

और फिर आपको घबराना नहीं है, घबराएँगे तो लोग। चंदूभाई को आप जानते हो कि 'इस भाई का स्वभाव शुरू से ही ऐसा है।' इसे सीधा करने जाएँ तो न जाने कितने ही जन्म बिगड़ जाएँ! माल अच्छा हो तो भी फेंक देना है और खराब माल हो तो भी फेंक देना है। फेंक ही देना है न! यानी स्वभाव में आ गए, फिर क्या? अत: देखते रहना है। माल जो भी है, उसकी कीमत नहीं है, नो वैल्यू। आत्मा प्राप्त करने के बाद फिर *पुद्गल* की किसी भी तरह की वैल्यू नहीं है। जो बहुत अक़्लमंद था, वह अक़्लमंद बल्कि और भी ज़्यादा परेशान हुआ। ज़रूरत से ज़्यादा अक़्लमंद तो मार ही खाता रहता है, ऐसा है यह जगत्!

प्रश्नकर्ता : तो किसी को शाबाशी देनी चाहिए या नहीं देनी चाहिए?

दादाश्री : दें या नहीं दें, वह चंदूभाई देते हैं न! आपको कहाँ देनी है? आपको नहीं देनी है। चंदूभाई दें उसे देखना है, नहीं दे उसे भी देखना है। चंदूभाई क्या करते हैं, उसे हमें देखते रहना है। भगवान महावीर पूरे दिन एक ही काम करते थे, एक ही *पुद्गल* को देखते रहते थे, कहाँ-कहाँ अंदर परिवर्तन होता है, अन्य क्या स्पंदन हो रहा है, वही सब देखते रहते थे अंदर। आँख की पलकें फड़फड़ाएँ तो उन्हें भी देखते रहते थे। अब भगवान महावीर जो यह सब देखते थे न, वह लोग देखते हैं न, उससे कुछ अलग देखते थे। लोग तो इन्द्रिय दृष्टि से देखते हैं और भगवान अतीन्द्रिय दृष्टि से देखते थे। जो इन्द्रिय दृष्टिवाले को नहीं दिखता है, वह सारा भाग भगवान को दिखता था।

प्रश्नकर्ता : लेकिन दादा, यों देखते रहने की जो यह बात हम कहते हैं लेकिन वास्तव में तो सबसे बड़ा पुरुषार्थ तो वही हुआ न। ज्ञाता-दृष्टा में रहना और *पुद्गल* को देखते रहना।

दादाश्री : वही अंतिम पुरुषार्थ। भगवान महावीर करते थे वह।

एक आचार्य महाराज ने पूछा कि 'भगवान, आप ये सब क्या देखते रहते हैं?' तो भगवान ने कहा, 'मैं तो *पुद्गल* को ही देखता रहता हूँ। बाकी सब तो इन आँखों से दिखता ही है। उसे देखना नहीं कहते।' मैंने तो आपको रास्ता दिखाया है 'देखने' का, क्योंकि अभी आपको ठीक से *पुद्गल* को देखना नहीं आएगा। अत: मैंने क्या कहा है कि रियल और रिलेटिव देखो, बाहर हर एक का रिलेटिव दिखेगा। उसके अंदर रियल देखो तो तीन घंटे इस तरह से देखते जाओगे न तो इतनी सुंदर समाधि रहेगी। तीन घंटे नहीं, एक ही घंटे अगर देखोगे तो भी पुणिया श्रावक जैसी समाधि रहेगी।

और जब औरों के साथ व्यवहार करो न, कोई गालियाँ दे रहा हो तो वह गाली देनेवाले के रूप में दिखना ही नहीं चाहिए। शुद्धात्मा देखना चाहिए। कौन गाली दे रहा है वह देखना चाहिए और वह कौन है, उसे भी देखना चाहिए। दोनों ज्ञान एक साथ रहने चाहिए। और अपना ज्ञान सभी को ऐसा रख सकता है।

प्रश्नकर्ता : आपने दृष्टि दी है न, दादा।

दादाश्री : हाँ।

प्रश्नकर्ता : यदि दृष्टि नहीं दी होती न तो ये सारी बातें सिर्फ शब्दों में ही रहतीं।

दादाश्री : ये पाँच आज्ञाएँ दी हैं न, इनमें सभी कुछ आ जाता है!

पढ़ता रह खुद की ही किताब

प्रश्नकर्ता : दादा ने कहा है, 'तेरी ही किताब पढ़ता रह, अन्य कोई किताब पढऩे जैसी नहीं है। यह खुद की ही जो *पुद्गल* किताब है, यह मन-वचन-काया की, उसी को पढ़, अन्य कुछ पढऩे जैसा नहीं है!'

दादाश्री : इसे पढऩा आसान नहीं है भाई! 'वीर' का काम है। आसान होने के बावजूद भी आसान नहीं है। मुश्किल होने के बावजूद भी आसान है। हम निरंतर इस ज्ञान में रहते हैं लेकिन फिर भी महावीर भगवान की तरह नहीं रह पाते। वैसे तो 'वीर' ही रह सकते हैं! हमारी तो चार अंश की कमी हैं! इतना भी नहीं चल सकता न वहाँ पर! लेकिन दृष्टि वहीं की वहीं रहती है।

तीर्थंकर भगवान निरंतर खुद के ज्ञान में ही रहते थे। ज्ञानमय परिणाम ही थे। ज्ञान में कैसे रहते होंगे? ऐसा कौन सा ज्ञान उन्हें होना बाकी है कि उन्हें उसमें रहना पड़े? जो केवलज्ञान की सत्ता पर बैठे हुए पुरुष हैं तो कौन सा ज्ञान बाकी है कि जिसमें उन्हें रहना हो, तो वह है खुद के एक *पुद्गल* में ही दृष्टि रखकर उसी को देखते रहते हैं।

भगवान महावीर देखते ही रहते थे कि क्या कर रहे हैं और क्या नहीं? देवताओं ने जब खटमल का उपद्रव किया, तब इधर-उधर करवट बदलते रहे। उसे वे खुद देखते थे। 'महावीर' ऐसे करवट बदलते रहे, शरीर का स्वभाव है। 'महावीर' हो या फिर कोई भी हो, शरीर का स्वभाव है। सिर्फ अहंकारी लोग ही जो चाहे सो कर सकते हैं। खटमल तो क्या, लेकिन अगर उन्हें जला दें तो भी वे हिलें नहीं क्योंकि पूरी आत्मशक्ति उसी में रहती है। 'हाँ, जो होना हो वह हो जाए, लेकिन हिलना तो है ही नहीं,' ऐसा तय किया होता है। लेकिन देखो, आत्मशक्ति कितनी! और यह तो सहजभावी, केवलज्ञानी और

सभी ज्ञानी सहजभाव से रोते भी हैं, आँखों से पानी निकल जाता है, चीख भी पड़ते हैं। जब खटमल काटें न, तो करवट बदलते हैं। यों इधर–उधर करवट बदलते हैं। सभी कुछ देखते हैं। पहले कर्म खपाने में गया, फिर देखने में गया, निरंतर देखा। एक ही *पुद्गल* में दृष्टि रखी। सभी *पुद्गल* का जो है, वह एक ही *पुद्गल* में। खुद के *पुद्गल* का ही देखना है जो कि विलय हो जाता है!

भगवान महावीर क्या करते थे, उन्हें दिखाई देता था कि 'ये महावीर कैसे दिख रहे हैं?' भगवान महावीर, 'महावीर' को ही देखते रहते थे! उनके खुद के एक *पुद्गल* के अलावा और किसी *पुद्गल* को देखते ही नहीं थे। यह *पुद्गल* अर्थात् *पूरण-गलन*, जो हो रहा है। तो यह *पूरण* हो जाता है, *गलन* हो जाता है। पूरणपूरी (व्यंजन) खाया तो वह *पूरण* हो गया, जलेबी खाई वह *पूरण* हो गई। यह क्या *गलन* हुआ, ऐसा सबकुछ देखते ही रहते थे निरंतर।

अंदर श्वास गया, बांद्रा (मुंबई का उपनगर) की खाड़ी आई तब, कैसा श्वास(गंध) अंदर गया उसे भी जानते-देखते रहते हैं। बांद्रा की खाड़ी आए। तब कैसा श्वास अंदर जाता है?

प्रश्नकर्ता : हाँ, तब दुर्गंध आती है....

दादाश्री : लोग नाक दबाएँ, तब भी घुस जाएगा। एक ही *पुद्गल* के रूप में देखते थे। एक *पुद्गल* अर्थात् द्वंद्व नहीं रखते कि यह बुरा है, यह अच्छा है! यह वाणी खराब निकली, यह अच्छी निकली, ऐसा सब नहीं। एक ही! यह सब *पुद्गल* ही है।

प्रश्नकर्ता : फिर तो शुद्धात्मा की दृष्टि से अच्छा-बुरा रहता ही नहीं।

दादाश्री : यह अच्छा-बुरा तो जैसी दृष्टि से हम समझे थे, वैसी बन चुकी है। इसलिए यह बन चुकी दृष्टि ही ऐसा करवाती है। बाकी, एक ही *पुद्गल* है, सही-गलत होता ही नहीं है। सही-गलत समाज में है और वह भी फिर सापेक्षता है। अभी कोई हिंदू बहुत भूखा हो, तीन दिन से और अगर मांसाहारवाली थाली दें तो कहेंगे, 'नहीं भाई, हम भले कितने ही भूखे हों लेकिन हमें आमिष नहीं चाहिए' जबकि अन्य कोई खुश होकर ले लेंगे। अत: इस प्रकार से है सब। अब हमें मांसाहार का विचार आए तो मन में घिन आ जाती है। अब इसमें सही-गलत नहीं है। वहाँ पर मेरा कहना क्या है कि वहाँ आमिष कहो या निरामिष कहो, सबकुछ *पुद्गल* ही है। *पुद्गल* अर्थात् जो *पूरण* किया हुआ था वही *गलन* हो रहा है अभी, अभी *गलन* हो रहा है। *गलन* होते समय दिखता है, *पूरण* करते समय क्या नहीं दिख रहा था? तब कहते हैं, दिखा था लेकिन उसका भान नहीं है। *गलन* होते समय

अब दिखाई देता है। और जब नया *पूरण* नहीं होता, तब वहाँ पर स्टॉप आ जाता है। नया *पूरण* कब नहीं होता? तो वह तब कि जब प्रवृति में निवृत्ति रहे, तब नया *पूरण* नहीं होता। अर्थात् आप प्रवृति करते हो उसके बावजूद भी आपको कर्म बंधन नहीं होता, उसी को निवृत्ति कहते हैं। इस संसार से निवृत्ति के बारे में तो, इस बाहरी स्थूल स्वभाव से लोगों को समझ में आता है। जब तक इस काम में था, तब तक वह बैल घानी में चक्कर लगा रहा था। अब चक्कर नहीं लगा रहा।

सम्यक्त्व के बाद मात्र *गलन* ही

जगत् के लोगों में जो *पूरण* और *गलन* दोनों होते हैं, वे मोह कहलाते हैं, लेकिन सिर्फ अगर *गलन* ही हो और *पूरण* नहीं हो तो वह है चारित्रमोह। लोगों को ऐसा लगता है कि यह मोह है लेकिन हम ऐसा जानते हैं कि फाइल का *निकाल* हो रहा है।

क्या दिखाई देता है आपको? हम भी इसे यों *पुद्गल* कहते हैं। एक लाख लोग आगे-पीछे घूमते रहते थे लेकिन महावीर भगवान सिर्फ एक *पुद्गल* को ही देखते रहते थे क्योंकि जो *पूरण* किया हुआ है, वही *गलन* हो रहा है। यानी समकिती जीवों में वह एक ही कार्य हो रहा है। लेकिन जहाँ सम्यक्त्व नहीं है वहाँ पर दो कार्य हो रहे हैं, वे *पूरण* भी करते हैं और *गलन* भी करते हैं। और यह *पूरण* किए हुए का सिर्फ *गलन* ही करता है। अत: कोई जैन का *पुद्गल* हो तो जैन का *गलन* करता रहता है, वैष्णव का हो तो वैष्णव का *गलन* करता है, शिववाला शिव का करता है। मोची हो तो वह मोची का, सुथार हो तो सुथार का, लुहार हो तो लुहार का। लोग बुद्धि से देखते हैं, अलग-अलग तरह की और खुद ही वापस खुद की फिल्म बिगाड़ते हैं।

उस बेचारे ने जो भरा है वही खाली कर रहा है, उसमें आप क्यों ऐसे बिगाड़ रहे हो? अब इसमें किस तरह से समझेंगे लोग?

प्रश्नकर्ता : जब ज्ञानीपुरुष की प्रत्यक्षता होती है तो इस चीज़ के बारे में काफी पता चल जाता है। ये पहेलियाँ आसानी से सुलझ जाती हैं।

दादाश्री : हाँ, सुलझ जाती हैं। नहीं तो सुलझें ही नहीं न! शास्त्रों से हल आता ही नहीं है न! निबेड़ा ही नहीं आता न! इसीलिए कृपालुदेव ने लिखा है न, 'शास्त्रों से निबेड़ा नहीं है।' एक *पुद्गल* को देखें तो फिर कोई झंझट ही नहीं। नहीं तो बुद्धि अलग-अलग दिखाती है कि 'ये लोग ऐसा क्यों कर रहे हैं, ये लोग ऐसा क्यों कर रहे हैं?' अरे भाई, समकिती जीव हैं। उनका जो सारा माल निकल रहा है वह तो उसने जो भरा था, उसका वही माल खाली हो रहा है। उसमें तू क्यों परेशान हो रहा है? जैन *पुद्गल* और वैष्णव *पुद्गल* का मतलब क्या है कि उन्होंने जो माल भरा था, उसी को खाली कर रहे हैं।

प्रश्नकर्ता : फिर आसानी से समाधान रहता है।

दादाश्री : समाधान ही रहेगा। यह ज्ञान ही समाधानी है, सर्व समाधानी है। हर समय पर, हर काल में और हर जगह पर समाधान रहे ऐसा यह ज्ञान है, अक्रम विज्ञान। कोई गाली दे जाए तो भी समाधान रहता है। चंदूभाई किसी को गाली दे तो भी समाधान रहता है कि चंदूभाई का भरा हुआ माल निकल रहा है। उसी तरह सामनेवाले का भी भरा हुआ माल निकल रहा है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन पहले चंदूभाई को देख नहीं पाता था न!

दादाश्री : पहले तो देख ही नहीं सकता था। जब तक सम्यक्त्व दृष्टि न खुले तब तक सबकुछ उल्टा ही देखता है न! तब तक *पूरण* भी करता है और *गलन* भी करता है, दोनों करता है जबकि इसमें यह सिर्फ *गलन* ही करता है। और कुछ नहीं करता। अभी कोई बैठा-बैठा बाहर सिगरेट पी रहा हो तो किसी के मन में ऐसा होता है कि यह क्या? बुद्धिवाले सब चौंक जाते हैं। 'अरे भाई, उसने *पूरण* किया है उसका *गलन* करने दे न बेचारे को!' क्रमिक मार्ग में सम्यक्त्व होने के बाद इसी बात की उलझन रहती है। तरह तरह की उलझनें! बुद्धि है न! अंत तक बुद्धि से नापता रहता है। यह थोड़ा बहुत हिल जाते हो या नहीं रास्ते में? थोड़ा बहुत ऐसा होता है न कि ऐसा है या वैसा है?

प्रश्नकर्ता : नहीं, नहीं लगता।

दादाश्री : तो ठीक है। कहे तो भी परेशानी नहीं है न हमें!

अच्छा–बुरा, दोनों ही *पुद्गल*

इस *पुद्गल* के दो भाग हैं। यह अच्छा है और यह बुरा,यह नफा है और यह नुकसान, इस प्रकार से दो भाग हैं, क्रमिक ऐसा कहता है। जबकि यह अक्रम कहता है कि एक ही *पुद्गल* है, और कुछ है ही नहीं। एक *पुद्गल* ही है इसलिए फिर चाहे अच्छा हो या बुरा हो, भगवान को कोई परेशानी नहीं है। अच्छा–बुरा तो समाज व्यवस्था के लिए है। नफा–नुकसान किस आधार पर है? व्यवहार के हिसाब से ही है न!

बाकी सारा एक ही *पुद्गल* है। अच्छा–बुरा नहीं है। अच्छा देखने पर राग होता है, बुरा देखने पर द्वेष होता है। है एक ही *पुद्गल*। वह तो लोगों ने इसका विभाजन किया है भ्रांति से। सब *पुद्गल* की बाज़ी है। *पुद्गल* की ही बाज़ी है। यह धान का तिनका (चारा) होता है तो वह लंबा हो या छोटा लेकिन है तो धान का तिनका ही न! कागज़वाले क्या कहते हैं कि इसे अगर गाय–भैस नहीं खा रहे हैं, तो वह धान का तिनका हमें चलेगा। कागज़ बनाने के लिए हमें यह भी चलेगा और वह भी चलेगा। हमारे लिए एक ही है। उस धान के तिनके पर ज़रा पानी गिर जाए बरसात का तो फिर गाय को वह भाता नहीं है, इसलिए वे नहीं खातीं। बहुत भूख लगी हो तो खा लेती हैं। इसलिए वह कहता है कि 'काम के नहीं हैं ये धान के तिनके,' अपना भी यह ऐसा ही है। वास्तवमें ऐसा नहीं है। वास्तव में तो यह *पुद्गल* और यह चेतन, ऐसा जिसे पता है, उसे सभी कुछ पता है। साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स से बना है यह सारा *पुद्गल*। संयोग से बनी हुई सभी चीज़ें *पुद्गल* हैं, स्वभाव से बनी हुई वस्तु चेतन है।

आँखें मीचकर क्या देखना है?

प्रश्नकर्ता : अब खुद के *पुद्गल* को ही देखना है, अन्य कोई ध्यान नहीं करना है।

दादाश्री : उसमें तो कोई परेशानी नहीं है। उसी की तो ज़रूरत है। उसे ध्यान नहीं कहते। उसे दृष्टा और दृश्य कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : अत: अपने लिए अब शरीर को ही देखने की बात है।

दादाश्री : उसमें कोई हर्ज नहीं है। उन सब की तो ज़रूरत है ही न! एक *पुद्गल* को ही देखते रहना है। एक *पुद्गल* का मतलब क्या है? बहुत ही कीमती हो वह भी *पुद्गल* और जिसकी कोई भी वैल्यू नहीं हो, वह भी *पुद्गल*। अत: सभी *पुद्गल* को एक जैसा मानना है। *पुद्गल* अर्थात् विनाशी।

खुद दृष्टा बनें तब पता चलता है कि अंदर क्या है, जानने का प्रयत्न करे तब ज्ञाता बनता है, अत: *पुद्गल* ज्ञेय है।

एक *पुद्गल* का मतलब क्या?

प्रश्नकर्ता : एक *पुद्गल* अर्थात् आप क्या कहना चाहते हैं?

दादाश्री : ये सभी कुछ जो दिखाई देता है, अलग-अलग दिखाई देता है लेकिन है *पुद्गल* अर्थात् *पूरण-गलन* स्वभाव ही है। अत: वे पूरे शरीर में सिर्फ *पुद्गल* को ही देखते हैं, और कुछ नहीं देखते। विशेषण नहीं देते, ऐसा कहना चाहते हैं।

प्रश्नकर्ता : एक ही *पुद्गल* देखते हैं अर्थात् आप ऐसा कहना चाहते हैं कि *पूरण–गलन* ही देखते रहते हैं?

दादाश्री : एक ही *पुद्गल*, अन्य कुछ विशेष नहीं। इन सब को जो मानो वे सब एक *पुद्गल* ही हैं और कुछ है ही नहीं यह। यानी कि 'ये सारे ज्ञेय *पुद्गल* रूपी ही हैं, अत: मैं इन्हें कोई विशेषण नहीं देना चाहता।'

ये हिसाब जो *पूरण* किए हुए हैं, इन सब *का गलन* होगा, ये सब गाढ़ हैं। एक ही *पुद्गल*; फिर गाय हो या भैंस हो।

प्रश्नकर्ता : मन–बुद्धि–चित्त और अहंकार, वे सब *पुद्गल* में आ गए? मन–बुद्धि–चित्त कहें तो वह सब *पुद्गल* में आ गया?

दादाश्री : *पुद्गल* में हर एक चीज़ आ गई। अहंकार–वहंकार वगैरह सभी कुछ। पूरा जगत् *पुद्गल* में ही आ जाता है। जो कुछ भी इन्द्रियों से दिखाई देता है, वह सारा।

प्रश्नकर्ता : अपने *पुद्गल* में या सामनेवाले के *पुद्गल* में जो कुछ भी होता है, वह *पूरण–गलन* ही है।

दादाश्री : आत्मा के अलावा बाकी सभी कुछ *पुद्गल* है। उसे फिर हमने बहुत लंबा खींचा। लोग कहते हैं, 'कुछ ज़्यादा बताइए।' तब मैंने कहा, 'शौचालय, भोजनालय और *पूरण–गलन* व शुद्धात्मा। ये जो सभी सामान लाते हैं, वह भोजनालय है और ये जो संडास वगैरह में जाते हैं, ये सब बीड़ियाँ फेंक देते हैं, वे सभी शौचालय हैं। *पूरण–गलन* और शुद्धात्मा, अन्य कुछ है ही नहीं। लोगों ने बुद्धि से उसीके विभाजन किए। 'यह तो सोना है, चाँदी है, यह सीसा है, लोहा है।' बुद्धि की कसौटी से सब विभाग किए।

प्रश्नकर्ता : चाहे कुछ भी हो लेकिन फिर भी *पुद्गल* ही है?

दादाश्री : *पुद्गल* ही है। यह सारा ही *पुद्गल* है।

अब जो रूपी परमाणु, रूपी हैं, उनका मुख्य गुण कौन सा है? तो वह है, *पूरण–गलन* का स्वभाव। जो *पूरण* हुआ है, *गलन* होता रहता है, *गलन* हो गया हो तो वापस *पूरण* होता रहता है। अत: *पूरण–गलन, पूरण–गलन, पूरण–गलन* होता ही रहता है। यहाँ से खाना डाला और पानी पीया तो फिर संडास में, बाथरूम में। यहाँ से श्वास लिया तो उच्छ्वास। यों *पूरण–गलन, पूरण–गलन* होता ही रहता है। नहीं होता?

प्रश्नकर्ता : होता है न!

दादाश्री : यह सब उसका गुण है। महावीर क्या तप करते थे, वह समझ गए न आप?! अदीठ तप! महावीर सिर्फ एक ही *पुद्गल* को किस तरह से देखते थे? अंदर की ही सब गतिविधियाँ, सभी क्रियाएँ, अंदर होनेवाले स्पंदन मात्र तक के जानकार रहते थे वे। बाकी बाहर का कुछ भी नहीं देखते थे, इसी का देखते थे।

प्रश्नकर्ता : क्रोध–मान–माया–लोभ का यों पृथ्थकरण करना हो, तो विशेष परिणाम स्वरूप अहम् खड़ा हुआ, क्या उसके बाद ये व्यतिरेक गुण उत्पन्न होते हैं? फिर अगर क्रोध होता है, तो क्रोध और अहम् का क्या संबंध है?

दादाश्री : वह सब *पुद्गल* है लेकिन *पुद्गल* में हाथ डालकर क्या करना है? शुद्धात्मा के अलावा सभी कुछ *पुद्गल* है, उसमें हाथ डालने से क्या मतलब है? तुझे *पुद्गल* में से कुछ निकालना है? उसका अर्क निकालना है?

प्रश्नकर्ता : यह सारा संबंध क्या है?

दादाश्री : समझने जैसा आत्मा है और बाकी का सारा *पुद्गल*। तो जो *पुद्गल* में है, उसका तुझे कुछ करना है क्या? तो फिर उसे विस्तार से समझें! उसमें से क्या तुझे कुछ *पुद्गलसार* बाहर निकालना है? सिर्फ आत्मा ही पूर्ण करना है या अंदर सार भी निकालना है *पुद्गल* का?

प्रश्नकर्ता : आत्मा ही पूर्ण करना है।

दादाश्री : फिर जो इस *पुद्गल* में घुस गए, उनका तो फिर पता ही नहीं चला, निकले ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : वह सब समझने के लिए और जानने के लिए है?

दादाश्री : नहीं, उसे समझने के लिए यदि गहराई में उतरे न, उसमें घुस गए न तो फिर उसके बाद मिले नहीं है। महावीर भगवान क्या कहते थे कि इसके बजाय तो सिर्फ एक *पुद्गल*! कोई भाग ही नहीं, विभाजन ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : सारा एक ही *पुद्गल*।

दादाश्री : हाँ, एक ही *पुद्गल*। अनंत प्रकार की अवस्थाएँ हैं लेकिन सारा *पुद्गल* एक ही है। विनाशी स्वभाव का है। अत: महावीर भगवान सिर्फ एक ही *पुद्गल* को देखते रहते थे। अन्य कोई झंझट में नहीं पड़तेथे। ऐसे दखल नहीं करते थे। हम भी कोई दखल नहीं करते हैं न? तुझे समझना हो तो गहरे उतरकर समझाते हैं लेकिन उससे तुझे बहुत नुकसान होगा। अब बहुत गहरे मत उतरना। और वापस पूछता जा रहा है, 'ऐसा *पुद्गल*!' तो न जाने कहाँ गुफा में घुस जाएगा!

अंत में यही एक ध्येय

प्रश्नकर्ता : हम प्रयत्न करते हैं लेकिन थोड़ी देर तक रहता है लेकिन फिर हट जाता है।

दादाश्री : आपका बाहर का अभ्यास अधिक है न! लोगों को जुदापन का बिल्कुल भी अभ्यास नहीं है न! कोई *पुद्गल* की ऐसी-वैसी चीज़ हो, उस पर हम उपयोग रखकर निरीक्षण कर रहे हों तो खयाल में रहेगा न, उस प्रकार से खुद के *पुद्गल* को देखना है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् खुद के एक ही *पुद्गल* से बाहर अन्य कोई दखलंदाज़ी नहीं?

दादाश्री : और क्या? एक *पुद्गल* को देख पाए तो बहुत हो गया। देख ही नहीं सकते न! बाहर ही दखलंदाज़ी करते रहते हैं, ऐसा कहना चाहते हैं। आप देखने का अभ्यास

करते हो लेकिन हो नहीं पाता। थोड़ी-थोड़ी देर तक रहकर वापस चूक जाते हैं, बाकी तो बाहर ही चला जाता है!

प्रश्नकर्ता : वह स्टेज आएगी तो सही न?

दादाश्री : प्रयत्न वही होना चाहिए लेकिन हो नहीं पाता न, रहता नहीं है न! जाता है और आता है, जाता है और आता है। उसे जानना है। एक ही *पुद्गल* को देखना है। चंदूभाई का मन क्या कर रहा है, बुद्धि क्या कर रही है, चित्त क्या कर रहा है, चंदूभाई क्या-क्या कर रहे हैं, निरंतर इसी सब का निरीक्षण करना है कि यह क्या है? वही कम्पलीट शुद्धात्मा!

प्रश्नकर्ता : मान लीजिए कि भगवान महावीर *पुद्गल* को देख रहे हैं और उस समय गौतम स्वामी उनसे प्रश्न पूछें तो उसका जवाब मिलेगा न?

दादाश्री : फिर भी वे खुद तो एक ही *पुद्गल* को देखते रहते थे।

प्रश्नकर्ता : तो वह जवाब बाहर का भाग देता है न?

दादाश्री : खुद जवाब नहीं देते थे, उस घड़ी जो *पुद्गल* भाग था, वही भाग जवाब देता था।

प्रश्नकर्ता : ठीक है लेकिन बाहर का भाग हम किसे कहते हैं, एक *पुद्गल* और उसके अलावा का भाग?

दादाश्री : देखनेवाले और जाननेवाले का बाहरी भाग नहीं होता। यह अभी जो तू बोल रहा है न, उसे जो देखता है और जानता है, वह ज्ञान कहलाता है।

प्रश्नकर्ता : तो दादा, वह स्टेज अपने आप ही आएगी?

दादाश्री : हमें तो उस प्रयत्न में रहना चाहिए न, यह सब करना है ऐसा सब होना चाहिए न!

प्रश्नकर्ता : एक ही भाव में रहना है?

दादाश्री : एक ही भाव में, ज्ञाता-दृष्टा भाव में ही रहना है।

प्रश्नकर्ता : अभी तो वह कठिन लगता है, ऐसा कहते हैं।

दादाश्री : नहीं, अभी वैसा नहीं हो सकता न! अभी तो बाहर देखना पड़ता है हमें। लेकिन अगर वह बिना अटैचमेन्ट का होगा तो ज्ञाता-दृष्टा कहलाएगा और अटैचमेन्ट सहित होगा तो वह इन्द्रिय ज्ञान कहलाएगा। (अटैचमेन्ट अर्थात् वापस अज्ञानी की तरह ही एक हो जाना।)

प्रश्नकर्ता : तन्मय होने से इन्द्रिय ज्ञान आ जाता है?

दादाश्री : नहीं। कभी-कभी तन्मय हो जाए तब भी नहीं, जब अटैचमेन्ट सहित हो तभी इन्द्रिय ज्ञान कहलाता है। अटैचमेन्ट नहीं है फिर भी तन्मय हो जाता है किसी जगह पर लेकिन यों तन्मय होना ठीक नहीं है। उसे फिर कभी न कभी अलग करना पड़ेगा। लगातार ही होना चाहिए। तन्मय हो जाए तो समझना कि अपने में ग्रंथि है। वह ग्रंथि छूट जानी चाहिए!

बाद में पूरा व्यवहार ही बिना अटैचमेन्टवाला हो जाता है। वीतराग व्यवहार हो जाता है। कई लोगों का व्यवहार वीतरागी हो गया है लेकिन वे हमारे परिचय में रहते हैं। ये तो ठेठ दूर से भाग-दौड़, भाग-दौड़ करते हैं। परिचय में नहीं रहना पड़ेगा?

अनंत-ज्ञेयों को देखा एक *पुद्गल* में

अनंत ज्ञेयों को वीतरागों ने एक ही ज्ञेय में देखा है, उसी प्रकार 'दादा' ने एक ही ज्ञेय, एक ही *पुद्गल* को देखा है। *पुद्गल* तो स्वाभाविक रूप से एक ही है, मूल स्वभाव का *पुद्गल*, विश्रसा से बना हुआ! जगत् है, नेट (सौ प्रतिशत) शुद्ध परमाणुओं से बना!!!

अब वीतरागों ने जो *पुद्गल* देखा, तो उन्होंने क्या देखा? *पुद्गल* की तरह-तरह की वराईटीज़ हैं न, उन वराईटीज़ को खुद के ज्ञान में से निकालकर देखा कि सिर्फ एक ही,

यह सारा सिर्फ *पुद्गल* ही हैं। यों वराईटीज़ तो लोगों ने, बुद्धिशालियों ने बनाई थीं। अत: महावीर भगवान सिर्फ एक पद्गल को ही देखते रहते थे। और कुछ भी नहीं देखते थे। वराईटी वगैरह नहीं देखते थे। यहाँ पर तो कितनी सारी वराईटीज़ हैं? हर एक की दुकान में *पुद्गल* की वराईटीज़ हैं।

लेकिन भगवान क्या देखते थे कि यह स्त्री–पुरुष, यह बच्चा, यह ऐसा–वैसा, यह सोना, यह चाँदी–पीतल, यह ऐसा है वगैरह सब नहीं देखते थे। सिर्फ एक ही *पुद्गल*। अत: यह छोड़ना है और यह नहीं छोड़ना है ऐसा नहीं था। सब एक ही *पुद्गल* है। एक ही *पुद्गल* की तरह देखते रहते थे बस और कुछ नहीं देखते थे भगवान। भगवान बहुत पक्के इंसान थे। उन्हें पहचान नहीं सके, इसीलिए तो हम भटक मरे न! सिर्फ वही एक पक्के थे, इसलिए छूट गए। जो पक्के होते हैं, वे छूट जाते हैं न! वर्ना अगर कच्चा पड़ जाए तो वह तो मार खाएगा न! कील ठोकनेवाला कच्चा रहा लेकिन कील खानेवाले पक्के थे, तो वे चले गए। किस तरह से कीलों को झेला कि वे चले गए और ठोकनेवाला यहीं रह गया? एक ही *पुद्गल* को देखा, *पुद्गल पुद्गल* को मार रहा है। एक ही *पुद्गल* देखा उन्होंने।

प्रश्नकर्ता : ठोकनेवाला भी *पुद्गल* और यह भी *पुद्गल*?

दादाश्री : बहुत पक्के।

महावीर का है यह तरीका

प्रश्नकर्ता : भगवान महावीर खुद के एक *पुद्गल* को ही देखते रहते थे। तो भगवान महावीर आत्मा में रमणता करते थे या *पुद्गल* को देखते थे?

दादाश्री : *पुद्गल* को देखना और जानना, उसी को आत्मरमणता कहते हैं। भगवान महावीर क्या करते थे, एक ही *पुद्गल* में दृष्टि स्थिर करके रहे। उसके बाद केवलज्ञान उपजा था।

प्रश्नकर्ता : अंत में यही करना है, ऐसा *लक्ष* (जागृति) में रहना चाहिए।

दादाश्री : रहता ही है सभी के *लक्ष* में, शब्द शायद समझ में न आया हो लेकिन यों तो उसके *लक्ष* में रहता ही है। आत्मरमणता, स्व–रमणता सभी कुछ वही का वही है। स्व–रमणता अर्थात् उस *पुद्गल* को ही देखता रहता है।

प्रश्नकर्ता : आपको तो ऐसा ही रहता होगा न, दादा?

दादाश्री : हमारा थोड़ा कच्चा रह जाता है। आप जो यह बात कह रहे हो न, वह पर–रमणता में कह रहे हो। पूरे दिन पर–रमणता में ही रहते हो आप। स्व–रमणता में, निश्चय से स्व–रमणता में, बाकी आपका निश्चय व्यवहार में ही बरतता है। ऐसा ही है फिर भी यह तो बहुत ऊँचा पद कहलाता है!

भगवान महावीर तो बस, सिर्फ खुद का ही *पुद्गल* देखते रहते थे क्योंकि उसमें छ: जो द्रव्य हैं, वे तो उन्हें दिखते ही रहते थे, निरंतर। एक पुदगल में ही दृष्टि रखते थे। एक ही *पुद्गल*, और कुछ नहीं। जो एक *पुद्गल* का स्वभाव है, वही सर्व पुद्गल का स्वभाव है। स्वभाव सिर्फ एक तरह का है। अत: भगवान का तरीका मैंने आपको दे दिया है। उस तरीके से चलो अब।

[7] देखनेवाला–जाननेवाला और उसे भी जाननेवाला

ज्ञायकभाव : मिश्रभाव

देखो न, सोते सोते पैर दबवाता हूँ और उसे भी जानता हूँ। क्या हो रहा है, उसे भी जानता हूँ।

प्रश्नकर्ता : अभी कहा न कि ये पैर दबाने को कहते हैं, उसे भी जानते हैं, ये पैर दब रहे हैं उसे भी जानते हैं, फिर ये वाणी बोल रहे हैं उसे भी जानते रहते हैं तो यह सब एट ए टाइम किस तरह हो सकता है?

दादाश्री : इतनी अनंत शक्तियाँ हैं। ओहोहो! चारों तरफ देख सकता है! ये आँखें तो आगे ही देख सकती हैं, जबकि आत्मा तो दसों दिशाओं में देख सकता है, सभी दिशाएँ, सभी कोने, सभी डिग्रियों में क्या वह नहीं कर सकता?

प्रश्नकर्ता : लेकिन एट ए टाइम तो एक ही रहता है न?

दादाश्री : एक ही रहता है लेकिन वह सब कह देता है लेकिन कहने के लिए अलग–अलग शब्दों की ज़रूरत पड़ती है, इसलिए उतना समय चाहिए। एट ए टाइम सभी शब्द

एक साथ इकट्ठे नहीं कहे जा सकते। अत: स्याद्वाद की ज़रूरत पड़ती है।

प्रश्नकर्ता : देखना अर्थात् आँखों से देखने की बात नहीं है उसमें। वह अंदर का दर्शन है, तो हम जो जानते हैं वह आत्मा को ही पता चलता है न, लेकिन वह तो हमें ज्ञान लेने के बाद पता चलता है। अब ज्ञान लेने से पहले भी सभी को पता चल सकता है?

दादाश्री : ना, पता नहीं चल सकता।

प्रश्नकर्ता : ज्ञान से पहले भी वह जो कुछ भी जानता है, वह आत्मा के गुणों से जानता है न, अगर जाने तो?

दादाश्री : नहीं। वह तो भरे हुए पावर से जानता है।

प्रश्नकर्ता : अब ज्ञान लेने के बाद जब-जब ज्ञेय सामने आते हैं, तब हर एक चीज़ को जानने में हमें उसका अनुभव होता है। आत्मा का वह अनुभव होना चाहिए। ऐसा ही हुआ न, जो हो रहा है वह?

दादाश्री : नहीं, देखना और जानना होता रहता है।

प्रश्नकर्ता : हाँ, अर्थात् उसे हमारा आत्मा ही देख रहा है, ऐसा समझना है न?

दादाश्री : हाँ, ज्ञाता-दृष्टा और ज्ञायक। ज्ञायक भाव अर्थात् आत्मा को कुछ बोलने की ज़रूरत ही नहीं रहती। पहले ज्ञायक भाव था ही नहीं न! मिश्रभाव था। उसमें कर्तापना और जानपना 'मैं करता हूँ और मैं जानता हूँ', उसका मिक्सचर था।

प्रश्नकर्ता : अब प्योर जानपना हो गया है।

दादाश्री : हाँ, प्योर जानपना।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् यह जो बार-बार जानपने का अनुभव आता है वह आत्मा का ही अनुभव आया न?

दादाश्री : सबकुछ आत्मा का ही है लेकिन उसमें जो बाहर का ज्ञान दिखाता है, वह पावर चेतन (मिश्रचेतन) दिखाता है।

प्रश्नकर्ता : दादा, तो फिर मूल आत्मा की जो देखने–जानने की क्रिया है और मिश्रचेतन की जो देखने–जानने की क्रिया है, इनमें क्या फर्क है?

दादाश्री : मिश्रचेतन विनाशी को देख सकता है। सिर्फ विनाशी को ही देख सकता है और मूल चेतन जो है वह विनाशी और अविनाशी दोनों को देख सकता है, दोनों को देखता और जानता है।

हमें ऐसा नहीं दिखाई देता कि यह सूर्य–चंद्र गिर पड़े हैं। सूर्य नीचे गिरा हुआ नहीं दिखाई देता, हमें वहीं का वहीं दिखाई देता है लेकिन वह विनाशी ज्ञान के आधार पर है। वह ज्ञान पूरा ही विनाशी है। वह अविनाशी ज्ञान नहीं है! अविनाशी ज्ञान में कोई परिवर्तन नहीं होता!

प्रश्नकर्ता : शरीर आँखों से देखता है, आत्मा ज्ञाता–दृष्टा भाव में है, वह भी देखता है, तो दोनों की देखने की दृष्टि में क्या फर्क है?

दादाश्री : आत्मा जिसे देखता है, वह रियल दृश्य है और ये आँखें जो देखती हैं, वह रिलेटिव दृश्य है। यह रिलेटिव दृश्य, वह रियल दृश्य।

प्रश्नकर्ता : इनमें फर्क क्या है? दिखाव में क्या फर्क है? देखने में फर्क क्या है?

दादाश्री : बहुत फर्क है। यह विनाशी दृश्य है। रियल (तत्व) वस्तु रियल को ही देखती है। यह रिलेटिव तो (अवस्थाएँ), विनाशी को देखती है। यह सारा जो इन्द्रिय ज्ञान है, वह ज्ञान कहलाता ही नहीं है न! वह तो भ्रांति की भ्रांति कहलाती है! 'मैं जानता हूँ' और 'मैं करता हूँ' दोनों साथ में।

हमें ज्ञाता और दृष्टा दोनों को ढूँढ निकालना चाहिए। जो ज्ञाता–दृष्टा है, वह अविनाशी है। दृश्य और ज्ञेय दोनों ही विनाशी हैं। सिर्फ दृश्य ही नहीं, ज्ञेय भी।

प्रश्नकर्ता : इन सभी को जाननेवाला आत्मा है, तो उसे जाननेवाला कौन है?

दादाश्री : उस जाननेवाले को जाननेवाला कोई नहीं है।

प्रश्नकर्ता : हाँ, ठीक है, हो ही नहीं सकता।

दादाश्री : जाननेवाले को जाननेवाला होता है।

प्रश्नकर्ता : क्योंकि वह स्वयं है न! वह निरंतर है, परमानेन्ट है।

दादाश्री : क्योंकि वह खुद ज्ञाता–दृष्टा है और इस जगत् में बाकी का सभी कुछ ज्ञेय और दृश्य है।

प्रश्नकर्ता : सिर्फ खुद ही ज्ञाता–दृष्टा है।

दादाश्री : सिर्फ वह खुद ही ज्ञाता–दृष्टा है, तो और कुछ ढूँढने का रहा ही कहाँ? और दूसरा प्रश्न ठीक था, तो उसे जाननेवाला कौन है? तो वह खुद, खुद को ही जानता है और दोनों को जानता है।

प्रश्नकर्ता : स्व–पर प्रकाशक है।

दादाश्री : वह प्रश्न वहाँ पर खत्म हो जाता है। एन्ड आया या नहीं आया फिर?

ज्ञाता–दृष्टा, बुद्धि से या आत्मा से

प्रश्नकर्ता : मैं ज्ञाता–दृष्टा बनकर देखने का प्रयत्न करता हूँ, ऐसा लगता है कि उस समय भी बुद्धि ही देख रही होती है।

दादाश्री : यह सही कह रहे हो। बुद्धि ही देखती है। ज्ञाता–दृष्टा तो, जहाँ बुद्धि भी नहीं पहुँच सकती, वहाँ ज्ञाता–दृष्टा की शुरुआत होती है।

'उस ज्ञाता–दृष्टा को देखने का प्रयत्न करता हूँ,' 'प्रयत्न करता हूँ' कहते हैं इसलिए बुद्धि ही है। अब जिस समय बुद्धि का *चलण* (वर्चस्व, सत्ता, खुद के अनुसार सब को चलाना) रहता है, उस समय बुद्धि देख रही होती है 'ऐसा लगता है' लेकिन जो ऐसा कहता है, वह ज्ञान है। उसे 'आपने' यह 'देखा'। 'देखा' अर्थात् ज्ञाता की तरह से देखा ऐसा नहीं कहा जाएगा लेकिन दृष्टा की तरह से 'देखा।' क्योंकि ज्ञाता–दृष्टा की तरह देखना कब कहा जाएगा? 'ऐसा लग रहा है' तब दृष्टा की तरह से देखा और 'जानने में आता है' तब ज्ञाता की तरह जाना। देखनेवाले तो 'आप' ही हो या और कोई साहब आए थे?

प्रश्नकर्ता : लेकिन जो कहता है कि 'ऐसा लग रहा है' वह बुद्धि ही है, ऐसा लगता है।

दादाश्री : वह बुद्धि नहीं है, बुद्धि देखने में पड़ी होती है, यानी कि बुद्धि उस तरफ से देखती है और वह जो देख रही है, उसे 'हम' जानते हैं कि 'यह बुद्धि ही देख रही है, मैं नहीं देख रहा हूँ।' अत: जो बुद्धि को देखता है, वह 'हम' है। अत: वहाँ पर हम खुद दृष्टा की तरह काम करते हैं। अत: देखनेवाला कौन है, वह हमने ढूँढ निकाला। अर्थात् यह दृष्टा काम तो कर रहा है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन बुद्धि से परे नहीं जा पाते। तो यह बुद्धि में रहकर ही देखा जा रहा है?

दादाश्री : नहीं, बुद्धि से परे तो जा पाए हो, लेकिन बुद्धि को अभी भी पोषण मिल रहा है। बुद्धि को कुछ कारणों की वजह से पोषण मिलता है, वे धीरे-धीरे कम हो जाते हैं। बाकी, बुद्धि से परे तो गए ही हैं वर्ना बुद्धि इन्हें यहाँ पर रोज़ आने ही नहीं देती।

प्रश्नकर्ता : जब बुद्धि ज़रा दखल करती है, तब कहते हैं कि 'एक तरफ बैठ। मैं तो दादा के पास जाऊँगा।' चुप रह।

दादाश्री : हाँ, तो कहना चाहिए कि चुप रह!

प्रश्नकर्ता : दादा के पास आने में बुद्धि दखल नहीं करती। यह तो आता है, बिल्कुल प्रेम से।

दादाश्री : प्रेम से इसका का मतलब ही यह है कि जो बुद्धि से आगे पहुँचा है, वह यह ज्ञान है। यह प्रज्ञा का काम है।

बुद्धि यह देखती है लेकिन आपको अगर मन में ऐसा लगता है कि 'मैं देख रहा हूँ,' वह भ्रांति है। इन सभी ज्ञेय चीज़ों के ज्ञाता-दृष्टा 'मैं' नहीं लगता, लेकिन यह बुद्धि लगती है। लेकिन इस बुद्धि का ज्ञाता-दृष्टा कौन है? आत्मा। लोग तो इसे क्या कहते हैं? 'मैं ही जानता हूँ, मैं ही देख रहा हूँ' ऐसा लगता है लेकिन आप क्या कहते हो? 'यह बुद्धि देख

रही है’ ऐसा लगता है। नहीं तो लोग तो ऐसा ही कहते हैं कि ‘मुझे यह दिख रहा है’ और वह ‘मैं देख रहा हूँ’ वही भ्रांति है।

यदि ‘जानपने’ में आ जाए तो रियल (असली) ज्ञाता कहलाएगा। वह यह ज्ञाता–दृष्टा है! और आपको बार–बार अनुभव में आता ही है लेकिन ऐसा मेल बिठाना पड़ेगा।

प्रश्नकर्ता : उस डिमार्केशन का खयाल किस तरह से आता है कि यह बुद्धि का देखना–जानना है और यह ‘खुद का’ देखना–जानना है?

दादाश्री : बुद्धि का तो, ये जो आँखों से दिखाई देता है वही देखना–जानना है और जो कान से सुनाई देता है वह, जीभ से चखते हैं वह, वह सारी बुद्धि है।

प्रश्नकर्ता : मतलब यह इन्द्रिय का हुआ, लेकिन बाकी का सब अंदर जो चल रहा होता है और बुद्धि से देखना कि ये पक्षपाती हैं, ऐसे हैं, वैसे हैं, वह सब भी बुद्धि ही देखती है न?

दादाश्री : इन सब को देखना, वह बुद्धि का ही है। और आत्मा का ज्ञान–दर्शन तो देखना और जानना है, वह अलग चीज़ है। द्रव्यों को देखे–जाने, द्रव्यों के पर्याय को जाने, उनके गुणों को जाने तो वह सब देखना–जानना, वह आत्मा है। या फिर अगर मन के सभी पर्यायों को जाने। बुद्धि तो मन के पर्यायों को कुछ हद तक ही जान सकती है, जबकि आत्मा मन के सभी पर्यायों को जानता है। बुद्धि को, परिस्थितियों को जानता है। अहंकार के पर्यायों को जानता है, सभी कुछ जानता है। जहाँ पर बुद्धि नहीं पहुँच सकती, वहाँ से उसकी (आत्मा के देखने की) शुरुआत होती है।

प्रश्नकर्ता : यह बुद्धि कहाँ तक का देख सकती है?

दादाश्री : कुछ हद तक का। सांसारिक ज्ञान चलता है, संसारिक काम–काज।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् यह जो आत्मा का देखना–जानना कहा गया है, तो वह द्रव्यों को जानता है?

दादाश्री : हाँ।

प्रश्नकर्ता : वह द्रव्यों को, द्रव्यों के गुणधर्म और द्रव्यों के पर्यायों को अर्थात् उन्हें किस तरह से, उसमें क्या-क्या देख सकता है? उसका एक्ज़ेक्ट उदाहरण दीजिए न।

दादाश्री : ये किसके गुणधर्म हैं, ऐसा सब जानता है। *पुद्गल* के गुणधर्म हैं या चेतन के गुणधर्म हैं। फिर अन्य सभी गुणधर्मों को भी जानता है। आकाश के गुणधर्म क्या हैं, उन्हें जानता है। इसके अलावा काल के क्या गुणधर्म हैं, उन्हें जानता है।

प्रश्नकर्ता : वे गुणधर्म बताईए न! काल के गुणधर्म क्या है? आकाश के गुणधर्म क्या है?

दादाश्री : इन सभी गुणों को जानना, काल के, आकाश के, सभी के गुण, गुणधर्मों को जानना वह तो पैंतालीस आगमों को जानने का फल है।

प्रश्नकर्ता : आत्मा की ज्ञानक्रिया और दर्शनक्रिया में यदि ऐसा जानना और देखना है तो फिर अभी तो हम सभी में तो ऐसा नहीं है न, द्रव्य को देखना और जानना?

दादाश्री : उसके लिए ऐसी कोई जल्दबाज़ी करने का मतलब नहीं है न! ऐसा नहीं जानने-देखने की वजह से थोड़े ही खटमल मारने की दवाई पी जाएँ?

प्रश्नकर्ता : तो तब तक क्या रहता है? तो फिर ऐसा हुआ कि ज्ञान-दर्शन का देखनापना नहीं रहा?

दादाश्री : राग-द्वेष नहीं हों, तब जानना कि अपने ज्ञान की प्राप्ति हुई है, अच्छा है। राग-द्वेष हों तो संसार बंधन होता है, ऐसा तय हो गया। राग-द्वेष नहीं हों इसका मतलब अपनी गाड़ी चल रही है, राजधानी एक्सप्रेस। तुझे देखने की ज़रूरत भी नहीं है कि चल रही है या नहीं!

जब गाड़ी चलती है, तब तो दो तरह के परिणाम दिखाई देते हैं। कितने ही पेड़ यों जाते हुए दिखाई देते हैं। अपनी गाड़ी ऐसे जा रही हो तब कितने ही पेड़ ऐसे जाते हुए

दिखाई देते हैं। कितने ही पेड़ ऐसे लगते हैं जैसे हमारे साथ चल रहे हों, ऐसा दिखता है। इसके पीछे कोई कारण है न?

प्रश्नकर्ता : जो नज़दीक होते हैं, वे यों जाते हुए दिखाई देते हैं और दूरवाले साथ–साथ हों, ऐसा लगता है।

दादाश्री : लेकिन ऐसा क्यों? बोले, बुद्धि समझ जाती है कि ये नज़दीक हैं, वे दूर के हैं।

पुद्गल को देखनेवाली, प्रज्ञा

प्रश्नकर्ता : इस *पुद्गल* की सभी चीज़ों को जो देखता है, वह देखने की जो क्रिया है, वह बुद्धि क्रिया है या ज्ञानक्रिया है?

दादाश्री : वह देखने में जाए तो प्रज्ञा के विभाग में ही आता है न! अहंकार और बुद्धि की क्रिया से थोड़ा समझ में आता है, बाकी प्रज्ञा के बिना समझ में नहीं आ सकता।

हमें अभी एप्रेन्टिस की तरह रहना है। प्रोबेशनरी नहीं कह सकते।

प्रश्नकर्ता : अत: ज्ञान लेने के बाद जिन महात्माओं को ऐसा रहा करता है कि वह खुद शरीर से अलग है, शुद्धात्मा का *लक्ष* बैठ गया है और फिर देखने की सभी क्रियाएँ चलती रहती हैं तो वे सभी प्रज्ञा से होती हैं न?

दादाश्री : सभी कुछ प्रज्ञाशक्ति से ही होता है। प्रज्ञा कुछ हद तक, जब तक फाइलों का *निकाल* करता है, तब तक प्रज्ञा है। फाइल खत्म हो गई तो फिर खुद ही, आत्मा ही जानता है।

प्रश्नकर्ता : तो क्या इसका अर्थ ऐसा हुआ कि ज्ञानक्रिया से देखना तो बहुत दूर रहा?

दादाश्री : वही! प्रज्ञाशक्ति की ही ज्ञानक्रिया है। अभी वह ज्ञानक्रिया तो उत्पन्न हो गई है। फिर जब इन सभी फाइलों का *निकाल* हो जाएगा तब, विज्ञान क्रिया।

जो दिखाए, वह प्रज्ञा है

प्रज्ञा ही देखती है अंत तक। प्रज्ञा ही हमें सबकुछ दिखाती है।

प्रश्नकर्ता : मैं जब दस साल का था तब मैंने क्या-क्या किया था, वह सब दिखाती है। बारह साल का था तब के भी सभी फोटो दिखाती है, फिल्म की तरह दिखाती है। तो जो यह फिल्म दिखाती है, वह प्रज्ञा दिखाती है?

दादाश्री : प्रज्ञा अर्थात् ऐसा कह सकते हैं कि आत्मा ही दिखाता है लेकिन अंत में फिर प्रज्ञा बंद हो जाती है। जब तक प्रज्ञा है तब तक शुद्धात्मा है, और आत्मा, वह तो परमात्मा है। हैं एक ही, लेकिन इसके (प्रज्ञा) आने के बाद 'वह' (आत्मा) हो जाता है!

प्रश्नकर्ता : कल वे रो रहे थे तो उन्हें दिख रहा था कि ये चंदूभाई रो रहे हैं लेकिन फिर अंदर से, 'दादा भगवान ना असीम जय-जयकार हो' चल रहा था तब चंदूभाई को जो देख रहा था, वह कौन है और जो 'असीम जय-जयकार' बोल रहा था, वह कौन है?

दादाश्री : वह तो अंदर रिकॉर्ड चलती ही रहती है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् अंदरवाली 'ओरिजिनल' टेपरिकॉर्डर चलती ही रहती है?

दादाश्री : वह तो किसी-किसी टाइम पर चलती ही रहती है, अत: जो वह बोलता है, वह बोलनेवाला अलग और इन चंदूभाई को देखनेवाला अलग!

प्रश्नकर्ता : जो चंदूभाई को देखनेवाला है, वह शुद्धात्मा है?

दादाश्री : चंदूभाई जो यह कर रहे हैं न, उन्हें देखनेवाली बुद्धि है।

प्रश्नकर्ता : तो फिर ज्ञाता-दृष्टा कैसे हुए, यदि बुद्धि ही देख रही हो तो?

दादाश्री : ज्ञाता-दृष्टा तो जो इन सभी को देखनेवाले हैं, वे हैं। जो इन सभी को एट ए टाइम जानें, वही ज्ञाता-दृष्टा हैं। अंदर जैसा लग रहा है उसे, जो बोला जा रहा है उसे,

इन सभी को एट ए टाइम जानते हैं।

प्रश्नकर्ता : शुद्धात्मा यह देखता है कि बुद्धि क्या कर रही है?

दादाश्री : वह बुद्धि को देखता है, मन क्या कर रहा है उसे देखता है, वाणी क्या है उसे और फिर अंहकार क्या कर रहा है, इन सभी को देखता है।

प्रश्नकर्ता : उन्हें ज्ञाता-दृष्टा देखता है न? वह जो देखता है, वह ज्ञाता-दृष्टा है या कुछ और?

दादाश्री : हाँ, वही आत्मा है।

प्रश्नकर्ता : और जो चंदूभाई को देखती है, वह बुद्धि है?

दादाश्री : उसे बुद्धि देखती है और बुद्धि को जो देखता है वह आत्मा है। बुद्धि क्या कर रही है, मन क्या कर रहा है, अहंकार क्या कर रहा है, इन सभी को जो जानता है, वह आत्मा है। आत्मा से आगे परमात्मा पद बाकी रहा। जो शुद्धात्मा हो गया, वह परमात्मा की तरफ गया और परमात्मा हुआ, उसे केवलज्ञान हो जाता है। केवलज्ञान हो गया तो हो गया परमात्मा। पूर्ण हुआ, निर्वाणपद के लायक हो गया। अत: देखने-जानने का उपयोग रखना चाहिए, पूरे दिन।

प्रश्नकर्ता : दादा, यानी शुद्धात्मा के बाद में आगे परमात्मा पद है?

दादाश्री : शुद्धात्मा ही परमात्मा है लेकिन अभी तक इसमें केवलज्ञान नहीं हुआ है। तो उस शुद्धात्मा को केवलज्ञान हुआ इसका मतलब बन गया परमात्मा!

देखनेवाले को भी देखनेवाला

प्रश्नकर्ता : आप कहते हैं न कि जब हम ज्ञान देते हैं तो आत्मा और देह को जुदा कर देते हैं, तो इन दोनों को जुदा रखकर देखनेवाला वह कौन है?

दादाश्री : दो चीज़ें हैं जो देखती हैं। एक तो प्रज्ञा है और प्रज्ञा का काम जब पूर्ण हो जाने के बादआत्मा है। आत्मा ज्ञायक के रूप में रहता है। प्रज्ञा से लेकर आत्मा तक के देखनेवाले हैं। प्रज्ञा का काम पूरा हो जाए तो फिर आत्मा खुद, ज्ञायक बन जाता है।

प्रश्नकर्ता : आत्मा का जो स्वरूप है, दर्पण की तरह है। दर्पण कहीं बाहर नहीं जाता देखने के लिए। दर्पण के अंदर सभी दृश्य दिखाई देते हैं। उसी प्रकार आत्मा के स्वरूप में तो सभी चीज़ें दिखाई देती हैं न! ऐसा है?

दादाश्री : वह जो दिखाई देता है, वह अलग है लेकिन यह तो ज्ञायक है! अर्थात् अभी ज्ञाता कौन है? वह प्रज्ञाशक्ति है। हाँ, क्योंकि कार्यकारी है। मूल आत्मा कार्यकारी नहीं होता। जब तक यह संसार है, तब तक के लिए कार्यकारी शक्ति खड़ी हो गयी है, प्रज्ञा। वह प्रज्ञा सभी कार्य पूरे करके, समेटकर फिर मोक्ष में चली जाती है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् मोक्ष के दरवाज़े तक मदद करने के लिए यह प्रज्ञा है।

दादाश्री : दरवाज़े तक नहीं, ठेठ मोक्ष में बिठा देती है। हाँ, पूर्णाहुति करवानेवाली यह प्रज्ञा है।

ज़बरदस्त शक्तियाँ हैं। चाहे कैसे भी कष्ट आएँ, लेकिन फिर भी कष्ट घबरा जाएँ, इतनी शक्तियाँ हैं। इतनी बढ़ी हुई शक्तियों को देखते ही कष्ट घबरा जाता है।

प्रश्नकर्ता : जितना देख पाते हैं, उतना स्पर्श नहीं करता और अगर उसमें एकाकार हो जाएँ, तो फिर महसूस होता है।

दादाश्री : जितना देख सको उतना देखना और बाकी का जो नहीं देख पाते, उसके लिए प्रतिक्रमण करना।

प्रश्नकर्ता : अभी हम बैठें और पूरे दिन का देखने बैठें, तब सबकुछ दिखता है और उस घड़ी ऐसा भी दिखता है कि हम आगे का देखने बैठे हैं।

दादाश्री : हाँ! फिर?

प्रश्नकर्ता : तो यह क्या है? जो देखता है, उसे भी फिर देखता है।

दादाश्री : वह है सब से अंतिम देखनेवाला, वही हम खुद हैं। उस देखनेवाले से आगे कोई देखनेवाला और कोई नहीं रहता। और यह जो देखनेवाला है, उसके पीछे सब से अंतिम देखनेवाला होता है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् देखनेवाले से आगे भी देखनेवाला होता है?

दादाश्री : यह जो देखनेवाले हैं, उससे आगे भी देखनेवाला होगा ही न!

प्रश्नकर्ता : उससे आगे भी देखनेवाला होता है?

दादाश्री : फिर उससे आगे देखनेवाला नहीं है। देखनेवाले से आगे देखनेवाले कोई नहीं हैं। वास्तव में जो देखनेवाला है, वही आत्मा है।

प्रश्नकर्ता : तो पूरे दिन की देखने की जो प्रक्रिया थी तो उसे देखनेवाला जो है, उसे भी देखनेवाला और कोई होता है? ऐसा? तो प्रथम देखनेवाला कौन है?

दादाश्री : उसे उपादान कहो, बुद्धि कहो या अहंकार कहो, और फिर उसे भी देखनेवाला।

प्रश्नकर्ता : वह कौन है?

दादाश्री : वह आत्मा है, देखनेवाले को जानता है।

प्रश्नकर्ता : तो इसमें प्रज्ञा कहाँ से आई?

दादाश्री : वही प्रज्ञा है न! मूल आत्मा तो मूल आत्मा ही है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् पूरे दिन का जो देखता है वह अहंकार कहलाता है? अथवा उपादान कहलाता है?

दादाश्री : बुद्धि, अहंकार, अज्ञाशक्ति।

प्रश्नकर्ता : ठीक है। दादा, अभी मैं सुबह का देखने बैठूँ, तो अभी का देखना रह जाता है, मैं पहले का देखता हूँ अभी।

दादाश्री : लेकिन देखता तो है न! वही तू आत्मा है, फिर वहाँ और किसे देखना बाकी रह जाता है?

प्रश्नकर्ता : दादा, इसी को लेकर क्या आपने कहा है कि आत्मा स्व-पर प्रकाशक है? स्व-पर प्रकाशक है, वह खुद को भी प्रकाशमान करता है?

दादाश्री : और नहीं तो क्या? जो देखनेवाला है, उसके ऊपर भी देखनेवाला होता है। उस देखनेवाले से ऊपर भी देखनेवाला आत्मा, ज्ञाता कहलाता है और जानने की सभी चीज़ें ज्ञेय कहलाती हैं और जब देखनेवाला दृष्टा हो तभी ये दृश्य हैं।

प्रश्नकर्ता : देखनेवाले से ऊपर भी देखनेवाला है, तो फिर मूल आत्मा का फंक्शन किस तरह होता है इसमें?

दादाश्री : ये लोग देखते ही हैं न सभी। पूरी दुनिया देखती है और जानती है न! इनसे कहें कि आप देखते-जानते नहीं हो, तो फिर पूछेंगे 'अभी क्या कर रहे हैं हम?' पूरा फोर्ट एरिया देखा, फलाना देखा, फलाना देखा लेकिन उस देखनेवाले को भी जानना है। वापस इस देखनेवाले को भी जाननेवाला है!

प्रश्नकर्ता : इस देखनेवाले को भी जानना है?

दादाश्री : इस देखनेवाले को जो देखता है और जाननेवाले को जो जानता है, ऐसा है मूल आत्मा।

प्रश्नकर्ता : इसे हमने प्रज्ञा कहा अभी।

दादाश्री : हाँ, प्रज्ञा।

प्रश्नकर्ता : तो फिर इससे आगे मूल आत्मा का फंक्शन क्या रहा?

दादाश्री : नहीं। उससे आगे कुछ भी नहीं है। बस, वहाँ पर एन्ड। किसी का किसी से लेना–देना नहीं है, कोई किसी को हेल्प नहीं करता। किसी को कुछ भी छोड़ना नहीं है, ऐसे हैं ये तत्व! टंकोत्कीर्ण स्वभाववाले। कभी भी एकाकार नहीं हुए हैं, अलग के अलग ही रहे हैं। जैसे तेल और पानी दोनों इकट्ठे हो गए हों लेकिन उसमें दोनों अलग के अलग ही रहते हैं।

बीचवाला उपयोग किसका?

प्रश्नकर्ता : एक बार आपने सत्संग में कहा था कि एक स्टेज ऐसी होती है कि चंदूभाई करते हैं और उसी में तन्मयाकार रहता है, दूसरी स्टेज ऐसी होती है कि चंदूभाई जुदा और खुद जुदा अर्थात् यह कर्ता जुदा और खुद जुदा और तीसरी टॉप (उच्चतम) स्टेज ऐसी है कि चंदूभाई क्या कर रहे हैं उसे भी देखता है, आत्मा चंदूभाई को देखता है। वह समझाइए ज़रा।

दादाश्री : क्या समझना है उसमें?

प्रश्नकर्ता : वह स्टेज कौन सी कहलाती है?

दादाश्री : ऐसा है न, ये जो देखने के कार्यों में पड़े हैं, तो कार्य को देखना वह सहज होना चाहिए। 'देखने' की क्रिया उसे करनी पड़ती है, ज्ञाता-दृष्टा रहना पड़ता है, उसे भी जाननेवाला है ऊपर। ज्ञाता-दृष्टा रहना पड़ता है। वह मेनेजर है। फिर उसका भी *ऊपरी* है। अंतिम *ऊपरी* को देखना नहीं पड़ता, सहज रूप से दिखता ही रहता है।

प्रश्नकर्ता : अत: जिसे ज्ञाता-दृष्टा को देखना पड़ता है, वह कौन है और उसे भी जो देखता है, वह कौन है?

दादाश्री : जो मूल है, वह उसे भी देखता है। वह मूल है। यह जो देखना पड़ता है वह बीचवाला भाग है, उपयोग, और उसे भी जाननेवाला ठेठ अंतिम दशा में हैं। इस आईने में, हम ऐसे बैठे हों और आईना उस तरफ रखा हो तो हम सब उसमें दिखाई देते हैं न तुरंत?

प्रश्नकर्ता : हाँ।

दादाश्री : क्या उसे देखना पड़ता है?

प्रश्नकर्ता : नहीं।

दादाश्री : वैसे ही आत्मा में झलकता है, संपूर्ण जगत् अंदर झलकता है।

प्रश्नकर्ता : वह 'बीचवाला' कौन है दादा?

दादाश्री : उपयोग।

प्रश्नकर्ता : वह उपयोग लेकिन किसका उपयोग?

दादाश्री : वह उस 'प्रज्ञा' का। प्रज्ञा के उपयोग में आ गया तो फिर बहुत हुआ। उससे आगे हमें किसी और की बहुत ज़रूरत नहीं है,अपना कॉलेज वहीं तक है।

पूर्णता प्राप्त करने के लिए पालन करनी है पाँच आज्ञा

प्रश्नकर्ता : हम जो कुछ भी देखते हैं और जानते हैं, वह एक बात है और दूसरी तरफ हमें ज्ञाता–दृष्टा बनना है, वह दूसरी बात है। यह देखने–जाननेवाला और वह देखने–जाननेवाला दोनों अलग चीज़ें हैं?

दादाश्री : हाँ, ठीक है।

प्रश्नकर्ता : तो इस देखने–जाननेवाले में से उस देखने–जाननेवाले में किस तरह ट्रान्सफर होता है?

दादाश्री : यह देखने–जाननेवाला जो है न, उसकी सभी क्रियाओं को वह जानता है, वह यह ज्ञाता–दृष्टा है।

प्रश्नकर्ता : अत: संक्षेप में अभी यह जो अहंकार है वह देखने–जाननेवाला है और अहंकार की क्रियाओं को जाने.....

दादाश्री : मैं क्या कर रहा हूँ, मन क्या कर रहा है, बुद्धि क्या कर रही है।

प्रश्नकर्ता : ठीक है, वह बात सही है आपकी लेकिन अभी भी हमें उसका अनुभव तो होता है कि ऐसा हो रहा है। जिसे आपने ज्ञेय– बनाया है। अब ये मन–वचन–काया और अहंकार, लेकिन वास्तव में तो हम ऐसा कहते हैं न कि अभी भी मूल आत्मा देखता–जानता नहीं है। आत्मा तो बहुत दूर है उससे।

दादाश्री : यह उसका विषय नहीं है। यह तो, जो इस इन्द्रिय दृष्टि से दिखाई देता है, वह विषय उनका नहीं है।

प्रश्नकर्ता : देखने-जानने की शक्ति मूल आत्मा की ही है?

दादाश्री : हाँ लेकिन अभी बीच में प्रज्ञा का मीडियम है।

प्रश्नकर्ता : अभी मीडियम थ्रू जानता है लेकिन जानता वही है?

दादाश्री : और कौन जानेगा फिर? लेकिन अभी प्रज्ञा के मीडियम के थ्रू जानता है वह।

प्रश्नकर्ता : तो उसे खबर पहुँचती ही नहीं?

दादाश्री : मूल आत्मा को इससे कोई लेना-देना नहीं है! वह तो वीतराग है। और यह क्या हो रहा है वह सब, यह जो मीडियम खड़ा हुआ है, प्रज्ञाशक्ति, वह जानती है।

प्रश्नकर्ता : तो वह जो ज्ञाता है, उस पर इस ज्ञेय का कोई भी असर नहीं होता?

दादाश्री : हो ही नहीं सकता। उसे कोई संग स्पर्श नहीं कर सकता। उसे कोई भी चीज़ स्पर्श नहीं कर सकती। भावों से निर्लेप हैं, संग से असंग!

प्रश्नकर्ता : उसका खुद का स्वधर्म सिर्फ देखने और जानने का ही है?

दादाश्री : ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव ही है। यहाँ पर लाइट हुई हो न, वही बस, देखती है। उस लाइट में यदि जीवन होता तो देखती रहती।

प्रश्नकर्ता : आत्मा का उपयोग होता होगा?

दादाश्री : नहीं होता। ऐसा कहीं होता होगा? कोई विचार आए उन्हें आप जान जाते हो, अंदर गुस्सा आए, उसे आप जान जाते हो न?

प्रश्नकर्ता : हाँ।

दादाश्री : हं। ऐसे फिर मूल ठेठ तक नहीं पहुँचता। वह प्रज्ञा को पहुँचता है क्योंकि यह अंतरिम (मध्यवर्ती) ज्ञान है, जबकि आत्मा तो सिर्फ ज्ञाता–दृष्टा है!

प्रश्नकर्ता : हाँ, अंत तक नहीं पहुँचता, वहीं पर सारी बात है न? मेरा वही पोइन्ट है कि वह अंत तक पहुँचेगा किस तरह?

दादाश्री : प्रज्ञा में आने के बाद ही मूल तक पहुँचता है।

प्रश्नकर्ता : उसका साधन क्या है?

दादाश्री : पाँच आज्ञा ही सब से बड़ा साधन है। पहले इन्द्रिय ज्ञान से दिखाई देता है, फिर बुद्धि ज्ञान से दिखाई देता है और बाद में फिर वह प्रज्ञा से दिखाई देता है और फिर आत्मा से।

प्रश्नकर्ता : लेकिन यह जो मूल आत्मा, जो कि ज्ञाता है, उसका, ज्ञाता का ज्ञेय के साथ का संबंध कैसा है?

दादाश्री : वह ज्ञान फिर ज्ञेय को देखता है, इसलिए ज्ञानाकार हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन यह जो ज्ञाता है, मूल आत्मा, वह तो कभी ज्ञेयाकार होता ही नहीं है न?

दादाश्री : उसे कुछ लेना–देना नहीं है। अंत तक यह प्रज्ञा है और जब केवलज्ञान होता है तो फिर एक! प्रज्ञा भी चली जाती है।

प्रश्नकर्ता : अत: आत्मा तो, जब केवलज्ञान होता है तभी काम में आता है, तब तक नहीं?

दादाश्री : नहीं! तब तक मूल ज्ञाता–दृष्टा नहीं बन सकता। हमें ज़रूरत भी नहीं है। वह केवलज्ञान तो अपने आप ही आता है। उसे माँगने नहीं जाना पड़ता। जैसे बड़ौदा की गाड़ी में टिकट–विकट लेकर बैठने के बाद बड़ौदा स्टेशन अपने आप ही आ जाता है, उस तरह से। आपको तो सिर्फ गाड़ी में बैठने की ज़रूरत है। बैठ गए और ये आज्ञा पालन

करना है कि भाई, 'किसी स्टेशन पर उतर मत जाना। किसी जगह पर चाय–पानी अच्छे मिल रहे हैं, इसलिए वहाँ पर कहीं उतर मत पड़ना।' आपको ये भाई कहें तो भी कहना, 'यहाँ नहीं उतरना है, चलो, वापस बैठ जाओ!' ये तो कहेंगे कि, 'आओ, वह कैन्टीन अच्छी है।' तब भी हमें 'मना' कर देना है।

प्रश्नकर्ता : पूरी तरह से पाँच आज्ञा पालन करने के बावजूद भी अगर कैन्टीन में जाए तो?

दादाश्री : तो हर्ज नहीं है। जो पाँच आज्ञा का पालन कर रहा हो तो वह चाहे कहीं भी जाए, उसे बंधन नहीं है। लेकिन जो पाँच आज्ञा का पालन कर रहा हो, वह किसी भी स्टेशन पर उतरेगा ही नहीं न!

आत्मा अर्थात् केवलज्ञान प्रकाश

प्रश्नकर्ता : आत्मा अर्थात् ज्ञान। ज्ञान अर्थात् प्रकाश, प्रकाश के अलावा और कुछ है ही नहीं। प्रकाश ही, प्रकाश ही, प्रकाश ही! और मात्र प्रकाश अर्थात् किसी भी तरह का संयोग नहीं। कुछ नहीं, सिर्फ प्रकाश ही! तो फिर ज्ञायक भाव ही रहा?

दादाश्री : ज्ञायक भाव। जानने–देखने के भाव में ही रहा, वही आनंद! खुद को और कोई ज़रूरत नहीं है। जानने–देखने के भाव में तो कुछ करना नहीं होता, अंदर झलकता है, खुद के अंदर ही। किसी भी प्रकार की क्रिया नहीं, अक्रिय। क्रिया करने से थकान होती है, सो जाना पड़ता है, नींद आ जाती है।

प्रश्नकर्ता : पहले अज्ञान दशा में तो हमारी जो दृष्टि है, वह ऐसी चीज़ों पर अर्थात् *पुद्गल* पर रहती थी, जिसमें देखने और जानने का गुण था ही नहीं लेकिन अब आपने ज्ञान दिया है, तब से हम दृष्टि उसमें लगाते हैं, जिसमें देखने और जानने की शक्ति है। इसलिए हमारी दृष्टि स्थिर हो गई है।

दादाश्री : इसीलिए स्थिर हो गई है और इस अस्थिर में भी देखने-जानने की क्रिया है लेकिन संयोगों को देखने-जानने की क्रिया है। देखने-जानने की क्रिया तो वहाँ, आत्मा में ही है लेकिन आत्मा की क्रियाएँ तो असंयोगिक है और यह संयोगी क्रिया है। यहाँ पर जो देखने-जानने की क्रिया कहते हैं न, यह पेड़ आया, पत्ते आए, गाय आई, भैंस आई, ऐसा सब कहते ही हैं न और लोग उसे आत्मा मानते हैं! इस देखने-जानने की क्रिया में चेतन बिल्कुल भी है ही नहीं।

तो अगर कोई पूछे कि किससे चल रहा है यह? चेतन के बिना कैसे चल रहा है? तो वह यह है, 'आत्मा की उपस्थिति में पावर चेतन उत्पन्न हो जाता है।'

प्रश्नकर्ता : आपने कहा है न कि ये चीज़ें, पेड़ है, पत्ते हैं इन सब को देखने की और जानने की क्रिया पावर चेतन की है। अब यह देखने-जानने की क्रिया और आत्मा के प्रकाश में ये जो सभी ज्ञेय झलकते हैं तो वे एक ही हैं या अलग-अलग?

दादाश्री : वे आत्मा के प्रकाश में अंदर झलकते हैं, यानी कि वहाँ पर शब्द होते ही नहीं हैं। जहाँ पर देखना और जानना है... प्रकाश में उतरने तक शब्द हैं, उसके बाद शब्द चले जाते हैं अपने घर!

प्रश्नकर्ता : आत्मा को केवलज्ञान स्वरूप कहा है तो जब ऐसा कहते हैं कि 'केवलज्ञान होता है' तो वह किसे होता है?

दादाश्री : आत्मा को ही होता है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन खुद केवलज्ञान स्वरूप ही है न?

दादाश्री : है ही केवलज्ञान लेकिन बादल हटने चाहिए न! वैसे-वैसे होता जाएगा। यह सूर्यनारायण पूरी तरह से दिखने लगे तो किसे दिखने लगे?

प्रश्नकर्ता : देखनेवाले को। सूर्यनारायण और बादल अर्थात् जिस पर बादल का आवरण है।

दादाश्री : हाँ, लेकिन देखनेवाले को न! लेकिन यह देखनेवाला और जाननेवाला दोनों एक ही चीज़ हैं!

प्रश्नकर्ता : अत: देखने की चीज़ और देखनेवाला, दोनों एक ही हैं?

दादाश्री : हाँ। आत्मा स्व को भी जानता है और पर को भी जानता है। खुद के स्व को जानता है कि जानकार कौन है? स्व कौन है?

प्रश्नकर्ता : जानी हुई चीज़, वह खुद ही है। खुद, खुद को ही जानता है। आत्मा स्व को भी जानता है और पर को भी जानता है। बादल हट गए, इसलिए खुद-खुद को पूरी तरह से दिखाई देता है। उसे केवलज्ञान कहते हैं।

जय सच्चिदानंद

आप्तवाणियाँ हैं आधुनिक शास्त्र!

जगत् का उदय अच्छा हो, तब 'ज्ञानीपुरुष' प्रकट हो जाते हैं और उनकी 'देशना' ही 'श्रुतज्ञान' है। उनके एक ही वाक्य में सभी शास्त्र पूर्णरूप से आ जाते हैं!

शास्त्रों में लिखा है कि 'सत्य बोलो।' तब लोग कहते हैं कि, 'हम सत्य नहीं बोल पाते। इसलिए अब कोई कलियुगी शास्त्र दे तो काम होगा।' कलियुग का असर न हो और मोक्ष में ले जाए अब ऐसे शास्त्र लिखे जाएँगे। शास्त्रों की बातें तो पुरानी दवाई हो गईं, अब नई दवाई की ज़रूरत है। यह साइन्स सही समय पर आई है, यानी कि कुछ और ही विज्ञान है यह।

यह आप्तवाणी तो नये शास्त्र लिख दे, ऐसी बात है। वर्ना इतने सारे शास्त्र हैं, उनका कब पार आए? इससे तो एक ही घंटे में सारा विज्ञान समझ सकते हैं।

- दादाश्री

आत्मविज्ञानी 'ए. एम. पटेल' के भीतर प्रकट हुए

दादा भगवानना असीम जय जयकार हो

dadabhagwan.org